भूमिका

यत्कीर्त्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ।।
(श्रीमद्भागवत)

कामानां पूरयित्रीं त्रिभुवनशरणां मूर्ध्नि गङ्गां निधाय
ध्यायन् रामं हनूमत्सहितमतितरां प्रीतमानन्दकन्दम् ।
खेलन् लम्बोदरेण प्रियजनमुदितां सन्दधानेन साकम्
आत्मारामोऽपि गौरीरमण उरुशिवं शङ्करो नस्तनोतु ।।

या सौश्रुती विरचिता ललिता मयास्ति
शल्याधिकारसरला सुखबोधनाय ।
तत्पूरणाय निमिराजकृतं यदङ्गं
शालाक्यतन्त्रमधुना क्रियतेऽखिलं तत् ।।

आयुर्वेद के आठ अङ्ग बताए गए हैं—(१) शल्य (२) शालाक्य (३) कायचिकित्सा (४) अगदतन्त्र (५) भूतविद्या (६) कौमारभृत्य (७) रसायन और (८) वाजीकरण । इनमें शालाक्यतन्त्र ही इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषयहै । इसमें जत्रु (Clavicle) के ऊपर पाए जाने वाले शरीरावयवों के रोग, उनके हेतु और निदान, उनकी साध्यासाध्यता और उनकी प्रतिषेधक विधियों का विचार किया गया है । जत्रु के ऊपर वाले अङ्गों की विवेचना होने के कारण ही इस विषय का नाम 'ऊर्ध्व जत्रुचिकित्सा' भी दिया गया है । जत्रु के ऊपर वाले अङ्गों के श्रेष्ठ होने के कारण या ऊपर अवस्थित होने के कारण 'उतमाङ्ग' कहा जाता है । यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने इस विद्या को 'उत्तमाङ्ग चिकित्सा' नाम भी दिया है । इस तन्त्र के आदि कर्ता विदेहाधिप निमि बतलाए गए हैं । अत एव उन्हीं के नाम पर यह तन्त्र 'निमितन्त्र' भी कहा जाता है ।

शास्त्र में इस तन्त्र के नामकरण, उद्देश्य और लक्षण आदि के प्रसंग में निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं—

(१) 'शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम्... ।' अर्थात् जत्रु के ऊपर वाले कान, आँख, मुँह, नाक आदि में होने वाली व्याधियों के उपशमन के लिये प्रयुक्त होने वाला अङ्ग 'शालाक्य तंत्र' कहा जाता है। (सु. सूत्र. १)

(२) 'शलाकायाः कर्म शालाक्यं तत्प्रधानं तन्त्रमपि शालाक्यम्।' अर्थात् जिस तंत्र में शलाका (Rods सलाई) का प्रयोग बहुलता से होता है, उस तंत्र को शालाक्यतन्त्र कहते हैं। (डल्हण)

(३) 'दृष्टिविशारदाः शालाकिनः।' अर्थात् नेत्रविद्या के पण्डितों को शालाकी कहते हैं एवं शालाक्य विद्या के ज्ञाता को भी शालाकी कहते हैं। (डल्हण)

(४) जिस तन्त्र में स्थूलतया निम्नलिखित उत्तमाङ्गगत रोगों की संख्या, लक्षण और चिकित्सा का वर्णन मिले उसकी संज्ञा शालाक्य तंत्र है—

षट्सप्तति नेत्ररोगा दशाष्टादश कर्णजाः
एकत्रिंशत् घ्राणगताः शिरस्येकादशैव तु।
संहितायामभिहिताः सप्तषष्टिर्मुखामयाः
एतावन्तो यथास्थूलमुत्तमाङ्गताः गदाः
अस्मिञ्छास्त्रे निगदिताः संख्यारूपचिकित्सितैः॥ (सु. ३-२७)

'अर्थात् जिस तंत्र में उत्तमाङ्ग में पाये जाने वाले ७६ नेत्र रोग, २८ कर्ण रोग, ३१ नाक के रोग, ११ शिरोरोग, ६७ मुख के रोगों का स्थूलतः संख्या, रूप तथा चिकित्सा के साथ वर्णन पाया जाता है; उस तन्त्र को शालाक्यतन्त्र कहते हैं।'

शालाक्यतन्त्र नामक विषय का विशद वर्णन पाश्चात्य या आधुनिक चिकित्सा ग्रंथों में मिलता है। यद्यपि उसका कई अंगों में विभाजन भी हो चुका है; तथापि व्यवहार में तीन बड़े समुदायों में उसका विभाजित रूप देखने को मिलता है। एक नेत्रविज्ञान में, दूसरा कर्ण, नासिका एवं गले में और तीसरा दन्तचिकित्सा में। इन व्यावहारिक विभाजनों के समुदाय का बोध शालाक्यतन्त्र से होता है। अस्तु, शालाक्यतन्त्र का आधुनिक विज्ञान-सम्मत पर्याय कथन बड़ा कठिन है। क्योंकि इस कोटि का कोई ऐसा उत्कृष्ट शब्द अंग्रेजी में नहीं मिलता, जिससे कि समुदाय रूप से इन विशेष शल्यक्रियाओं (Special surgery) का बोध हो

सके। किसी शास्त्रीय परिभाषा के अभाव में एक बड़े वाक्यांश के व्यवहार के सिवा और कोई उपाय नहीं है। इस प्रकार शालाक्यतन्त्र शब्द का अंग्रेजी अनुवाद Treatment of the diseases of the part above the clavicle or special surgery of Eye, Ear, Nose, throat and Dentistry होगा। 'वस्तुतः यह कोई नाम नहीं है बल्कि आधुनिक पद्धति से चिकित्साविद्या के अभ्यास करने वालों के लिये इस तन्त्र की विशेषताओं को समझने का एक सूत्र मात्र है।

इस अङ्ग पर पुराने संहिताग्रन्थों में बहुत सामग्री बिखरी हुई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्हें संग्रह करने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ संहिता ग्रंथों में इस सम्बन्ध में वहुत ही संक्षिप्त रूप में कहा गया है। वहाँ उन स्थलों पर विषय को बोधगम्य बनाने के लिये इस पुस्तक में विस्तार से समझाया गया है। कभी-कभी कुछ प्रसंगों में अनावश्यक विस्तार भी मिलता है उन स्थानों पर सार ग्रहण करके संक्षेप में कह दिया गया है। इस प्रकार इस पुस्तक का प्रधान उद्देश्य प्राचीन आचार्यों की बातों को नवीन रूप में उपस्थित करना है। यह प्राचीनों की पद्धति के प्रतिकूल नहीं है। पुराने संस्कर्ता आचार्यों ने भी ऐसा किया है—

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तंत्र पुराणं च पुनर्नवम्॥

इस प्रकार 'पुराण का पुनर्नवीकरण' इस ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य संहिताओं में उल्लिखित प्रसंगों का-अर्थात् शालाक्यतन्त्र के अन्तर्गत आने वाले विविध रोग, उनके हेतु, सम्प्राप्ति, निदान, विकृतिविज्ञान, साध्यासाध्य विवेक तथा प्रतिषेधों का वैज्ञानिक परिभाषाओं में वर्णन करना है। इस अभिनव विज्ञान के युग में जब तक उन प्राचीन प्रसंगों का भाष्य इस नवीन परिभाषा में नहीं हो जाता, तब तक उसका मापदण्ड स्थिर नहीं होता और विद्वानों को भी सत्य की प्रामाणि[illegible] भी आप्तजन-सेवित नहीं हो पाता।

प्राचीनों ने अपने शास्त्र को [illegible] अर्थ है आप्तजनों से सेवित शास्त्र और आप्त की प[illegible] प्रकार शास्त्र या आगम की यही सामूहिक परिभाषा है कि जो प्रचलित या सिद्ध हुए प्रमाणों की

कसौटी पर ठीक साबित होता हो, जो तत्त्वार्थदर्शियों की दृष्टि में शुद्ध हो तथा जो इह और परलोक दोनों के लिये हितकर हो।

'सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च।
आगमः शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थदर्शिनः॥' (छ. उ. १९)

फलतः, सिद्ध प्रमाणों के आधारों पर अपने प्राचीन विषयों की पुष्टि करने का लक्ष्य भी साथ ही साथ रहा है। अतएव आधुनिक युग के सर्वमान्य पाश्चात्य ग्रन्थों के आधार पर मैंने प्राचीन सूत्रों की सत्यता और उसके अन्तर्निहित गूढार्थों या चिकित्साबीजों का बहुत प्रकार से प्ररोहण करने का प्रयास किया है। आवश्यकतानुसार प्राचीन वर्णनों के साथ आधुनिक ग्रन्थों के आश्रित रह कर भी मैंने इस रचना में बहुत कुछ संग्रह कर रखा है। आचार्य सुश्रुत ने भी अपने कुछ सूत्रों में इसी ओर को इंगित किया है—

तदिदं बहुगूढार्थं चिकित्साबीजमीरितं
कुशलेनाभिपन्नं तद्बहुधाऽभिप्ररोहति।
तस्मान्मतिमता नित्यं नानाशास्त्रार्थनर्शिना
सर्वमूह्यमगाधार्थं शास्त्रमागमबुद्धिना॥ (सु. उ. १९)

सामान्य तथा विशिष्ट ज्ञान—आयुर्वेद को आठ अंगों वाला शास्त्र कहा गया है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर को छः अङ्गों (उत्तमांग, मध्यमांग एवं शाखाओं) से युक्त होना आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार चिकित्सा के क्षेत्र में भी चिकित्सा के लिये आठों अङ्गों का ज्ञाता होना वांछनीय है। इसके विपरीत होने पर अर्थात् किसी अङ्गों के अभाव में मनुष्य को जैसे हीनाङ्ग या विकलाङ्ग होना पड़ता है उसी प्रकार आयुर्वेद के ज्ञाता को भी किसी अङ्गविशेष के अज्ञान से अपूर्ण मानते हैं। फलतः प्रत्येक वैद्य को अष्टाङ्गों का पूर्ण ज्ञाता होना अपेक्षित है।

इसी विचार को ध्यान में रखते हुए, प्रत्येक आयुर्वेद के अभ्यासी को प्राचीन काल से लेकर अब तक विशुद्ध शिक्षण की दृष्टि से इन सभी अङ्गों का शास्त्रीय तथा प्रयोगात्मक अथवा केवल शास्त्रीय ज्ञान कराने की परिपाटी चली आरही है। प्राचीन वैद्यक के किसी एक संहिता ग्रन्थ का, आद्यन्त पाठ करा देने से पढ़ने वाले के लिये कोई भी अङ्ग अछूता नहीं रह जाता, उसको सभी अङ्गों का

न्यूनाधिक सामान्य ज्ञान हो जाता है और संहिता पाठ कराने का उद्देश्य भी सम्भवतः यही रहता है।

सामान्य ज्ञान हो जाने के पश्चात् दूसरा प्रश्न उठता है विशिष्ट ज्ञान का। विशिष्ट ज्ञान का अर्थ है किसी अङ्गविशेष की अधिक जानकारी प्राप्त करना। इसके लिये व्यक्तिविशेष की रुचि, कार्यक्षेत्र, मनन प्रभृति बातों की आवश्यकता है। अपने दृष्टिकोण को एक-निष्ठ बनाकर, दत्तचित्त होकर, किसी अङ्ग में पूर्ण निष्णात होने से व्यक्ति विशेषज्ञ हो जाता है। यह विशिष्ट ज्ञान, सामान्य ज्ञान हो जाने के अनन्तर ही संभव है प्रारंभ से ही नहीं। इस प्रकार से उत्पन्न हुए ज्ञान को ही विशिष्ट ज्ञान, तथा ज्ञाता को विशेषज्ञ कहते हैं। इस प्रकार के विशेषज्ञों का सदैव मान होता है **'अधिकस्तत्र पूज्यते'**।

वर्तमान शिक्षाप्रणाली का उद्देश्य भी प्रायः उसी प्रकार का है जिस प्रकार का प्राचीनों का था। एक बालक की शिक्षा का जब प्रारंभ करते हैं, तब उसको आदि में बहुविध विषयों को पढ़ाना पड़ता है। जैसे जैसे वह आगे को प्रगति करता है, विषयों की संख्या सीमित होती जाती है और अंत में जाकर वह किसी एक ही विषय का विशेषज्ञ या पंडित बनता है।

आधुनिक युग के चिकित्सा-विद्यालयों में भी ठीक ऐसा ही क्रम रहता है। विद्यार्थी को बहुत तरह के विषय, जिनमें उनकी अभिरुचि भी नहीं रहती, बलात् उनको पढना और पढ़कर परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है। परन्तु बाद में जाकर उन्हें अपनी रुचि के अनुसार या उपलब्ध होने वाले क्षेत्र या साधनों के अनुसार किसी एक ही विषय में संलग्न होकर रहना पड़ता है। परिणामस्वरूप बहुतेरे कायचिकित्सा में, कुछ शल्यविद्या में, कतिपय शालाक्यतंत्र अथवा तंत्र के अन्यान्य अंगों में प्रवीण बनते हैं तथा कार्य करते हैं। आजकल तो इस विशिष्ट ज्ञान का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि यह युग ही विशेषज्ञों का युग कहलाता है।

इसी प्रकार की स्थिति प्राचीन तंत्रों की भी है। प्राचीन शास्त्रों में वर्णित उक्तियों पर ध्यान दिया जाय तो आयुर्वेद के प्रत्येक अंग के ऊपर विशेषज्ञों तथा तंत्रप्रणेताओं के नाम आते हैं। एक-एक अंग पर उनके स्वतंत्र-स्वतंत्र तंत्र बने मिलते हैं—इस प्रकार के तंत्रप्रणेता या आदि आचार्यों के बहुत से नाम पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए—

शल्यतंत्र—काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि-आचार्य ऋषि

तंत्रकार

औपधेनव
वैतरण
औरभ्र
पौष्कलावत
करवीर्य
गोपुर रक्षित
सुश्रुत-प्रभृति।

शालाक्यतंत्र—विदेहाधिप निमि-आचार्य ऋषि

तंत्रकार

कराल
भद्रक
शौनक
चक्षुष्येण
विदेह
सात्यकि
भोज-प्रभृति।

इनके अतिरिक्त जिनका नामोल्लेख नहीं मिलता ऐसे अन्य तंत्रकारों का टीकाओं में 'इति तंत्रान्तरे' करके पाठ मिलता है।

कायचिकित्सा, रसायन, वाजीकरण—

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय और भरद्वाज आचार्य ऋषि

तंत्रकार

अग्निवेश
भेल
पाराशर
क्षारपाणि
जतुकर्ण

हारीत
चरक प्रभृति ।

भूत विद्या, कौमारभृत्य, (कुमाराबाध)—

तंत्रकार
जीवक
बंधक प्रभृति ।

तंत्रकारों के तंत्र-ग्रंथ—ऊपर की सूची में जितने तंत्रकारों के नाम गिनाये गये हैं, उनमें कायचिकित्सा से सम्बद्ध कुछ तन्त्रों को छोड़कर शेष सभी अनुपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में शालाक्यतंत्रविषय का ज्ञान किसी स्वतंत्र तंत्र के आधार पर कैसे संभव है। वास्तव में विशिष्ट तंत्रों के अभाव में केवल संहिता एवं संग्रह ग्रंथ ही बच रहते हैं, जिनके तत्त्वावधान में शालाक्य तंत्र के संबंध में कुछ लिख सकना संभव है।

आयुर्वेद संहिताग्रंथों में सामान्यतया आठों अंगों से सम्बन्धित पदार्थों का वर्णन मिलता है, फिर भी उनका प्रणयन विशिष्ट ज्ञान कराने के उद्देश्य से ही संभवतः हुआ है। उदाहरण के लिये सुश्रुतसंहिता में स्पष्टतया भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों को शल्यतंत्र के विशिष्ट ज्ञान की ओर ही इंगित किया है—शिष्यों का भी मूलभूत उद्देश्य शल्यज्ञान प्राप्त करना ही रहा—जैसा कि निम्नलिखित सूत्र स्पष्ट है।

एवमायुर्वेदोऽष्टाङ्गमुपदिश्यते अत्र कस्मै किमुच्यतामिति ।
अस्माकं तु सर्वेषामेव शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशतु भवानिति ।
स उवाचैवमस्त्विति । (सु० सूत्र० १)

जिस प्रकार शल्यतन्त्र का विशेष ज्ञान सुश्रुतसंहिता के आधार पर हो जाता है, उसी प्रकार शालाक्यतन्त्र का ज्ञान कराने वाली कोई भी अन्य संहिता आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती। फलतः शालाक्यतन्त्र का यत् किंचित् परिचय प्राप्त करने के लिये केवल आचार्य सुश्रुत कृत संहिता ही सम्बल रह जाती है। इस स्थिति में यह स्वाभाविक है, कि जिस संहिता का प्रणयन शल्य प्रधान व्याख्या के उद्देश्य से हुआ है; उसमें शालाक्यतन्त्र का वर्णन गौण रूप से ही आया होगा। जैसा कि निम्न लिखित प्रमाणों से सिद्ध है—

१. सविंशमध्यायशतमेतदुक्तं विभागशः
इहोद्दिष्टाननिर्दिष्टानर्थान् वक्ष्याम्यथोत्तरे ॥ (सु. क. ८)

२. अध्यायानां शते विंशे यदुक्तमसकृन्मया
वक्ष्याम्युत्तरे सम्यगुत्तरेऽर्थानिमानिति ।
इदानीं तत्प्रवक्ष्यामि तन्त्रमुत्तरमुत्तमम् ॥

यत् यस्मात्कारणात् विंशत्यधिकेऽध्यायशते पुनः पुनरुक्तं मया 'इमानर्थान् बहुधोत्तरे वक्ष्यामि' इति तत्तस्मात्कारणाद् अधुनोत्तरं तन्त्रं प्रवक्ष्यामि । (डल्हण सु. उ. १)

३. अथातः औपद्रविकमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः । (सु. उ. प्रथमसूत्र)

अत उपद्रवचिकित्साधिकारिसामान्यात् सर्वोपद्रवचिकित्सार्थमुत्तरतंत्रारम्भः । अथवा सविंशमध्यायशतं परिसमाप्य परिशिष्टत्वादुत्तरतंत्रं प्रतिपाद्यं भवति । तस्य च तन्त्रस्योपद्रवानधिकृत्य प्रवृत्तत्वान्निरुक्त्या औपद्रविकत्वं प्राप्तमध्याये व्यवस्थितम् । उपद्रवान् रोगानधिकृत्यकृतोऽध्यायः औपद्रविकः । (डल्हण)

ऊपर के सूत्रों के आधार पर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि सुश्रुत संहिता में आया हुआ शालाक्यतन्त्र का संकलन गौण रूप का ही है । 'औपद्रविक अध्याय' नाम से भी इसी तथ्य का ही द्योतन होता है । क्योंकि यह नाम ही सूचित करता है कि इस अध्याय की बातें इस लिये लिखी गई हैं कि रोग की चिकित्सा करते समय उपद्रव रूप में उत्पन्न हुए अन्य रोगों की चिकित्सा आसानी से की जा सके । उदाहरणार्थ 'यदि वैद्य कायचिकित्सा का ज्ञाता हो, ज्वर से पीड़ित रोगी की चिकित्सा कर रहा हो एवं रोगी में नेत्राभिष्यन्द (शालाक्य रोग) का उपद्रव हो जाय तो वह एक ही चिकित्सक उस अभिष्यन्द की भी चिकित्सा कर सके । अस्तु, चिकित्सक को विशेषज्ञ होते हुए भी सामान्य उपद्रवों की चिकित्सा में पटु होना चाहिये । परिणाम स्वरूप संहिताकार ने औपद्रविक अध्यायों का स्थूल रूप से परिचय करा दिया है । इन अध्यायों में न केवल शालाक्य का ही अपितु कुमाराबाध, भूतविद्या, कायचिकित्सा प्रभृति अधिकारों का भी वर्णन प्रस्तुत किया हुआ मिलता है ।

शालाक्यतन्त्र प्रभृति शल्येतर अंगों के वर्णनों का दूसरा उद्देश्य संहिता का पूरण (अष्टाङ्ग पूर्ण) करना रहा। अतएव परिशिष्ट रूप में संहिताकार ने इन औपद्रविक रोगों का भी वर्णन कर दिया है। इसके अतिरिक्त संहिताकार का तीसरा उद्देश्य पूर्व के वर्णनों में आये हुए, नाम मात्र से अभिहित हुए, विषयों या पदार्थों के सम्बन्ध में पाठक को विशद रूप से अवगत करा देना भी रहा है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि सुश्रुततंत्र का प्रधान लक्ष्य शल्यतन्त्र का उपदेश करना ही था, शालाक्यतन्त्र का वर्णन प्रासंगिक है अतएव अप्रधान है। उसकी व्याख्या या तो पूरण के निमित्त या परिशिष्ट रूप में अथवा शालाक्य अधिकार के उपद्रवों में पाठक को विशेषतया अवगत कराने के उद्देश्य से ही है।

शालाक्यतन्त्र के अन्य कर्ता—प्राचीन संस्कृत टीकाओं में कई शालाक्य विदों के नाम पाये जाते हैं। संहिताकार के सिद्धान्तों की पुष्टि करते हुए, अथवा अपने मतों की प्रामाणिकता घोषित करते हुए प्रायः टीकाकारों ने इन आचार्यों के वचनों का संग्रह किया है। इनमें कराल, भद्रक, शौनक, चक्षुष्येण, विदेह सात्यकि, भोज प्रभृति प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त टीकाओं में 'तन्त्रान्तरे' कहकर अन्य तन्त्रों के वचनों का संग्रह भी मिलता है। ग्रंथकार का नाम न होने से संभव है पूर्वोक्त आचार्यों के अतिरिक्त कुछ दूसरे तन्त्रकार भी थे जिनकी कृतियाँ उस युग में तो प्राप्य थीं किन्तु अब कालक्रम से उनके नाम भी लुप्त हो गये हैं।

शालाक्य विषय का मूल स्रोत—आयुर्वेद के उपलब्ध संहिता ग्रन्थों में जो शालाक्य का थोड़ा बहुत वर्णन पाया जाता है वह गौण रूप का ही है। इस विषय का प्रधान रूप से विस्तृत वर्णन शालाक्यतंत्र नामक किसी प्राचीन तंत्र में ही प्राप्त होता था, जिसके कर्ता कोई विदेहाधिपति निमि थे। यही इस तंत्र का आश्रयभूत मौलिक ग्रन्थ था, जिसके संक्षिप्त रूप के वर्णनों का संग्रह संहिताकारों ने अपनी संहिताओं में किया है। इन संहिताओं में चरक, सुश्रुत और वाग्भट प्रधान हैं—जिन्हें बृहत्त्रयी कहते हैं। इस बृहत्त्रयी में सुश्रुत में शालाक्यतंत्र का विशद वर्णन मिलता है—यही मौलिक एवं प्रामाणिक भी ज्ञात होता है। इसकी तुलना में अष्टाङ्ग-संग्रह और अष्टाङ्ग-हृदय का प्रसंग हीन जान पड़ता है। अतएव शालाक्यतंत्र का यथोचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए एकमात्र सुश्रुतसंहिता

ही श्रेष्ठ उतरती है। इस संहिता में उत्तर तन्त्र के प्रारम्भ के सत्ताईस अध्यायों में क्रमशः नेत्र, कर्ण और शिरोरोगों का वर्णन मिलता है। मुखरोगों का वर्णन निदानस्थान के अंतिम तथा चिकित्सास्थान के बाईसवें अध्याय में प्राप्त होता है।

प्रस्तुत पुस्तक का मूलभूत स्रोत भी यही है। प्रस्तुत रचना में मैंने संहिता के क्रमों को बदल कर रखा है। जैसे पहले नासिका और फिर उससे सम्बन्धित अंग सिर तदन्तर कर्ण और उससे संलग्न अंग मुख और गला एवं सबसे अन्त में नेत्रगत रोगों का स्वतन्त्र वर्णन किया है। इस क्रम का रखना प्रत्यक्ष शरीर की दृष्टि से अधिक समुचित और वैज्ञानिक जान पड़ा, अतएव पुस्तक में परिवर्त्तित क्रम को ही रखा है।

निमि और उनके तन्त्र की महत्ता—शालाक्य तन्त्र के आदि प्रणेता आचार्य विदेह के नरेश निमि हो चुके हैं। आचार्य सुश्रुत ने जो कुछ भी संग्रह अपने उत्तर तन्त्र में किया है, वह उन्हीं के आधारभूत ग्रन्थ 'निमितन्त्र' के आश्रित होकर किया है।

उन्होंने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि उत्तर तन्त्र में जो कुछ भी शालाक्य अङ्ग का वर्णन है, वह विदेहाधिप निमिकृत शालाक्यतन्त्र में कथित नाना प्रकार के रोगों, उनके लक्षण और प्रतिषेधों के अनुसार ही है—

> निखिलेनोपदिश्यन्ते यत्र रोगाः पृथक्विधाः
> शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः।

विदेह या निमिकृत होने से ही शालाक्यतन्त्र का दूसरा नाम विदेहतन्त्र या निमितन्त्र है।

आचार्य सुश्रुत ने निमितन्त्र को महान् तथा समुद्र के समान अगाध कहकर स्तुति की है, एवं उसी के क्रमों के अनुसार उन्होंने अपनी संहिता में रोगों की संख्या, लक्षण, साध्यासाध्यविवेक तथा चिकित्सा भी बतलाई है।

> महतस्तस्य तन्त्रस्य दुर्गाधस्याम्बुधेरिव
> आदावेवोत्तमाङ्गस्थां रोगानभिदधाम्यहम्।
> संख्यया लक्षणैश्चापि साध्यासाध्यक्रमेण च। (सु. उ. १)

इतना ही नहीं इस शालाक्यतन्त्र की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य ने यह भी लिखा है कि समुद्र के समान गम्भीर इस तन्त्र का सम्यक् ज्ञान और

वर्णित रोगों की उचित चिकित्सा प्रभृति कर्मों का निरवशेष या पूर्णतया कथन या व्याख्यान लाखों श्लोकों में भी शक्य नहीं है। अल्प बुद्धि, अपण्डित अथवा जिनकी बुद्धि ग्रन्थार्थ तर्कों से रहित है-उनके लिये तो इस तन्त्रार्थ का ग्रहण सहस्रों लक्ष सूत्रों से भी संभव नहीं है।

समुद्र इव गम्भीरं नैव शक्यं चिकित्सितं
वक्तुं निरवशेषेण श्लोकानामयुतैरपि
सहस्रैरपि वा प्रोक्तमर्थमल्पमतिर्नरः
तर्कग्रन्थार्थरहितो नैव गृह्णात्यपण्डितः। (सु. उ. २०)

इस प्रकार सुश्रुताचार्य ने अपनी संहिता में अति संक्षिप्त रूप का ही वर्णन प्रस्तुत किया है जो प्रखर बुद्धि के विद्वानों के लिये ही कार्यकर है।

अब प्रश्न उठता है कि वह आदि शालाक्यतन्त्र कौन सा था। इस महत्तन्त्र के प्रणेता कौन आचार्य रहे, किस कालमें रहे, उनका ग्रन्थ कौन सा है और कैसा है। कालक्रम से न आज निमितन्त्र नामक ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है और न परम्परया शालाक्यतन्त्र के विशेषज्ञ ही मिलते हैं, जो प्राचीन वर्णनों के आधार पर जत्रुगत रोगों में कर्म-निपुण हों। ऐसी स्थिति में निमितन्त्र नामक तन्त्र की विद्यमानता का प्रमाण ही क्या है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वह ग्रन्थ वास्तव में प्राप्त नहीं है तथापि उसके उद्धरण विभिन्न संग्रहों और टीकाओं में यत्र-तत्र उद्धृत मिलते हैं। डल्हणाचार्य ने शालाक्य रोगों के प्रसंग में अपनी टीका में अनेक स्थलों पर निमि या विदेह के वचनों को उद्धृत किया है—जिनमें प्रायः सभी का संग्रह इस पुस्तक की टिप्पणियों में यथास्थान कर दिया गया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके युग में संभवतः यह ग्रन्थ उपलब्ध था और उसी के आधार पर उन्होंने अनेकानेक उद्धरण दे रखा है। इतिहासकार, निबन्धसंग्रहकार डल्हणाचार्य का समय ईसा की बारहवीं शती मानते हैं-फलतः बहुत सम्भव है कि उस काल तक वह निमितन्त्र सुलभ रहा हो।

प्रणेता आचार्य निमि—इतना तो निर्विवाद है कि शालाक्यतन्त्र के आचार्य निमि मुनि हैं। ये एक पौराणिक ऋषि हैं। पुराणों में इनकी पर्याप्त चर्चा मिलती है। इनके सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कथा श्रीमद्भागवत के नवम स्कंध

के तेरहवें अध्याय में पाई जाती है। इस प्रसंग में इनको राजा इक्ष्वाकु का पुत्र कहा गया है। कथा इस प्रकार है—

'हे राजन्, राजा इक्ष्वाकु के पुत्र महाराज निमि ने यज्ञ आरम्भ करके उसके लिये जब गुरु वशिष्ठ जी को ऋत्विज नियत किया तब वशिष्ठ जी ने कहा 'मेरा इन्द्र ने पहले से ही वरण कर लिया है, इसलिये जब तक मैं उनका यज्ञ समाप्त करके न आ जाऊँ तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करते रहना।' वशिष्ठ जी का यह वचन सुनकर यजमान निमि चुप हो गये और वशिष्ठ जी ने इन्द्र का यज्ञ आरम्भ कर दिया। (कुछ काल तक प्रतीक्षा करके) आत्मज्ञानी निमि ने सोचा जीवन बहुत चञ्चल है और गुरु जी लौट कर नहीं आये, अब क्या करें, यह सोच कर अन्य ऋत्विजों द्वारा यज्ञ आरम्भ कर दिया। इन्द्र का यज्ञ कराके लौटने पर जब गुरु वशिष्ठ जी ने अपने शिष्य को अपनी आज्ञा का उल्लंघन करते देखा तो शाप दे दिया कि अपने को पण्डित मानने वाला इस राजा निमि की देह नष्ट हो जाय। निमि ने भी अधर्म में प्रवृत्त गुरु वशिष्ठ जी को उस शाप के बदले यह शाप दे दिया कि आपने लोभवश अपना धर्म नहीं पहचाना, इसलिये आपका शरीर भी नष्ट हो जाय। यों कह कर आत्मविद्या में निपुण राजा निमि ने अपना शरीर त्याग दिया और वृद्ध प्रपितामह वशिष्ठ जी ने अपना शरीर त्याग कर उर्वशी के गर्भ से मित्रावरुण के वीर्य द्वारा जन्म ग्रहण किया। पश्चात् राजा निमि की देह को उनके ऋत्विज मुनियों ने सुगन्धित वस्तुओं में रखवा दिया और उस सत्र याग के पूर्ण होने पर वहाँ आये हुए देवताओं से कहा 'हे देवताओ यदि इस यज्ञ से आपलोग प्रसन्न हों तो राजा निमि का यह शरीर सजीव हो उठे।' देवताओं के 'तथास्तु' कहने पर जीवित होते ही निमि ने कहा मुझे देह का बन्धन प्राप्त न हो क्योंकि सभी भगवत्परायण मुनिजन इसके वियोग से डर कर इसका संयोग नहीं चाहते इसी कारण वे सर्वदा श्री भगवच्चरणारविन्दों का भजन किया करते हैं। इसलिये दुःख, शोक तथा भय प्रात कराने वाली इस देह को ग्रहण करने की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है। क्योंकि जल में रहने वाली मछली की भाँति इसकी सर्वत्र मृत्यु हो सकती है। देवताओं ने कहा—'हे मुनिजनो ये राजा निमि अपनी इच्छानुसार बिना शरीर के ही सब देह धारियों के नेत्रों की पलकों पर निवास करेंगे। ये सबके नेत्रों में स्थिर रहते हुए उनके खोलने, मूँदने से

लक्षित होंगे । राजा के बिना मनुष्यों में अराजकता फैल जाने के डर से महर्षियों ने निमि की देह को मथा तब उनके शरीर से एक बालक उत्पन्न हुआ वह जन्म से 'जनक' और विदेह से उत्पन्न होने के कारण 'वैदेह' मन्थन करके उत्पन्न होने से 'मिथिल' कहलाया और इसी ने मिथिलापुरी बसायी ।'

इस पौराणिक निमि का पलकों पर निवास करने वाले देव के रूप में बहुत से स्थलों पर प्रसंग आता है । 'निमेष' शब्द ही निमि परक है जिसका अर्थ है पलकों का गिरना । तुलसीकृत रामायण में एक स्थल पर जानकीजी का रामचन्द्र जी को अनुरागविभोर होकर निर्निनेष नेत्रों से देखने का प्रसंग मिलता है । उसमें ऊपर के कथानक की ही चर्चा है । जानकी जी परम्परया विदेहाधिप निमि की बहुत आगे की पीढ़ी की कन्या है । वे स्थिर नेत्रों से एक टक रामचन्द्र जी की ओर देख रही हैं—मानो निमि वृद्ध पुरुष ने संकोच वश अपनी जानकी के पलकों पर का वास ही छोड़ दिया है । क्योंकि उनके आँखों के पलक नहीं गिर रहे हैं—

'भये विलोचन चारु अचञ्चल मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगंचल ।'

निमि की ऐतिहासिकता—उपर्युक्त पौराणिक गाथाओं के आधार पर इनको कोई ऐतिहासिक पुरुष न मानकर एक काल्पनिक तन्त्रप्रणेता स्वीकार कर लिया जाय तो कार्य सरलता से चल सकता है । क्योंकि पौराणिक कथानक प्रायः रूपक (Allegorical) का आश्रय लिये रहते हैं । उदाहरण के लिये शालाक्यतन्त्रप्रणेता आदि आचार्य धन्वन्तरि को ही लें । ये वैद्यकविद्या के आदि देव हैं; इनकी उत्पत्ति समुद्र के मंथन से हुई है । अद्भुत कथा है-समुद्र का मन्थन हो और उस से उद्भव हो एक विज्ञान की शाखा के जन्मदाता आचार्य का । इस प्रकार यह एक ऐसा विचित्र रूपक है जिसका समझना तज्ज्ञों का ही काम है ।

इसी प्रकार की विचित्रता निमि मुनि के कथानक में भी मिलती है । इनके मृत शरीर के मंथन से एक महापुरुष की उत्पत्ति हुई है । धन्वन्तरि और निमि मुनि दोनों आचार्यों के साथ मंथन क्रिया का सम्बन्ध पाया जाता है । एक की उत्पत्ति समुद्र-मंथन से और दूसरे की शरीर-मंथन से । संभवतः इस मंथन क्रिया साम्य के कारण ही ये इस दूसरी शाखा (शालाक्य तंत्र) के प्रणेता आचार्य हुए ।

यदि निमि मुनि को ऐतिहासिक व्यक्ति ही मानना लक्ष्य हो तो उसका भी एक ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। निमि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से लिखा हुआ कोई भी लेख किसी भी वर्त्तमान इतिहास के पुस्तकों में नहीं मिलता। 'पर्जिटर' नामक एक पाश्चात्य विद्वान् ने पुराणों को प्राचीन भारत का सच्चा इतिहास माना है। उसने किसी भी पौराणिक ऋषि को अनैतिहासिक नहीं समझा है। यद्यपि उसने निमि के सम्बन्ध में कोई विशेष लेख नहीं दिया है तथापि उसने बड़े परिश्रम से पौराणिक राजवंशों की तालिका दी है। उसके सहारे हम निमि को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मान सकते हैं और उसका एक इतिवृत्तात्मक रूप दे सकते हैं।

पुराणों की इस वंशानुक्रमणिका के अनुसार महाराज निमि; काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि के बहुत पूर्व के होते हैं। महाराज निमि जो विदेह देश के राजा रहे, अयोध्या के राजा विकुक्षि शशाद तथा ऐल राजा पुरुरवा के समकालीन थे। अयोध्या के राजाओं की वंशपरम्परा पुराणों में विस्तार के साथ दी हुई है। विकुक्षि शशाद की सोलहवीं पीढ़ी में प्रसेनजित हुए, जो यादव राजा चित्ररथ, हैहय राजा कुन्ति, कान्यकुब्ज राजा सुहोत्र, पौरव राजा मतिनार, काशीराज धन्वन्तरि और आणव राजा पुरंजय के समकालीन थे।

इस से अनुमान किया जा सकता है कि यदि एक राजा का औसत काल बीस वर्ष का रहा–तो निमि मुनि धन्वन्तरि से लग भग ३२० वर्ष पूर्व रहे होंगे।

पुराणों में दिवोदास नाम के दो और काशिराजों का पता चलता है जिनमें प्रथम प्रसेनजित के बाद छठी पीढ़ी में अनारण्य नामक अयोध्या के राजा के समकालीन और दूसरे प्रसेनजित से बारहवीं पीढ़ी में प्रसिद्ध राजा सगर के समकालीन थे। इस प्रकार धन्वन्तरि और प्रथम तथा द्वितीय दिवोदास के समयों में लगभग १२० और २२० वर्षों का अन्तर पड़ता है। इस प्रकार मूल धन्वन्तरि से जहाँ निमि लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व के होते हैं वहाँ द्वितीय और तृतीय से क्रमशः साढ़े चार और साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व के सिद्ध होते हैं। इनमें अधिक सम्भावना प्रथम धन्वन्तरि की है—यही काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि रहे जिन्होंने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों को सुश्रुतसंहिता के रूप में शल्यतंत्र का श्रीमुख से उपदेश दिया।

पाश्चात्य इतिहासकार मूल सुश्रुततन्त्र तथा आचार्य सुश्रुत का समय महाभारत काल के बहुत पूर्व का मानते हैं। महाभारत का काल अधिकतर लोगों ने सहस्र वर्ष ईसापूर्व का माना है। यदि सुश्रुत का काल दो सहस्र वर्ष ईसा के पूर्व का माने तो धन्वन्तरि का भी समय यही मानना होगा। ऊपर के वंशानुक्रमणिका के आधार पर अनुमानतः यह सिद्ध हो चुका है कि निमि मुनि का समय धन्वन्तरि से कम से कम साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व का है। फलतः इन नवीन ऐतिहासिक पंडितों के मत से निमि अथवा निमितंत्र का समय भी ईसा पूर्व साढ़े तेइस सौ वर्ष मानना उचित होगा।

सहायक तथा आधार ग्रंथ—

इस ग्रंन्थ की रचना में मुझे प्रधानतया सुश्रुत, अष्टाङ्गहृदय का उत्तर तन्त्र तथा गौणरूप से चरकसंहिता, योगरत्नाकर, भावप्रकाश, गदनिग्रह और शार्ङ्गधर प्रभृति आयुर्वेद ग्रंथों से संकलन करना पड़ा है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कई हिन्दी तथा अंग्रेजी ग्रंथों से भी मुझे पर्याप्त सहायता किली है जिसके लिये मैं उनके प्रकाशक तथा रचनाकार दोनों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापन कर देना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। इनमें आयुर्वेदपञ्चानन श्रद्धेय पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल की ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा नामक पुस्तक से मुझे बहुत सहायता मिली है इसके पश्चात् स्वर्गीय डा. हंसराज जी मेहता का भी मैं परम आभारी हूँ जिनकी नेत्ररोगविज्ञान नामक अनुपम कृति से मैंने बहुत से प्रसंग उनधृत किए हैं। अंग्रेजी ग्रंथों में 'मे एण्डवर्थ' के नेत्ररोग तथा 'आई-सिम्पसनहाल' की सुन्दर कृति के आधार पर कर्ण, नासिका तथा गले के रोगों का विवेचन किया है। एतदर्थ में इनका भी आभारी हूँ। कई स्थलों पर अखिलरंजन मजूमदार की प्रसिद्ध कृति 'बेड साइड मेडिसिन' से भी मैंने सहायता ली है-तदर्थ मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

इनके अतिरिक्त आयुर्वेद के कई सामयिक एत्र पत्रिकाओं का भी मैं अभारी हूँ तथा उन उन लेखकों के प्रति निःसंकोच अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जिनसे कई उद्धरणों का संकलन इस रचना में किया है। इनमें दो मासिक पत्रिकायें विशेष कर 'धन्वन्तरि' तथा 'आयुर्वेद-कालेज पत्रिका' (का. वि. वि.) के नाम उल्लेखनीय है।

अन्त में अपने गुरुजनों, सहयोगियों तथा साधुजनों के प्रति अपनी प्रणति निवेदित करता हूँ, जिनसे मुझे प्रत्यक्ष या परोक्ष में बहुत सा ज्ञान प्राप्त हुआ और जिससे प्रेरित होकर इस कृति को लेकर मैं पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा हूँ।

पुस्तक में रोगों की तुलनात्मक विवेचना करते समय मैंने अधिकतर विद्वानों के मतों का ही अनुसरण किया है तथापि जहाँ तहाँ अपनी बुद्धि लगा कर भी पर्याय कथन किया है। मेरी अल्पज्ञता के कारण इस कार्य में त्रुटि हो जाने की पूरी संभावना है। अपनी ओर से मैंने यथा संभव उन्हें ठीक रूप में उपस्थित करने का भरपूर प्रयत्न किया है। फिर भी यदि कहीं प्रमादवश कोई त्रुटि रह गई हो तो उसे सुधारने के लिये भविष्य में सदा ही मैं तत्पर रहूँगा। आशा है पुस्तक के द्वारा सज्जनों का रंजन होता रहेगा।

इसके बाद मैं ग्रंथ के प्रकाशकों को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता जिन्होंने मेरी आकांक्षा के अनुरूप ही अल्प काल में बड़ी शीघ्रता से पुस्तक को प्रकाश में ला दिया है।

सब के अन्त में पुनः भगवान् धन्वन्तरि की स्तुति करते हुए, प्राक्कथन को समाप्त करता हूँ—

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्त्तिर्नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु हन्ति।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके॥

(श्रीमद्भागवत)

मार्गशीर्ष पूर्णिमा
वि० सं० २००८

रमानाथ द्विवेदी

विषय सूची

(१) नासारोगाध्याय

(२) शिरोरोगाध्याय

(३) मुखरोगाध्याय

(४) कर्णरोगाध्याय

(५) नेत्ररोगाध्याय

शालाक्यतन्त्र

❁

नासारोगाध्याय

DISEASES OF THE NOSE

'द्वारं हि शिरसो नासा'

उत्तमाङ्ग या सिर में पहुँचने के लिये प्रथम और प्रधान द्वार नासिका है।

१

नासा-शारीर

घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान नासिका है। शालाक्य तंत्र में अधिकतर ज्ञानेन्द्रिय तथा उनके अधिष्ठानों का वर्णन पाया जाता है। साथ ही अधिष्ठान गत रोगों तथा प्रतिषेध का भी प्रसंग आता है। यहाँ पर नासिका या घ्राणेन्द्रियाधिष्ठान में होने वाले रोगों का वर्णन सर्व प्रथम किया जा रहा है। नासारोगों का तुलनात्मक (प्राचीन एवं अर्वाचीन) अध्ययन करने के लिये इस अधिष्ठान की रचना एवं क्रिया का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। फलतः नासारोगाधिकार में सर्व प्रथम इसी विषय का वर्णन दिया जा रहा है।

नासा-शारीर—नाक के दो भाग होते हैं जो भाग बाहर से दिखाई पड़ता है—जिसे साधारणतः नाक कहते हैं, वह वहिर्नासिका कहलाता है। दूसरा भीतरी भाग जो नासाछिद्रों से दिखलाई पड़ता है, उसे अंतर्नासिका या नासिकागुहा कहते हैं। वाह्यकर्ण की रचना में कुछ भाग तरुणास्थि (Cartilage) और कुछ भाग अस्थि (Bone) का बना रहता है। इसमें अस्थिमय भाग पार्श्व नासास्थि से (दोनों ओर के मिलने से) बना है। तरुणास्थिमय भाग कई मृद्वस्थियों से बना है जिससे नासा का आकार बनता है और नासाछिद्रों को ठीक रखता है इन मृद्वस्थियों से पेशियाँ लगी रहती हैं जो नासा को विवृत करती हैं।

नासा-जवनिका (Septum)—नासारंध्रों से देखने पर एक नलिका सी दिखाई देती है, इसे नासागुहा कहा जाता है। इनके बीच में एक खड़ा पर्दा लगा रहता है जिससे गुहा दो भागों में विभाजित हो जाती है। इस पर्दे का कुछ हिस्सा अस्थि से एवं कुछ तरुणास्थि या मृद्वस्थि

का बना होता है। आगे की ओर चतुर्भुजाकार तरुणास्थि से नासा-जवनिका बनी रहती है। पीछे की ओर जवनिका की बनावट में भाग लेने वाली अस्थियाँ होती हैं जैसे—झर्झरास्थि (Ethmoid) का मध्य फलक, उससे पीछे जतुकास्थि का तुण्ड (रास्ट्रम) आ जाता है। नीचे की ओर चतुर्भुजाकार तरुणास्थि ऊर्ध्व हन्वस्थि कंटक (Maxillary Spine) तथा सीरिकास्थि (Vomer) से जुड़ती है। नीचे वाली धारा के साथ दो और तरुणास्थियों के छोटे-छोटे भाग आ जाते हैं जिनको सीरिक नासिका तरुणास्थि (Vomer Nasal cartilage) कहते हैं।

जवनिका का तरुणास्थिमय भाग परि तरुणास्थि (Perichondrium), अस्थिमय भाग, पर्यस्थि (Periosteum) और उसके बाहर श्लैष्मिक कला से ढका रहता है।

पार्श्व की दीवाल में कई क्रमबद्ध उभार पाये जाते हैं, जिन्हें शुक्तिका (Conchāe or Turbinates) कहते हैं। उभारों के बीच में कई एक खात होते हैं जिन्हें सुरंगा (Meatus) कहते हैं।

शुक्तिकायें तीन हैं—अधः शुक्तिका, मध्य शुक्तिका और ऊर्ध्व शुक्तिका। इनमें अधः शुक्तिका स्वयं एक अस्थि का रूप ले लेती है और नासिका के पार्श्व की दीवाल से लगी रहती है। मध्य और अधः शुक्तिकायें झर्झरास्थि के ही भाग हैं। शुक्तिकाओं के ऊपर श्लेष्मल कला चढ़ी रहती है। श्लेष्मलकला के नीचे प्रहर्षणक धातु (Erectile tissues) रहता है जो अधिकतर अधोशुक्तिका के निचले किनारे तथा अग्रिमान्त और पश्चादन्त (Ant. & post. ends) में मिलते हैं। ये मध्य शुक्तिका के अग्रिमान्त में भी पाये जाते हैं।

नासा सुरंगायें बड़ी महत्त्व की रचनायें हैं, क्योंकि इन नलिकाओं के मार्ग से सहायक वायुविवरों का स्राव बाहर आता है। नासासुरंगा में पूय का दिखाई देना, नासा और वायु विवरों में विकृतियों का द्योतक होता है और इसी चिह्न के ऊपर निदान भी किया जाता है।

नासा के ऊर्ध्व सुरंगा द्वारा पश्चाद् समुदाय के नासासहायक वायु-विवरों के स्राव का बहाव होता रहता है। मध्यसुरंगा में अग्रिम वायु-

विवर समुदाय तथा अधः सुरंगा में नासाश्रुवाही स्रोत खुलता है। (Naso Lacrymal duct)।

मध्य सुरंगा में कई एक महत्त्व की रचनायें हैं। इसके अग्रान्त (Ant. end) की ओर एक वृद्धि होती है जिसे झर्झरास्थिप्रवर्द्धन (Uncinate process) कहते हैं। यह झर्झरास्थि का ही एक भाग है। थोड़ी सी दूर हट कर एक और उत्थान दिखलाई पड़ता है उसे झर्झरीय स्फोट (Bulla Ethmoidatis) कहते हैं। यह झर्झरास्थि के कान्तारिक (Ethmoidal labryinth) के उभार के कारण होता है। इन दोनो वृद्धियों के मध्य में एक खात होती है जो अर्द्धचंद्रापारिखा (Hiatus seminularis) कहा जाता है—जहाँ पर ऊर्ध्व हन्वस्थि वायुविवर का छिद्र खुलता है। अर्ध चंद्रपरिखा के साथ ऊपर की ओर बढ़ने पर एक सँकरा स्थान (Infundibulum) पाया जाता है जो ऊपर जाकर पुरः नासास्रोत (Fronto-Nasal duct) हो जाता है।

नासागुहा की सीमा—गुहा का फर्श तालवस्थि (Palatebones) और दाँत के कोटरों (Alveolus) से बनता है। नासागुहा की छत आगे की ओर पार्श्वनासास्थि से, पीछे की ओर झर्झरपटल (Cribriform plate) से (जो झर्झरास्थि का ही अस्थिमय भाग है जिसके छिद्रों से घ्राणवहनाड़ी के सूत्र जाया करते हैं, उससे) और जतुकस्थि से बनता है।

नासा-कार्य—नासिका के निम्न चार प्रधान कार्य होते हैं—

१. गंधग्रहण—गंधग्रहण करने वाले अंगों द्वारा।

२. निःस्यंदन (नितरण)—उच्छ्वसित वायु से धूल तथा अन्य चीजों को छानकर पृथक् करना।

३. ऊष्णी और आर्द्रीकरण (Warming and moistening) उस वायु का जो फुफ्फुस में प्रविष्ट हो रहा है।

४. स्वर को निनादित करना (Giving resonance to the voice)

गंध—कई कारणों से प्रभावित हो सकता है। *अवरोध*—आस-पास की चारों ओर की रचनाओं के भार के कारण या व्रणशोथजन्य

सूजन हो जाने की वजह से अवरोध होकर वायु का गंध ग्राही कक्ष तक पहुँचना संभव नहीं रहता जिससे गंध विपर्यय हो सकता है। कई बार वातवह नाड़ियों तथा *नाड़ी विशेष* के परिवर्त्तनजन्य भी ऐसा परिणाम देखने को मिलता है। यह परिवर्त्तन उपसर्ग या विषजनित हो सकता है।

नितरण—छनने का कार्य इस प्रकार होता है कि धूल तृणाणु और अन्य द्रव्य श्लैष्मिक कला के सतह पर चिपक जाते और शुद्ध वायु फुफ्फुस के भीतर चली जाती है। फिर कला पर चिपके पदार्थ अन्न-नलिका द्वारा बाहर निकाल दिये जाते हैं।

ऊष्णी एवं आर्द्रीकरण—परस्पर सम्बन्धित क्रियायें हैं। कला में जितनी सूजन और रक्ताधिक्य होगा उतना ही नासारन्ध्र संकुचित होगा और श्लेष्मलकला को गर्म करनेवाली सतह उतनी बढ़ जायगी। इससे वाष्पीभवन भी अधिक होगा और गाढ़ा कफ-स्राव होने लगेगा। इन कार्यों के सुचारु रूप से चलने में कई परिस्थितियों की विद्यमानता आवश्यक है। काफी वायु का मार्ग, रक्तसंबहन का अविकृत होना, ग्रन्थियों का ठीक होना (Intact) और उनका उचित रूप से कार्यक्षम होना। (श्लेष्मलकला में श्लैष्मिक ग्रन्थियाँ, लसीकाणु कोष रहते हैं जिनसे स्राव होता है।)

कोषाङ्कुर क्रिया—(Ciliary action) नासाकी श्लेष्मल के पृष्ठ पर जो कोषाणु होते हैं उनमें लोमवत् कोषाङ्कुर (Cilia) होते हैं। इनके द्वारा श्लेष्मलकला विजातीय पदार्थों से अपनी सफाई करती रहती है। एवं किसी भी विजातीय द्रव्य को ये भीतर जाने नहीं देते। नासा को स्वस्थ और सुखी रखने के लिये इन लोमवत् कोषाङ्कुरों का प्राकृतिक अवस्था में रहना बहुत आवश्यक है। इनकी क्रिया में कमी का होना या अनियमित क्रिया का होना बहुत प्रकार के दुःखदायी लक्षणों को पैदा करता है।

इन अङ्कुरों के जीवन और ठीक क्रिया को चालू रखने के लिये एक अनुरूप माध्यम की आवश्यकता पड़ती है और यह माध्यम श्लेष्मा

(Mucous) है जिसका संहनन (Consistency) ठीक होना आवश्यक है। बहुत सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो इन अङ्कुरों की ठीक क्रिया में बाधक होती हैं। जैसे क्षोभ, अत्यन्त शुष्कता, शस्त्रक्रिया, आघात तथा व्रणशोफ।

कोषाङ्कुरों के अधिक कार्यशील होने से बहुत नासास्राव और कम क्रियाशील होने से स्राव का संचय होना या नसागूथ (पपड़ी Crust) का बनना पाया जाता है, जो नाक को बन्द करके स्रोत में अवरोध पैदा कर सकता है।

कोषाङ्कुर जब तक कार्यक्षम रहते हैं वे नासा स्राव को पीछे नहीं जाने देते और आगे या सामने की ओर से उसे बाहर फेंकते रहते हैं। जब ये पूर्ण रूपेण कार्य-शील नहीं होते तो गाढ़े स्राव या कफ को बाहर नहीं फेंक पाते और वह स्राव नासिका के पश्चात् भाग से होता हुआ गले में चला जाता है; फिर वहाँ से वह मुख द्वारा बाहर निकलता है। इस व्यथा (Complaint) का वास्तविक हेतु कोषाङ्कुरों के कार्य की अक्षमता ही है।

कई परिस्थियों में श्लेष्मलकला की प्रतिक्रिया स्वतंत्रनाड़ीमण्डल के इड़ा भाग के (Sympthtic System) ऊपर निर्भर करती है क्योंकि यह उसी के नियन्त्रण में रहती है। इस तरह इस नाड़ीसंस्थान की विकृति भी कई प्रकार के रोगों को, जैसे अवरोध, स्राव या शिरःशूल पैदा कर सकती है।

फलतः इन अवस्थाओं में यही चिकित्सा होनी चाहिये कि जिससे नासागत वायुमार्ग (यदि विकृत हो तो) प्रकृत अवस्था में आ जाय अथवा कोशाङ्कुर क्रिया का पुनः संस्थापन हो सके। इस कार्य में नासा में पूरण या प्रक्षालन कार्य में कई प्रकार के घोल व्यवहृत होते हैं। समवल लवण जल या कई प्रकार के जीवाणु निरोधी द्रव। इनमें समवल लवण जल से प्रक्षालन उत्तम रहता है, जीवाणु निरोधी (Anti Septic) द्रव्यों का उपयोग बहुधा निरर्थक होता हैं।

जब तक कि आवश्यक न हो अथवा शास्त्रीय निर्देश न हो तब तक

तैल और नस्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिये, इसका विशेष वर्णन विस्तृत रूप से आगे प्राप्त होगा।

सोम (Ehhedrine) का लवण विलयन में तीन प्रतिशत शक्ति का बनाया घोल बड़ा लाभप्रद होता है। श्लेष्मलकला पर इसकी क्रिया हानिप्रद नहीं होती।

सहायक वायु विवरों की क्रिया का ज्ञान भी नासाक्रिया के साथ ही साथ कर लेना अपेक्षित है। इनका प्रधान कार्य वायुभार को ठीक रखना और स्वर के उच्चारण को निनादित करके लाना है।

इस प्रकार नासा, कोषाङ्कुर तथा नासा संबन्धित वायुविवरों के क्रिया का ज्ञान विषय को तुलनात्मक ढंग से समझने के लिये अथवा बुद्धि पूर्वक नसारोगों की चिकित्सा करने के लिये आवश्यक है।

२

नासारोग के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति एवं प्रतिषेध

हेतु एवं सम्प्राप्ति—आचार्य वाग्भट ने एक सूत्र में नासारोगों की उत्पत्ति के कारण और सम्प्राप्ति का वर्णन किया है।[१] आवश्याय (ओस) या वर्फीली हवा में घूमना, बहुत ज्यादा धूलि, रजःकण, धूम्र प्रभृति युक्त वायुमण्डल में काम करना, अधिक भाषण करना, अधिक सोना या दिवास्वाप करना, अधिक काल तक रात्रि जागरण करना, ठंढी हवा या तेज हवा के झोकों के समय नाक की रक्षा नहीं करना, सोते समय सिर के नीचे तकिया नहीं लगाना या सिर को बहुत नीचे

१. अवश्यानिलरजो भाष्यातिस्वप्नजागरैः
नीचात्युच्चोपधानेन पीतेनान्येन वारिणा।
अत्यम्बुपानरमणर्छर्दिवाष्पनिग्रहात्
क्रुद्धावातोल्वणा दोषा नासायां स्त्यानतांगताः।

करके रखना अथवा अत्यधिक ऊँची तकिया का लगाना, प्रवासया यात्रा में विभिन्न स्थानों का पानी पीना, अधिक पानी पीना, अधिक स्त्रीप्रसङ्ग करना, वमन के वेगों का या आंसू के वेगों का रोकना, प्रभृति कारणों से वायु का कोप होता है और वह कुपित वायु अन्य दोषों का संसर्ग करके नासा में संचित होकर पश्चात् नासारोगों की उत्पत्ति करता है।

ये सभी कारण उत्तेजक या प्रत्यक्ष रूप से (Direct Causes) नासारोग की उत्पत्ति में भाग लेते हैं। इन कारणों से नासागत श्लैष्मिकावरण में क्षोभ (Irritation) होता है और उसके परिणामस्वरूव श्लेष्मलकला में रक्ताधिक्य होकर शोफ हो जाता है और प्रतिश्याय प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य भी शारीरिक भीतरी कारण नासारोग की उत्पत्ति में सहायभूत होते हैं, जैसे शारीरिक दुःस्वाध्य, दुर्बलता चिरकालीन रोग (फिरङ्ग, क्षय प्रभृति) अभिघात, अनूर्जता (Allergy) जिससे नासाकला की रोगनिवारण क्षमता (Immunity) बहुत कम हो जाती है और थोड़े से प्रकोपक कारणों से रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

नासारोगों में सामान्य चिकित्सा—

पथ्य (नातिरुक्ष नातिस्निग्ध द्रव्य)—स्नेहन, स्वेदन तथा अभ्यंग पथ्य हैं। भोजन में प्रधानतया गेहूँ, जौ, चने की रोटी तथा दाल में कुलथी, अरहर, मसूर एवं चने का व्यवहार करना चाहिये। चावल रोगी को सात्म्य हो तो भोजन में पुराने चावल का प्रयोग किया जा सकता है। घी, दूध, खीर आदि उत्क्लेदकारी पदार्थ पुराने नासारोग में हितकर हैं। इनके द्वारा दोष बाहर निकलने में प्रवृत्त होते हैं। दधि यद्यपि अभिष्यन्दी है फिर भी जीर्ण नासारोगों में गुड़ और मरिच के साथ मिलाकर सेवन करना हितकर है। भोजन हल्का, गर्म एवं लवण और घृतयुक्त करना चाहिये। भोजन में अधिकतर गुड़, दूध, चना, सोंठ, मरिच, पीपल, जाङ्गल जीवों का मांस, जौ, गेहूँ, दधि, अनार, मूली का शोरवा प्रभृति द्रव्यों का व्यवहार करना चाहिए।[1]

१. स्नेहः स्वेदो तथाभ्यजंगः पुराणाः यवशालयः कुलित्थमुद्गयोर्यूषः ग्राम्या

शाक तरकारी में मूंग की मूंगौरी, ककड़ी, लौकी, परवल, नेनुआं, पालक, चौलाई जैसे शाक उबालकर साधारण छौंक देकर लेना चाहिए मसालों में जीरा, हींग, मेथी, हल्दी, काली मिर्च, लौंग, इलायची, तेज-पात, दालचीनी, धनियाँ का उपयोग हो सकता है। पके टमाटर, पपीता अधिक लेना चाहिए। संक्षेप में वैगन, सहजन, मेथी, लहसुन, ककोड़ा, त्रिकटु प्रभृति शाक, जाङ्गल जीवों का मांसरस, मुद्गयूष तिक्त शाक हितकर हैं। नमक में सैंधव का प्रयोग दाल और शाक में होना चाहिए।

कटु और अम्ल पदार्थ प्रायः खाने में प्रशस्त हैं विशेषतः कागजी नीबू नमक मिर्च मिलाकर आलू बुखारा, आँवला, अदरक, पुदीना, हरी धनियाँ, जीरा डालकर चटनी बनाई जा सकती है। यह नासारोगों में हितकर होगी। कटु, अम्ल, लवण और स्निग्ध नासा रोग में पथ्य है।

फलों में सन्तरा, सेब, अञ्जीर, नासपाती, पपीता, पक्क आम, खीरा, खरबूजा, गाजर कच्चा या तरकारी के रूप में लिया जा सकता है। अन्य गीले फलों को खाना हो तो त्रिकटु, सैंधव, अदरख या सोंठ मिला कर लिया जा सकता है।

मिष्ठान्नों में मालपुआ, मूंग या बेसन के लड्डू, गाजर का हलुआ, मिश्री या बताशा लिया जा सकता है। प्रातःकाल इन द्रव्यों से जलपान किया जा सकता है। बादाम और पोस्तादाने को भिगोकर, सबेरे धो पीसकर घी, काली मिर्च, मिश्री डालकर हलुआ बनाकर लेना भी हितकर है।

पानी में कच्चा पानी नासारोगियों में अहितकर है। अतः हमेशा गर्म करके ठंढा किया हुआ जल लेना चाहिए। बर्षा मध्य काल का (गाङ्ग जल) ठंढा भी लिया जा सकता है। सामान्यतया उष्ण जल का सेवन हितकर होता है। नीबू का रस छोड़कर गर्म पानी पीना हितकर है। वात-पित्तात्मक प्रतिश्याय या जीर्ण प्रतिश्याय में रात में सोते समय ढंढे पानी का पीना हितकर माना गया है।

जाङ्गलजाः रसाः। वार्ताकं कुलकं शिग्रुकर्कोटं वालमूलकं लशुनं दधि तप्ताम्बु वारुणी च कटुत्रयम्। कट्वम्ललवणं स्निग्धमुष्णञ्च लघु भोजनम्। नासारोगे पीनसादौ सेव्यमेतद्यथा वलम्। (यो. र.)

रोगी को अधिकतर खुले निर्वात स्थान में रहना चाहिए, हल्का व्यायाम करना चाहिए। विशेषकर ठंढी हवा, पूर्वी हवा, झड़ी एवं वर्षा की हवा और झंझावात से पूर्णतया बचना चाहिए। मोटे गरम कपड़े पहनना उचित है। सिर पर मोटा कपड़ा लपेटे रहना चाहिए। मोटे कपड़े की पगड़ी सिर पर बाँधना चाहिए।[1]

सहपान में भोजनोपरान्त पुरानी वारुणी या दशमूलारिष्ट लिया जा सकता है।

अपथ्य—ऐसे द्रव्य जो पित्त को उत्तेजित एवं कफ को सुखायें वे नासारोगों में अहितकर होते हैं—जैसे शराब, काफी, चाय, तम्बाकू, सिरका, नमक का अति सेवन, पूय रक्त या नासापाक में ये द्रव्य अधिक हानिकारक होते हैं। क्योंकि पित्तवर्द्धक उष्ण द्रव्यों से रोग की वृद्धि होती है। अति रुक्ष पदार्थों का सेवन भी हानिप्रद होता है, जैसे—मैदे का आटा, मटर प्रभृति द्रव्य। वैसे ही अधिक श्लेष्मल और अभिष्यंदी द्रव्य जो स्रोतस को रुद्ध करें-हानिप्रद होते हैं, जैसे—आनूप मांस, मछली, खोआ, रबड़ी, मलाई, उड़द की दाल, उड़द के बड़े, कचौड़ी आदि। तैल का भी प्रयोग शास्त्र में निषिद्ध है परन्तु संस्कार (ओषधियों के योग से) करके दिया जा सकता है।

शाकसब्जियों में कटहल, केला, सेम, कच्ची मूली, आलू, शकरकंद भिण्डी और कुम्हड़ा हानिकर हैं। फलों में बेर, तरबूज, फूट, केला, कच्चे आम, लीची तथा अन्य अम्ल फल अहितकर हैं।

पेयों में शीतल जल, विभिन्न स्थानों का जल (बिना गर्म किये), बरसाती पानी, तालाब का जल, शर्बत और बरफ तथा अन्य शीतलपेय हानिप्रद होते हैं।

विहार—अधिक बैठे रहना, दिवास्वाप, रात में जागना, सोये में उठकर तुरन्त पानी पीना, अधिक परिश्रम से स्वेदाधिक्य हो उसमें हठात् पानी का पीना अहित है। खुले शरीर या हल्के कपड़े पहन कर शीत ऋतुओं में घूमना, सिर पर से स्नान करना, शोक, क्रोध, अधिक

१. स्थितिर्निवातनिलये प्रगाढोष्णीषधारणम्।

निद्रा, भूमि पर सोना, मल, मूत्र प्रभृति अधारणीय वेगों का धारण करना नासारोगों में अपथ्य हैं।[१]

नासारोगों में इसके विपरीत आचरण पथ्य होते हैं। जैसे-निर्वात स्थान में रहना या शयन करना, मोटे वस्त्र से शरीर को आवृत रखना, पगड़ी का बाँधना या मफलर से कानों को बाँधकर रखना, रात्रि या शीत के समय टोपी या फेल्ट कैप आदि का सिर पर रखना उत्तम रहता है। इससे शीत लगने (Cold exposure) का भय कम रहता है, फलतः प्रतिश्यायादि नासारोगों से बचाव होता रहता है।[२]

प्रायः सभी नासारोगों में (१) स्नेहन (२) स्वेदन (३) शिरोभ्यंग (४) वमन (५) धूम (६) घृतपान (७) नस्य तथा (८) नासाप्रक्षालन, ये स्थानिक तथा कई आभ्यंतर प्रयोग प्रशस्त हैं। इन्हीं उपक्रमों के अनुसार कुछ सामान्य योगों का उल्लेख किया जा रहा है जिनका सर्वसाधारण प्रयोग नाक के रोगों में किया जा सकता है। विशेष उपक्रमों या योगों का वर्णन प्रसंगानुसार तत्तद् रोगों में किया जायगा।

स्नेहन—(Nasal drops or oil drops) *षड् बिन्दु तैल*—भृङ्गराज, लौह, मधुयष्टि कड़ुवा कूष्ट समान भाग में (एक छटाँक की मात्रा में) लेकर कल्क करे और एक सेर पानी में घोल कर सवा सेर तेल में डाल कर, चार सेर भृङ्गराजस्वरस डालकर तैल को विधिवत् सिद्ध करे। इस तैल का नाक के छिद्रों में छः छः बूंद छोड़ने से समस्त नासारोग और शिरोरोग नष्ट होते हैं।

हिंग्वादितैल—हिंगु, त्रिकटु, विडङ्ग, कायफर, बचा, लशुन, लाक्षा, श्वेत पुनर्नवा, नागरमोथा, कुटज और तुलसीपुष्प इन द्रव्यों को समान

१. स्नानं क्रोधं शकृन्मूत्र वातवेगांशुचं द्रवं।
भूमिशय्याञ्च यत्नेन नासारोगी परित्यजेत् ॥ (यो. र.)

२. निर्वातियेगुणा प्रोक्तास्ते गुणाः कर्णवंधते। (वा.)
वासोगुरूष्णं शिरसः सुघनं परिवेष्टनम्।
लघूष्णं लवणस्निग्धं उष्णं भोजनमद्रवम् ॥ (भै. र.)

भाग में लेकर कल्क बना कर तैलपाकविधि से सर्षपतैल को सिद्ध कर लेना चाहिए। इस तैल को नासाद्वारा पूरण करने से यावतीय नासा रोग नष्ट करते हैं। केवल तिल तैल या सरसों के तैल का नस्य लेना भी उत्तम रहता है।

धूम्रयोग—(Inhalation) १. घी, तैल और सत्तू को एकत्र जलाकर उसका धूम्र पीने से सब प्रकार के प्रतिश्याय, कास, हिक्का प्रभृति रोग दूर होते हैं। २. सम्पूर्ण गंधद्रव्य, दालचीनी, तेजपात, बड़ी इलायची और नागकेसर का धूम्रपान करना। धूम्रपान की विधि यह है कि नासा के द्वारा धुएं को खींच कर मुख के रास्ते निकाले या मुख के द्वारा खींचकर मुख के रास्ते ही निकालना चाहिए। ३. तेजपात, दालचीनी, इलायची, नागकेसर, गुग्गुल, घोड़वच, कड़वा कूठ, बेल का गूदा, सहिजन का बीज, लौंग, कलौंजी और तम्बाकू को समान भाग में लेकर कुचल पीस कर किसी कागज या पत्ते में लपेट कर बीड़ी जैसे बना ले और इसका धूम्रपान पूर्वोक्त बिधि से करे। ४. इङ्गुदीवर्ति (बीड़ी Cigar) इङ्गुदी वृक्ष के फल की मज्जा, दारुहल्दी, दन्तीमूल, अपामार्ग के बीज या पत्र, तुलसी के बीज या पत्र समान भाग में लेकर सील पर महीन पीस कर तैल मिला कर कल्क बना ले। पुनः एक बारह अंगुल लंबे सरकंडे को लेकर उस पर कल्क का मोटा लेप करके बत्ती बना कर छाया में सुखा ले। जब वह सूख जाय तो सरकंडे को सावधानी से खींच कर बाहर निकाल ले। फिर सोलह अंगुल पोली नली में उस बत्ती को फंसा कर बत्ती के ऊपरी सिरे पर आग लगा दे। नली के द्वारा धुवाँ नाक से पीकर मुख से निकाले और मुख से पिया हुआ मुख से ही निकाले—नाक से नहीं। इसके प्रयोग से नासारोगों में लाभ होता है।

नस्य (Snuffs or Nasal Spray) १. अर्कक्षीर में मुलतानी मिट्टी सात बार भिगोकर छाया में सुखा कर बारीक पीस कर शीशी में भर कर रख लिया जाय और नासारोग में छींक ले आने की आवश्यकता हो तो नस्य देना चाहिये। इस से नासागत रक्तसंचार ठीक होकर

कला का शोफ शान्त हो जाता है। २. कट्फलचूर्ण कायफर को बारीक पीसकर कपड़छान चूर्ण बना कर उसका नस्य लेना। ३. सुंघनी का प्रयोग। ४. छिक्का नामक बनस्पति का प्रयोग भी हितकर होता है।

आभ्यन्तर प्रयोग—१. शट्यादि चूर्ण, भूम्यामलकी, कचूर और त्रिकटु समान भाग में लेकर चूर्ण करे। बल तथा कालानुसार ३ माशे से ६ माशे तक की मात्रा में घी और गुड़ के साथ सेवन करे।

लवङ्गादि चूर्ण—लौंग, शुद्ध कपूर, इलायची, दालचीनी, नागकेशर, जायफल, खस, सोंठ, स्याह जीरा, अगर, वंशलोचन, जटामांसी, कमल गट्टा, पिप्पली, सफेद चन्दन, तगर, सुगन्धबाला, कंकोल या शीतल चीनी, सभी को समान भाग में लेकर चूर्ण करे और चूर्ण की आधी मिश्री लेकर मिला ले। इसके सेवन से सभी नासारोग नष्ट होते हैं।

निदिग्धिकादि कषाय—छोटी भटकटैया, गिलोय और शुंठी का क्वाथ बना कर पिप्पली चूर्ण का प्रक्षेप डाल कर पीना। इसी प्रकार कट्फलादि चूर्ण या कट्फलादि कषाय का सेवन भी सामान्य सभी नासारोगों में कराया जाता है। एवं इस से उत्तम लाभ होता है।[1]

व्योषादि वटी, अगस्त्य हरीतकी या चित्रक हरीतकी[2]—का उपयोग भी लाभप्रद होता है। व्योषादि वटी के निर्माण में त्रिकटु, तालीशपत्र, चव्य, तिंतिड़ीक, अम्लवेत, चित्रक और जीरा (आठ-आठ तोले) दालचीनी, इलायची के बीज और तेजपात (दो दो तोले) और गुड़ (दो सौ तोले) मिलाकर गोलियां बनाई जाती हैं। इसका उपयोग मुख

---

१. कट्फलं पौष्करं शृङ्गी व्योषंयासश्च कारवी एषां चूर्णं कषायं वा दद्यादार्द्रकजैः रसैः। पीनसे स्वरभेदे च तमके सहलीमके सन्निपाते कफे वाते कासे श्वासे च शस्यते ॥ यो.र.

२. चित्रकस्यामलकयाश्च गुडूच्यो दशमूलजम्
शतं शतं रसं दत्त्वा पथ्या चूर्णाढकं गुडात्।
शतं पचेद्घनीभूते पलद्वादशकं क्षिपेत्
व्योषत्रिजातयोः क्षारात् पलार्द्धमपरेऽहनि ॥
प्रस्थार्द्धं मधुनो दत्वा यथाग्न्यद्यादयंत्रणः। (भै.र.)

में रखकर चूसने में होता है । सामान्यतया सभी नासारोगों में विशेषतः प्रतिश्याय और कास में इसका उपयोग लाभ प्रद रहता है ।

चित्रक-हरीतकी—चित्रक की छाल ५० पल, जल ४०० पल, कथित करके १०० पल शेष रखे । फिर आँवले का स्वरस १०० पल । गुडूची और दशमूल ५०-५० पल लेकर अष्ट गुण जल में कथित करके चतुर्थांशविशिष्ट क्वाथ १००-१०० पल बनावे । इन क्वाथों को मिलाकर उसमें १०० पल पुराना गुड़ छोड़े । गुड़ को घोलकर छान ले । अब एक कड़ाही में इस जल को अग्नि पर चढ़ावे और उसमें ६४ पल हरीतकी चूर्ण छोड़कर पाक करे । पाक के घनीभूत होने पर उसमें त्रिकटु, दालचीनी, तेजपात एवं छोटी इलायची को बराबर मात्रा में लेकर महीन चूर्ण बनाकर कुल १२ पल तथा यवक्षार आधा पल मिला कर अग्नि से नीचे उतार ले । ठंढा होने पर उसमें शहद ८ पल मिला ले । मात्रा-६माशा २ तोला अनुपान–गर्मदूध । दुःसाध्य नासारोग तथा गले की खराबी में यह योग उत्तम लाभ प्रद है ।

पञ्चामृत रस—शुद्ध पारद एक भाग, गन्धक दो भाग, टंकण तीन भाग, शुद्ध विष (वत्सनाभ) चार भाग और मरिच पाँच भाग । इन द्रव्यों को अदरक के रस में घोट कर पाँच रत्ती की गोलियाँ बना ली जाँय । इस योग को योग्य अनुपान के साथ सभी नासारोगों में व्यवहार किया जा सकता है ।

नारदीय लक्ष्मी विलासरस—अभ्र भस्म ४ तोले, पारा, गन्धक, कपूर, जावित्री और जायफल प्रत्येक २-२ तोले, विधारा, धतूर एवं भाँग के बीज, विदारीकन्द, शतावर, गंगेरन, कंघी, गोखरु बीज, समुद्र फल प्रत्येक का १-१ तोला पान के रस में घोटकर तीन तीन रत्ती की गोलियाँ बनावें । यथानुपान प्रतिश्याय में प्रयोग लाभ प्रद होता है ।

महालक्ष्मी विलासरस—सुवर्ण, अभ्रक, चाँदी, ताम्र, वंग, तीक्ष्ण लौह, मुण्ड लौह, कान्त लौह, नाग इन द्रव्यों के भस्म शुद्ध वत्सनाभ और मुक्ता भस्म, प्रत्येक का १-१ भाग तथा पारद एवं गंधक सब को बराबर मात्रा में लेकर एकत्र करके शहद में घोंट कर दो तीन दिनों तक सुखाकर

'कुक्कुट पुट' में पकाकर स्वाङ्ग शीतल होने पर निकाले। पश्चात् चित्रक-क्वाथ में भावित कर रख ले। एक रत्ती की मात्रा में प्रयोग करे।

अणुतैल—चन्दन, अगुरु, तेजपात, दारुहल्दी, मधुयष्टी, वलामूल, कमल, छोटी इलायची, वायविडङ्ग, बेल, नील कमल, अभया, दालचीनी, मोथा, सारिवा, स्थिरा, जीवन्ती, पृष्णिपर्णी, देवदारु, शतावरी, हरेणु, बृहती, व्याघ्री, सुरभी, पद्मकेसर, इन द्रव्यों को सौ गुने 'वर्षा-जल' में पकावे। फिर इस कषाय को तैल दस गुनी मात्रा में लेकर तिल तैल का पाक दसबार करे। दसवीं बार के पके तैल को छानकर उसमें पुनः बराबर मात्रा में बकरी का दूध डाल कर पकावे। इस प्रकार से बना तैल 'अणु तैल' है इसका नस्य कर्म में यथाविधि प्रयोग करे। (च. सू. ५)

आजकल के (Nasal drop, Nasal spray, Alkaline doush) प्रभृति उपचार प्राचीन स्निग्धनस्य, विन्दु, प्रधमन, ऊर्ध्ववस्ति के ही प्रतिनिधि हैं। यद्यपि गुण एवं क्रिया की दृष्टि से इनमें पर्याप्त भेद है।

३

नासारोगों की संख्यासूची

आचार्य सुश्रुत ने नासा में होने वाले रोगों की संख्या ३१ बतलाई है; परन्तु योगरत्नाकर और भावप्रकाश ने अपने वर्णनों में ३४ रोगों की सूची दी है।[1] इनमें सभी नासागुहा में होने वाले रोग हैं; परन्तु नासाशोथ और नासापाक वाह्य नासिका (Vestibule) के जान पड़ते हैं।

---

१. आदौ च पीनसः प्रोक्तः पूतिनासस्ततः परं, नासापाकोऽत्र गणितः पूयः शोणितमेव च। क्षवथुः भ्रंशथुः दीप्तिः प्रतिनाहः परिस्रवः नासाशोषाः प्रतिश्यायाः पंचसप्तार्बुदानि च। चत्वार्यर्शांसि चत्वारः शोथाश्चत्वारितानि च रक्तपित्तानि नासायां चतुस्त्रिंशद् गदाः स्मृताः। (यो. र.)

रोग	अधिष्ठानभेद	दोषप्रावल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय
नासाशोथ	बहिर्नासिका या नासापुट (Vestible)	१ वा. २ पि. ३ श्लै. ४ सन्निपात	Dermititis Fissures Boils in the vestible Due to infection of the Hair follicles
नासापाक	”	पित्त रक्तज	
नासानाह / प्रतिनाह	नासाजवनिका (Septum)	वात कफज	Deviation of septum
प्रतिश्याय	नासागतश्लेष्मलकला	१. वा. २. पै. ३. श्लै. ४. र.	Acute Rhinitis
	नासागुहा (Cavity)	५. सन्नि.	
दुष्टप्रतिश्याय	”	”	Chronic or Hyper trophic Rhinitis
पीनस	”	वा० श्लैष्मिक	Atrophic Rhinitis (Atrophic Rhinitis)
पूतिनास	”	”	Ozaena (Atrophic Rhinitis)
नासाशोष	”	वातपित्तज	Rhinitis Sicca (Atrophic Rhinitis)
पुटक	”	पित्त श्लैष्मिक	Obstructivecrust (Atrophic Rhinitis)
दीप्ति	”	पित्त	Severe burning irritation A. Coryza.
क्षवथु	”	वा.	Vasomotor Rhinorrhoea
भ्रंशथु	”	वा. पित्तज	Mucoid discharge of the Thickened lining membarane of the sinus
परिस्राव	”	श्लैष्मिक	Rhinorrhoea. (Acute or chronic)
नासार्श	”	१. वा. २. पै. ३. श्लै. ४. स०	Nasal polypi
नासार्बुद	”	१. वा. २. पै. ३. श्लै. ४. मे. ५. मांस. ६. रक्त. ७. त्रिदोषज	Newgrouths in the Nose (Benign or Malignant)
नासागत-रक्त पित्त	”	१. वा. २. पि. ३. श्लै. ४. र. ५. त्रि	Epistaxis.
पूयशोणित	”	त्रिदोषज	Lupus in the Nose.
नासाकृमि	”	... ...	Magates in nose
नासाशल्य	”	... ...	Foreign body in the Nose
नासाविवरशोथ	(Accessary of the Nose)	... ...	Sinusitis

४

नासारोगगत लक्षणों का विश्लेषण

नासावरोध—नाक का बन्द होना जिससे साँस लेने में कठिनाई पैदा होती है, यह एक प्रधान लक्षण नासारोगों में मिलता है। इस लक्षण की प्राचीन संज्ञा 'नासाप्रतीनाह' (Nasal obstruction) है। इस अवस्था की उत्पत्ति अनेक कारणों से हो सकती है। इनमें प्रधान तीन हैं—

१. नासा की रचना सम्बन्धी या विकास सम्बन्धी (Anatomical or developmental) अस्वाभाविकता। जैसे नासा जवनिका का विमार्ग गमन (Deviation), अथवा नासाछिद्रों का सहज संकोच (Congenital narrowing), अथवा एक या दो शुक्तिकावों का सहज या जन्मोत्तर निरोध (Atresia) होना।

२. नासागुहा की श्लेष्मलकला की विकृतिजन्य उत्पन्न अस्वाभाविकता (Pathologioal Changes of the Mucous membrane)। इस वर्ग में निम्नलिखित विकारों का ग्रहण हो सकता है।

(क) कला की वृद्धि—ऐसी अवस्था बार बार नासाकला शोथ होने के कारंण आ जाती है। (ख) नासार्सों (Polypi) के कारण। (ग) अधिक स्राव का संग्रह। इस विकार की प्राचीन संज्ञा 'नासाशोष' है।

३. नासाकला की वातनाडी समुदाय का अधिक उत्तेजित होना (Hyper Sensitivity of nervous Mechanism of the nasal Mucous membrane) इस कारण से नासाकला में शोथ हो कर नासावरोध हो जाता है और 'प्रतीनाह' या 'शोष' की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

नासागत स्राव—(परिस्रव) नासारोगों में स्राव का निकलना 'नाक का बहना' दूसरा प्रमुख लक्षण पाया जाता है। यह स्राव किसी

क्षोभ पैदा करने वाले द्रव्य के नासा सम्पर्क में आने से या नासागत श्लेष्मलकला के तीव्र शोथ के बार बार दौरे होते रहने से हो सकता है। इस अवस्था में यह स्राव पतला (तनु) पानी जैसा (जलीय) (Thin and watery) होता है, यदि यह स्राव अधिक हुआ तो नासावरोध भी साथ ही साथ रहता है। जीर्णावस्था में गाढ़ा (घन) होता है और इसकी उपस्थिति का अनुभव गले में पीछे की ओर होता है। तीव्रावस्था में स्राव या 'परिस्रव' नासागत श्लेष्मलकला के शोथजन्य प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप रहता है और कुछ अंशों में तत्रस्थ श्लेष्मलकला का रक्षण करता है। दूसरी अवस्था में (जीर्ण में) जीर्णस्राव—श्लेष्मलकला की वृद्धिजन्य होता है। यह कला की वृद्धि भी कला के रक्षानिमित्त ही होती है। लम्बे अर्से तक शोथ के चलते रहने की वजह से प्रकृति, कला को मोटी (Hyper trophied) कर देती है, जिससे कला का संक्षय न हो पावे। इस तरह जीर्ण स्राव इस वृद्धि युक्त कला का ही उद्रेचन होता है।

इस स्राव की तनुता या घनता के अनुसार कई प्रकार के चिह्न रोगियों में देखने को मिलते हैं—जितना ही अधिक श्लेष्मा का भाग बढ़ेगा और स्राव की घनता बढ़ेगी उतना ही स्राव चिपचिपा और गाढ़ा होता जायगा। साथ ही कोषाङ्कुरक्रिया (Ciliary mechanism) में भी बाधा उत्पन्न होती है। ऐसा दो कारणों से होता है १. कोषाङ्कुर रोगावस्था में स्वयं विकारग्रस्त हो जाते हैं। २. दूसरा कारण यह है कि कोषाङ्कुर अधिक गाढ़े स्राव के बाहर फेंकने में असमर्थ हो जाते हैं। यही वजह है कि यदि प्रकृत भाव से नासागत स्राव सामने से नहीं निकल पाता तो उसका स्राव नासा पश्चात् भाग में इकट्ठा होता है और वह नीचे की ओर नासाग्रसनिका में आकर मुख द्वारा फेंका जाता है। यह लक्षण कोषाङ्कुर क्रिया की विगुणता का द्योतक है।

कभी कभी पूय की उपस्थिति भी नासास्रावों में हो सकती है। नासागत शोथ की जितनी भी अवस्थायें मिलती हैं उनमें प्रायः सभी का परिणाम 'पूयाभ' श्लेष्मलस्राव (Mucopurulent discharge) का

रूप ले लेता है। इस प्रकार के पूयकोषाणु श्लेष्मलकला के स्तर से नासास्राव के रूप में बाहर निकलते हैं।

विभिन्न प्रकार के स्रावों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थकारों के 'परिस्रव' नामक व्याधि के एक सूत्र में ही आ जाता है। उसमें चार प्रकार के स्रावों का प्रसंग आता है। इसी का साम्य रखता हुआ एक अन्य वर्णन भी मिलता है, जिसे 'भ्रंशथु' की संज्ञा दी गई मिलती है। (अ) तनु स्राव या (ब) तनु और सित (सफेद) स्राव (Thin and watery secretion or copious watery secretion)—इस प्रकार का स्राव नव प्रतिश्याय या श्लेष्मलकला का तीव्र शोथ या अनूर्जता (Allergy) के कारण (Due to derangement of sympathetic N. System termed as Vasomotor Rhinorrhoea) मिलता है। अनूर्जता की अवस्था में हठात् रोग का दौरा होकर स्राव शुरू हो जाता है और अचानक बन्द भी हो जाता है। इसका विशेष चिह्न जलवत परिस्रव ही है। (स) घन स्राव (द) घन और पीत स्राव इस प्रकार का परिस्रव कई कारणों से हो सकता है। (Thick and sticky or Mucopurulent Discharge) नासाकला का जीर्ण शोथ जिसके परिणाम स्वरूप कलावृद्ध होकर मोटी हो गई हो अथवा अनवरत पीतवर्ण के स्राव का होना प्रायः नासा वायुविवर या नासा कोटर के विकारों का द्योतन करता है। इस स्राव के भीतर ही 'परिस्रव' और 'भ्रंशथु' नामक विकार द्वय का समावेश हो जाता है। परिस्रव में पतला एवं भ्रंशथु में गाढ़ा स्राव पाया जाता है।

पीड़ा—नासागत व्याधियों में पीड़ा का होना कोई विशेष लक्षण नहीं है। दो ही प्रधान वेदनायें होती हैं नासा का अवरोध और परिस्रव (Nasal obstruction & Discharge)। एक प्रकार की पीड़ा जिसका अनुभव नासारोगियों में होता है वह है क्षोभ के कारण उत्पन्न हुआ दाह (Burning Irritation), जो तीव्र प्रतिश्याय में प्रायः मिलता है। जब यह बहुत तीव्र होता है तब उस अवस्थाविशेष को 'दीप्ति' कहते हैं। यह प्राचीनों की दी हुई संज्ञा है जो तीव्र प्रतिश्याय

की अवस्था विशेष (Acute coryza) का द्योतन करता है। वायु तथा धूलि के कारण भी क्षोभ पैदा होकर पीड़ा हो सकती है।

स्थानिक पीड़ा की अधिकता नासागत अरुषिका (Furunculosis) अथवा नासाछिद्रों (Vestible) के रोमकूपों के उपसर्ग में हो सकती है। इस रोग को 'नासिका पाक' नाम से प्राचीनों ने बतलाया है। इस प्रकार की अवस्था कक्षा (Herpes) या विचर्चिका (Eczymatous erruptions) के कारण भी हो सकती है। नासापाक की उत्पत्ति के पूर्व की अवस्था 'नासाशोथ' की रहती है। इन दोनों अवस्थाओं ('नासाशोथ' या 'नासापाक') में रोगी को नाक की पीड़ा का अनुभव होता रहता है। कई बार नासा छिद्रों की ऊपरी दीवाल में (Outer and lower border) छोटे छोटे विदार (Fissures) होने की वजह से भी पीड़ा होती है।

कई बार नासागत पीड़ा का अनुभव झर्झरास्थिविवर अथवा पुरः कपाल विवरशोथ (Frontal & Ethmoidal) के कारण भी होता है। इन अवस्थाओं में पीड़ा संवाहित होकर नाक तक आती है।

बहुधा वातिक नाडियों के विकारों (पंचम शिरस्का एवं त्रिधारा) या दन्तरोगों के कारण भी नासा में पीडा का अनुभव होता है।

वाह्यवैरूप्य (External deformities)—नासा के बाहरी भाग की विरूपता वैकासिक (Developmental) या वैकारिक अथवा अभिघातज हो सकती हैं। विरूपता के कारण नासा एक ओर या दूसरी ओर सरक जाती है। (असमान वृद्धि के कारण) अथवा नाक बहुत संकरी अथवा अविकसित रह जाती है। ऐसा अधिकतर उस समय होता है जब नाक को भर पूर काम में नहीं लाया जाता।

अभिघात के कारण भी नासा में इसी प्रकार की अस्वाभाविकता आ सकती है जैसे नाक का धस जाना (नासा सेतु के बैठ जाने से) अथवा नासा एक ओर या दूसरी ओर को स्थानभ्रष्ट हो जाय अथवा नासास्थियों का भ्रंश हो जाय।

रोगों में फिरंग और क्षय ऐसे रोग हैं जिनके कारण उपरोक्त नासा की विरूपता आ जाती है। आचार्य सुश्रुत ने इस विषय का विस्तृत वर्णन शल्यतन्त्रान्तर्गत कर्णव्यधबंध नामक अध्याय में किया है। अस्तु इसका वर्णन शालाक्य में अप्रासंगिक है।[1]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यावतीय नासारोगों में प्रायः तीन ही व्यथायें मिलती हैं। नासावरोध (प्रातीनाह) स्राव (परिस्रव या भ्रंशथु) दाह एवं पीड़ा।

अब स्थान भेद से संहितोक्त नासारोगों के अवस्थान दोष प्रावल्य हेतु तथा सम्प्राप्ति, पर्याय और चिकित्सा प्रभृति अङ्गों का विस्तृत वर्णन किया जायगा। साथ ही आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषा के आलोक में उनका समन्वयात्मक उल्लेख भी होता चलेगा।

---ɷ---

बहिर्नासिका या नासापुट (नथुनों) के रोग

(Diseases of the Vestible)

नासशोथ तथा नासापाक—नासिकागत पित्त जब वहाँ पर अरुंषिका (छोटी छोटी फुन्सियों या पिडिकाओं) को पैदा कर देता है अथवा जब पूयोत्पत्ति हो कर नासिका पक जाती है अथवा नाक पर जब सड़ान और गीलापन (कोप एवं विक्लेद) होने लगता है, तब उस विकार को नासापाक कहते हैं।[2]

आचार्य चरक के मत से केवल पित्त ही नहीं, वल्कि रक्त और पित्त दोनों की विकृति नासापाक में कारण होती है। पाक के (व्रण के)

१. विशेष वर्णन लेखक की 'सौश्रुती' में संधानीयाध्याय में देखें।

२. घ्राणाश्रितं पित्तमरुंषिकुर्यात् यस्मिन्विकारे बलवांश्च पाकः।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्विक्लेदकोथावपि यत्र दृष्टौ ॥ (सु.)

कारण नथुने लाल होते हैं एवं उनमें दाह होता है। पहले दाह और लालिमा के साथ शोथ होता है (नासाशोथ), फिर वह शोथ पक जाता है (नासापाक)।'[1]

आचार्य वाग्भट ने भी लिखा है कि पित्त नासापुट के चमड़े और मांस को पका देता है जिससे वहाँ पर दाह, शोथ और वेदना होती रहती है।

चिकित्सा—'नासाशोथ' की शल्यतन्त्रोक्त शोथचिकित्सा के विधानों के अनुसार व्रण शोथवत् चिकित्सा करनी चाहिये। सामान्य व्रण शोथवत्[2] नासाशोथ के भी चार प्रकार हैं वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक एवं सान्निपातिक। फलतः दोषों के विभेद से यथायोग्य औषधियों के द्वारा स्नेह, स्वेद, सेक, आलेप, लेप, रक्तावसेचन, उपनाह, पाचन प्रभृति उपक्रमों को वरतना चाहिये।[3] नासाशोथ की चिकित्सा में शालाक्य विद् (१) दूध और घृत की प्रधानता से पका हुआ और अणुतैल के कल्क से सिद्ध हुए तैल का विधान करते हैं। (२) घृतपान, (३) जाङ्गल मांसरस (४) स्वेद, (५) स्नैहिकधूम्र का प्रयोग करते हैं।[4]

'नासापाक' की चिकित्सा में (१) पित्तनाशन का विधान इसके लिये वाह्य तथा आभ्यान्तर पित्तघ्न विधानों को रखना चाहिये। (२) रक्त का मोक्षण (३) क्षीरी वृक्षों की त्वचा के कषाय से सेक (४) तथा घृतमिश्रित लेपों का प्रयोग करना चाहिये।[5]

---

१. स दाहरागश्वयथुः सपाकः स्याद् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात्। (चरक)

२. शल्यतन्त्र में व्रणशोथ के छः प्रकार बतालाये गये हैं—संसर्गज होने पर अधिक भी हो सकते हैं, परन्तु यहाँ पर नासाशोथ के चार ही प्रकार हैं।

३. रक्तपित्तानि शोथाश्च तथार्शांस्यर्वुदानि च।
नासिकायां स्युरेतेषां स्वं स्वं कुर्याच्चिकित्सितम्॥ (यो. र)

४. नासशोफे क्षीरसर्पिः प्रधानं तैलं सिद्धं चाणुकल्केन नस्यम्।
सर्पिःपानं भोजनं जाङ्गलैश्च स्नेहस्वेदैः स्नैहिकाश्चात्र धूमाः॥ (यो. र.)

५. नासापाके पित्तनाशं विधानं कार्यं सर्वं वाह्यमाभ्यान्तरञ्च।
हरेद्रक्तं क्षीरिवृक्षत्वचश्च योज्या सर्वेसघृताश्चप्रलेपाः॥ (यो. र.)

योग—१. शतधौत घृत का लोप २. पचक्षीरी वृक्ष के कषाय से प्रक्षालन ३. खाने के लिये रक्तशोधक योगों का प्रयोग जैसे, कैशोर गुग्गुल, मञ्जिष्ठादि क्वाथ का प्रयोग, प्रवाल, मुक्ता, शुक्ति, गैरिक प्रभृति औषधियों का आभ्यन्तर प्रयोग भी हितकर होता है।

विवेचन—उपर्युक्त लक्षणों एवं चिकित्सा के आधार पर यदि विचार किया जाता है तो स्पष्ट हो जाता है कि नासाशोथ या नासापाक बहिर्नासागत या नासापुटगत दृष्टविकार है जिसमें नाक की त्वचा और मांस फूले हुए या पके हुये दीख पड़ते हैं। ऐसे रोगी बहुतायत से दिखलाई पड़ते हैं। कई बार यह विकार नासात्वक्शोफ (Dermitis of the vestibule) के रूप में, कई बार नासाछिद्र विदार (Fissures) के रूप में और कई बार नासापिडिका या अरुंषिका के रूप में (Boils in the nose) दिखलाई पड़ता है। फलतः चिकित्सा के क्रमों में भी थोड़ा अन्तर आ जाता है।

त्वक् शोफ—की अवस्थामें १. पूर्ण स्वच्छता आवश्यक है २. खुरण्डको साबुन और पानी या गरम जैतून के तेल से साफ कर लेना चाहिये। ३. पश्चात् इक्थियाल सोल्युशन ३०% को लगाना, या गन्धकाद्यमलहर या सैलिसिलिक मलहर का प्रयोग करना चाहिये।

विदार—(Fissure)—रजत नाइट्रेट घोल (१०%) का लगाना पश्चात् कोई भी स्निग्ध पदार्थ या मल्हम के द्वारा नासापुट को भर देना चाहिये जिससे विदार पूरित हो सके।

नासापिडिका या विद्रधि—यह रोमकूपों (Hair Follicles) के उपसर्ग से होने वाला रोग है एवं एक रोमकूप से दूसरे रोमकूपों में फैलता हुआ विस्तृत उपसर्ग या विद्रधि पैदा कर देता है। यह एक प्रकार के रोग (Boil in the vestible or floor of the nose) की गम्भीर स्थिति है क्योंकि इसका उपसर्ग ऊपर की ओर होकर मस्तिष्कगत उपद्रवों को पैदा कर देता है। प्रारम्भ में इसका

सर्जार्जुनोदुम्बरवत्सकानां त्वचाकषायं परिधावनेन।
कषायकल्कैरपि चैभिरेवं सिद्धं घृतं घ्राणविपाकनाशी॥

भेदन नहीं करना चाहिये, बल्कि किसी प्रकार पीडन के द्वारा (Squeezing or evacuation) बहा देना चाहिये। स्वेदन के द्वारा 'मैगनेशियम् सल्फेट' या 'एल्युमिनम एसिटेट' को वेसिलीन में मल्हम बनाकर प्रयोग करना चाहिए। पेनीसिलीन या शुल्व (Sulpha) अधिकार की ओषधियों का प्रयोग रोग की बढ़ती को रोकने के लिये हितकर है। कई बार रोमाङ्कुरों को (Hair Follicles) खींच कर सावधानी से निकालना, पश्चात् 'जेनेशियन वायलेट' २% घोल का लेप करना चाहिये। कई बार क्षकिरण का स्थानिक प्रयोग हितकर होता है नासा को स्निग्ध रखना चाहिये।

६

नासाजवनिका के रोग

(Diseases of the septum)

प्रतिनाह या नासानाह—(Deviation of the Nasal septum) "कफ वायु के साथ संयुक्त होकर उच्छ्वासमार्ग (नासामार्ग) को रुद्ध कर देता है। उस व्याधि को प्रतिनाह कहते हैं।"[1]

आचार्य वाग्भट ने इसी विकार को नासानाह की संज्ञा दी है "वायु के द्वारा प्रेरित हुआ कफ नासामार्ग को नद्ध (अवरुद्ध) कर देता है, जिससे नाक भर जाती है इससे न तो बाहर की सांस भीतर खींची जा सकती है और न भीतर की बाहर छोड़ी जा सकती है। ऐसा मालूम पड़ता है मानों नाक के छिद्र बन्द हो गये हैं।"[2]

आचार्य सुश्रुत ने भी कहा है कि "उदान नामक वायु कफ से आवृत होकर जब अपने मार्ग में विगुण हो जाता है तो नासामार्ग अवरुद्ध

---

१. उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुंध्यात्प्रतीनाहमुदाहरेत्तम्। (मा. नि.)

२. नद्धत्वमिव नासायाः श्लेष्मरुद्धे च वायुना निःश्वासोच्छ्वाससंरोधात् स्रोतसी संवृते इव।

हो जाता है, नाक विल्कुल सट जाती है। अस्तु, नासा में आनाह पैदा होता है, आनाह पैदा होने के कारण इस विकार को नासानाह कहते हैं''[1]

नासानाह—नासास्रोतों का अवरोध होना एक लक्षण मात्र है, जिसका स्वतन्त्र व्याधि के रूप में इस अधिकार में उल्लेख मिलता है। यह लक्षण या उपद्रव जैसा पहले कहा जा चुका है नाना प्रकार के नासा-रोगों में मिल सकता है वल्कि इसे एक नासारोग का प्रधान लक्षण कहा जा सकता है मामूली सर्दी या जुकाम में भी आनाह होता है–जो अल्पकालीन होता है। नासान्तर्गत श्लैष्मिककला के मोटे हो जाने से, श्लैष्मिककला बढ़ जाती है और नासा सटी सी रहती है, नासार्श के कारण, नासार्वुद, नासाविद्रधि, नासागत अभिघात, नासागत गठाँ (Lupus), नासाजवनिका का रक्तार्वुद (Heamatoma) नासा जवनिकाविद्रधि (Abscess of the Nasal septum), नासाजव-निका–विमार्गगमन (Diviation), नासागुहागत शल्य अथवा शुक्ति-कास्थि की वृद्धि होने पर इस प्रकार का आनाह संभव है।

यहाँ पर शास्त्रीय वर्णन नासाजवनिका पथच्युति या विमार्गगमन (Deviation) का ही द्योतक है। क्योंकि शास्त्रीय वर्णनों के आधार पर स्रोतस का संवृत (Blockage of the part of the meatus) एक विशिष्ट लक्षण मिलता है। यह पथच्युति दो प्रकार की हो सकती है—वैकासिक या आभिघातिक। पुनः स्थानभेद से दो प्रकार होती हैं। ऊपर की अस्थिमय जवनिका (Bony deviation) की अथवा नीचे की या तरुणास्थिमय जवनिका (Cartilaginous deviation) की।

Bony deviation for the most part cause what are known as "spurs." Spurs are out growths or ridges encountered in the lower part of the nose, these cause blockage of the part of the Meatus which they occupy. Spurs may be anterior or they may be posterior. In an

१. कफावृतो वायुरुदानसंज्ञो यदा स्वमार्गे विगुणः स्थितः स्यात्।
घ्राणं वृणोतीव तदा स रोगी नासाप्रतीनाह इति प्रदिष्टः॥

examination of the nose a septum which is seen to be straight anteriorly may possibly present appearances posteriorly which are sufficient to account for nasal obstruction and chronic nasal disease. The ceartilaginous deviation on the other hand are antorior in position and very frequently involve the upper part of the quadritateral cartilage.

अर्थात् नासाजवनिका के अस्थिमय भाग के विमार्ग गमन से खुरण्डों की उत्पत्ति होती है। ये खुरण्ड नाक के अधोभाग की वृद्धि या उभार के रूप में पैदा होते हैं ये निकल कर नासा स्रोत में जहाँ पर पैदा होते हैं उस भाग को रुद्ध कर देते हैं। ये खुरण्ड नासिका के अग्र भाग में या पीछे के भाग में भी हो सकते हैं। नासा की परीक्षा करते हुए जवनिका की स्थिति सामने से सीधी दिखलाई पड़ने पर पीछे की ओर टेढ़ी हो सकती है जिससे पर्याप्त मात्रा में नासा का अवरोध संभव रहता है और नाक में कोई जीर्ण स्वरूप का रोग पैदा हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यदि कहीं जवनिका तरुणास्थिमय भाग की, जो आगे की ओर रहता है, स्थान-च्युति हुई तो उसका प्रभाव बहुधा चतुष्कोणाकार तरुणास्थिमय भाग के ऊपरी हिस्से पर पड़ता है।

यदि यह नासाजवनिका की च्युति होना बहुत बढ़ी हुई अवस्था में हो तो उसके कारण उसके उभार से मध्यशुक्तिका के ऊपर दबाव या भार पड़ कर वायुविवारों के छिद्र भी बन्द हो जाते हैं। यह अवरोध विशुद्ध रूप से यान्त्रिक (Mechanical) होता है अथवा कई बार नासागत श्लेष्मलकला के रक्ताधिक्य के परिणाम स्वरूप भी होता है। इसका परिणाम यह होता है कि नासा का श्वासमार्ग (Nasal air ways) अस्वाभाविक रूप से संकरा हो जाता है।

इसी अवस्था की पुष्टि प्राचीनों के "नद्धत्वमिव नासायाः" उच्छ्वास मार्गावरोध "घ्राणं वृणोति" प्रभृति वाक्यों से होता है। अस्तु, नासानाह

या प्रतिनाह नाम से वर्णित व्याधि निश्चित रूप से" सेप्टलडेवियेशन" नामक व्याधि का ही द्योतक है, ऐसा समझना चाहिये ।

नासानाह चिकित्सा—१. स्नेहपानं[1], २. स्निग्ध-धूम्रपान ३. शिरोवस्ति ४. वला तैल के द्वारा नासा पूरण ५. स्निग्ध स्वेद ५. भोजन में मांसरस का प्रयोग ७. बलातैल का पीने के लिये प्रयोग ८. गोघृत का पिलाना । नासानाह की चिकित्सा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि घनीभूत दोष पतले पड़ कर बाहर निकालें । इसके लिये नारायण तैल, वला तैल, प्रभृति तैलों का प्रयोग करना चाहिये । कई बार तीव्र अवपीडन नस्य देने से भी लाभ होता है ।[2]

आधुनिक युग में इसकी चिकित्सा करते हुए कई एक द्रव्य जो स्रोत के विस्फारक होते हैं प्रयोग में आते हैं—जैसे 'एड्रेनैलीन' या 'एफेड्रीन' के दो प्रसिद्ध योग बहुत प्रचलित हैं । 'एण्ड्रिन ड्राप' (Encrindrop) तथा (Prothricine) 'प्रोथ्राइसिन' के प्रयोग से तथा लेखन क्रिया के लिये "सिल्वर नाइट्रेट" या 'कास्टिक' का प्रयोग भि हितकर है । यदि इन क्रियाओं से लाभ नजर न आवे तो शस्त्रकर्म (Cure of Septal deformity by operation) के द्वारा नासा-जवनिका के विकार को दूर किया जाता है ।

—o—

७

नासागुहा के रोग

(Diseases of the Nasal Cavity)

प्रतिश्याय नासाकला शोथ (Acute Rhinitis, Coryza, Common Cold सर्दी या जुकाम)

---

१. नासावनाहे कर्त्तव्यं पानं गव्यस्य सर्पिषः । (यो. र.)

२. नासानाहे स्नेहपानं विधानं स्निग्धोधूमोमूर्द्धवस्तिश्च नित्यम् ।
वलातैलं सर्वथैवोपयोज्यं वातव्याधावन्यदुक्तञ्च यद्यत् । (सु० उ० २३.)

व्याख्या—शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—प्रति एवं श्याय दो शब्द हैं प्रति का अर्थ है अभिमुख और श्याय का अर्थ है गमन या निकलना प्रति उपसर्ग के साथ "शैङ् गतौ" धातु का योग है। समूह में अर्थ होता है वायु के प्रति या अभिमुख (ओर) कफादिक का गमन जिस रोग में हो उसे प्रतिश्याय कहते हैं। चरक में भी लिखा है "नासिका के मूल में स्थित कफ, रक्त तथा पित्त वायु से आध्मान सिर से वायु की ओर जाते हैं।"[1]

प्रतिश्याय को बोल चाल में सर्दी लगना या जुकाम होना कहते हैं। यह अवस्था नाक के रोगों में सर्व प्रथम तथा प्रधान है। साधारणतः नाक के रोगों में पहले प्रतिश्याय होता है और वही प्रतिश्याय पुराना होकर या बिगड़कर नाना प्रकार के नासारोगों में पीनस, पूतिनास आदि के रूपों में परिणत होता है। इतना ही नहीं आगे चलकर नासारोगों या प्रतिश्याय का परिणमन कास, श्वास, क्षय, श्वसनक प्रभृति रोगों में हो सकता है।[2]

आधुनिक व्याख्या के अनुसार 'राइनाइटिस' उस अवस्था को कहते हैं जिसमें नासागत श्लेष्मलकला में तीव्र उपसर्ग पहुँचकर कला पूरी तौर से रक्ताधिक्ययुक्त एवं लाल हो जाती है और ग्रन्थि-उद्रेचन की क्रिया बढ़ जाती है, फलतः अत्यधिक स्राव होने लगता है।

हैतुकी—रोगोत्पादक हेतु दो प्रकार के होते हैं—१. सद्योजनक निदान और २. कालान्तर जनक या चयादिक्रम जनित निदान। इनमें प्रथम वर्ण में मल मूत्रादि के वेगों का रोकना, अजीर्ण, धूलि का सेवन, अत्यधिक भाषण करना, क्रोध करना, ऋतुओं की विषमता, शिरोभिताप, रात्रि जागरण, अधिक दिवा में सोना, जल के अधिक उपयोग, शीत का लगना, ओस, तुषार या वर्फ का ठंढ लगना, अधिक मैथुन, अश्रुपात

---

१. घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा
मारुताध्मातशिरसः श्यायते मारुतं प्रति ।

२. प्रतिश्यायादथोकासः कासात् संजायतेक्षयः (मा. नि.)

और धूएं का सेवन प्रभृति कारणों से गाढ़ी भूत श्लेष्मा वाले सिर में बढ़ा हुआ वायु प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है।[1]

कालान्तर जनक हेतु—वातादिदोष व्यष्टिरूप से (एक एक करके) वा समष्टिरूप से (सभी मिलकर) सिर में सञ्चित होकर, एवं रक्त भी सिर में सञ्चित होकर क्रोध आदि अनेक प्रकार के प्रकोपणों से प्रकुपित होते हुए प्रतिश्याय नामक रोग को उपजाते हैं।[2]

इस व्याख्यान पर यह शंका होती है कि संचय का अर्थ अपने अपने स्थान पर वृद्धि होना है; परन्तु वात, पित्त तथा रक्त का सिर में स्थान नहीं है तो फिर सिर में वातादिकों का संचय कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि "वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देह धृक्" (सु० नि० १) इस सूत्र से वायु का स्थान सिर में कहा गया है। एवं पित्त के लिए "पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तञ्च" (सु० सू० २१) इस सूत्र के द्वारा पठित त्वक् तथा दृष्टि से सिर में दो स्थान बतलाया है। श्लेष्मा का सिर में स्थान है ही। शेष रहा रक्त तो उसका भी सिर में स्थान है क्योंकि रक्तवाहिनियों के सर्वत्र होने से सिर में उसका भी अवस्थान सिद्ध है। इस भाँति "सिर में सञ्चित दोष और रक्त" यह पाठ युक्त है और उससे चयादि क्रम जनित दूसरे वर्ग के प्रतिश्याय का होना भी संभव है। इसी "चयं गता मूर्धनि"

---

१. संधारणाजीर्णरजोतिभाष्यक्रोधर्त्तुवैषम्यशिरोभिघातैः।
प्रजागराति स्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनवाष्पधूमैः॥
संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुप्रतिश्यायमुदीरयेत्तु। (च० ६।२६)
नारीप्रसंगःशिरसोभितापो धूमो रजःशीतमतिप्रतापः
संधारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम्। (सु०)
चयं गता मूर्धनि मारुतादयः पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैस्ततः प्रतिश्यायकराः भवन्ति हि।

२. नकेवलं चयं प्राप्य दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम्
अन्यथापि हि कुप्यन्ति हेतुवाहुल्यतोरणात् (यो० र०)

नामक सूत्र में कालान्तर जनक हेतुओं के साथ साथ प्रतिश्याय रोग की संम्प्राप्ति भी हो जाती है।

वास्तव में प्रतिश्याय के उत्पादन में दो ही हेतु भाग लेते हैं—उपसर्ग (Bacterial infection) या धूलि, रज, अवश्याय प्रभृति कारणों से श्लेष्मलकला का क्षोभ (Irritation) इनमें तृणाणु (Bacterias) तो साधारणतया नाक में रहते ही हैं। उनके द्वारा अचानक रोगोत्पत्ति हो जाने में हेतु हो जाता है, ठंडे या ओस के कारण नाक के तापक्रम का कम हो जाना। इस ठंड के कारण नासागत अंगों में रक्ताल्पता (Ischaemia) हो जाती है और तृणाणुओं को आक्रमण करने का मौका मिल जाता है। कई बार जीवाणु का उपसर्ग ही प्राथमिक या प्रधान कारण होकर भी रोग को उत्पन्न करता है।

पूर्वरूप—(The earlier signs) नाक में सुरसुराहट (Tickling) या परिहृष्ट रोमता या रोमाञ्च, छीकों का आना (Irritation, sneezing or dryness) सिर का भारीपन (The sensation may not amount to actual pain), शरीर में जकड़ाहट अङ्ग मर्द, बदन में सिहरन सी माल्लम होना, इसके सिवाय अन्य भी पृथक् पृथक् प्रकार के लक्षण तथा उपद्रव भी प्रतिश्याय के पूर्वरूप में होते हैं।[1]

आचार्य विदेह ने भी लिखा है कि नाक में धुवाँ-सा भरा माल्लम होना, नाक में चिपचिपाहट, गले का बैठना, मुँह से लार या नाक से पानी का निकलना, छीक आना, सिर का भारीपन और तालु में फटने सी पीड़ा का होना ये लक्षण प्रतिश्याय के पूर्वरूप में होते हैं।[2]

१. क्षवप्रवृत्तिः शिरसोऽतिपूर्णता स्तंभोऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता,
उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा नृणां प्रतिश्याय पुरःसराः स्मृताः।

२. पूर्वरूपाणि दृश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति।
घ्राणधूमायनं मंथः क्षवथुस्तालुदारणम्॥
कंठध्वंसो मुखस्रावः शिरस पूरणं तथा।

रूप—रूप की अवस्था में उपर्युक्त चिह्न ही अधिक व्यक्त हो जाते हैं।

तीव्रावस्था—पूर्वरूप के बाद की अवस्था में स्रावाधिक्य होने लगता है, नासानाह का थोड़ा थोड़ा अनुभव होने लगता है, आँख से अश्रुस्राव होने लगता है, तापक्रम बढ़ जाता है, रोगी को सुस्ती की अनुभूति (General malaise) होती है, और शिरःशूल अधिक व्यक्त हो जाता है।

उपशम की अवस्था (Stage of recovery)—नासास्राव अधिक गाढ़ा और चिपचिपा हो जाता है, नासा में अधिक अवरोध का अनुभव होने लगता है। परन्तु कुछ घण्टो से लेकर कुछ दिनों में नासास्रोत खुल जाता है और प्रकृतभाव से श्वसन कार्य स्थापित हो जाता है, धीरे-धीरे स्राव की अवस्था भी बन्द हो जाती है और स्राव भी स्वभाव में आ जाता है।

उपर्युक्त प्रतिश्याय के जो लक्षण या व्यक्तरूप बतलाये गये हैं वे दोष निरपेक्ष हैं। उन्हीं में दोषों की अंशांश कल्पना के द्वारा पाँच प्रकार हो जाते हैं—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज एवं सन्निपातज। रसरत्नसमुच्चय ने एक छठवाँ भेद भी मलसञ्चय जनित बतलाया है। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार दोष भेद से प्रतिश्याय की चिकित्सा में भी भेद आ जाता है। अस्तु, इनके पृथक्-पृथक् लक्षणों का व्याख्यान किया जा रहा है। पाश्चात्य पद्धति में प्रतिश्याय की भेदकल्पना दोषों की दृष्टि से न हो कर स्थान भेद या अवस्थाभेद के कारण मानी जाती है—इन अवस्था भेदों को प्राचीनों ने स्वतन्त्र रोग ही मान कर चिकित्सा बतलायी हैं उनका विवेचन प्रतिश्याय की अवस्थाविशेषों के वर्णनों के साथ जी जायगी।

वातिक प्रतिश्याय—में मुख शोष, छींको का अधिक आना, नासावरोध, चुभन, दाँत, शङ्खप्रदेश और सिर में पीडा का अनुभव होना, भौहों में मानों कीड़े चल रहे हों (रेंगने) का अनुभव होना, आवाज का भारी होना, जुकाम का देर से पकना (Mucopurulent discharge)

ठण्डा, पतला एवं स्वच्छ कफ निकलना—प्रभृति चिह्न मिलते हैं।[1]

पैत्तिक प्रतिश्याय—पित्त विकृति के कारण जो प्रतिश्याय होता है उसमें रोगी में तृषाधिक्य, ज्वर, नासापिडिका, (Furunculosis) नासाग्र पाक, नासास्रोत उष्ण और रूक्ष (कफ स्राव की कमी से), ताम्र एवं पीत वर्ण (Yellow discharge) का कफस्राव और चक्कर आना ये लक्षण मिलते हैं।[2]

श्लैष्मिक प्रतिश्याय—कफज प्रतिश्याय में कास, अरुचि, श्वास, वमन की प्रवृत्ति, शरीर में भारीपन, मुख में मधुरता, शरीर में खुजली, स्निग्ध श्वेत वर्ण का घना स्राव होता है।[3] आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि श्लैष्मिक प्रतिश्याय में जो स्राव आता है वह श्वेत, ठण्डा और बार बार निकलने वाला होता है। शरीर सफेद, आँखों के पलकों और कपोल में सूजन हो जाती है और सिर तथा मुख भारी मालूम पड़ते हैं। सिर, गला ओष्ठ और तालु में खुजली होती है।[4]

रक्तज प्रतिश्याय—दुष्ट हुए दोष विशेष कर रक्त नासा की शिराओं में व्याप्त हो कर रक्तज प्रतिश्याय उत्पन्न करते हैं। इससे छाती में सुन्नता मालूम पड़ती है, नेत्रों में लाली और श्वास में गन्ध मालूम पड़ती है।

---

१. तत्र वातात्प्रतिश्याये मुखशोषो भृशं क्षवः ।
घ्राणोपरोधनिस्तोददन्तशंखशिरोव्यथाः ॥
कीटका इव सर्पन्ति मन्यते परितो भ्रुवौ ।
स्वरसादश्चिरात्पाकः शिशिराच्छकफस्रुतिः ॥ (वा.)

२. पित्तात्तृष्णाज्वरघ्राणपिटिकासम्भवभ्रमाः ।
नासाग्रपाको रूक्षोष्णस्ताम्रपीतकफस्रुतिः ॥ (वा.)

३. कफात्कासोऽरुचिः श्वासो वमथुर्गात्रगौरवम् ।
माधुर्यं वदने कण्डूः स्निग्धशुक्लघनास्रुतिः । (वा.)

४. कफः कफकृते घ्राणाच्छुक्लः शीतः स्रवेन्मुहुः
शुक्लावभासः शूनाक्षो भवेद् गुरुशिरोमुखः
शिरोगलौष्ठतालूनां कण्डूयनमतीव च ॥ (सु.)

कान और नाक में खुजली होती है तथा पित्तप्रतिश्याय के अन्य लक्षण भी प्रकट होते हैं ।[१]

आचार्य सुश्रुत के अनुसार रक्तज प्रतिश्याय में नाक से रक्त जाता है, छाती में दर्द मालूम होता है । उरोघात भी मिलता है ।[२] ऐसे रोगी के श्वास और मुख से दुर्गन्ध आती है एवं गन्धज्ञान नहीं रहता । नासा में सफेद, चिकनी छोटी कृमियाँ पड़ जाती हैं और नाक से गिरती हैं । इस अवस्था में कृमिज शिरोरोग के समान इसके लक्षण मिलते हैं ।[३]

सान्निपातिक या त्रिदोषज प्रतिश्याय—सभी दोषों के प्रकोप से जो प्रतिश्याय होता है, वह बार बार होता और अकस्मात् (विना कारण) अच्छा हो जाता है, और पुनः होता है । वह जुखाम कभी पकता और कभी नहीं पकता है । इसमें सभी दोषों के चिह्न प्रकट होते हैं । इस सर्व दोषजन्य प्रतिश्याय में पीनस के भी चिह्न मिलते हैं ।[४] इस अवस्थाविशेष की समता 'वैसोमोटर राइनोरिया' से हो सकती है ।

विकृति विज्ञान—(Pathology of Rhinitis) प्रतिश्याय की प्रारम्भिक तीव्रावस्था में नासास्थित ग्रंथियों की क्रिया बहुत बढ़ जाती है फलतः उपसर्ग की प्रतिक्रिया के रूप में बहुत सा उद्रेचन होने लगता

१. दुष्टं नासाशिराः प्राप्य प्रतिश्यायं करोत्यसृक् ।
उरसः सुप्तता ताम्रनेत्रत्वं श्वासपूतिता ।
कण्डूः श्रोत्राक्षिनासासु पित्तोक्तञ्चात्र लक्षणम् ॥ (वा.)

२. उरःक्षतं गुरुस्तब्धं पूतिपूर्णकफोरसः । सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीनसः
(तन्त्रान्तरोक्ति डल्हण से)

३. रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्त्तते ।
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः ॥
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनस्तथा गन्धान्न वेत्ति च ।
मूर्च्छन्ति चात्र कृमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः ।
कृमिमूर्धविकारेण समानश्चास्य लक्षणम् । (सु.)

४. भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो योऽकस्माद्विनिवर्तते ।
सम्पक्वो वाप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः ॥
लिङ्गानि चैव सर्वेषां पीनसानाञ्च सर्वजे (सु.)

है । प्रारम्भिक अवस्था में कोषाङ्कुरों (Ciliary) की क्रिया भी बड़ी तेज रहती है। फलतः स्राव बहुत शीघ्रता से नाक से बाहर फेंक दिया जाता है। जितनी ही स्थिति में स्थिरता आती जाती है उस स्तर की श्लैष्मिक-कला का नाश भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है; परन्तु कोषाङ्कुरों की क्रिया-शक्ति अधिकाधिक कम होती जाती है क्योंकि स्राव क्रमशः गाढ़ा होता चलता है और उसका बाहर निकलना कठिन हो जाता है। यही अवस्था प्रतिश्याय में नासावरोध की है । साथ ही स्राव का पीलापन तत्तत्स्थानगत नष्ट हुए कोषाणुओं (Cast of cells) के मिल जाने से आ जाता है । प्रतिश्याय या नासाकलाशोथ के उपशम की निश्चिति दो बातों से की जाती है । १. टूटे हुए नासाश्लेष्मलकला की मरम्मत या पुनर्निर्माण हो कर उसकी क्रिया प्रकृत रूप में होने लगे। तथा २. स्वाभाविक कोषाङ्कुर-क्रिया (Ciliary activity) प्रारम्भ हो जाय ।

प्रतिश्याय चिकित्सा—प्रतिश्याय की सामान्य चिकित्सा में प्रथम यह विचारणीय होता है कि प्रतिश्याय की अवस्था अपक्व है या पक्व क्योंकि चिकित्सा के उपक्रमों में भेद होता है। अस्तु, इन दोनों विभेदों के लक्षणों का जान लेना आवश्यक है। वृद्ध सुश्रुत का पाठ है कि आम या अपक्व प्रतिश्याय में अरुचि, मुख की विरसता, शूल, अरति (किसी काम में मन का न लगना) सिर में भारीपन और ज्वर होता है। "उसी की पक्वावस्था में-आम लक्षणों की प्रबलता कम हो जाती है। सिर, नासा और मुख में लघुता आ जाती है तथा घने और पीले कफ का स्राव होने लगता है।" संक्षेप में कहना हो तो इसमें प्रथम को नव प्रतिश्याय (Acute Rhinitis) एवं दूसरे को जीर्ण प्रतीश्याय (Sub-acute Rhinitis) कहा जा सकता है ।[1]

१ अरुचिर्विरसं वक्त्रं नासास्रावो रुजाऽरतिः ।
शिरोगुरुत्वं क्षवथुर्ज्वरश्चामस्य लक्षणम् ॥
तनुत्वमामलिङ्गानां शिरोनासास्यलाघवम् ।
घनपीतकफत्वञ्च पक्वपीनसलक्षणम् ॥

(वृद्धसुश्रुत)

१. घृत पान—[१]नवप्रतिश्याय या आमावस्था को छोड़ कर प्रायः सभी प्रतिश्याय में कराना चाहिए। इससे शरीर की रोगप्रतिरोधकशक्ति बढ़ती है।

२. *स्वेदन—नाना प्रकार के स्वेदन। विशेषतः अम्ल द्रव्यों के द्वारा।

३. *वमन—वामक ओषधियों के प्रयोग से वमन कराना।

४. *अवपीडन या शिरो विरेचन—तीव्र नस्यों का देना।

५. अहिम अर्थात् उष्ण द्रव्यों का प्रयोग—आहार एवं विहार में उष्ण-द्रव्यों के सेवन का फल यह होता है कि नया प्रतिश्याय जल्दी पक जाता है[२]-इसके लिए उष्ण जल का पीना, उष्णपेयों का सेवन (Hot drinks), दूध में सोंठ, अदरक या गुड पका कर सेवन करना, ग्राम्य एवं आनूप मांस, दधि, मद्य, उड़द, कुल्थी, लवण, कटु, अम्ल तथा कच्चीमूली का सेवन करने से तरुण स्राव घने में बदल जाता है।[३]

जब पक्वावस्था आगई हो कफ घना हो, कर नासा में लटकता या चिपका रहता हो (Sub acute) तो[४]—

---

१. नवं प्रतिश्यायमपास्य सर्वमुपाचरेत्सर्पिष एव पानैः।
स्वेदैर्विचित्रैर्वमनैश्च युक्तैः कालोपपन्नैरवपीडनैश्च ॥

२. अपच्यमानस्य हि पाचनार्थं स्वेदो हितोऽम्लैरहिमञ्च भोज्यम्।
निषेव्यमाणं पयसार्द्रकं वा सम्पाचयेदिक्षुविकारयोगैः ॥

* आमावस्था में स्वेदन, वमन एवं अवपीडन निषिद्ध है।

३. सोषणं गुडसंयुक्तं स्निग्धदध्यम्लभोजनम्। नवप्रतिश्यायहरं विशेषात्कफपाचनम्॥
प्रतिश्याये नवे शस्तो यूषश्चिञ्चाच्छदोद्भवः। (भै. र.)

४. पक्कं घनं चाप्यवलम्बमानं शिरोविरेकैरपकर्षयेत्तम्।
विरेचनास्थापनधूमपानैरवेक्ष्य दोषान् कवलग्रहैश्च ॥
निवातशय्यासनचेष्टनानि मूर्ध्नो गुरूष्णं च तथैव वासः।
तीक्ष्णा विरेकाः शिरसः सधूमा रूक्षं यवान्नं विजया च सेव्या ॥
शीताम्बुयोषिच्छिशिरावगाहचिन्तातिरूक्षाशनवेगरोधान्।
शोकञ्च मद्यानि नवानि चैव विवर्जयेत् पीनसरोगजुष्टः ॥ (सु.)

६. शिरोविरेचन के द्वारा उसका अपकर्षण करना चाहिए।
७. रोगी को निवातस्थान में, सोना, बैठना या टहलना चाहिये।
८. सिर पर मोटा और गर्म वस्त्र रख कर ढके रखना चाहिये।
९. रूक्ष अन्न जौ आदि का सेवन करना चाहिए।
१०. हरीतकी से बने पाक जैसे चित्रक हरीतकी, अगस्त्य हरीतकी आदि, का सेवन करना चाहिए। इसका उद्देश्य शरीर की संरक्षण शक्ति को दृढ़ करना ही है।

११. शीतल जल का पीना १२. स्त्रीप्रसंग करना १३. शीतल जल में अवगाहन (डुबकी लगाना) १४. अति रूक्ष अशन १५. अधिक चिन्ता करना १६. पुरीषमूत्र प्रभृति अधारणीय वेगों का रोकना १७. शोक करना १८. मद्य का सेवन और १९. नये अन्न का सेवन करना प्रतिश्याय के रोगियों को छोड़ देना चाहिये। क्योंकि इन क्रियाओं से शरीर की रोगनिरोधशक्ति विशेषतः नासा मार्ग एवं श्वसन संस्थान की संरक्षण-शक्ति का ह्रास (Immunity against respiratory infection) हो जाता है—जिससे रोग बढ़ जाता है।

यदि प्रतिश्याय के तीव्र उपसर्ग (Severer form of infection) के साथ ही साथ वमन, अङ्गमर्द, ज्वर, गुरुता, अरुचि, अरति, अतिसार प्रभृति सार्वदैहिक उपद्रव होने लगें तो रोगी को २०. विरेचन २१. आस्थापन २२. धूम्रपान २३. कवल ग्रह २४. धूम्र प्रयोग (Steam inhalation) २५. लंघन, २६. पाचन और २७. दीपन ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए तथा यदि वायु और कफ के तीव्र उपद्रव हों तो काफी मात्रा में द्रव पिला कर वमन करा देना चाहिए तथा अन्य उपद्रवों की तदनुकूल चिकित्सा करनी चाहिये।

विवेचन—ऊपर के चिकित्सा सूत्रों पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्टतया ज्ञात होता है कि प्रतिश्याय की चिकित्सा में दो मूलभूत उद्देश्य दिखलाई पड़ते हैं १. अनागत बाधा प्रतिषेध (Profilaxis) तथा २. आगत बाधा को दूर करने के उपाय (Curative Measures)। प्रथमवर्ग में–सिर नासा, गले की शीत से रक्षा, उष्ण द्रव्यों का प्रयोग, चिन्ता, क्रोध,

शोक, रूक्षाशन प्रभृति का निषेध तथा पौष्टिक आहार, विहार, घृत-पान, चित्रक हरीतकी, अगस्त्य हरीतकी प्रभृति पौष्टिक द्रव्यों का सेवन। दूसरे वर्ग में स्थानिक पीडा-अवरोध, स्रावादि की सफाई प्रभृति कर्म किये जाते हैं।

ठीक इसी प्रकार का वर्णन नासाकलाशोथ (Acute Rhinitis) की चिकित्सा के प्रसंग में आधुनिक ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

अनागतबाधा प्रतिषेध (Profilaxis)-बहुत से द्रव्य ऐसे बतलाये गये हैं जिनसे रोगियों की नासा के उपसर्गों से रक्षा होती है। प्रधानतया जीवतिक्ति चिकित्सा, वैक्सीन चिकित्सा, खटिक (Calcium) चिकित्सा और "अल्ट्रावायलेट" किरण प्रयोग। इनमें किस विशेष चिकित्सा से सर्वोत्तम लाभ होता है यह अभी तक एक मत होकर वैज्ञानिक नहीं बता पाये हैं अर्थात् किस विशेष चिकित्साक्रम से हम श्वसन-संस्थान की संरक्षण शक्ति को बढ़ा सकते हैं जिससे उसमें रोग का उपसर्ग न हो सके यह तै नहीं हो पाया है। फिर भी जीवतिक्ति की पर्याप्त मात्रा इस कार्य में अधिक सहायक हो सकती है, ऐसा माना जाता है।

तीव्रप्रतिश्याय प्रतिषेध (Treatment or Acute Rhininitis) प्रारंभ में ही तत्परता से चिकित्सा की गई तो शीघ्र ही ठीक हो जाता है। यदि संभव हो तो रोगी को पूर्ण विश्राम, उष्ण पेय तथा मृदु रेचक देना चाहिए। इस मिश्रण का नासा द्वारा प्रयोग किया जा सकता है (कैम्फर) कर्पूर ½ प्रतिशत, पिपरमेण्ट (मेन्थल) ½ प्रतिशत तथा लिक्विड पैराफीन १ औंस। उपसर्ग के स्थिर हो जाने पर सोम सत्त्व (Epedrine)½—२ प्रतिशत का लवण विलयन में बनाया घोल नाक में छोड़ा जा सकता है। वाष्प या धूम्र का आध्मापन (Steam inhalation) भी आराम देता है। साथ ही ज्वर तथा शिरःशूल के शमन के लिये (Aspirin, Phenacitin e. t.c.) ओषधियों का प्रयोग करे। साथ में शुल्वावर्ग (Sulphas) अधिकार के योगों का प्रयोग भी हितकर होता है।

दौरे के समाप्त होने पर कारण का ठीक अन्वेषण करके यदि 'एडी-

नायड्स' या नासाजवनिका विकृति हो तो ठीक कर लेना चाहिये । कई बार उपसर्ग के तीव्र होने पर क्षारीय जल (Alkaline doushe) देकर नाक की दो तीन बार दिन में सफाई की जाती है तथा 'रजत विलयन' (Argerol) का पाँच से दशप्रतिशत का घोल बनाकर नासा में प्रक्षेप (Drop) किया जाता है ।

व्यावहारिक चिकित्सा—सामान्यतया व्यवहार में शृङ्गभस्म ४ रत्ती की मात्रा में और शुद्ध नरसार १½ माशे की मात्रा में मिलाकर चार मात्रायें करके दिन में चार बार या छः बार तक तीन घंटे के अंतर से गर्म जल से सेवन कराया जाता है । इससे रोगियों को अद्भुत लाभ होता है और यदि प्रारंभ से ही इस चिकित्सा के ऊपर रहा जाय तो प्रायः रोगी तीन दिन में ही अच्छा हो जाता है । यदि शिरःशूल अधिक हो तो दन्तीभस्म को प्रतिमात्रा में ४ रत्ती मिलाकर सेवन करना अथवा ज्वर हो तो संजीवनी वटी या मृत्युंजय वटी का योग करके सेवन करना हितकर होता है । 'यूकेलिप्टिस' के तेल के सूंघने से या सर्षप तैल के नस्य से नासावरोध में आराम मिलता है ।

दोष-भेद से प्रतिश्याय की चिकित्सा

वातज प्रतिश्याय में—१. पंचलवणों से सिद्ध तथा २. विदार्यादिगण की ओषधियों से सिद्ध घृत का पान करना चाहिये । ३. अर्दित रोग में कथित नस्यादि का उपयोग करे । शताह्वादि धूम्रपान-सौंफ दालचीनी, वला, स्योनाक, एरण्डमूल, विल्वत्वक्, अमल्ताश सबको मोम, चर्बी और घी मिलाकर वर्ति बनाकर उसका धूम्रपान करना । ४. घृतयुक्त शक्तुक (सत्तू) को जलाकर उसके धुँवे नाडीद्वारा नाक से पिलाने की क्रिया करनी चाहिये ।

पैत्तिक प्रतिश्याय में—१. मधुरादिगण की ओषधियों से सिद्ध घृत का पान करना चाहिये । २. शीतल परिषेक ३. शीतल प्रदेह रखना चाहिये ४. मधुर विरेचन (laxatives) ५. श्रीवेष्टकादि कल्क—श्रीवेष्टक राल, देवदारु, पतंग, लाल चंदन, प्रियंगु, मधु, शर्करा, मुनक्का, मुलेठी, गिलोय, बनगोभी, गम्भारी का फल इन द्रव्यों का काढ़ा बना

कर मुँह में कवल धारण या कुल्ला भर कर फेंकना (Gargle) ६. धवादि तैल का नस्य, धव की छाल, त्रिफला, त्रिवृत् लोध्र, मुलैठी, गम्भारी, हल्दी समान भाग में लेकर दसगुना दूध लेकर, तिलतैल का विधिवत् पाक करे—इस तैल के नस्य से पैत्तिक प्रतिश्याय नष्ट होता है। ७. भृङ्गराज स्वरस—पुटपाक की विधि से निकाले स्वरस का नस्य देना। पैत्तिक प्रतिश्याय की पूरी चिकित्सा रक्तज प्रतिश्याय में भी चलती है। यदि रक्तज प्रतिश्याय में उपद्रव होकर कृमि पड़ गये हों तो कृमिज शिरोरोगोक्त चिकित्सा करनी चाहिये। यदि रक्त प्रतिश्याय में रक्त बहुत गिरता हो तो भुने हुए सरसों और आँवले को पीस कर सिर पर लेप करना चाहिए।

कृमिघ्न उपाय—लाल आम के स्वरस (रक्ताम्रस्वरस) का तक्र के साथ नस्य दें और नासिका के मुख पर उसी की पत्ती पीस कर बाँध दे। इस योग से तीन दिनों के भीतर ही सभी कीट गिर जाते हैं और रोगी पीनस से मुक्त हो जाता है। यह शतशोनुभूत वैद्यविलास ग्रन्थ का योग है।[1] अन्य भी कृमिघ्न औषधियों का उपयोग किया जा सकता है। गोमूत्र या गोपित्त में पीसकर कृमिघ्न ओषधियों का नस्य भी दिया जा है। सिर की सिरा का रक्तमोक्षण, धूम्रप्रयोग प्रभृति क्रियाओं को काम में लाना चाहिये। या कृमिघ्न औषधियों के कषाय से नासिका प्रक्षालन करना चाहिये।[2] 'फेनाक्स ड्राप' भी इस अवस्था में उत्तम कार्य करता है।

कफज—प्रतिश्याय में—१ तिल और माष से स्निग्ध घृत का पान कराके पश्चात यवागू मिला कर वमन करावे तथा २. अन्य कफघ्न उपायों को बरतना चाहिये ३. लङ्घन कर कफ को सुखावे ४. पीले सर्षप को

१. रक्ताम्रस्वरसः शुद्धस्तक्रेण सह नस्यतः ।
तस्य पर्णानि पिष्ट्वा च बध्नीयाद् नासिकामुखे ।
पतन्ति कीटकाः सद्यो योगोऽयं त्रिदिनैर्हितः ।
पीनसान्मुच्यते रोगी शतशोऽनुमतं त्विदम् ॥ (वै. वि.)

२. समूत्रपित्ताश्चोपदिष्टाः क्रियाः कृमिषु योजयेत् ।
यापनार्थं कृमिघ्नानि भेषजानि च बुद्धिमान् ॥ (सु. ३.२४)

पीस कर लेप ५. सैन्धवादिनस्य का प्रयोग ६. वलादितैल-वला, अतिवला, छोटी और बड़ी भटकटैया, वायविडङ्ग, गोखरु, श्वेतविष्णुकान्ता, मुद्गपर्णी, रास्ना, पुनर्नवा इन द्रव्यों से सिद्ध तैल का नस्य कफज प्रतिश्याय में हितकर है। ७. त्रिवृतादि धूम्रपान—निशोथ, अपामार्ग, दन्ती, देवदारु और इङ्गुदी पीस कर वर्ति (बीडी) बना कर उसका धूम्रपान करना। ८. अगुरु धूम्र नस्य अगर, कूट, कलौंजी सिरके में भिंगो कर आग में जलावें नाडीमार्ग से नाक के द्वारा उसका धुवाँ ग्रहण करने से श्लैष्मिक प्रतिश्याय में लाभ होता है। इसी प्रकार दार्व्यादि धूम्र पान का प्रयोग करें।[1]

त्रिदोषज—प्रतिश्याय में बहुत तत्परता से चिकित्सा करनी चाहिये अन्यथा इसके उपद्रव रूप में श्वसनसंस्थान के रोगों के होने का भय रहता है। अतएव इसकी चिकित्सा में विशेष सावधानी रखनी चाहिये।

१. कटु एवं तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत का आभ्यन्तर प्रयोग २. तीक्ष्ण धूम ३. कटु रस की ओषधियों को देना चाहिये। *रसाञ्जनतैल नस्य*—रसौंत, अतीस, नागर मोथा, देवदारु, नागर मोथा—समान मात्रा में लेकर चतुर्गुण तैल में सिद्ध कर ले और नस्यार्थ प्रयोग करे।

मुस्तादि कवल—नागर मोथा, तेजवल, पाठा, कायफर, कुटकी, वच, सरसों, पिप्पली, पिप्पली मूल, छोटी पिप्पली, सेंधानमक, अजमोदा, शुद्ध तूतिया, करञ्जबीज, देवदारु और सांभर नमक मिलाकर काढ़ा बनावे और इस काढ़े का मुँह में कुल्ला भरे (कवलधारण)। अथवा इन्हीं ओषधियों के कल्क से सिद्ध तैल से शिरोविरेचन करे। तिक्तद्रव्यों में परवल, त्रायमाण, चिरायता, निम्ब, कुटकी, करञ्ज, कुटज, नागर मोथा, अडूसा, गिलोय, जवासा, इन्द्रायण, अतीस, कंटकारी, वच, बृहत्पञ्चमूल मूर्वा प्रभृति ओषधियाँ हैं इनके योग से बने क्वाथ से कवल धारण करावे—अथवा इनसे सिद्ध घृत या तैल नस्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग करावे या इन्हीं द्रव्यों से वर्ति बना कर धूम्रपान करावे।

१. दार्वीङ्गुदनिकुम्भैश्च किणीह्वा सुरसेन (तरलेन) च।
वर्तयोऽथ पृथग् योज्या धूम्रपाने यथाविधि ॥ (वृ. मा.)

कुरंग घृत या जाङ्गलमांस, घृत या तैल—जाङ्गल मृग-हिरण-कुरंग प्रभृति पशुओं का और पक्षियों में तीतर बटेर आदि जाङ्गल पक्षियों का मांस लेकर उसमें आठगुना दूध और दूध का आधा जल लेकर पकावे। कल्क के रूप में जल में पैदा होने वाले कमल, नीलोत्पल प्रभृति वनस्पतियों तथा अन्य वातघ्न ओषधियों को डाल देना चाहिये। जब पाक करते हुए दूध शेष रह जाय अर्थात पानी का भाग जल जाय तो उतार कर ठण्डा कर ले और यत्न पूर्वक उसका मंथन करके घृत को निकाल ले। फिर इस घृत में सर्व गन्ध (एलादि गण की दवायें), उत्पल, शर्करा, सारिवा, चन्दन, रक्त चन्दन और मुलेठी का कल्क डालकर दसगुना दूध छोड़ के पाक कर ले। इस घृत का नस्य के द्वारा प्रयोग करने से दुष्ट प्रतिश्याय तथा अन्य बढ़े हुए प्रतिश्यायों में उत्तम लाभ होता है। इसी प्रकार उपर्युक्त ओषधियों के योग से तिल तैल भी सिद्ध किया जा सकता है।

प्रतिश्याय के विपरिणाम या उपद्रव—(Complications) यदि प्रतिश्याय की उपेक्षा की जाय, अर्थात् उसकी ठीक प्रकार से चिकित्सा न हो पाये, या रोगी आहार विहार एवं आचार का मिथ्या आचरण करता रहे, तो वही प्रतिश्याय रोग जनक हो कर; दुष्ट प्रतिश्याय (Chronic rhinitis), अपीनस (Atrophic rhinitis), पूति नस्य (Ozaena) तथा पूयरक्त (Ulcerative chronic Rhinitis) प्रभृति विविध नासा रोगों को, आस पास की रचनाओं को विकृत करके पैदा करता है।

इसी उपसर्ग का सीधा प्रसार होकर प्रायः वायु विवरशोथ (Sinusitis) हो जाता है। नाक की बारंबार जोर-जोर से सफाई करते समय श्रुति सुरंगा से उपसर्ग पहुँच कर मध्य कर्ण शोथ या वाधिर्य पैदा हो सकता है। प्रतिश्याय के उपसर्ग का नीचे की ओर प्रसार होने से स्वरयन्त्र शोथ, श्वासनलिका शोथ (कास, श्वास) एवं फुप्फुस शोथ (Pnemonia) प्रभृति रोग पैदा होते हैं।

यही नहीं वधिरता, अन्धता, भयङ्कर नेत्ररोग, गन्धग्रहण की शक्ति

का नष्ट होना तथा अन्य सार्वदैहिक उपद्रव जैसे कास, अग्निमांद्य, शोफ, मस्तिष्क दौर्बल्य प्रभृति उपद्रव भी पीनस के कारण हो सकते हैं।

संक्षेप में प्रतिश्याय की सम्यक् चिकित्सा न हो रोग बढ़ता चले तो आगे चलकर उसके परिणाम स्वरूप पीनस, वधिरता (कान का बहरापन), दृष्टिनाश तथा घ्राणनाश आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।[1]

—ooo—

८

दीप्ति या दीप्तरोग

(Severe burning Irritation In A. Rhinitis)

जिस नासिका रोग में जलने के समान तीव्र दाह हो और नाक से धुएँ के समान वायु निकले तथा नाक जलती हुई प्रतीत हो उस रोग को नासा के प्रदीप्त होने से दीप्त रोग कहते हैं।[2] (सु.)

नासा जिसमें जलती हुई मालूम हो उस रोग को दीप्त कहते हैं।[3] (च)

नासाश्रित रक्त में विदाह होने के कारण नाक में जलन होती है और भीतर या बाहर से नाक स्पर्शासह हो जाती है—नाक से जो

१. सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः ।
कालेन रोगजननाः जायन्ते दुष्टपीनसाः ।
बाधिर्यमांध्यमघ्राणं घोरांश्च नयनामयान् ।
कासाग्निसादशोफांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥ (सु. ३. २४)

२. घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु विनिःसरेद् धूम इवेह वायुः ।
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तोर्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति ।

३. नासा प्रदीप्तेव नरस्य यस्य दीप्तं तु तं रोगमुदाहरन्ति ।

साँस बाहर की ओर छोड़ी जाती है वह धुएँ के समान मालूम पड़ती है उस रोग को भी दीप्त रोग कहते हैं । (वा.)[१]

नाक में धूमायन, कर्षण और जलन होती है । तथा उच्छ्वास के समय आँखों के सामने अँधेरा मालूम होता है उसे दीप्त रोग कहते हैं (विदेह)।[२]

प्रविचार—यह आयुर्वेद के अनुसार एक स्वतन्त्र रोग है । इससे मिलते जुलते लक्षण पैत्तिक प्रतिश्याय में पाये जाते हैं । इस रोग में पित्तदोष की ही प्रबलता रहती है । पाश्चात्य वर्णनों की दृष्टि से विचार किया जावे तो इसको तीव्र प्रतिश्याय (Acute Rhinitis) में पाया जाने वाला एक प्रमुख लक्षण कहा जा सकता है । इस प्रकार का जलन का अनुभव नासाकला शोथ में रक्ताधिक्य होने का कारण होता है । लिखा भी है:—

'A degree of burning irritation is a common accompaniment to acute coryza and it may be severe.'

(I. Simson Hall)

चिकित्सा—पैत्तिक प्रतिश्याय की चिकित्सा करनी चाहिये । १. बाह्य एवं आभ्यन्तर[३] पित्तनाशक उपचार तथा २. स्वाद्ध (मधुर) और ३. शीतल द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये ४. सिर में अल्प स्वेदन करना ५. निम्बपत्र स्वरस में रसाञ्जन (रसौंत) घोलकर नस्य देना ६. नस्य करने के बाद क्षीर और जल का तरेरा (Doush) देना और ७. खाने के लिये मुद्गयूष देना चाहिये ।[४]

---

१. रक्तेन नासादग्धेन वाह्यान्तःस्पर्शनासहा ।
भवेद्धूमोपमोच्छ्वासा दीप्तिर्दहतीव च ।

२. धूमायते यदा नासा चलत्कृष्यति दीप्यते ।
निश्वरेत्तम उच्छ्वासं तं व्याधिं दीप्तमादिशेत् ।

३. दीप्ते रोगे पैत्तिकं संविधानं कुर्यात्सर्वं स्वादु यच्छीतलञ्च । (सु.)

४. नस्यं हितं निम्बरसाञ्जनाभ्यां दीप्ते शिरःस्वेदनमल्पशस्तु ।
नस्ये कृते क्षीरजलावसेकान् शंसन्ति भुञ्जीत च मुद्गयूषैः ॥ (यो. र.)

दुष्ट प्रतिश्याय या जीर्ण नासाकला शोथ (Chronic Rhinitis or Hypertrophic Rhinitis)—नव प्रतिश्याय के बार-बार दौरे होते रहने से यह अवस्था आ जाती है। प्रायः प्रतिश्याय होने पर नासाकला में शोफ हो जाता है और अच्छा होने पर उसका उपशम हो जाता है। परन्तु यदि किसी कारण से प्रतिश्याय में नासाकलाशोथ में शमन नहीं हुआ तो जीर्ण शोथ की अवस्था उपस्थित हो जाती है। नासाकला तथा शुक्तिका मोटी हो जाती है जिससे नासास्रोत में अवरोध हो जाता है।

नासाश्लेष्मलकला में अल्प परिवर्त्तन से बड़े परिवर्त्तन तक हो सकते हैं—जिसमें कला मोटी हो जाती है; इस अवस्था को (Hypertrophic Rhinitis) या दुष्ट प्रतिश्याय या जीर्ण प्रतिश्याय कहते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने इसका लक्षण निर्देश करते हुए कहा है—'कभी नासा में क्लेदाधिक्य और कभी नासास्राव का सूखना चलता रहता है। कभी नाक सूख जाती और कभी गीली होकर बहने लगती है। कभी नाक सट जाती है जिससे नासानाह हो जाता है और कभी बहुत खुल जाती है। (रोग के अधिक बढ़ जाने पर पश्चाद् काल में) निश्वास और उच्छ्वास में (सांस के साथ) बदबू आती है और रोगी को गन्ध का ज्ञान नहीं हो पाता। इस प्रकार की अवस्था दुष्ट प्रतिश्याय में होती है और चिकित्सा में कृच्छ्र साध्य होता है।' वाग्भट ने लिखा है कि इस अवस्था में स्राव, मवाद के समान, गाढ़ा, गाँठदार, लाल वर्ण का आता है और कृमियाँ भी गिरती हैं।[1]

Hyper Trophied Appearances—When the condition

---

१. प्रक्लिद्यति पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति ।
मुहुरानह्यते चापि मुहुर्विव्रियते तथा ।
निःश्वासोच्छ्वासदौर्गन्ध्यं तथा गन्धान्न वेति च ।
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात्कृच्छ्रसाधनम् । (सु. उ. २४)
अथवा—पूयोपमा सिता रक्तग्रथिता श्लेष्मसंस्रुतिः (वा.)

becomes more firmly established all the elements of the mucous membrane is involved. The ciliated epithelium is replaced by stratified or cuboidal epithelium. There is an increase in fibrous tissues aud an infiltration with round cells and plasma Cells The gland elements are also hypertrophied. In very abvanced cases the bone shares in the change and periosteum in thickenned, 'mulberried' (शहतूत के आकार की मुटाई) condition.

अतिवृद्धि का स्वरूप—जब विकार स्थिर हो जाता है तब श्लेष्मल कला के सभी तत्त्व प्रभावित हो जाते हैं। कोषाङ्कुर युक्त अपिस्तर स्तंभाकार या घनाकार अपिस्तर में परिणत हो जाता है। फिर सौत्र-धातुओं की वृद्धि होती है एवं उनमें गोल कोषाणुओं तथा रस कोषाणुओं का भरण हो जाता है। श्लेष्मल कलागत ग्रंथिमय रचना की भी अतिवृद्धि होती है। रोग की बढ़ी हुई अवस्थामें अस्थिमय भाग में परिवर्त्तन दिखलाई पड़ता है। अस्थ्यावृति मोटी होकर शहतूत की तरह हो जाती है। इस अवस्था को शहतूत की मुटाई की अवस्था कहते हैं।

लक्षण—

नासानाह या नासावरोध—पर्याय क्रम से कभी होना और कभी न होना, चिपकने वाला गाढ़ा नासास्राव, नासाकला की वृद्धि, शुक्तिका की घनता, शिरोगौरव एवं शिरःशूल, मुख के द्वारा साँस लेना, नाक बजना (Snoring) अनुनासिक स्वर (Nasal Voice) प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

चिकित्सा—प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर उस चिकित्साक्रम को रखना चाहिये जिस क्रम का व्यवहार त्रिदोषज प्रतिश्याय में होता है। उसी प्रकार नस्य, कवलग्रह, नासातैल (Nasal drops), शिरोविरेचन और धूम्रपान आदि करना चाहिये।

आधुनिक ग्रंथों के आधार पर प्रारम्भिक सभी उपचार नव प्रतिश्यायवत् (Nasal drop, Nasalspray, Alkaline doush, Gen-

eral treatment) ही किया जाता है। रोगी की बढ़ी हुई अवस्था में जब इन उपक्रमों से लाभ नहीं होता तो शस्त्रक्रिया, दाहकर्म (Electro cautery, diathermy) अथवा सूचिकावेध (of sclerosing solutions) के द्वारा शुक्तिका की घनता दूर कर अवरोध को ठीक किया जाता है।

१

पीनस या अपीनस और पूतिनस्य तथा नासाशोष

(Atrophic Rhinitis or Ozæna & Rhinitis sicca)

व्याख्या—नासारोगो में पीनस एक प्रधान रोग है। यह स्वतन्त्र रूप से भी हो सकता है और प्रतिश्याय के परिणामस्वरूप भी हो जाता है। प्राचीन ग्रंथों में पीनस और प्रतिश्याय का पर्यायरूप में या समान अर्थ में भी व्यवहार पाया जाता है। सम्भव है प्रतिश्याय की एक अवस्थाविशेष होने से ऐसा कथन हुआ हो। कई आचार्य पीनस और अपीनस को पृथक्-पृथक् दो स्वतंत्र रोग माकते हैं—पीनस रोग को प्रतिश्याय की परिणतावस्था मानकर एक विकार और अपीनस को पीनसाभाव मानकर प्रतिश्याय के समान ही लक्षण वाला दूसरा विकार मानते हैं। फिर भी इन दोनों अवस्थाओं का स्पष्ट विभेद शास्त्रों में वर्णित नहीं मिलता। अस्तु, दोनों (पीनस और अपीनस) एक ही रोग है 'अवाप्योस्तं सन्नद्धादिषु वेति' सूत्र से विकल्प करके 'अ'कार का लोप हो जाता है अतएव पीनस या अपीनस एक ही रोग है ऐसा भावप्रकाश का मत है। आचार्य वाग्भट ने इस झगड़े को निपटाने का एक दूसरा ही तरीका अपनाया है। उन्होंने पीनस और अपीनस इस प्रकार के दो रोगों को माना है। अपीनस के स्थान पर स्वनिर्मित शब्द 'अवीनस' रखा है जिसका अर्थ होता है अवि—(भेड़) की नासा के समान कफ से भरी नासा की अवस्था। इनका एक तीसरा ही स्पष्टी-

करण का मार्ग है। अवीनस की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'नाक में कफ बढ़कर नासास्रोत को रोक देता है और अवीनस नाम का रोग पैदा करता है। श्वास में घुर-घुर शब्द सुनाई देता है। पीनस की अपेक्षा इसमें वेदना अधिक होती है। भेड़ की नाक के समान उसमें से स्राव होता रहता है जिससे नासा हमेशा क्लिन्न रहती है एवं नाक से अजस्र (अनवरत) पिच्छिल, शीत, पका हुआ[1] और घना (Mucopurulent discharge) स्राव होता रहता है। आचार्य सुश्रुत ने अपीनस के लक्षणों का वर्णन नीचे लिखे की भाँति किया है। इन्हीं का सबसे प्रामाणिक भी माना जाता है--"अपीनस एक वात और कफ के विकार से होने वाला रोग है जिसमें प्रायः प्रतिश्याय के समान ही चिह्न मिलते हैं; परन्तु विशेषता इस बात की रहती है कि इसमें नासानाह, नासा से धूम जैसे निकलना, पूयोत्पत्ति होना, नासा का सदैव क्लिन्न रहना प्रभृति चिह्न प्रधानता से मिलते हैं और रोगी को गंधज्ञान और रसज्ञान नहीं हो पाता। रोगी को सुगंध या दुर्गंध का ज्ञान नहीं हो पाता।"[2]

आचार्य कार्तिक ने लिखा है--मस्तिष्कस्थित श्लेष्मा जब पित्त से विदग्ध हो जाता है तब रक्तमिश्रित नाक का पिच्छल कफ अधिकता से निकलता है उससे नाक में खुजली, जलन, पाक होता है--उस रोग को अपीनस कहा जाता है।"[3]

---

१. कफः प्रवृद्धो नासायां रुद्ध्वा स्रोतांस्यपीनसम् ।
कुर्यात्सघुर्घुरं श्वासं पीनसाधिकवेदनम् ॥
अवेरिव स्रवत्यस्य प्रक्लिन्ना तेन नासिका ।
अजस्रं पिच्छिलं शीतं पक्वं सिंघाणकं घनम् ॥ (वा.)

२. आनह्यते यस्य विधूप्यते च पापच्यते प्रज्वलतीव नासा ।
न वेत्ति यो गंधरसांश्च जन्तुं जुष्टं व्यवस्येत् तमपीनसेन
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारम् ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् । (सु०)

३. मस्तुलिङ्गोचितः श्लेष्मा यदा पित्ताद्विदह्यते
तदा सृक्पिच्छिलं नासा वहु सिंहाणकं स्रवेत्
सकण्डु दाहपाके च तं विद्यादपीनसम् । (कार्त्तिक)

पीनस के अवस्थाभेद--चिकित्सा में भेद करने की दृष्टि से प्रतिश्याय की भाँति ही पक्व और अपक्व द्विविध पीनस का ज्ञान कर लेना आवश्यक होता है।

अपक्वपीनस--में शिरोगुरुता, नासास्राव, अरुचि, स्वर का मंद पड़ना, रोगी को दुर्बलता का अनुभव होना तथा बार बार थूकना यह लक्षण होता है।[1]

पक्वपीनस—में श्लेष्मा गाढ़ा होकर नासास्रोतसों में भरा रहता है। रोगी के स्वर और वर्ण की विशुद्धि हो जाती है अर्थात् स्वर साफ हो जाता है।[2]

समन्वयात्मक विवेचन—यदि उपर्युक्त लक्षणों का विवेचन किया जाय तो इस रोग में चार विशेष लक्षणों का वर्णन पाया जाता है—१. नासानाह २. विशोषण या विधूपन (कफ सूखकर खुरण्ड जैसे बन जाने से) ३. प्रक्लेद (नासा में गाढ़े स्राव का भरा रहना) ४. गंधज्ञान और रसज्ञान का अभाव। इन लक्षणों में गंधज्ञान की विकृति कई कारणों से उत्पन्न हो सकती है १. नासागत श्लेष्मलकला का जीर्ण शोथ (दोष संचय) २. नासास्रोत का गाढ़े कफ से भरे रहने या अन्य कारणों से अवरोध होने से ३. गंधग्राही मस्तिष्क केन्द्र की विकृति से ४. वायुविवरों के विकार से ५. गंधग्राहिनी वातिक नाड़ियों के अपचय से ६. शुक्तिका के अपचय प्रभृति कारणों से गंधज्ञान की अक्षमता, मिथ्यात्व या विचित्र गंधत्व इस रोग में आ सकता है। इस दृष्टि से इस पीनस नामक रोग में अनेक विकारों का समावेश हो सकता है तथापि सबसे अधिक साम्य इस रोग का 'एट्रोफिक राइनाइटिस' नामक पाश्चात्य शालाक्य में पठित व्याधि से है। उसमें करीब-करीब यही लक्षण मिलते हैं (जैसे Dryness of the nose, Headache, Obstruc-

१. शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुस्वरः ।
क्षामः ष्ठीवति चाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥

२. आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति ।
स्वरवर्णविशुद्धिश्च पक्वपीनसलक्षणम् ॥ (यो० र०)

ction, Formation of Crust, Nasal secretion are not expelled owing to the destruction of cilia and due to lack of moisture.)

इस रोग में एक विशेष लक्षण और पाया जाता है जिसको अंग्रेजी में 'ओज़ीना कहते हैं। जिसका अर्थ मुख और नासा से दुर्गंध आना होता है। कभी-कभी तो यह इतना प्रबल हो उठता है कि रोगी का किसी समाज में बैठना कठिन हो जाता है और वह समाज से प्रताड़ित होता रहता है। प्राचीन ग्रंथों में इसी अवस्थाविशेष का वर्णन पूतिनास या पूतिनस्य शब्द से किया गया है और इसे एक स्वतंत्र नासारोग माना गया है। ऐसी अवस्था नासा के फिरंगोपसर्ग में भी मिलती है।

पूतिनास—(Ozaena) 'विदग्ध हुए दोषों से गले और तालु के मूल में वायु मूर्च्छित होकर (सम्मिश्रण के बाद) मुख और नासिका के द्वारा बाहर आकर दुर्गंध के साथ निकलता है। अस्तु, इस व्याधि को पूतिनास या पूतिनस्य कहते हैं।'[1]

विदेह ने जो वर्णन किया है वह बिल्कुल 'एट्रोफिक राइनाइटिस' से मिलता-जुलता है 'कफ, पित्त और रक्त मनुष्य की मूर्धा (सिर) में संचित होकर उष्णता से विदग्ध हो जाते हैं और स्राव को गाढ़ा कर देते हैं। पुनः आँख और शंखदेश में पीड़ा (Pain behind the eyes or headache) पैदा करते हैं और नाक से पीत वर्ण का दुर्गंध युक्त (Mucopurulent) रक्तमिश्रित स्राव होने लगता है जिससे श्वास में बदबू आती है। अस्तु, रोग को पूतिनस्य कहा जाता है। इससे नाक में खुजली होती है और रोगी को थोड़ा ज्वर रहता है।'[2]

---

१. दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूलात्सम्मूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु ।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम् ॥ (सु०)

२. कफपित्तमसृङ्मिश्रं संचितं मूर्ध्नि देहिनाम् ।
विदग्धमूष्मणा गाढं रुजां कृत्वाक्षिशंखजाम् ॥
तेन प्रस्यन्दते घ्राणात्सरक्तं पूतिपीतकम् ।
पूतिनस्यं तु तं विद्यात्घ्राणकण्डुज्वरप्रदम् ॥ (विदेह)

नासाशोष—'एट्रोफिक राइनाइटिस' में ही एक अवस्था ऐसी आती है जिसमें नाक की श्लेष्मलकला सूखी रहती है और नाक का स्राव सूख जाता है जिससे रोगी को साँस लेने में कष्ट होता है एवं नासावरोध का अनुभव होता है। इस प्रकार का नासाशोष कई कारणों से हो सकता है। इस अवस्था को अंग्रेजी में 'राइनाइटिस सिक्का' (Rhinitis sicca) कहते हैं। यह एक प्रकार की नासागत अलसक की अवस्था है, जिससे नासा में अनाह होता है और नाक से स्राव नहीं होता तथा नासागुहा सूखी रहती है।[1] सुश्रुत में नासापरिशोष या नासाशोष का वर्णन निम्न लिखित प्रकार से किया गया है :—

'जिस रोग में वायु की रूक्षता तथा पित्त की उष्णता के कारण घ्राणाश्रित श्लेष्मा के भली प्रकार सूख जाने से मनुष्य बड़ी कठिनाई से श्वास-प्रश्वास लेता है, वह रोग नासापरिशोष कहा जाता है।'

नासापरिशोष के वर्णनों में थोड़ा पाठभेद मिलता है। सर्वप्रथम तो आश्रय के सम्बन्ध में घ्राणस्रोत में विकार होता है ऐसा वर्णन मिलता है—इस स्थान पर घ्राणाश्रित श्लेष्मा का ही सूखना ठीक मालूम होता है। दूसरा पाठभेद रोगोत्पादक दोषभेद में है एकने (सुश्रुत ने) केवल वायु को शोषक माना है। दूसरे ने उष्मा की विद्यमानता में वायु एवं पित्त दोनों के संसर्ग से नासाशोष की उत्पत्ति मानी है जो अधिक युक्तियुक्त प्रतिभासित होती है। भावप्रकाश ने दोनों मतों का समन्वय करते हुए सर्वोत्तम वर्णन किया है जिसका उल्लेख व्याख्या में ऊपर किया जा चुका है। टिप्पणी में तुलना के लिये दोनों पाठ जैसे के वैसे रख दिये गये हैं।

भावप्रकाश का पाठ समुचित मालूम पड़ता है; क्योंकि आचार्य विदेहने[2] भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि अपने सूत्रों में की है। 'जब घ्राणा-

---

१. घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च।
समुच्छ्वसत्यूर्ध्वमधश्च कृच्छ्राद्यस्तस्य नासापरिशोष उक्तः॥ (भा० प्र०)
घ्राणाश्रिते स्रोतसि मारुतेन गाढं प्रतप्ते परिशोषिते च।
कृच्छ्राच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन्स नासापरिशोष उक्तः॥ (सु०)

२. वातपित्तौ यदा घ्राणं कफरक्तं विशोषयेत्

श्रित वात और पित्त कफ और रक्त को सुखा देते हैं, तब रोगी कठिनाई से ऊपर की ओर साँस खींच पाता है अथवा नाक के द्वारा श्वास—प्रश्वास कर सकता है। उसकी नाक पूरी तौर से सूखी रहती है और सूखे चूर्ण (Crust) अवचूर्णन बनता है और निकलता रहता है। यह रोग नासाशोष कहा जाता है।"

नासापरिशोष शब्द से ही नासा का सूखना ज्ञात होता है। चरकाचार्य ने लिखा है कि इसमें शृङ्गाटक मर्म (घ्राण, श्रोत्र, अक्षि और जिह्वा का सिरा सन्निपात) नासागुहा दोनों ही सूख जाते हैं। वाग्भट ने लिखा है कि इस रोग में ऐसा मालूम होता है मानों नाक के भीतर जौ के शूक भरे हों।[२]

नासा पुटक (Obstructive crust)—आचार्य वाग्भट ने इस अवस्था या रोग का वर्णन किया है। इसमें 'पित्त और श्लेष्मा के द्वारा जब वायु नासिका के भीतर रोक लिया जाता है तब अवरुद्ध हुआ वह वायु भीतर ही भीतर कफ और उसके श्लक्ष्ण अंश को सुखा देता है। इस प्रकार सूखने से कफ की परत या पपड़ी पड़ जाती है। इस रोग को नासापुटक कहते हैं'[३]। चरक, सुश्रुत, माधवनिदान और भावप्रकाश में इस रोग का वर्णन नहीं पाया जाता है क्योंकि इस अवस्था का समावेश नासाशोष या अन्य प्रतिश्यायभेदों में मिल जाता है।

अंग्रेजी ग्रन्थों में भी इस प्रकार के स्वतन्त्र रोग का उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी 'एट्रोफिक राइनाटिस' नामक व्याधि का एक अन्यतम

तदास्यादुच्छ्वसेन्नासातस्य शुष्कं विधीयते ।
भृशं शुष्कावचूर्णेन नासाशोषं तु तं विदुः ॥ (विदेह)

१. क्रुद्धः स संशोष्य कफं तु नासा शृंगाटकघ्राणविशोषणञ्च । (च०)

२. शोषयेन्नासिकास्रोतः कफञ्च कुरुतेऽनिलः । शूकपूर्णाभनासात्वं कृच्छ्रादुच्छ्वसनं ततः । स्मृतोऽसौ नासिकाशोषः । (वा०)

३. पित्तश्लेष्मावरुद्धोऽन्तर्नासायां शोषयेन्मरुत् ।
कफं स शुष्कपुटतां प्राप्नोति पुटकन्तु तत् ॥ (वा०)

चिह्न माना गया है। अस्तु, इसी पाठ में उसका वर्णन भी प्रासंगिक समझा गया है।

पीनस में वैकृतिकी (Pathology of Atrophic Rhinitis)—नासाश्लेष्मलकला का ह्रास या शोष (Atrophy) होता चलता है। कोषांकुर (Ciliated) युक्त प्रदेशों में उनके स्थान पर घनाकार या स्तम्भाकार (Cuboidal or Startified Epithelium) अपिस्तर, परिवर्तित होकर बन जाता है। सौत्रिक तन्तु बढ़ जाते हैं। गोल और रसकोषाणुओं (Round & Plasma cell) का भरण हो जाता है।

ग्रन्थियाँ छोटी हो जाती हैं, रक्तवाहिनियाँ सँकरी हो जाती हैं या बिल्कुल छिद्रहीन हो जाती हैं। बढ़ी हुई अवस्था में शुक्तिका तथा शुक्तिकाधार अस्थि में भी परिवर्तन होने लगता है। इसी प्रकार नासा-कोटरों (Sinuses) में भी समान परिवर्त्तन होने लगते हैं। यद्यपि ये परिवर्तन प्रायः अज्ञात रह जाते हैं; क्योंकि नासागत रुद्ध स्राव कोटरों की सीमा में उपसर्गजन्य परिवर्त्तन पैदा कर देते हैं।

कई बार रुद्ध हुआ स्राव नासास्राव में सूखकर बहुत भारी अव-रोध पैदा करने वाला खुरण्ड–जिसे पुटक कहते हैं। (Heavy ob-structive Crusting) उत्पन्न करता है। इसमें बदबू (Ozaena) भी रहती है।

कारण—यह 'एट्रोफी आफ दी म्युकसमेम्ब्रेन' जो पीनस में पाई जाती है कई कारणों से हो सकती है। यह अवस्था छोटे तथा बड़े सभी में हो सकती है।

१. ऐसी परिस्थिति, जिसमें नासाश्लेष्मलकला को सूखा रहना पड़ता हो, यदि यह अवस्था काफी अर्से तक रही तो पीनस का रूप ले लेती है। इस दृष्टि से इसका उद्भव व्यवसायजन्य हो सकता है। २. कई बार नासा के शस्त्रकर्म के पश्चात् (जहाँ पर मार्ग अधिक विस्तृत हो गया हो) होता है। ३. कुछ लोग प्रारम्भिक तीव्र प्रतिश्यायजन्य मानते हैं। ४. चिर कालीन नासागत, नासाकोटरगत पूयोत्पत्ति (Suppuration) या ५. नासाकोटरगत उपसर्गों के निदान और चिकित्सा (उपेक्षा) के अभाव में भी पीनस हो जाता है। ६. स्रोतो-

हीन ग्रन्थियों के उद्रेचन का अभाव । ७. पोषण तत्त्वों या जीवतिक्ति द्रव्यों के अभाव में । या ८. फिरंगज नासा उपसर्ग में भी यह विकार होता है ।

पीनस की आधुनिक चिकित्सा—कारणों के अनुसार चिकित्सा में भेद होता है । नासागुहागत स्थानिक रोग की या रोग के इतिवृत्त का शोध करना चाहिये । रोगी का व्यवसाय का कारण हो एवं रोगोत्पादन में भाग लेनेवाला जान पड़े तो उसका परिहार करना चाहिये ।

नासा की स्थानिक सफाई (By means of doushing and Spraying)—क्षारीय विलयनों से पुटक के अवरोध को दूर करना चाहिये । तैलीय योगों के पूरण से पुनः नासा पुटक न बनें, ऐसा प्रयास करना चाहिये । नासाशोष (dryness) को दूर करने के लिये स्निग्ध द्रव्यों (Ictheol glycerine) की वर्ति नाक में भरना भी उत्तम है ।

इस्ट्रीन *चिकित्सा*—निःस्यंद विशेष की चिकित्सा भी इस अवस्था में लाभप्रद होती है । एक लाभदायक योग ५ मिलीग्राम 'सिन्थेटिक इस्ट्रोजेन' का एक सी-सी तेल में घोल बनाकर नासा में छोड़ना है । इस घोल का प्रयोग एक सप्ताह तक प्रतिदिन, पश्चात् एक दिन का अंतर देकर, तत्पश्चात् सप्ताह में दो बार या एक बार करते हैं । यदि फिरङ्गोपसर्ग का निश्चय हो तो तदनुकूल फिरंग निरोधी चिकित्सा (Anti Syphilitic treatment) चिकित्सा करनी चाहिये ।

प्रतिषेधक उपक्रमों का विश्लेषण

इन चिकित्साओं के उद्देश्य—१. श्लेष्मलकला को आर्द्र करना, २. प्रकृतावस्था में लाना, ३. प्राकृतिक स्राव से आच्छादित रहने देना ४. नासापुटक न बनने देना ५. बदबू को नष्ट करना ६. गंधज्ञान प्रभृति घ्राणेन्द्रिय क्रियाओं को जागृत करना ही होता है । अस्तु, जब ऐसा हो जाय तो रोगी को रोगमुक्त समझना चाहिये ।

आयुर्वेद में इन्हीं उपक्रमों का विस्तार से वर्णन है जिनका एक एक करके वर्णन करना प्रस्तुत पाठ का ध्येय है :—

अपीनस चिकित्सा—१. स्नेहन, २. स्वेदन, ३. छर्दन (वमन), ४. स्रंसन (विरेचन), ५. अल्प लघु भोजन, ६. उष्णजल का सेवन, ७. काल में धूमपान, ८. अवपीडन, ९. नस्य का प्रयोग करना चाहिये ।[1]

अवपीडन—१. हिंगु, त्रिकटु, इन्द्रजव, श्वेत पुनर्नवा (शेफालिका), लाक्षा, तुलसी के बीज, कायफर, वच, कूठ, सहिजन इन ओषधियों का महीन चूर्ण बनाकर श्रेष्ठ अवपीडन नस्य होता है ।

कलिङ्गाद्यवपीड—कलिङ्ग हिंगु, मरिच, लाक्षा स्वरस, कायफर, कूठ, वच, सहिजन और विडङ्ग का अवपीडन भी प्रशस्त है ।

धूम-मधूच्छिष्टधूम—मोम और गुग्गुल को मिलाकर उसको आग में जला कर धूम का नासा से प्रयोग हितकर होता है ।

शताह्वादिधूम—सौंफ, दालचीनी, बलामूल, श्योनाक, एरण्डमूल, बेल की छाल, अमलताश का गूदा, वसा, घी और मोम मिलाकर धुवाँ लेना चाहिए ।

नस्य—१. खुरासानी अजवायन, अग्निमन्थ, वच, जीरा और कलौंजी की पोटली बनाकर उसको तवे पर गरम कर सूंघे ।

२. पाठादि तैल-पाठा, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, मूर्वा, चमेली के पत्ते से तैलपाक विधि से बनाया तैल का नस्य पीनस को नष्ट करता है ।

शिग्रुतैल—शिग्रु (सहिजन) का बीज, भटकटैया के बीज और जमालगोटे के बीज, त्रिकटु, बेल के पत्ते समान भाग में लेकर कल्क से चतुर्गुण तैल डालकर सिद्ध कर पीनस में नस्य के लिये प्रयोग करना चाहिये ।

---

१. पूर्वोद्दिष्टे पूतिनस्ये च जन्तोः स्नेहस्वेदौ छर्दनं स्रंसनञ्च ।
युक्तं भक्तं तीक्ष्णमल्पं लघु स्यादुष्णं तोयं धूमपानञ्च काले ॥ (सु०)

आभ्यंतरीय प्रयोग—१. सभी पीनस रोगों में सभी समय में मरिच और गुड के साथ दही का सेवन सुखकर होता है[१]।

२. पंचमूली क्षीर—बृहत्पंचमूल की ओषधियोंसे सिद्ध ।

३. चित्रक क्षीर—चीता और हर्रे से शृत क्षीर का प्रयोग ।

४. वायविडङ्ग क्वाथ में घी और गुड डाल कर पीना ।

५. गुड एवं मरिच मिलाकर प्रचुर मात्रा में दधि का सेवन पीनस में तथा दुष्टप्रतिश्याय में हितकर है ।[२]

६. गेहूँ के आटे में गुड मिलाकर घी में पकाया हुआ हलुआ, अपूप और मालपूआ बनाकर खाना भी हितकर है ।[३]

७. विडङ्ग शष्कुली-गेहूँ को आटे में वायविडङ्ग का चूर्ण डालकर उसकी पूड़ी, रोटी या पराठा बनाकर खावे और सोते समय ठंडा जल पी लिया करे तो रोगी को पीनस रोग से छुटकारा मिल जाता है ।[४]

८. कट्फलादिचूर्ण या कषाय का प्रयोग-कटफल, पुष्करमूल, त्रिकटु, यवासा और सोआ लेकर इसके चूर्ण को आर्द्रकस्वरस के अनुपान से सेवन करने से या कषाय बनाकर पीने से पीनस, स्वरभेद, तमक, हलीमक, सन्निपात तथा अन्य कफ-वायु से उत्पन्न श्वास रोग में लाभप्रद होता है ।

९. व्योषादिवटी का चूसने के लिये प्रयोग करे ।

पूतिनस्य चिकित्सा—इसमें पीनसवत् पूरी चिकित्सा करते हैं—कुछ विशेष योग जो नासा की दुर्गंध को कम करे उनका प्रयोग अधिक होता है ।

---

१. सर्वेषु सर्वकालं पीनसेषु जातमात्रेषु ।
मरिचं गुडेन दध्ना भुञ्जीत नरः सुखं लभते ॥ (यो० र०)

२. गुडमरिचविमिश्रं पीतमाशु प्रकामं हरति दधि नराणां पीनसं दुर्निवारम्

३. यदि तु सघृतमन्नं श्लक्ष्णगोधूमचूर्णैः ।
कृतमुपहरतेऽसौ तत्कुतोऽस्यावकाशः ॥ (यो० र०)

४. वेल्लगोधूमभोजी च निद्राकाले च शीतलम् ।
जलं पिबति यो रोगी पीनसान्मुच्यते नरः ॥

१. *षड्बिन्दुघृत*—भृङ्गराज, लवङ्ग, मुलैठी, कूठ, सोंठ इन द्रव्यों से गोघृत को, पाकविधि से सिद्ध कर लिया जाय अथवा गोघृत में मिलाकर नासा में छोड़ने का प्रयोग किया जाय तो नासास्थिगत पीनस भी ठीक हो जाता है और इसके प्रयोग से सैकड़ों शिरोरोग नष्ट हो जाते हैं।[1]

इसकी मात्रा नाक में डालने की छः बूंद है।

२. *व्याघ्रीतैल*—भटकटैया, दन्तीबीज, वच, सहिजन, त्रिकटु और सैंधव नमक से सिद्ध तैल का नासा में प्रक्षेप करने से पूतिनासा नामक रोग ठीक होता है और बदबू को दूर करता है।

३. पीनसोक्त अवपीडन द्रव्यों में सरसों और गोमूत्र डालकर तैल सिद्ध कर उसका नासा में पूरण करना चाहिए।

४. व्याघ्री (भटकटैया के फल को आग पर सेंक कर उसका स्वरस या उसके पंचाङ्ग का पुट पाकविधि से निकाले स्वरस की बून्दे नासा में डाले)।

नासाशोष चिकित्सा[2]—इस अवस्था में भी पीनसवत् ही चिकित्सा करनी चाहिये। प्रधानतः १. स्नेहपान २. स्निग्ध धूम ३. उर्ध्ववस्ति-क्षारीय जल से नासावस्ति (Alkaline doushe) नित्य करनी चाहिये। ४. वलातैल नासा में प्रयोग करना तथा ५. वातघ्न उपचारों को करना चाहिये। ६. गोघृत का पान श्रेष्ठ है। ७. अणुतैल का प्रयोग नस्य रूप में। ८. नासाशोष में दूध में चीनी डालकर यथेच्छ पीना हितकर है।[3] ९. दूध और घृत के मिश्रित करके पीना १०. जाङ्गल मांसरस का सेवन उत्तम रहता है।

नासापुटक चिकित्सा—इसमें खुरण्ड को तीव्र नस्य देकर निकाले पश्चात् पुनः वहाँ न होने पावे अस्तु, स्निग्ध तैल आदि का स्थानिक प्रयोग करना चाहिये। नासाशोषवत् ही वातघ्न चिकित्सा भी करनी चाहिये।

---

१. भृङ्गं लवङ्गं मधुकं च कुष्ठं सनागरं गोघृतमिश्रितञ्च।
षड्बिन्दुनासास्थिगतं च पीनसं शिरोगतं रोगशतञ्च हन्ति ॥ (यो० र०)

२. नासाशोषे क्षीरसर्पिः प्रधानं सिद्धं तैलं चाणुकल्पेन नस्यम्।
सर्पिष्पानं जाङ्गलैर्भोजनञ्च स्नेहस्वेदः स्नैहिकश्चापि धूमः ॥ (सु०)

३. नासाशोषे क्षीरपानं ससितं च प्रशस्यते। (यो० र०)

१. शुंठ्यादि तैल या घृत—सोंठ, कूठ, पिप्पली, वायविडङ्ग और मुनक्का दो-दो तोले लेकर पीसे। आधा सेर तैल और दो सेर पानी डालकर तैल सिद्ध करे। इसी विधि से घृत को भी सिद्ध किया जा सकता है। इसका नस्य में प्रयोग पुटक की चिकित्सा में होता है।

२. नासापुटक की चिकित्सा में जब नाक के भीतर पपड़ी पड़ जाती हो तो उसके लिये एक अनुभूत अवमर्श का प्रयोग बड़ा हितकर होता है। इसके लिये केसर, कपूर और घी का नस्य देना चाहिये।

१०

भ्रंशथु या क्षवथु

(Vasomotor Rhinorrhoea)

व्याख्या—क्षवथु का शाब्दिक अर्थ है जिस रोग में बहुत छींकें आवें (Sneezing)। वाग्भट ने क्षवथु के स्थान पर रोग का नाम, 'भृशं क्षवः' दिया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा नासारोग, जिसमें अधिक मात्रा में छींकें आती हों। उन्होंने लिखा है कि 'तीक्ष्ण पदार्थों के सूंघने से, सूर्य की किरणों को अधिक देर तक देखते रहने से, सूते या लकड़ी से नाक कुरेदने अथवा अन्य बातप्रकोपक कारणों से नासिका तरुणास्थियों (Cartilage) में धर्षण होने से वायु कुपित होकर चलती है; परन्तु उसका मार्ग अवरुद्ध होने से वह पलटा खाया हुआ वायु ऊपर की ओर जाकर शृङ्गाटक मर्म से टकराता है और वहाँ से लौट कर बहुत सी छींकें लाता है अतएव इसे भृशंक्षवः कहते हैं।"[1]

---

१. तीक्ष्णघ्राणोपयोगार्करश्मिसूत्रतृणादिभिः ।
वातकोपिभिरन्यैर्वा नासिकातरुणास्थिनि ॥
विघट्टितेऽनिलः क्रुद्धो रुद्धं शृंगाटकं व्रजेत् ।
विवृतः कुरुतेऽत्यर्थं क्षवथुः स भृशं क्षवः ॥ (वा०)

हेतु एवं सम्प्राप्ति—इस सूत्र में स्पष्टतः रोग के दो प्रकार के कारण माने गये हैं। तीक्ष्णादि कारण आगन्तुक रूप में और 'वातप्रकोपि अन्य हेतु' से दोषजनक हेतुरूप में रोगोत्पादक होते हैं। इसीलिये माधवनिदान ने रोग के दो भेद स्पष्ट कर दिया है। आगन्तुक क्षवथु 'तीक्ष्ण द्रव्यों का उपयोग (राई, मिर्च आदि) कटु एवं तीक्ष्ण द्रव्यों के सूंघने से (त्रिकटु, सुर्ती आदि), सूर्य की ओर अधिक देर तक देखते रहने से अथवा सूत या कपड़े की बत्ती बना कर नाक को सुहलाने से नासाजवनिका (तरुणास्थि) में अथवा शृङ्गाटक मर्म में क्षोभ (Irritation) पैदा होकर छींके आने लगती हैं।' दोषज[1] क्षवथु— 'घ्राणाश्रित मर्म शृङ्गाटक में रहने वाला वायु जब आहार-विहार या आगन्तुक कारणों से दूषित हो जाता है, तब वह कफ को अनुगामी बनाकर बार-बार वह शब्द करता हुआ नाक से बाहर आता है। इसे दोषज क्षवथु या दोष जन्य छींक कहते हैं।'[2] संक्षेप में चरकाचार्य के अनुसार यह कहा जायगा कि 'शिरस्थ वायु विगुण मार्ग (विष्वक् पथस्थ) होने से नासाश्रित मर्म को स्पर्श करके छींके पैदा करता है। 'जिसे क्षवथु कहते हैं।'[3]

विवरण—जो स्वाभाविक छींक आती है वह एक शरीरगत आधारणीय वेग है। वह कोई रोग नहीं है और न आगंतुक क्षोभक कारणों से उत्पन्न होने वाली छींकें ही चिकित्सा की दृष्टि से कोई बड़ा महत्व रखती हैं। नवप्रतिश्याय में छींकों का आना एक आम लक्षण है। परन्तु वह एक गौण लक्षण है। वह इतना प्रबल नहीं होता कि उसको

---

१. तीक्ष्णोपयोगादभिजिघ्रते वा भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा ।
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्युद्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥

२. घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टो यस्यानिलो नासिकया निरेति ।
कफानुयातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञः ॥
(सुश्रुत)

३. संस्पृश्य कर्मण्यनिलस्तु मूर्ध्नि विष्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति ।
(चरक)

एक स्वतंत्र रोग ही कहा जाय। परन्तु क्षवथु रोग से जो वर्णन ग्रंथों में पाया जाता है वह एक स्वतंत्र रोग है। उसमें छींकों का आना ही एक प्रधान लक्षण है। इस लक्षण के साथ पाश्चात्य शालाक्योक्त एक रोग विशेष की तुलना की जा सकती है और प्राच्यवर्णनों के साथ हूबहू मिलता वह रोग है उसको 'वैसोमोटर राइनोरिया' या अनूर्जताजन्य परिस्रव कहते हैं।

अनूर्जताजन्य परिस्रव (Vasomotor Rhinorhoea)—इस रोग को अनूर्जता या परिस्थिति की असह्यता (Allergic) वश उत्पन्न होने वाले रोगों के वर्ग में रखा जाता है। इसमें सबसे महत्व की बात "शृङ्गाटक मर्म' (Sympathetic Nervous System, Irritability) की क्षुब्धता है। शृङ्गाटक मर्म अथवा स्वतंत्र नाडी मण्डल की सामान्य उत्तेजना से छीकों का आना एवं नाक का बहना शुरू हो जाता है। अनूर्जता या असह्यता की परिस्थिति में साधारण उत्तेजना भी जिनका आम तौर से कोई बड़ा महत्त्व नहीं दिया जा सकता है, रोगोत्पत्ति में भाग लेती है और क्षवथु या भृशंक्षव नामक रोग को पैदा कर देती है।

अनूर्जता या परिस्थिति की असह्यता (Allergy) दो प्रकार की हो सकती है। १. विशिष्ट (Specific) तथा २. सामान्य (Non Specific)। प्रथम वर्ग के उत्तेजक द्रव्यों का पता चल जाता है, जिन्हें आगन्तुक वर्ग में रख सकते हैं। जैसे तृणज्वर (Hay fever) जिसमें घासों के पराग नाकों से लगकर उत्तेजना पैदा करते हैं। दूसरे वर्ग में ऐसे कारण हैं जिनका ठीक पता नहीं चल पाता; जिनके कारण उत्तेजना होकर वायु कुपित (Irritation to the Sympathetic System) होती है और क्षवथु (Vasomotor Rhinorhoea) की उत्पत्ति होती है।

लक्षण—'वैसोमोटर राइनोरिया' या अनूर्जताजन्य परिस्रव की तीव्रावस्था के पूर्वरूप में नाक में थोड़ी तोद (Pricking sensation) सुई चुभाने सी पीड़ा का अनुभव होता है और उसके बाद भयंकर रूप से

छींको (क्षव) का दौरा शुरू हो जाता है (Voilent attack of Sneezing) जिसके साथ ही साथ या बाद में नासा से स्वच्छ जलवत् स्राव प्रभूत मात्रा में (Profuse Watery discharge) होने लगता है। कई रोगियों में आँख से अश्रुस्राव भी होने लगता है। कई बार रोगी के लिये यह आँख की तकलीफ अधिक दुखदायी हो जाती है। यह दौरा बीच-बीच में बंद होकर आता रहता है। कई बार (Sneezing) छींकों का दौरा घंटे भर से भी अधिक तक चलता रहता है जिससे रोगी पूर्णतया व्याकुल हो जाता है और थक जाता है। इन दौरों की यह विशेषता होती है कि जितनी ही शीघ्रता से ये शुरू होते हैं उतनी ही शीघ्रता से बंद भी हो सकते हैं। यदि रोग मंद स्वरूप का रहा तो रोग का प्रारंभ भी क्रमशः या धीरे-धीरे हो सकता है।

उन्हीं लक्षणों से मिलता-जुलता वर्णन सुश्रुतोक्त त्रिदोषज प्रतिश्याय का भी है जिससे बार-बार जुकाम का होना और अकस्मात् (विना कारण) अच्छा होना और पुनः होना पाया जाता है। अपक्व या पक्व प्रतिश्याय के समान ही स्रावादि का होना ग्रन्थों में बतलाया गया है। अस्तु, पाश्चात्य शालाक्य में वर्णित 'वैसोमोटर राइनोरिया' के भीतर आयुर्वेद में पठित त्रिदोषज प्रतिश्याय तथा क्षवथु दोनों का ग्रहण किया जा सकता है।

चिकित्सा—क्षवथु की चिकित्सा में दो प्रकार के क्रमों का उल्लेख मिलता है—एक सार्वदैहिक (General) तथा स्थानिक (Local) सार्वदैहिक इन उपक्रमो का उद्देश्य होता है नासागतश्लेष्मलकला की सहन या संरक्षण शक्ति को बढ़ाना-जिससे साधारण शीत या अन्य उत्तेजक कारणों के वर्दास्त करने की ताकत नासाकला में आजाय और बार-बार रोग न होने पावे इसके लिये बहुत से विधान आगे शिरोरोगाध्याय में बतलाये गये हैं जैसे—घृतपान, बृंहण तैल, अगस्त्य या चित्रक हरीतकी, महालक्ष्मी विलास, शिलाजत्वादिलौह एवं सितोपलादि चूर्ण इत्यादि।

आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार इस रोग को अनूर्जताजन्य (Allergic) माना जाता है। तन्निमित्त अनूर्जता पैदा करने वाले क्षोभक

कारणों का ही पता लगाना पड़ता है। भोजन के पदार्थों की ध्यानपूर्वक निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है। जिस विशिष्ट द्रव्य के कारण रोगी को प्रतिश्याय का दौरा हो जाता है, उसको भोज्य सामग्रियों में से निकाल दिया जाता है। बहुत प्रकार के फूलों के पराग (Pollen) तृण घास की परीक्षा त्वचा की प्रतिक्रिया द्वारा की जाती है एवं जो वस्तु प्रतिक्रिया कारक होती है, उससे रोगी को बचाना पड़ता है। उसमें व्यक्ति विशेष के प्रकृति एवं वस्तु विशेष की असह्यता का ज्ञान करके, उस कारण विशेष को दूर कर देने से ही जुकाम का बार-बार का होना बन्द हो जाता है। यह विषय (विशिष्ट अनूर्जता का पता लगाना) बड़ा कठिन होता है। यदि पता लग जाय तो उस प्रोटीन विशेष के द्वारा ही रोगी को सह्यता पैदा कर दी जाती है जिससे भविष्य में उसको बर्दाश्त करने की ताकत आ जाती है और रोग से छुटकारा मिल जाता है। कई बार कारण के ठीक पता नहीं लगने पर 'वैक्सीन' एवं विशेष प्रोटीन (प्रोभूजिन) की चिकित्सा की जाती है। यदि यह भी सम्भव नहीं हो तो लाक्षणिक चिकित्सा से रोगी को आराम पहुँचाया जा सकता है।

'अनूर्जता' की व्याख्या, हेतु एवं चिकित्सा प्रस्तुत पुस्तक के बाहर का विषय है। यहाँ पर उसका विवेचन सम्भव नहीं होने से दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है। इसकी विशेष जानकारी के लिये पाठकों को अन्यत्र किसी कायचिकित्सा की बड़ी पुस्तक को देखना चाहिये।

प्राचीन स्थानिक उपचार—१. प्रधमननस्य (शिरोविरेचनोक्त द्रव्यों का) २. नाडी के द्वारा चूर्ण का फूँक मारना (Nasal in halation) ३. सिर के ऊपर वातघ्न स्वेद ४. नासिका द्वारा स्निग्ध धूम का प्रयोग।

शुण्ठादितैल या घृत—सोंठ, कूठ, पिप्पली, वायविडङ्ग (बिल्व) और मुनक्का के कल्क से सिद्ध किया हुआ घृत या तैल का प्रयोग।

सिक्थकादिधूम—घृत, गुग्गुलु और मोम के मिश्रण से बने योग के अग्नि में जला कर नासा द्वारा धुवाँ के लेने से भी लाभ होता है।

अर्वाचीन स्थानिक उपचार—अण्वायन (Ionization) इस रोग की चिकित्सा में सबसे अधिक महत्व की प्रक्रिया है, इसकी विधि यह

है—यशद शुल्व घोल (Zinc sulphate solution) की २% की शक्ति में एक विकेशिका (वर्त्ति Gicuze) या रूई के पिचु को सुखा कर नासिकारन्ध्र में भर दिया जाता है पश्चाद् विद्युत् की धारा (Electric current) बहाई जाती है। यह क्रिया एक सीमित काल तक करनी होती है। साधारणतया पाँच-पाँच दिनों के अन्तर देकर की जाती है। तीन बार का लगाना आमतौर से पर्याप्त होता है। अधिक से अधिक एक बार में बीस मिनट विद्युत् लगाई जाती है। इस क्रिया के द्वारा नासा श्लेष्मलकला के ऊपर यशद चूर्ण का एक सफेद आवरण सा चढ़ जाता है जो प्रायः पाँच दिनों तक रहता है, उसके बाद पुनः विधि को चालू करना होता है।

२. दूसरी चिकित्सा की विधि विद्युद्दहन (Electriccautery) है जिसका वर्णन पूर्व में जीर्ण प्रतिश्याय (Hypertrophic) के प्रसंग में हो चुका है। इसी प्रकार ३. डायोथर्मी तथा ४. 'कार्वोलिक एसिड' से चिकित्सा भी लाभ प्रद मानी जाती है।

भ्रंशथु

(Mucoid discharge from the Sinuses)

व्याख्या—'सिर एवं नासिका में पहले से ही संचित गाढ़ा, विदग्ध और नमकीन कफ जब पित्त के ताप से या सूर्य के ताप से गल उठता है तब नासिका से गिरने लगता है, उस रोग को भ्रंशथु कहते हैं।'[1]

विवरण—यह प्रवचन इतना स्थूल और सूत्र रूप में है कि इस रोग का लक्षण अनेक नासारोगों में मिल सकता है क्योंकि गाढ़ा स्राव किसी जीर्ण नासा श्लेष्मल कला के शोफ में मिल सकता है। परन्तु इस रोग का क्षवथु के बाद ही पाठ करने का क्रम तथा चिकित्सा का क्षवथु के समान ही विधान होना इस बात को सूचित करता है कि

१. प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु।
प्राक् संचितो मूर्धनि सूर्यतप्तस्तं भ्रंशथुं रोगमुदाहरन्ति॥ (सु०)

इस रोग का क्षवथु के साथ गहरा संबन्ध है। दूसरा समाधान क्षवथु की पक्वावस्था मान कर किया जा सकता है। जिस प्रकार पीनस एवं प्रतिश्याय की आम और पक्वावस्थाओं का निर्देश हुआ है उसी प्रकार सम्भवतः क्षवथु की पक्वावस्था का द्योतन भ्रंशथु नामक रोग से हुआ हो। आधुनिक शालाक्य पुस्तकों में इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि 'वैसोमोटर राइनोरिया' या क्षवथु का बार बार दौरा होते रहने से नासा की कला मोटी पड़ जाती (Hypertrophied) है और उपसर्ग का प्रसार नासा वायु विवरों की श्लेष्मलकला तक भी हो जाता है और वह भी मोटी पड़ जाती है, उसके मोटी पड़ जाने से वहाँ पर गाढ़े (सान्द्र) स्राव का संग्रह रहता है, उष्णता से विलीन होकर वह नासिका द्वारा निकला करता है।

अस्तु यद्यपि भ्रंशथु का कई रोगों से (Chronic Nasal discharge or discharge of the Hypertrophied Rhinitis) समानता है फिर भी अधिक साम्य सान्द्र विदग्ध उस स्राव से है, जो वायुविवरों की श्लेष्मलकला के मोटे होने से होता है' (Mucoid discharge from the thickening of the lining membrane of the Sinuses)।

भ्रंशथु का स्वतन्त्र वर्णन वाग्भट और चरक में नहीं मिलता है।

चिकित्सा—क्षवथुवत्[1] पूरी चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे,

मागधी अवपीडन—पिप्पली, शिग्रुबीज, वायविडङ्ग और काली मिर्च को पानी के साथ पीसकर कपड़छान कर उस जल को नाक में टपकाने से भ्रंशथु एवं जीर्ण प्रतिश्याय में लाभ होता है।

नासा-प्रक्षालन—के लिये एक औंस जल में नमक १० ग्रेन, टंकण (बोरिक एसिड) ५ ग्रेन, सर्जिकाक्षार (Sodii Bicarb) १० ग्रेन, कार्बोलिक एसिड ३ बूँद मिलाकर घोल से नासा का धोना। २. १

१. क्षेप्यं नस्यं मूर्धवैरेचनीयैर्नाड्या पूर्णैः क्षवथौ भ्रंशथौ च।
कुर्यात्स्वेदान्मूर्ध्नि वातामयघ्नान्स्निग्धान् धूमान् यच्चदन्यं हितञ्च। (सु० २३)

औंस जल में १० ग्रेन मेन्थाल, १० ग्रेन यूकैलिप्टस आयल मिलाकर 'स्प्रे' के द्वारा नासिका में देना भ्रंशथु में हितकर है।

स्राव या नासापरिस्रव (Rhinorrhoea)—नासा से स्राव का बहना परिस्रव कहलाता है। चाहे वह घना हो, या पतला, पीला हो या सफेद। 'जिस व्याधि में नासागत दोष का स्राव होता है उसको परिस्रव कहा जाता है।' ऐसा पाठ माधवनिदान, भावप्रकाश, आयुर्वेद विज्ञान, योगरत्नाकर और गदनिग्रह में मिलता है।[1]

सुश्रुत का परिस्रव एक विशेष अवस्था के स्राव का द्योतक है जैसी कि उनकी उक्ति है 'जिसकी नाक से स्वच्छ, सलिल के समान और अविवर्ण स्राव निरन्तर बहता रहता है एवं रात्रि में अधिक बढ़ जाता है उस व्याधि को नासापरिस्राव कहते हैं।'[2] आचार्य वाग्भट ने भी इसी मत का समर्थन किया है और उसको परिपुष्ट करने के लिये इस रोग को कफ संभव विकार माना है।[3]

विवेचन—वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि यह रोग एक स्वतंत्र विकार के रूप में न होकर प्रतिश्याय (Rhinitis) का एक अवश्यंभावी आनुषंगिक लक्षण है। यदि नासापरिस्राव का अंग्रेजी में अनुवाद करना हो तो कहना होगा 'राइनोरिया' जिसका अर्थ है नाक का बहना। यह अवस्था प्रायः सभी नासारोगों में मिलती है। इसका विस्तृत वर्णन नासारोगों के सामान्य लक्षणों के अध्याय में विस्तार से कर दिया गया है। सुश्रुतोक्त परिस्रव नवप्रतिश्याय (Acute Rhinitis or Vasomotor Rhinorrhea) में आ जाता है—जिसका वाग्भट भी समर्थन करते हैं। परन्तु अन्य ग्रन्थों के स्रावों का जहाँ घना स्राव (Thick, mucopurulent, mucoid discharge) का वर्णन है,

---

१. घ्राणाद् घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत्स्रावमुदाहरेत्तम्।

२. अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्याविवर्णं स्रवतीह नासा।
रात्रौ विशेषेण हि तं विकारं नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत्। (सु०)

३. स्रावस्तु तत्संज्ञः श्लेष्मसंभवः।
अच्छो जलोपमोजस्रं विशेषान्निशि जायते। (वा.)

जीर्ण प्रतिश्याय (Hypertrophic rhinitis), दुष्टप्रतिश्याय, पूतिनासा आदि रोगों में समावेश होगा। पीतवर्ण का स्राव तो प्रायः वायु विवरों के विकारों में ही दिखाई पड़ता है (Yellow discharge in nasal sinuses) ऐसा वैज्ञानिकों का मत है। संक्षेप में इस व्याधि को Acute or chronic Rhinorrhoea कहना चाहिये।

चिकित्सा—१. प्रधमन चूर्ण, २. तीक्ष्ण अवपीडन नाड़ी के द्वारा, ३. धूम्र प्रयोग, ४. बकरी का मांस खाने के लिये देना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार जीर्ण स्राव की अवस्था तभी सम्भव है जब कि शरीर की प्रतिक्रिया शक्ति बहुत क्षीण हो गई है। इसलिये साधारण स्वास्थ्य और रोगप्रतीकारक शक्ति को बढ़ाने के निमित्त अजामांस (बकरे का मांस) खाने को दिया जाता है। इस विकार के परिणाम स्वरूप शरीर की रोग निरोधक शक्ति कम होती जाती है जिससे भविष्य में क्षय रोग के होने की आशंका बनी रहती है। एतदर्थ क्षयघ्न-बलवर्धक अजामांस के सेवन का आचार्यों ने निर्देश किया है।[1]

प्रधमनों में—पूर्वोक्त कलिंगाद्यवपीडन या मनःशिलाद्यवपीडनवाय- विडङ्ग, सेंधानमक, हिंगु, गुग्गुल, मैनसिल और घोड़वच के मिश्रित महीन चूर्ण का नस्य।

धूम्रपान में देवदारु और चित्रकमूल कुचलकर चिलम में या चुरुट के रूप में अग्नि से जलाकर नासा से धुएँ के रूप में पिलाना चाहिये।

इस रोग में चिकित्सा का सिद्धान्त ही रहता है—तीक्ष्णनस्य कफघ्न योगों से नासागत दूषित जल के क्लेद सुखा कर साफ कर नासास्रोतों को शुद्ध रखना।

---

१. नासस्रावे घ्राणतश्चूर्णमुक्तं नाड्यादेयं योवपीडश्च तीक्ष्णः।
तीक्ष्णं धूमं देवदार्वग्निकाभ्यां मांसं चाजं युक्तमत्रादिशन्ति। (सु०)

११

नासार्शः

(Nasal Polypus)

व्याख्या—नासार्श बड़े-बड़े भूरे वर्णके तन्तुओं के संघात (Large, Greish masses of tissues) होते हैं जो देखने में अङ्गूर के गुच्छे के मानिन्द मालूम होते हैं, जो नासास्रोत को अवरुद्ध किये हुए पड़े रहते हैं। अधिकतर वे आगे की ओर से दिखलाई पड़ते हैं और अग्र नासाछिद्र से निकले दीखते हैं। कई बार नासापश्चात् छिद्र से भी लटके रहते हैं उनका देखना नासापश्चात् दर्शन परीक्षा (Post. Rhinoscopy) से ही संभव रहता है। इस स्थिति में वे अधिकतर एक ही संख्या में होते हैं और उनका उद्भव ऊर्ध्व हन्वस्थि वायुविवर में होता है।

नासार्श का उद्भव या हेतु—नासार्श को उद्भव की दृष्टि से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। १. वे जो नासागतशोफ के परिणाम स्वरूप (Inflammatory) नासा संबन्धी विवरों शोफों के परिणाम स्वरूप होते हैं। २. दूसरे वे जो स्वतंत्र नाडी मण्डल (Vasomotor disturbances) के विकारों के कारण होते हैं।

जो कारण नासागत या वायु विवरगत शोफोत्पादन में सहायक होते हैं, नासार्श उन्हीं कारणों से पैदा होते हैं। जैसे, नासा के ऊपरी भागों का सँकरा होना, अथवा नासागत रचनाओं में जैसे मध्यशुक्तिका के ऊपर भार या पीडन का पाया जाना। (Pressure) अथवा मध्य-सुरंगा (middle Meatus) के ऊपर दबाव का पड़ना वहाँ के तन्तुओं में सूजन पैदा कर देता है। जब यह दबाव और भी बढ़ जाता है, तब नासागत स्राव को निकालने के लिये जोर-जोर से नाक साफ करनी पड़ती (Blowing) है फलतः श्लेष्मलकलागत रक्त रस के सरण (Flow) में बाधा आ जाती है एवं उसके द्वारा पीड़न भी अधिक हो जाता है। ठीक इसी प्रकार नासागत विवर में अस्थि से

निकली हुई जो श्लेष्मलकला रहती है वह भी शोफयुक्त और संकुचित होकर अर्शवत् तन्तुसंघात का आकार बनाकर पीछे से आकार में बढ़ सकती है। नासाजवनिका की मार्गच्युति हो जाने से नासिका का एक भाग सँकरा हो जाता है जिसमें पुनः पुनः शोथ होता रहता है, और अन्यान्य उपसर्गों का आये दिन रोगी शिकार होता रहता है, इस अवस्था में भी अर्श का होना एक आम घटना है। पुनः पुनः होनेवाला वायुविवर शोथ में भी विशेषतः उस अवस्था में जब विवरगत स्रावों के प्रवाह का अवरोध हो तो नासार्श होने की संभावना रहती है। अनूर्जता जन्य नासापरिस्रव (Vasomotor Rhinorhoea) के बारबार होने से श्लेष्मलकला का शोथ इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न कर देता है कि वहाँ पर अर्श की उत्पत्ति संभव रहती है।

यहाँ पर यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि नासार्शों के कारण यदि अवरोध प्रबल हो तो विवरगत स्राव रुद्ध हो जाता है तथा विवरों में उपसर्ग पहुँच जाता है और विवरशोथ (Sinusitis) पैदा हो जाता है।

लक्षण—रोगी में सबसे प्रथम लक्षण नासानाह (नासावरोध) का होगा और कुछ स्राव की व्यथा मिलेगी। यह स्राव घन गाढ़ा या पूयाभ (Purulent) होगा। यदि अर्श श्लेष्मलकला के उपरितन भाग में हो तो स्राव घना गाढ़ा होगा परन्तु यदि बहुत गहराई में स्थित अर्श विवर से संबद्ध हो तो पीत वर्ण का पूयस्राव, नाक से साफ करते हुए बाहर आता है। रोगी की आवाज सानुनासिक हो जाती है।[1] रोगी की आकृति दर्दुरमुख (Frogface) हो जाती है।

चिकित्सा—नासार्श कई बार अपने आप नष्ट होकर अदृश्य हो जाता है अथवा नाक साफ करते हुए जोर के धक्के से स्वयं टूट कर बाहर गिर जाता है या यदि स्वतंत्र नाडीमंडल विकार (Vasomotor disturbances) के कारण हुआ तो इस रोग के दूर होने के साथ ही साथ अर्श भी अपने आप नष्ट हो जाता है।

१. घ्राणजेषु प्रतिश्यायोतिमात्रं क्षवथुःकृच्छ्रोच्छ्वासता पूतिनस्यं सानुनासिकवाक्यत्वं शिरोदुःखञ्च। (सु० नि०)

इसी विचार से आयुर्वेद के ग्रंथों में कई स्थानिक प्रयोग चिकित्सा में आते हैं जिनमें मूलभूत सिद्धान्त उपर्युक्त ही हैं।

शिखरी या गृहधूम तैल—घर का धुवाँ, पिप्पली, यवक्षर, हल्दी, देवदारु, सेंधानमक और अपामार्ग के बीज का कल्क लेकर तैल सिद्ध कर लेना चाहिये इसके द्वारा नासागत बूँद प्रक्षेप करने से अर्श ठीक होता है।[1]

करवीरादितैल—लाल कनेर का फूल, चमेली के पत्ते, असन का बुरादा, मल्लिका के पत्ते या फूल समान भाग में लेकर कल्क बनाकर चतुर्गुण तैल और तैल से चौगुना पानी डाल कर तैल सिद्ध करके नासा-प्रक्षेप के लिये नासार्श में प्रयोग करना चाहिये।

चित्रकादि—चित्रक, चव्य, अजवायन, कंटकारी, करंज, सेंधानमक और मदार का दूध से सिद्ध तैल का नासाप्रक्षेप नासार्श में हितकर है। आभ्यंतर प्रयोग में चित्रक हरीतकी का सेवन करना चाहिये।

यदि इन उपायों से अर्श ठीक न हो पावे तो शल्यकर्म करना चाहिये। इसके लिये—१. शस्त्रकर्म २. क्षार अथवा ३. अग्निकर्म करना चाहिये।[2]

कई बार तैलों के प्रयोग से अर्श के दाने मुरझाने लगें तो चिमटी से पकड़ खींच लेना या कैंची से काट देना चाहिये। इन मस्सों में रक्त-संचार अच्छा नहीं रहता है। अस्तु, रक्तस्राव का भी भय नहीं रहता।

दन्तीवर्ति—नासार्श को पहले क्षार से दग्ध करके पश्चात् दन्तीवर्ति नाक में रखे इससे जो अवशिष्ट नासार्श का भाग होता है-जो शस्त्रकर्म या आहरण के द्वारा नहीं निकला रहता वह भी साफ हो जाता है। इसके बनाने में दन्तीमूल, निशोथ, सेंधानमक, मैन्शिल, हरताल, पिप्पली और चित्रक का कल्क होता है।

आधुनिक शल्यकर्म—इसकी सरलतम विधि यह है—नासिका को सर्वप्रथम स्थानिक संज्ञाहर द्रव्य (Cocaine solution) से शून्य कर

१. गृहधूम कणादारु क्षार नक्ताह्वसैंधवैःसिद्धं शिखरिबीजैश्च तैलं नाशा-र्शसां हितम्।

२. विशेष वर्णन के लिये लेखक की 'सौश्रुती' में अर्शचिकित्सा देखें।

लिया जाता है । फिर एक धातु-निर्मित तार के गोलक (Wire Snare) को नासार्श के आधार तल पर ले जाकर उसकी सहायता से काट दिया जाता है। एक बार में एक ही अर्श को पृथक् किया जाता है। यदि अर्शों की संख्या एक से अधिक हो तो उसका कई बार में पृथक्-पृथक् करना उत्तम रहता है। फिर अवशिष्ट भाग को संदंश (चिमटी) के सहारे से निकाल दिया जाता है।

इस प्रकार इस शल्य कर्म में एक तार का गोलक और चपटे फलक का छोटा संदंश पर्याप्त होता है।

पश्चात् कर्म—साथ ही यदि अन्य कारण विवरविकार, नासाजवनिका मार्गच्युति या जीर्ण स्राव आदि उपस्थित हों तो उनको दूर करने के लिये लम्बे अर्से तक चिकित्सा जारी रखनी चाहिये। रोग का पुनरुद्भव न हो इसके लिये रोगी को पूर्ण विश्राम के साथ चिकित्सक की देख-रेख में रहना चाहिये। रोगी की नासा में तीन बार कपूर का प्रधमन (Menthol inhalation) एवं कई बार तैल प्रक्षेप (Oil spray) करते रहना चाहिये जिससे नासा के व्रणित स्थान पर संशमन का प्रभाव हो और पुटक (Crusting) न बनने पावें।

प्रकार—दोषभेद से नासार्श चार प्रकार के माने गये हैं--वातिक पैत्तिक, श्लैष्मिक और त्रिदोषज।

नासार्बुद (Newgrowths in the Nose)

नासास्रोत में बहुत प्रकार के अर्बुदों का अवस्थान हो सकता है। ये सौम्य अथवा घातक भी हो सकते हैं।

सौम्यार्बुदों में 'पैपिलोमा' 'वार्टस' 'रक्तस्रावी पैपिलोमैटा—' या नासाजवनिका रक्तसूत्रार्बुद (Angio Firomrata) और झर्झरास्थि का 'एंजियोमैटा' पैदा होते हैं।

घातकार्बुद—(Malignant) 'कार्सिनामैटा', 'सारकोमैटा' तथा घातक 'एञ्जियोमैटा' पाये जाते हैं।

लक्षण में—नासा के एक पार्श्व का अवरोध, पूयाभ गाढ़ा स्राव का होना (Purulent and Sanguineous discharge) नासास्थियों

का चौड़ा होना और बाद में जाकर शिरःशूल का होना यही लक्षण मिलते हैं।

चिकित्सा—१. लेप २. क्षार ३. अग्नि ४. शस्त्रकर्मों का करना प्राचीन विधान है। उसी प्रकार आज कल सौम्यार्वुदों में (Cautery or diathermy or Removal by snare) अर्वुद का आहरण करे और 'वार्टस' में क्ष-किरण चिकित्सा।

घातकार्वुदों में—'रेडियम्', 'गम्भीर क्ष-किरण,' (Deepxray) तथा 'डायथर्मी'

भेद—अर्वुदों के सात प्रकार होते हैं—वातज, पित्तज, श्लेष्मज, मेदोर्वुद, त्रिदोषज, मांसार्वुद और रक्तार्वुद।

पूयशोणित

(Due to Lupus or Newgrowths in the Nose or Tarumatic)

'दोषों की विकृति से रक्त विदग्ध हो कर दूषित होता है अथवा ललाट में किसी प्रकार चोट लग जाने से जब नासिका से रक्तमिश्रित पूय निकलने लगती है तो उस रोग को पूय शोणित या पूय रक्त कहते हैं।'[1] दोष की विदग्धता से रोग होने पर दोषज और आघात के लगने पर जो पूय और रक्त का निर्गमन होता है वह आगन्तुक व्याधि है। आचार्य वाग्भट ने लिखा है कि 'दोषों के सञ्चय के कारण अथवा अभिघातजन्य यह व्याधि होती है एवं इसमें नासिका से पूय और रक्त का निर्गमन होता है इसमें सिर में दाह तथा पीड़ा होने का भी लक्षण मिलता है, यह रोग पूय रक्त कहा जाता है।'[2]

आचार्य चरकने केवल नासिका से ही नहीं अपितु मुख और कान से भी रक्त गिरने का उल्लेख किया है।[3]

१. दोषैर्विदग्धैरथवापि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम्। (सु०)

२. निचयादभिघाताद्वा पूयासृङ् नासिका स्रवेत्
तत्पूयरक्तमाख्यातं शिरोदाहरुजाकरम्। (वा०)

३. घ्राणात्स्रवेद्वा श्रवणान्मुखाद्वा पूयात्तमस्रं त्वपि पूयरक्तम्। (च०)

विवेचना—उपर्युक्त लक्षण इतने स्थूल और सूत्ररूप में वर्णित मिलते हैं कि आधुनिक कई रोगों में इस प्रकार के लक्षण मिल सकते हैं। उदाहरण के लिये नासार्बुद, क्षयार्बुद (Lupus), अभिघात, फिरंग अथवा नासासम्बन्धी विवरशोथों में भी मिल सकते हैं। नासागत क्षयार्बुद (Lupus)—ये अधिकतर नासागुहा के अग्रभाग में अवस्थित होते हैं फैलते हुए पूरी नासिका, नासाजवनिका तथा नासाबहिर्मार्ग में फैल जाते हैं। इन में छोटे २ अर्शाङ्कुर (Warty vegetation) निकलते हैं और नासागुहा को पूरी तौर से भर देते हैं—इनमें रक्तस्राव शीघ्रता से होता है और नासानाह की अवस्था उपस्थित हो जाती है साथ ही साथ शिरःशूल भी होता है। कई बार अङ्कुर टूट कर व्रण का रूप ले लेते हैं।

चिकित्सा—आधुनिक 'डायथर्मी' पद्धति के द्वारा ग्रंथियों या अङ्कुरों में जमा दिया जाय तो नासागुहा में कोई वैरूप्य, संकोच या व्रणस्तु नहीं बनता और रोग भी अच्छा हो जाता है।

यदि उपर्युक्त पद्धति से दहन सम्भव नहीं हुआ तो विद्युद्दहन (Galvano cautery) से 'क्रोमिकएसिड' के द्वारा दाह करना चाहिये। यदि बहुत बड़े अङ्कुर हों तो लेखन द्वारा शस्त्रकर्म करना चाहिये। 'अल्ट्रावायलेट' किरण के द्वारा भी दाह किया जा सकता है।

सार्वदैहिक चिकित्सा में क्षयघ्न ओषधियों का अन्तःप्रयोग, आहार और आचार का अनुष्ठान करना चाहिये।

प्राचीन ग्रंथों में स्थानिक शोधन का कम तथा सार्वदैहिक उपक्रमों का महत्त्व अधिक दिया गया है। कारणों के अनुसार चिकित्साक्रमों में विभिन्नता हो सकती है तथापि सुश्रुताचार्य का मत है कि इसमें नाडीव्रण की सी चिकित्सा करनी चाहिये—क्योंकि ये व्रण भी अधिकतर क्षयज होते हैं। साथ ही रोगी को वमन करा कर अवपीडन नस्य देना, धूमपान, शिरोविरेचन, ऊर्ध्वाङ्ग की सफाई, रक्तपित्तघ्न उपचार, कषाय द्रव्यों से प्रक्षालन, औरस्निग्धनस्यों का प्रयोग करना चाहिये।[1]

१. नाडीवत्स्यात् पूयरक्ते चिकित्सा।

नासागत रक्तपित्त

(Hæmorrhage from the Nose or Epistaxis)

नासिका से रक्त गिरने के बहुत से कारण हो सकते हैं। कारणों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है दोषज या औपद्रविक अथवा सार्वदैहिक रोगजन्य तथा अभिघातज या आगन्तुक। प्राचीनों ने दोषज (Systematic) के चार प्रकार बतलाये हैं–वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा त्रिदोषज।

औपद्रविक में—रक्तभाराधिक्य या पाण्डुरोग (Anaemia) अथवा इन्फुलेञ्जा प्रभृति अन्य रक्तस्रावी रोग तथा पैत्तिक ज्वर में ऐसी अवस्था, उत्पन्न हो सकती है। इनमें रक्तभाराधिक्य एक ऐसा रोग है जिसमें रक्तस्राव क्षम्य है और शीघ्रता से रक्त बन्द करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, फिर भी यदि अधिक रक्तस्राव होने लगे तो तत्काल रक्त बन्द करने के उपायों को काम में लाना चाहिये।

आगन्तुक या स्थानिक कारणों में–नासागत श्लेष्मलकला से अभिघात या चोट के कारण तथा 'लिटल' के क्षेत्र से रक्तस्राव का होना प्रायः पाया जाता है। 'लिटल' के क्षेत्र में रक्तवाहिनियों का विस्फार होने के परिणामस्वरूप रक्तस्राव होता है। मामूली रगड़, खुरच या जोर से नाक की सफाई करते हुये अथवा बार-बार शोथ होते रहने से उस अंग से रक्त गिरना शुरू हो जाता है। कई बार झर्झरास्थि क्षेत्र से भी रक्तस्राव होता है और यह बड़े भयङ्कर रूप में हो सकता है और स्थानिक उपचारों से उस रक्त का बन्द करना असंभव हो जाता है।

चिकित्सा—रक्तस्राव के निवारण के लिये दो प्रकार के उपक्रम बरते जाते हैं—

सार्वदैहिक—कारणों का विचार या दोषों की विवेचना करते हुए आभ्यन्तर उपचारों को चलाना। यह चिकित्सा उस समय लाभप्रद होती है जब कि रक्तस्राव के दौरे का उपशम हो। दूसरी चिकित्सा

वान्ते सम्यक् चावपीडं वदन्ति तीक्ष्णं धूमं शोधनञ्चात्र नस्यम्। (सु.उ.२३)
पूयास्रे रक्तपित्तघ्नाः कषाया नावनानि च।

तात्कालिक या स्थानिक जिससे रक्तस्राव का निवारण दौरे के समय में किया जा सके। आयुर्वेद के ग्रन्थों में योग तो दोनों अवस्थाओं के प्रतिषेध बड़े उत्तम हैं—परन्तु इन के सर्वोत्तम चिकित्साक्रम अन्तः-प्रयोग में आनेवाली ओषधियोजना की है। पाश्चात्य शालाक्य ग्रन्थों में आयुर्वेद के ही मूलभूत सिद्धान्तों का आश्रय करके नासागत रक्तपित्त की चिकित्सा बड़े अच्छे ढङ्ग से लिखी मिलती है, अस्तु सर्वप्रथम तात्कालिक या स्थानिक उपायों का ही उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

नासावर्तिभरण—नासागत रक्तस्राव को तत्काल बन्द करने के लिये नाक को भर देना एक बड़ा प्रभावशाली उपाय है। इसमें पहले नासा-स्रोत में "कोकेन" छोड़कर वेदनासह बनाकर पश्चात् नासावर्ति के द्वारा नासागुहा के रन्ध्र को भर दिया जाता है। इस क्रिया में बराबर मात्रा में 'कोकेन' (१० प्रतिशत) और 'एड्रेनेलीन' (१/१०००) घोल लेकर उस में एक फुट लम्बी एवं एक इञ्च चौड़ी रेशम या साटन का फीता (Ribbon Gauze) या वर्ति को सुखाकर नासिका-रन्ध्र में जिधर से रक्तप्रवाह होता हो डाल कर भर देते हैं। कुछ मिनटों के बाद नाक में भरने के लिए 'हाइड्रोजेन पेरोक्साइड' के द्रव में भिगोये रेशम के बने फीते (१-१½ गज लम्बे) वर्ति की आव-श्यकता पड़ती है। इसमें भरते हुए फीते के प्रारम्भ के बारह इञ्च वाले भाग को दोहरा करके नासा के फर्श पर होते हुए ऊपर तक सीधे पहुँचा दिया जाता है। दुहरा करके डालने का फल यह होता है कि पीछे वाला भाग नासाग्रसनिका में न गिर सके। नासागुहा के प्रत्येक भाग को धीरे २ वर्ति के द्वारा मजबूती से भर देना होता है। अधिकतर नासागत रक्तस्राव का निवारण इतनी ही क्रिया से हो जाता है।

यदि यह विधि सफल न हो पाये या पूर्णतया रक्तस्तंभन न करसके तो नासा के पश्चाद् भाग में भी वर्तिभरण की क्रिया करनी चाहिये। इसके लिये भी कई विधियाँ हैं। इस में सब से सरल उपाय यह है

कि नासास्रोत में नासिकानाडी (Nasal Catheter) या पुष्पनेत्र डाल कर उस को नासाग्रसनिका (Nasopharynx) तक पहुँचाते हैं। फिर उस को रोगी के मुख के भीतर लाकर मुख के रास्ते उस में फीते को नासिका नाडी से बाँध देते हैं। फिर नाडी को पीछे लौटा कर निकालते हुए वह फीता या वर्ति भी साथ ही साथ आ जाती है। फिर अंगुली के सहारे नासाग्रसनिका में खूब अच्छी तरह नासा-पश्चात् भाग को भर दिया जाता है। फीते को मुख के सहारे अँटका दिया जाता है। नासिका के शेष भाग को भी अच्छी तरह से पैक कर दिया जाता। यदि इस विधि का ठीक प्रकार से प्रयोग किया गया तो अत्यधिक रक्तस्राव को बन्द करने के लिये पर्याप्त होता है। 'हाइड्रोजेन पेरोक्साइड' के स्थान पर 'स्टिपवेन' (Stypven) का भी उपयोग होता है। 'एड्रैनैलीन' का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि कई बार इसके फीते को हटाने पर प्रतिक्रियाजन्य रक्तस्राव शुरू हो जाता है।

विद्युद्दहन या दाह—यदि रक्तस्राव का बिन्दु या स्थान नासाजवनिका या शुक्तिका के ऊपर दिखलाई पड़ता हो तो विद्युद्दाह (Electric cautery) का प्रयोग किया जा सकता है। इसके द्वारा रक्तस्राव का मुख रुद्ध हो जाता है (Obliterate the bleeding point)। यही क्रिया आमतौर से 'लिटल' के क्षेत्र से रक्तस्राव होने पर की जाती है। यदि विद्युत्सूचिका प्राप्य न हो तो 'क्रोमिक बीड' (Chromic bead) का उसके स्थान पर प्रयोग हो सकता है। इसका विधान यह है कि एक स्प्रिटलैम्प जला कर उसकी लपट के ऊपर ताम्रशलाका को तप्त किया जाता है उसकी नोक के ऊपर 'क्रोमिक एसिड' या अम्ल के कुछ कण छोड़ जाते हैं। शलाका को तप्त करते हुए एसिड नीचे को जाकर नोक पर एक बूँद के रूप में बन जाता है। यदि शलाका को आहिस्ते से घुमाते चला जाय तो वहाँ ठण्डा होकर शलाका के अग्र पर एक बीड का रूप ले लेता है। जब बीड ठण्डी हो जाय तो उसका स्थानिक प्रयोग करें। यह अम्ल तीव्र रक्तस्तम्भक प्रयोग है। इसके प्रयोग करने के समय सतर्क रहना चाहिए क्योंकि अधिक देर तक या

गहरे प्रयोग होने से नासाजवनिका में छिद्र हो जाने का भय रहता है। अस्तु अम्ल की अधिक मात्रा हो तो उसका प्रमार्जन या क्षारप्रयोग के द्वारा उसे निष्क्रिय कर लेना चाहिये। इस प्रकार भी पुनः पुनः दहन कर्म करने की आवश्यकता पड़ती है।

प्राचीन वाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग—आयुर्वेद के ग्रन्थों में रुधिर निवारण के चार मार्ग बतलाये गये हैं[1]—१. संधान, २. स्कन्दन, ३. पाचन, ४. दहन। इनमें दहनकर्म या दाहकर्म को सर्वश्रेष्ठ माना गया है—इसके द्वारा रक्तवाहिनियों का प्रोटीन तथा एल्ब्युमिन तत्काल जम जाता है और रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

नासाप्रक्षेप—(Nasal Spray)—दूर्वादि घृत, दूब, कमलकेसर, मजीठ, एलुवा, आँवला, शीतलचीनी, खस, नागरमोथा, चन्दन, पद्माख, प्रत्येक ओषधि का दो दो तोला लेकर कल्क बनाकर उसमें एक सेर बकरी का घी और चार सेर चावल के धोवन में एक सेर बकरी का दूध डालकर घृतपाक विधि से सिद्ध कर लेना चाहिये। यह घृत नासा, कर्ण तथा नेत्रगत रक्तस्राव (Haemmorhage from the nose, ear and eye) में बड़ा उपयोगी है। नासा में इसका स्थानिक प्रयोग करने से रक्तपित्त शान्त होता है।

ग्राहीयोग—हरी दूब का रस नाक में छोड़ना, अनार के स्वरस का नस्य, अपामार्गपत्रस्वरस, बबूल की पत्ती का स्वरस, फिटकिरी और चीनी मिलाकर नस्य देना। हर्रे का स्वरस, आँवले का स्वरस, पंचक्षीरी वृक्षकषाय की बूदों को नाक में छोड़ना नासागत रक्तपित्त को शान्त करता है। सिर के ऊपर ठण्डे पानी का छिड़काव, ठण्डे जल

१. चतुर्विधंयतेतद्धि रुधिरस्य निवारणं।
संधानं स्कन्दनञ्चैव पाचनं दहनं तथा॥
अस्कंदमाने रुधिरे संधानानि प्रयोजयेत।
संधाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत्।
कल्पैरेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधि।
असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परममिष्यते। सु. सू. १४

में भीगी पट्टी का सिर पर धारण, बरफ की थैली रखना, आँवले को मट्ठे के साथ पीस कर सिर पर लेप करना। टिंक्चर फेरी परक्लोर का फोया नाक में रखना, फिटकिरी और माजूफल का बारीक चूर्ण करके नाक में भरना, फिटकरी और कपूर का महीन चूर्ण बनाकर गाय के घी में मिलाकर नासा में प्रक्षिप्त करना। ये सभी ओषधियाँ ग्राही (Astringents) होती है। इनके प्रयोग से रक्त का स्कन्दन होता है। इसी लिये शीतल द्रव्यों से परिषेक और प्रदेह करने का विधान है।

मुखद्वारा खाने के प्रयोग—वासाकुष्माण्डखण्ड, खण्डकुष्माण्डावलेह, वासास्वरस, वासावलेह, वासाघृत का प्रयोग[1]। ह्रीवेरादिकषाय—ह्रीवेर, कमल, धनियाँ, चन्दन, मुलैठी, गुडूची, खस और निशोथ का क्वाथ मधु और मिश्री मिलाकर पीने के लिये देना।

मृद्वीकाचूर्ण—मुनक्का, सफेद चन्दन, पाठानी लोध और प्रियंगु इन सबका चूर्ण घृत, मिश्री और वासकस्वरस से सेवन करना।

सामान्य रक्तस्तंभक योगों में अयापान का योग (Styptocid), 'केल्शियमलैक्टेट' तथा 'विटामिन के' के योग तथा 'कोएगुलीन' या 'क्लाडेन' का पेशीमार्ग से उपयोग उत्तम रहता है।

नासाशल्य (Foreign bodies in the Nasal Cavity)

बच्चों में नासाशल्य अधिकतर मिलते हैं—कंकड़, अन्न के दाने, मटर, चने, रबर के टुकड़े तथा अन्य दूसरी छोटी चीजें जिनसे बच्चे खेलते हैं प्रायः नाक के भीतर चली जाती हैं। इस अवस्था में नासा के एक भाग में अवरोध और स्राव होता है। इसकी चिकित्सा आहरण है। कई प्रकार के नासास्वस्तिक यंत्रों तथा वडिश (Nasal forceps and hooks) के द्वारा यह कार्य हो सकता है। आवश्यकता पड़ने पर संज्ञाहरण करके भी शल्य दूर किया जा सकता है।

वयस्कों में विजातीय द्रव्य या शल्य, नासाश्मरी (Rhinoliths)

१. वासां सशाखां सपलाशमूलां कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्य ।
प्रदाय कल्कं विपचेद् घृतं तद् सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम् । (च. चि.४)

का रूप ले लेते हैं। वर्ति के टुकड़े जो नासाभरण में प्रविष्ट किये गये हों वे यदि किसी कारण से निकल नहीं पाये और नासागुहा में ही चिपके रह गये तो उनके ऊपर खटिक संग्रह (Calcium Deposits) होकर पथरी का रूप धारण कर लेता है। चिकित्सा में इनका आहरण करके नासावस्ति (Nasal doushe) के द्वारा प्रक्षालन कर लिया जाता है।

नासागुहा के विकारों में आधुनिक ग्रन्थों में कुछ अन्य रोग जैसे नासा का क्षय, फिरंग तथा नासारोहिणी Dyptheria of the Nose का वर्णन मिलता है; परन्तु इनका उल्लेख प्राचीन ग्रंथकारों के वर्णन में लाक्षणिक ढंग पर हो चुका है। अस्तु यहाँ पर पुनः उनका उल्लेख पिष्ट पेषण मात्र है। पाठकों को इस बात का पूरा अनुभव होता होगा कि नासारोगों के अधिकार में प्रायः आधुनिक विज्ञान के सभी रोग, भेद, लक्षण तथा चिकित्सा का विज्ञान सम्मत अविकल वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

पाश्चात्य शालाक्यग्रंथों में एक अध्याय नासासंबन्धी विवरों के विकारों का मिलता है। जिसमें विवरशोथ के तीव्र तथा जीर्ण प्रकार वहाँ की ग्रन्थि, अर्बुद तथा अभिघातों का वर्णन आता है। इसका स्वतंत्र वर्णन आयुर्वेद के अध्यायों में नहीं मिलता। संभव है कि वैद्यक में लक्षणिक चिकित्सा का महत्व होने से अथवा दोषविभेद से व्यवस्था में भेद होने से अथवा अधिकतर निरीक्षण (Observation) के ऊपर शास्त्र की मर्यादा होने से अथवा नासा और शिरोरोगों के समान ही 'साइनसाइटिस' की चिकित्सा का क्रम होने से 'साइनसाइटिस' या विवरशोथों का उल्लेख स्वतंत्रतया नहीं किया गया हो, फिर भी इन विकारों में पाये जाने वाले लक्षण एवं उनकी चिकित्सा शिरोगाधिकार में वर्णित व्याधियों के तुल्य हैं। इस आधार पर नासा सम्बन्धी विवरों या कोटरों के विकारों को, प्राचीनों के शिरोरोग के अध्याय में ही समाविष्ट समझा जा सकता है, क्योंकि दोनों विकार में तीव्र शिरःशूल (Haedache) एक प्रधान लक्षण है "शरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजाभिधीयते" इति।

नासासहायक या नासासम्बन्धी विवर तथा उनका शोथ

(Pathological condition of Nasal Accessary sinuses)

नासा के सहायभूत अङ्ग कोटर या वायुविवर हैं जो कपालास्थियों में बने होते हैं और नासा से सम्बन्धित रहते हैं। इनके दो विभाग हैं। आगे आनेवाले समुदाय या पुरः समुदाय तथा पीछेवाले भाग पश्चात् समुदाय। पुरः समुदाय में पुरः कपालास्थिवायुविवर (Frontal sinus), ऊर्ध्वहन्वस्थिवायुविवर (Maxillary air sinuses) तथा पुरो झर्झरास्थिवायुकोष हैं। पश्चात् समुदाय में पश्चात् झर्झरास्थि वायुकोष (Ethmoidal air cells) तथा जतुकास्थि वायुविवर (Sphenoidal air cells) आते हैं। वायुविवरों के समुदाय का विभाजन शरीररचना की दृष्टि से नहीं बल्कि उनके बहाव की (Drainage) दृष्टि से सम्बद्ध है। विकास की दृष्टि से इनकी स्थिति में इतनी विभिन्नता हो सकती है कि 'पुरः समुदाय' और 'पश्चात् समुदाय' का वर्गीकरण भ्रामक हो सकता है। पुरः समुदाय के विवर मध्य सुरंगा (Middle meatus) में तथा पश्चात् समुदाय के विवर ऊर्ध्व सुरंगा (Superior Meatus) में और जतुक झर्झरावकाश (Spheno ethmoidal recess) में खुलते हैं।

तीव्र वायुविवर या अस्थिकोटर शोथ—(Acute sinusitis) इसका अर्थ होता है वायु विवरों के ऊपर चढ़े श्लेष्मलकला का शोथ।

हैतुकी—नासा के भीतर की कोई भी अवस्था जो वायुविवरों का वायुसंचार या बहाव (Drainage) में बाधा पैदा करे, वह वायुविवरों को उपसर्गयुक्त कर सकती है। जब उपसर्ग स्थापित हो जाता है, तो प्राकृतिक स्रोतसों या छिद्रों के मार्ग रुद्ध हो जाते है, जिससे रोग का अच्छा होना अधिक कठिन हो जाता है।

वायुविवरों के उपसर्ग का एक सामान्य हेतु नासाजवनिका का विकार है (Defects of the Nasal septum)। मध्य सुरंगा के

भाग में नासामार्ग इसके कारण सँकरा हो जाता है और उसमें उपसर्ग होता रहता है—जिसके कारण वायुविवरों के छिद्र बन्द हो जाते हैं।

स्राव का नासास्रोतस में एकत्रित (Accumulation of secretions) होने के कारण उपसर्ग का प्रसार समीपस्थ अङ्गों से होकर वायुविवरों तक पहुँचता है और शोथ की उत्पत्ति कर देता है।

भूयो भूयः होने वाला अनूर्जताजन्य परिस्रव, (Vosomotor Edema), अर्बुद तथा विजातीय द्रव्य या शल्य (Foreign bodies), दाँतो के मूल का उपसर्ग (Infection of the roots of the teeth); ऊर्ध्व हन्वस्थिविवर शोथ के कारणभूत हो सकते हैं। उपसर्ग का प्रसार नासागुहा के फर्श से होते हुए वायु-कोटरों तक पहुँचता है।

तीव्र उपसर्ग की अवस्था में नाक की अधिक एवं जोर से सफाई करना (Excessive blowing of the nose) रूप क्रिया से उपसर्गयुक्त द्रव्य विवरों तक पहुँच सकता है। इस प्रकार नासावस्ति (Nasal doushe भी प्रारम्भिक उपसर्ग की अवस्था में उपसर्ग को विवरों तक पहुँचाने में भाग ले सकता है। पानी में डुबकी लगाना (अवगाहन) तथा पानी में डूब कर तैरना भी (Diving and underwater swimming) रोगोत्पादन में भाग लेते पाये गये हैं—इन कारणों से हठात् उपसर्गगत द्रव्य का प्रवेश अस्थिकोटरों में हो जाता है।

वैकृतिकी—वायु विवरगत श्लेष्मलकला-शोथ की सभी अवस्थाओं से गुजरती है। उससे स्राव निकलता है। पश्चात वह पूयाभ (Purulent) हो जाता है। प्रारम्भ में कोषाङ्कुर (Ciliary activity) की क्रिया बहुत बढ़ी रहती है, परन्तु जब बाद में उपसर्ग में स्थैर्य आ जाता है तो कोषाङ्कुर-क्रिया प्रभाव-हीन हो जाती है, प्रत्युत कोषाङ्कुरों का नाश (Destruction of cilias) होने लगता है। विवरों की श्लेष्मलकला मोटी या घनी (Thickening) होने लगती है। कई बार इतनी मोटी हो जाती है कि अर्शाङ्कुरवत् (Polypoid) हो जाती है और बहुत तीव्र उपसर्ग की अवस्था में वायुविवरों का पूरा अवकाश फूली हुई श्लेष्मलकला से भर जाता और गुहा का मुख बन्द हो जाता (Cavity being obliterated) है। जहाँ पर अधिक दिनों से पाकोत्पत्ति या

पूयोत्पादन चल रहा है वहाँ श्लेष्मलकला का रूप रोहण धातुओं (Granulation tissues) के समान हो जाता है और विकारी जीवाणु अधोश्लेष्मल तन्तुओं (Submucous) में या अस्थि में भी पाये जा सकते हैं। पश्चात् सौत्रिक तन्तुओं का वहाँ पर निर्माण हो जाता है और वह बहुत कड़ा हो जाता है।

कभी कभी एक पार्श्व के सभी विवर अथवा दोनों पार्श्व के सभी वायुविवर शोथयुक्त हो सकते हैं। उस अवस्था को सर्वविवरशोथ या बहुविवरशोथ (Pansinusitis) कहा जाता है।

विवरशोथ का निदान—कुछ लक्षण सामान्यतया सभी विवरशोथों में मिलते हैं। उदाहरण के लिये शिरोवेदना या शूल, जिसका अनुभव विशेषतः उस विशेष अङ्ग पर होता है जहाँ का वायुविवर विकृतियुक्त होता है। सार्वदैहिक लक्षणों में उच्च तापक्रम (ज्वर) तथा नाड़ी तीव्र गतिक होती है। विवर के छिद्रों के बन्द या खुले रहने के अनुसार नासास्राव का अभाव या भाव होता है। विकारयुक्त विवर पर आमतौर से स्पर्शनाक्षमता होती है। केवल एक वायुविवर भी दूषित हो सकता है; परन्तु सामान्यतः सभी विवर सामूहिक रूप में ही दूषित मिलते हैं।

यदि नासागत उपसर्ग के परिणामस्वरूप विवरशोथ हुआ हो तो प्रारम्भिक लक्षण प्रतिश्याय के अनुरूप रहेंगे। परन्तु यदि इसका अस्तित्व नहीं रहा हो या अज्ञात रूप में ही प्रतिश्याय के लक्षण रहे हों तो विवरशोथ के प्रारम्भ में शीत के साथ ज्वर और नाडी की तीव्र गति प्रभृति शुरूवात के चिह्न मिलेंगे।

वायुविवरों की परीक्षा करते हुए शिरःशूल का काल एवं अवस्थान तथा अधिकतम स्पर्शाक्षम स्थल (Position, time & Maximum Tender spot) का ज्ञान करना आवश्यक होता है।

दूसरी परीक्षा नासादर्शन की है जिसके द्वारा तत्स्थानगत पूय तथा शोथ के उद्भव का कारण स्थिर किया जा सकता है। (Posture-test)[1]।

१. स्थित्यात्मक कसौटी (Posture test)—प्रथम मध्यसुरंगागत

क्ष किरण के द्वारा तथा दीपपरीक्षा या पारदर्शी परीक्षा[१] (Trans illumination test) के द्वारा निदान को स्थिर किया जा सकता है। वेधनकर्म (Proof puncture) के द्वारा किसी भी विवर की परीक्षा कर लेनी चाहिये। पश्चात् उस द्रव की (Puncture & Bacteriological) तृणाणु परीक्षा करनी चाहिए।

स्पर्शनाक्षम स्थान—पुरःकपाल विवरशोथ (Frontal sinusitis) में पीड़ा और स्पर्शनाक्षमता विवर के फर्श पर होती है—पुरोभाग का वेधन पीड़ा कर होता है।

झर्झरास्थि—विवर-शोथ-में पीड़ा का अनुभव आँखों के पीछे गहराई में स्थित क्षेत्र में होता है एवं स्पर्शनाक्षम स्थान नासा के पार्श्व में होता है। अतः अपाङ्ग (Inner canthus) के नीचे होता है।

ऊर्ध्व हन्वस्थि विवरशोथ—पीड़ा का अनुभव एक सीमित स्थान में भेदक खात में (Canine fossa) तथा ऊपरी दाँतों में होता है। गुहा के ऊपर पीडन करना स्पर्शासह्य होता है।

जतुकास्थिविवर शूल—शिरोःकपाल के केन्द्र भाग में पीडा का अनुभव होता है इसका प्रसार शंखप्रदेश तथा गर्दन के पीछे भी हो सकता है (घाटा) कान के पीछे तथा गले के दोनों पार्श्वों (मन्या) में भी हो सकता है और पीडा का अनुभव इन सभी स्थानों में होगा।

(Middle Meatus) के पूय का प्रमार्जन कर लेते हैं, फिर सिर को ऐसी स्थिति में रखते हैं ताकि ऊर्ध्वहन्वस्थिविवर (Maxillary Sinus) अधोभाग में आ जावे। कुछ मिनटों के बाद पुनः मध्य सुरंगा का पुनः निरीक्षण किया जाता है। यदि पूय की उपस्थिति रहती है तो विवर में पूय का संग्रह दिखलाई पड़ता है।

१. रोगी के मुख के भीतर एक विद्युत प्रकाश रखकर अंधकार में परीक्षा करते हुए देखना चाहिये। स्वाभाविक अवस्था में प्रकाश रोगी की अस्थियों से होते हुए स्वच्छ दिखलाई पड़ता है। यदि किसी अस्थिविवर में पूय या पूयाभ द्रव्य की उपस्थिति रही तो उस विशेष स्थल पर प्रकाश की मंदता पाई जावेगी एवं उस विशिष्ट वायु—विवर को उपसृष्ट समझा जावेगा।

इसका साम्य शिरोरोग में पठित प्राचीनों के अनन्तवात नामक रोग से है।

नासागत चिह्न—अधिकतर वायु विवरशोथ के रोगियों में नासागत चिह्न पाये जाते हैं। उपसर्ग की स्थिति के अनुसार नासागत श्लेष्मलकला लाल तथा सूजी हुई रहती है। यदि तीव्र प्रतिश्याय के काल में ही तीव्र विवरशोथ प्रारम्भ हो जाय तो उस समय नासा बहुत रक्ताधिक्य युक्त रहती है और विवरविकार का ज्ञान नहीं हो पाता। पुरोविवर समुदाय के उपसर्ग में मध्यशुक्तिका लाल, सूजी और चमकती हुई दीखती है। फणी (अनसिनेट) प्रवर्द्धन व्यक्त हो जाता है। मध्य सुरंगा (Meatus) बन्द हो जाता है और उससे बूँद बूँद करके पूय निकलता रहता है (Trickling of pus seen coming from it)। पश्चात् विवरसमुदाय (Post.-group) के उपसर्ग में श्लेष्मलकला के ऊपरी और पीछे वाले भाग में ही विकार दृष्टिगोचर होता है। मध्यशुक्तिका (Turbinate) के पश्चात् भाग में पूय की उपस्थिति मिलेगी या जतुक झर्झरावकाश (Spheno Ethmoidal recess) से आता हुआ दिखाई पड़ेगा या आगे से देखने पर गन्धग्राही क्षेत्र की नलिका (Olfactory Sulcus) में दिखाई पड़ता है।

विवरशोथ की चिकित्सा के सिद्धान्त—विवरशोथ की चिकित्सा निम्न-उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए की जाती है—१. कोषाङ्कुर क्रिया (Ciliary activity) को उत्तेजित करना और २. प्राकृतिक स्रोतसों से पर्याप्त मात्रा में प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रखना (Adequate drainage through the normal Channels). जिस प्रकार नासा स्वास्थ्य के लिये वायुसंबन्ध का अविच्छिन्न रहना अच्छा माना जाता है उसी प्रकार वायुविवरों के वायुसंचार का भी महत्व है। यदि कोषाङ्कुर-क्रिया सुचारु न हो तो नासागत स्राव स्थगित और रुद्ध हो जाता है और उपसर्ग का प्रसार वायुविवरों में हो जाता है। अस्तु, विवरों के स्वास्थ्य के लिये नासागत कोषाङ्कुर-क्रिया का ठीक रखना आवश्यक हो जाता है। दूसरा महत्त्व कोषाङ्कुर-क्रिया का यह

है, कि जब तक इसकी क्रिया ठीक रहती है, स्राव बाहर निकलता रहता है, तब तक नासा संबन्धित विवरों के छिद्र खुले रहते है और उनका बाह्यवायु का संबन्ध ठीक रहता है। उनमें वायुसंचार सुचारु रूप से बना रहता है और किसी प्रकार की बाधा का अनुभव रोगी को नहीं होता है। अस्तु, विवरविकार की चिकित्सा में इन्हीं उद्देश्यों को लेकर प्रयत्न करना होता है, जिसका संक्षेप में आगे स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

तीव्र विवरकलाशोथ की चिकित्सा—वायु-विवरों के छिद्रों को खोलने तथा बहाव को जारी करके दोषों को निकालने के लिये चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है। इस क्रिया के द्वारा शिरःशूल कम हो जाता है। नासागत रक्ताधिक्य की भी एक ऐसी ही अवस्था है जिसके कारण विवरों का प्रवाह (Drainage) रुद्ध हो सकता है। अस्तु, ऐसे द्रव्य जो नासागत श्लेष्मलकला के संकोचक हों–प्रयोग में लाने चाहिये।

सबसे सरल और प्रभावशाली चिकित्सा का एक उपाय वाष्पप्रधमन या धूमप्रयोग माना (Steam inhalation) जाता है। ओषधियुक्त वाष्पों का प्रयोग करने के लिये टिंक्चर बेन्जोयेन तथा मेंथाल मिलाया जा सकता है। यहाँ पर मेंथाल (पीपरमेण्ट) श्लेष्मलकला का संकोचक और अल्प मात्रा में पीडाशामक भी होता है। सोम-सत्त्व (Ephedrin) का सामान्य लवण-विलयन में घोल (१ से २% का) बनाकर उसका स्थानिक प्रयोग एड्रेनेलीन की अपेक्षा अधिक देर तक संकोचन का कार्य करता है। इस प्रयोग (बूंदों को छोड़ने या प्रक्षेप) को थोड़ी थोड़ी देर के अन्तर से नासा में प्रक्षिप्त करते रहना चाहिये।

पुरोविवर समुदाय की पूयोत्पति की अवस्था में जब मध्यम शुक्तिका के शोथ के कारण विवर के प्रवाह में रुकावट पड़ती है तब 'कोकेन' में भिगोये ऊन की पिचु को शुक्तिका (Turbinate) के ऊपर रखना चाहिये, जिससे उसमें संकोचन (Shrinkage) हो जाय। और इस पिचु (Pledget) को प्रति तीसरे या चौथे घण्टे पर बदलते रहना चाहिये जिससे शुक्तिका सदैव संकुचित (Shrunken) अवस्था में ही पड़ी रहे। अतितीव्रावस्था में केवल कोकेन का ही प्रयोग करना चाहिए।

नासावस्ति (Doushing) इस अवस्था (Acute stage) में हितकर नहीं होती है, उसका प्रयोग जीर्णावस्था में ही उत्तम रहता है।

शिरःशूल के लिये कई प्रकार के संशामक (Paliative') व्यवस्थायें की जाती हैं जिन में विद्युत्तापन या प्रकाश (Radiant heat) एक महत्त्व का प्रकार है। इस क्रिया में एक लिण्ट के टुकड़े को सामान्य लवण-विलयन में भिगो कर निचोड़ कर रोगी की आँखों पर रख दिया जाता है, उस को स्थिर करने के लिये एक पट्टी भी बाँध दी जाती है। फिर लिण्ट को सामान्य लवणविलयन से आर्द्र कर लिया जाता है। सिर की स्थिति के सम्बन्ध में काफी सावधानी रखनी चाहिये ताकि उसकी स्थिति सुख प्रविचार (Comfortable) हो और ग्रीवा असंकुचित रहे। फिर उसके बाद प्रकाश या विद्युद्दीप को एक एक करके घुमाते चलते हैं। तापक्रम को ११०° से लेकर ११५° फेरनहीट तक उच्चतम किया जा सकता है। पहली बार में पन्द्रह मिनट के लिये यह ताप दिया जाता है। परवर्त्ती दिनों में क्रमशः बढ़ाते हुए आधे घण्टे तक तापन किया जाता है। फिर उसके बाद पूरे चिकित्सा काल भर प्रतिदिन आधे घण्टे का तापन ही रखा जाता है। उष्णता बनाये रखने के लिये पूरे स्थान को बरसाती कपड़े (Mackintosh) से ढक कर रखना चाहिये। स्नान के बाद पीपरमेण्ट (मेंथाल) का प्रधमन करना चाहिये। स्नान के बाद रोगी को चिकित्सालय में आधे घण्टे तक रख कर पश्चात् छोड़ना चाहिये।

इसमें हमेशा शिक्षित (Trained) व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है। कई बार इसके प्रयोग से लाभ नहीं होता वैसी दशा में शीत प्रयोग से उपशम हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के उष्णस्वेद (Hot packs) शोषक (Soaks) तथा हिमदृति (Ice bags) का भी प्रयोग व्यक्ति विशेष में लाभप्रद हो सकता है।

इन स्थानिक उपायों के अतिरिक्त सार्वदैहिक उपशमात्मक (Sedative) योगों का भी व्यवहार लाभप्रद होता है। जैसे—सैलिसिलेट्स,

कोडीन, जहाँ पर विषमयता के चिह्न दीख पड़ें शुल्व-अधिकार के योग तथा पेन्सिलीन प्रभृतिभूतघ्न (Antibiotics) की व्यवस्था करनी चाहिये।

यदि विबंध हो तो रेचन देते रहना चाहिये। उपर्युक्त विधियों से यदि कोई लाभ न दिखाई पड़े और उपसर्ग की स्थिति बढ़ती ही चले तथा पीड़ा असह्य हो जाय तो यह आवश्यक हो जाता है, कि कोई ऐसा सीधा उपाय किया जाय जिससे विवर के भीतर का तनाव (Tension) कम हो जाय और विवर में अवरुद्ध पूय का निकास हो जाय। इसके लिये निम्नलिखित पद्धतियाँ प्रचलित हैं। १. अस्थि छिद्र से नलिकाकरण (Cannulation through ostium) अथवा २. वेधन कर्म (Proof puncture) विवर को विद्ध करके छिद्र से बस्ति (सिरीज) के द्वारा पूय का निर्हरण ३. अथवा प्रमाण–वेधन–नलिका (Proof puncture canula) के द्वारा आचूषण (Aspiration) करना। इतनी क्रिया छिद्र को खोलने, पीडन या भार को कम करने तथा रोगी को पूर्ण सुख पहुँचाने के लिये पर्याप्त होती है। वायुविवर के विशोधन के पश्चात् उसमें लवण-विलय में सोमसत्त्व का घोल (Ephedrin ½%) बनाकर प्रविष्ट कर देना चाहिये। इसके द्वारा विवर का धीरे धीरे शोधन होता रहता है तथा छिद्र खुले रहते हैं। स्थानिक चिकित्सा में इसी प्रकार 'पेन्सीलीन' का भी प्रवेश छिद्र से किया जा सकता है।

यदि इन उपायों से भी पूर्ण आराम दृष्टिगत न हो तो दूसरी पद्धति ४. विकृतियुक्त विवर में एक स्थायी छेद बनाना चाहिये जिससे विवर का शोधन होता रहे। यह छिद्र एक सीमित स्थान में करना चाहिये। (A limited drainage of the affected sinus) ५. यदि इस विधि से भी उपशम नहीं दृष्टिगत हो तो विभिन्न प्रकार के शस्त्रकर्मों के द्वारा बाहर से भेदन करके (Procedure to make an incision to allow the pus to drain out externally) पूय का निर्हरण करना चाहिये। जहाँ तक शस्त्रकर्मों को विवरशोथ की तीव्रावस्था में नहीं

करना चाहिये और औषधोपचारों से ही ठीक करना चाहिये क्योंकि अस्थियों में उपसर्ग पहुँचने का खतरा रहता है।

चिरकालीन या जीर्ण विवर-शोथ की चिकित्सा

नासावस्ति (Nasal doushing)—नासा की वस्ति द्वारा प्रक्षालान करके यथोचित सफाई करके सोम का लवणविलयन में बना एक या दो प्रतिशत का घोल डालने की क्रिया को अनेक बार करते रहना जीर्ण विवर-शोथ की एक उत्तम चिकित्सा है। इसके द्वारा नासागत श्लेष्मलकला की सूजन कम होती, वायु-विवरों का मार्ग खुल जाता, तथा उपसर्ग का उपशम हो जाता है।

प्रक्षालन—बार बार छिद्र के द्वारा प्रमाण-वेधन (Proof puncture) के द्वारा अधःशुक्तिका में वेध करके उपसर्गयुक्त द्रव्यों को प्रक्षालन करते रहने से सुधार होता रहता है। इस क्रिया के द्वारा विवरगत श्लेष्मलकला प्रकृतावस्था में आती है, कोषाङ्कुरों में सुधार होता है और उनमें प्राकृतिक क्रियायें प्रारम्भ हो जाती हैं।

'डायोथर्मी' की छोटी तरंगें (Short waves of Diathermy)-भी विवरगत श्लेष्मलकला के सुधार में कुछ मूल्य की होती हैं।

शस्त्रकर्म—यदि उपगर्ग की अवस्था बहुत दिनों तक रही हो तथा 'क्षकिरण' की परीक्षा के द्वारा नासार्श की उपस्थिति जान पड़े और पूय की उपस्थिति एवं द्रव की सतह दिखाई पड़े तो शस्त्रक्रिया के द्वारा (Radical treatment) निर्मूलन करना चाहिये। विभिन्न विवरों में उनके विभिन्न योग्य विधानों के अनुसार ये शस्त्रकर्म किये जाते हैं। जीर्ण विवरशोथ में 'पेन्सीलीन' का व्यवहार संतोषप्रद नहीं पाया गया है।

पूर्वगामी विकारों का प्रतिषेध—जीर्ण विवर-शोथ की चिकित्सा में क्षकिरण के द्वारा निदान का ज्ञान बड़े महत्त्व का होता है। इसके द्वारा जिसके ऊपर चिकित्सा के उपक्रमों की व्यवस्था करनी होती है, उससे विकार का ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है। चिकित्सा करते हुए

नासागत पूर्व विकारों का भी जिनके कारण विवरशोथ हुआ है, जैसे नासार्श या नासाजवनिका -विच्युति का भी इलाज करना आवश्यक होता है।

विवरशोथ के उपद्रव—अस्थिमज्जपरिपाक या शोथ (Osteomyelitis), नेत्रविद्रधि (Orbital Abscess) शिराकुल्या रक्त स्कन्दन (Cavernous sinus thrombosis), मस्तिष्क विद्रधि (Brain Asbcess) और मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis)

शालाक्यतन्त्र

शिरोरोगाध्याय

(A chapter on Headache or Diseases of the Accessary Nasal sinuses)

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥

सर्वेन्द्रियाणियेनास्मिन् प्राणाः येन संश्रिताः ।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥

जिसमें प्राणियों के प्राण तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ आश्रित हैं, एवं जो शरीर के अङ्गों में उत्तम अंग है, उसको शिर कहते हैं। इस उत्तमाङ्ग की रक्षा में सदैव तत्पर रहना चाहिए।

१

शिरोरोग

व्याख्या—शिरोरोग नामक स्वतन्त्र अध्याय शालाक्यतंत्रान्तर्गत विषयों में प्राचीन वैद्यक ग्रंथों में पाया जाता है। कर्णरोग, नासारोग, नेत्ररोग और मुखरोग प्रभृति वर्णनों में उन उन अंगों में होनेवाले यावतीय रोगों का वर्णन होता है। तद्‌तद् अंगों में विविध विकृतियों का निदान तथा उनके होनेवाले लक्षणों, उपद्रवों तथा विपरिणामों का वर्णन करते हुए उनके विविध आभ्यन्तर तथा बाह्योपचारों का वर्णन पाया जाता है। शिरोरोग के सम्बन्ध में भी सामान्यतया यही समझा जाता है कि शिर के बाह्य तथा अन्तस्थ भागों में होनेवाली सभी विकृतियों का उल्लेख आवश्यक है।

वस्तुतः शिरःस्थान में होनेवाले जितने भी रोग हैं, उन सभी विकृतियों का संग्रह करके उनकी हेतु, लक्षण, निदान एवं चिकित्सा का वर्णन करना प्राचीन ग्रंथकारों का उद्देश्य नहीं रहा, बल्कि शिरोरोगों का एक पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण करके कुछ सीमित रोगों का आख्यान करना प्राचीनों का मन्तव्य था। कई आधुनिक ग्रन्थकारों ने अपने शिरोरोग के संग्रहों में शिरोविद्रधि, शिरोग्रन्थि, शिरोर्बुद, अरुंषिका, दारुणक, खालित्य, पालित्य, इरिवेल्लिका, यूकालिक्षा अनुशयी तथा अन्यान्य बृहन्मस्तिष्क, लघुमस्तिष्क और वातसंस्थान की विकृतियों का वर्णन किया है। वास्तव में आयुर्वेद के शास्त्रीय वर्गीकरण के अनुसार शिर में होनेवाली विद्रधि का सामान्यविद्रधि के अधिकार में ग्रंथि और अर्बुद का सामान्य ग्रंथि और अर्बुद नामक शल्यतन्त्रान्तर्गत विषयों में कुछ रोगों का क्षुद्ररोगाधिकार में और बहुत से ऐसे रोगों का कायचिकित्सा से सम्बन्धित वातरोगाधिकार में वर्णन किया हुआ मिलता है। वास्तव में शिरोरोग शब्द का एक विशिष्ट अर्थ में ग्रंथों में प्रयोग

हुआ है ।[1] शिरोरोग शब्द से सामान्यतः शिर में होने वाली व्याधियों का निदान लिया जाय तो इसमें दो दोष आते हैं। पहला तो यह कि सूर्यावर्त्त अनन्तवातादिकों से शिरोरोग क्या होगा ? क्योंकि वह तो स्वयं ही रोग है । दूसरा दोष इसमें यह आता है कि यदि शिरोरोग से शिर में होने वाले रोग लिये जायँगे तो इसमें पलित, इरिवेल्लिका प्रभृति रोगों का भी सन्निवेश होना चाहिये, क्योंकि ये सिर में ही होते हैं। परन्तु शास्त्रीय पाठों में उनका इस अधिकार में पाठ नहीं दिखलाई पड़ता। अस्तु, शिरोरोग शब्द से 'शिरोगत शूलरूपा रुजा' (शिर में होनेवाली पीड़ा या शूल) का कथन ही समझना चाहिये । यदि ऐसा नहीं होता तो सूर्यावर्त्त, अनन्तवात, अर्धावभेदक और शंखक नामक व्याधियों का वर्णन शिरोरोग के अधिकार में असंगत होता, क्योंकि वे तो स्वयं ही रोग हैं। यदि शिरोरोग से शिरःशूल समझा जाय तो उन रोगों का इस अध्याय में सन्निवेश ठीक है क्योंकि उन सभी रोगों में शिरःशूल होता है। अस्तु, उनका एक अधिकार में पाठ संगत उतरता है।[2] संक्षेप में कहना हो तो शिरोरोग से शिरःशूल या पीड़ा का बोध होता है न कि शिर में होने वाले रोग ।

यद्यपि वाग्भट ने अपने शिरोरोग के सम्बन्ध में कई एक (नौ) बाह्य शिरोरोगों का भी वर्णन किया है, फिर भी उनका व्यपदेश से शिरःशूल के अंदर ही समावेश किया जा सकता है जैसे 'छत्रिणो गच्छन्ति' छातेवाले जा रहे हैं ऐसी उक्ति होने पर कुछ बिना छाते वालों का ग्रहण हो जाता है। अस्तु, शिरःशूल व्यतिरिक्त इन बाह्य रोगों का वर्णन शिरोरोगाधिकार में अपवाद रूप में ही समझना चाहिये । इन रोगों में ऐक्य इतना ही भर है कि इनका भी प्रादुर्भाव शिर में ही होता

१. शिरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजाभिधीयते तेन सूर्यावर्त्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैरित्यभिधानमुत्पद्यते, अन्यथा तेषामेव शिरोरोगत्वात्तैः शिरोरोगा जायन्त इत्यसंगतं स्यात् । (मधु० कोष शि० रो० नि०)

२. तेन नारुंषिकादयोऽत्र प्रकरणे शिरोरोगशब्देनोच्यन्ते, शिरोरोगशब्दस्य शूल एव रुजाकरे वृत्तत्वात् । (चक्रपाणि टीका च० सू० १७)

है। अत एव शिरोरोगों के साथ ही इनका वर्णन कर देना उचित समझा गया है।

अष्टाङ्गहृदय में ऐसे नौ रोग गिनाये गये हैं—१ उपशीर्षक, २ शिरोविद्रधि, ३ सिरोग्रंथि, ४ शिरोर्बुद, ५ अरुंषिका, ६ दारुणक, ७ इन्द्रलुप्त, ८ खालित्य, ९ पलित—जिनमें प्रथम को छोड़कर शेष सभी का वर्णन शल्यतंत्र के क्षुद्ररोगाधिकार अथवा अन्यत्र यथास्थल (शल्यतंत्र में) किया जा चुका है।

वक्तव्य—शिरोरोग का सामान्य अर्थ है शिरःशूल (Headache) परन्तु यदि अनन्तवात, अर्धावभेदक, सूर्यावर्त्त प्रभृति शिरोरोगों का इस प्रसंग में विचार किया जाय तो स्वतंत्र रोग हैं, जिनमें सबसे प्रधान लक्षण शिरःशूल का होना पाया जाता है। अतएव शिरोरोग का विशिष्ट अर्थ में यहाँ पर प्रयोग हुआ है; ऐसा समझना चाहिये। आगे चलकर इन रोगों के विस्तृत वर्णनों को देखने का अवसर मिलेगा, वहाँ पर स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तवात, सूर्यावर्त्त, शंखक एवं अर्धावभेदक प्रभृति रोग नासा से सम्बंधित शिरः कपालगत छिद्रों वायुकोषों या नासाकोटरों के विकार हैं—इन व्याधियों में शिरःशूल का होना एक प्रधान लक्षण है। शिरःशूल के अतिरिक्त इनमें अन्यान्य लक्षण-चिह्न भी मिलते हैं, परन्तु प्रधान लक्षण (शिरःशूल) के अधिक व्यक्त रहने के कारण वे गौण रहते हैं। इनके प्रतिषेध में नासारंध्र से नावन, अवपीडन, धूपन, ध्मापन, प्रभृति तीव्र शिरोरेचक उपचारों का वर्णन उन नासा संबन्धी वायुकोषों या कोटरगत दोषों के निर्हरणार्थ है। इसी लिये तो चरकाचार्य ने लिखा है 'द्वारं हि शिरसः नासा' शिरोगत विकृतियों का एक मात्र द्वार नासा है। उसी के द्वारा दोषों का निर्हरण शिरोविरेचन के द्वारा करने से शिरोरोग शान्त होते हैं।

इसी भाव का ग्रहण करते हुए लेखकने शिरोरोगाध्याय का पर्याय 'हैडेक' (सामान्यार्थ में) तथा 'एकसेसरी नैजल पैसेजेज' के विकार का (विशिष्टार्थ में) कथन इस पुस्तक में किया है।

प्रकारभेद तथा संख्या—माधवनिदान के संग्रह में शिरोरोग ग्यारह प्रकार के माने गये हैं (१) वातिक (२) पैत्तिक (३) श्लैष्मिक (४) त्रिदोषज (५) रक्तज (६) क्षयज (७) कृमिज (८) सूर्यावर्त्त (९) अनन्तवात (१०) अर्द्धावभेदक (११) शंखक। सुश्रुत, भावप्रकाश, गदनिग्रह, आयुर्वेदविज्ञान और योगरत्नाकर प्रभृति ग्रंथ इसी मत का समर्थन करते हैं। विदेह ने भी अपने तंत्र में ग्यारह ही शिरोरोग माने हैं। कुछ अन्य आचार्यों ने शिरोरोग के दस भेद बतलाये हैं। उनके मत से 'अनन्तवात' नामक रोग का उल्लेख शिरोरोगों में नहीं होना चाहिये, क्योंकि सर्वगत नेत्ररोगों के वर्णन में 'अन्यतो वात' नाम से उसका वर्णन सुश्रुत में पाया जाता है। इस 'अन्यतो वात' के वर्णन में ही 'अनन्तवात' रोग का ग्रहण हो जाता है। इसीलिये वे आचार्य सुश्रुत में कथित 'सूर्यावर्त्तानन्तवातार्धावभेदकशंखकैः। एकादशप्रकारस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते'। के स्थान पर 'सूर्यावर्त्तावभेदाभ्यां शंखकेन तथैव च। दशप्रकारस्याप्यस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते'। ऐसा पाठान्तर मानते हैं। किन्तु यह मत संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अन्यतोवात वातिक रोग है। जैसे सुश्रुत ने साध्यासाध्य विवेचन में बतलाया भी है कि 'याप्योथ तन्मयः काचः साध्याः स्युः सान्यमारुतः' परन्तु अनन्तवात त्रिदोषज है 'अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम्।' अन्यतो वात में (वायु) दोष अवटु आदि नियत स्थानों में तथा अन्य स्थानों पर भी स्थित होकर रोग को उपजाता है किन्तु अनन्तवात में तीनों दोष उन-उन स्थानों में ही स्थित होते हैं। साथ ही ब्रह्मदेव आदि विद्वान् विदेहादि आचार्य भी इन्हें पृथक्-पृथक् मानते हैं। अतः ग्यारह प्रकार के शिरोरोगों का कथन ही उचित प्रतीत होता है। आचार्य चरक ने संहिता में मुख्य रूप से वातज, पित्तज श्लेष्मज, त्रिदोषज और कृमिज पाँच ही

१. पृथग्दिष्टास्तु ये पञ्च संग्रहे परमर्षिभिः।
शिरोरोगदांस्ताञ्छृणु मे यथास्वैर्हेतुलक्षणैः। (च. सू. १७.)

शिरोरोगों को बतलाया है[1], किन्तु कहते हैं कि प्रतिश्याय, मुखरोग, नासारोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, शिरोभ्रम, अर्दित, शिरःकम्प, गलग्रह, मन्यास्तम्भ, हनुग्रह, अन्यतोवात आदि के कारण भी सिर में दर्द होता है। वहाँ पर शिरःशूल लक्षण रूप में मिलता है। फलतः वे स्वतन्त्र रोग हैं उनके अन्तर्गत ही उनकी निदान-चिकित्सा के भीतर ही उन लक्षणों का अन्तर्भाव करके चिकित्सा करनी चाहिये।

शालाक्य तन्त्र की एक उक्ति माधवनिदान की मधुकोष टीका में मिलती है कि 'सभी शिरोरोग सन्निपातजन्य ही होते हैं किन्तु विद्वानों ने दोषों की उत्कटता को देखकर दोषानुसार उनके दस भेद करके वर्णन कर रखा है[2]।' यहाँ पर दस जो शिरोरोगों के भेद बतलाये गये हैं उसका कारण सन्निपातज शिरःशूल के दो भेदों का एक ही मानकर गणना की गई है। सन्निपात के दो भेद होते हैं प्रकृतिसम समवाय और विकृति विषम समवाय। यदि इन दोनों भेदों से दो भेद माने जायँ तो शिरोरोगों की कुल संख्या पूर्ववत् ग्यारह ही रह जायेगी।

दोषभेद से *शिरोगतरोगों का विचार*—सभी शिरोरोग त्रिदोषज होते हैं फिर भी दोष विशेष की उत्कटता या प्रबलता के अनुसार उनके विशिष्ट वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक या सान्निपातिक भेद माने जाते हैं। यह विकृति विषम समवाय से जानना चाहिये अन्यथा सभी शिरोरोगों का सन्निपातज होने से पृथक् कथन व्यर्थ होगा। इसमें विकृति विषम समवेतपन कारण भेद से जानना चाहिये न कि विरुद्ध लक्षणों से (क्योंकि व्याधि स्वभाव से विरुद्ध लक्षण नहीं होते) और वह कारण-भेद उल्वण सभी दोषों से होने के कारण जानना चाहिये। जैसे त्रिदो-

१. शिरोरोगास्तु जायन्ते वातपित्तकफैस्त्रिभिः।
सन्निपातेन रक्तेण क्षयेण क्रिमिभिस्तथा।
सूर्यावर्तनन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः।

२. सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः।
औत्कट्याद्दोषलिङ्गैस्ते कीर्तितास्तद्विदादश। (मधुकोष)

षज राजयक्ष्मा में स्वर भेदादिकों को उत्पन्न करनेवाले वातादिकों की उत्कटता होती है, वैसे यहाँ भी जानना चाहिये। जैसा चरक में कथन है 'त्रिदोषज शिरोरोगों में वायु से शूल, भ्रम और कम्प, पित्त से दाह, मद और तृष्णा, एवं कफ से गौरव और तन्द्रा होती है।' विकृति विषम समवाय में कारणानुरूप कार्य नहीं होता जैसे हरिद्रा और चूर्ण (चूने) का संयोग। इस संयोग से उत्पन्न लालिमा कारणानुरूप नहीं होती क्योंकि कारण द्रव्य लालवर्ण के नहीं रहते। उसी प्रकार यदि सन्निपात विकृति विषम समवाय का है, तो उसमें वातोल्वण शिरोरोगादि के वही लक्षण नहीं होने चाहिये, प्रत्युत वहाँ तो वातादि के संयोग से विलक्षण चिह्न मिलने चाहिये। इसका उत्तर यह है कि यहाँ विकृति विषम समवाय हरिद्रा चूर्ण संयोगजन्य लौहित्य की तरह विरुद्ध लक्षणों से नहीं समझना चाहिये, बल्कि यहाँ तो विकृति विषम समवाय से कारण भेद से जानना चाहिये और वह कारण भेद सभी दोषों की उल्वणता से अनुमान में लाना चाहिये। जैसा कि त्रिदोषज राजयक्ष्मा में स्वर भेद आदि लक्षणों को उत्पन्न करने वाले वातादिकों का उत्कटपन जाना जाता है वैसे ही प्रकृत में शूलादिलक्षणों को उत्पन्न करनेवाले वातादिकों का उल्वणपन जानना चाहिये।

इसी प्रकार से दोषोल्वणता का विचार अवशिष्ट शिरोरोगों में भी करना चाहिये। सूर्यावर्त्त को सुश्रुत ने द्विदोषज (वातपित्तज) तथा अन्य ग्रन्थकारों ने त्रिदोषज माना है। विदेह ने सूर्यावर्त्त विपर्यय नाम से एक स्वतन्त्र रोग का वर्णन किया है; जिसे द्विदोषज बतलाया है जिसका विशेष वर्णन प्रसंगानुसार आगे किया जायगा। अर्धावभेदक में वायु और कफ की विकृति प्रधान होती है, एवं अनन्तवात एवं शंखक त्रिदोषज विकार हैं। क्षयज में धातुक्षयोत्थ वायु की वृद्धि के कारण पीड़ा होती है। कृमिज शिरोरोग कृमिजन्य होने से वातश्लेष्मज या त्रिदोषज होता है। इस प्रकार की दोषबल कल्पना शिरोभिताप के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है।

शिरोरोग सम्बन्धी आलोचनात्मक विचार—शिरोरोग के कई पर्याय नाम मिलते हैं जैसे—शिरोभिताप, शिरःपीडा, शिरोवेदना और शिरः

शूल आदि ये सभी एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं 'शिर में दर्द होना।' अंग्रेजी भाषा में कहना हो तो इसे 'हेडेक' कहेंगे। अब शंका उठती है कि शिर में दर्द होना तो एक लक्षण मात्र है जो कई रोगों में अनुबंध (आनुषंगिक) रूप से पाया जाता है फिर उसको स्वतन्त्र रोग मानकर चिकित्सा करने का क्या तात्पर्य है।

भीतरी विकृति का ज्ञान दो प्रकार से होता है। जो ज्ञान रोगी स्वयं अनुभव करता है उसको स्वप्रत्ययज्ञेय (Subjective) और दूसरा अनुभव करता है उसको परप्रत्ययज्ञेय (Objective) कहते हैं। स्वप्रत्ययज्ञेय ज्ञान को व्यवहार में लक्षण तथा परप्रत्ययज्ञेय को भौतिक चिह्न (Physical Signs) कहते हैं। तो शिरःशूल (शिरोरोग) तो एक स्वप्रत्यय लक्षण मात्र है। इसको स्वतंत्र व्याधि कैसे मान लिया जावे।

वास्तव में रोग और लक्षण में बहुत थोड़ा अन्तर है। प्रत्येक रोग में अनेक लक्षण हुआ करते हैं, अर्थात् प्रत्येक रोग अनेक लक्षणों का एक समूह होता है उस समूह में एक एक लक्षण अनेक रोगों में मिल सकता है, परन्तु सम्पूर्ण लक्षणों का समूह अन्य रोगों में नहीं मिल सकता। जैसे ज्वर असंख्य रोगों का एक लक्षण होता है[1], परन्तु यदि उसके साथ रक्तष्ठीवन, खाँसी और कृशता आदि दूसरे लक्षण मिल जायँ तो वह लक्षण समूह राजयक्ष्मा के अतिरिक्त अन्य रोगों में नहीं मिलता। आयुर्वेद की परिभाषा में ऐसी बहुत सी व्याधियाँ हैं जिनमें एक ही लक्षण होता है फिर भी स्वतन्त्र व्याधियाँ मानी जाती हैं। शिरोगत रोगों में तो शिरःशूल के अतिरिक्त भी अनुषंगी लक्षण पाये जाते हैं। अस्तु, उनका स्वतन्त्र व्याधिरूप में वर्णन ग्राह्य है।

दूसरी बात यह है कि प्राचीन चिकित्सा विद्या में लाक्षणिक चिकित्सा की प्रमुखता मानी जाती है, वहाँ पर दोष की अंशांश कल्पना ही

---

१. लिङ्गं चैकमनेकस्य तथैवैकस्य लक्ष्यते ।
बहून्येकस्य च व्याधेर्बहूनाञ्च बहूनि च
विषमारम्भमूलानां लिङ्गमेकं ज्वरोमतः । (चरक)

प्रधान रूप से विचारणीय होती है। चिकित्सक के लिये निदान के लिये प्रत्येक रोग के लिये प्रत्येक रोग का नामकरण आवश्यक नहीं, क्योंकि विकार असंख्य हैं उन सभी के नाम का अस्तित्व संभव नहीं। अस्तु, रोग के नामकरण में अकुशल चिकित्सक को लज्जा या संकोच नहीं करना चाहिये और ठीक प्रकार से दोष के बलाबल, अंशांश, उल्वणता प्रभृति का ज्ञान करके चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये।[1]

आजकल निदान करने के लिये अनेक साधन उपलब्ध होने पर भी अनेक बार रोग का नामकरण करने में चिकित्सक असमर्थ रहता है। फिर भी वैद्यकीय विधि से प्रत्येक रोग का ज्ञान व्यापक निदान (त्रिदोष सिद्धान्त) के अनुसार कर लिया जाय तो रोग का नाम बतलाने में असमर्थ होने पर भी चिकित्सा में सफलता मिलने की बहुत कुछ आशा रहती है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर चिकित्सा का उपक्रम आयुर्वेद में शिरोरोग में बरतते हैं।

आधुनिक विचार—आधुनिक युग में वैज्ञानिक शिरःशूल को एक लक्षण मानते हैं और उसके संबन्ध में निम्नलिखित ढंग से विचार करते हैं।

शिरःशूल का होना मस्तिष्करोगगत लक्षणों में एक सर्वाधिक सामान्य चिह्न है। इसके कारण आक्रमण की विधि, अवधि तथा वे[ग] में बहुत प्रकार की विविधता पाई जाती है। इसके साथ अन्य आनु[षं]गिक लक्षण जो रोग विशेष में मिलते हैं वे भी विविध प्रकार के होते हैं।

हेतु—शिर में होने वाली पीडा को ग्रहण करने वाली रचनाएँ निम्नलिखित हैं।

१. बहिर्मस्तिष्कगत कारण—सभी कपालास्थियों के आवरण, विशेषतः कपालास्थियों के ऊपर की पेशियाँ और धमनियाँ।

२. अंतर्मस्तिष्कगत कारण—शिरोगुहा की भीतर की रचनायें (इ[न]) बड़ी बड़ी शिराकुल्या (Sinus) तथा उनकी शाखायें तथा बहिर्मस्तिष्[क]

१. विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कथञ्चन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ॥ (च० सू० अ० १[८])

वरण तथा आधार की धमनियाँ (Dural, Basal & Basal dural) (ख) पाँचवीं, नवीं और दसवीं शिरोगत मस्तिष्क नाड़ियाँ तथा ऊपर को तीन ग्रैवेयक नाड़ियाँ पीड़ा की संवेदना का द्योतन करती हैं।

३. *मस्तिष्क सूत्रमार्ग*—पीड़ा का मार्ग (Pathways) पंचम शिरस्क मस्तिष्क नाड़ी में ही रहता है। पीड़ा का अनुभव अधिकतर शिर के सम्मुख, पार्श्व तथा शंख प्रदेश (पुरः, शंख एवं, पार्श्वभाग Fronto, parietal and temporal regions) में ही होता है।

ऊपर लिखी गई जो पीड़ा की संवेदना ग्रहण करने वाली रचनायें बतलाई गई हैं इन्हीं एक या दो या सभी पर शिरोगुहागत या मस्तिष्कगत रोग का प्रभाव पड़ने से शिरोवेदना का अनुभव व्यक्ति को होता है। मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियाँ अथवा रक्तवह रचनाओं के विपरिवर्त्तन के परिणामस्वरूप विविध प्रकार के शिरःशूल होते हैं, यदि इन रचनाओं में किसी कारण अपकर्षण (Traction), स्थानान्तरण (Displacement), विस्तृति (आध्मान या Distension) अथवा शोथ हो जाय तो पीड़ा की संवेदना होने लगती है।

अस्तु, (क) मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों का आध्मान या विस्तृति पीड़ा पैदा करती है। ऐसी अवस्था ज्वर, विजातीय प्रोटीन, उपसर्ग, तृणाणुमयता, नाइट्राइट और कार्बनमनोक्साइड विष, श्वासावरोध, अपस्मार के दौरे के बाद और भावावेश में पाई जाती है और रोगी शिरःशूल का अनुभव करता है। (ख) प्रधान मस्तिष्कगत कारणों में से मस्तिष्कगत अर्बुद, मस्तिष्कावरणशोफ अथवा जबड़े या गर्दन की पीड़ा भी संवाहित होकर शिर तक जा सकती है। (ग) मस्तिष्क सुषुम्नागत वारि की मात्रा यदि अधिक हो जाय तो अंतःमस्तिष्क का भार (Intracranial pressure) बढ़ जाता है। पीड़ा शिर में उत्कट होने लगती है। यदि कहीं मस्तिष्क सुषुम्ना वारि का भार कम हो जावे तो उसके द्वारा अंतःमस्तिष्कगत रक्तवाहिनियाँ विस्तृत (Dilatated) हो जाती हैं और उन वाहिनियों के अपकर्षण (Traction) के कारण भी पीड़ा होने लगती है। यहाँ भी बहिर्मस्तिष्कगत धमनियों में विस्तृति या आध्मान होने से भी पीड़ा होती है। (ग) कपाल एवं ग्रीवा की पेशियों

का अधिक काल तक संकोच होना भी शिरःशूल पैदा करता है जैसा कि अर्धावभेदक में पाया जाता है। (घ) आँख, कान, नाक, गला, दाँत तथा सिर के बाहरी भाग में होने वाले व्रणशोफ अथवा किसी अन्य प्रकार की बाधा भी शिरःशूलकारक होती है।

शिरःशूल का वर्गीकरण—सरलता से शिरःशूल का ठीक निदान करने के लिये कई प्रकार की जानकारी आवश्यक है, उसके पश्चात् कारण-भेद से उसका वर्गीकरण करते हुए सापेक्ष्य निदान के अनन्तर स्थिर निदान कर मूलभूत कारण पर पहुँचना होता है। इसलिये हेतु-भेद से उसका वर्गीकरण नीचे किया जा रहा है। कारणभेद से प्रकारभेद :—

१. स्थानिक कारण—(क) पुरःकपाल के छिद्रों में शोथ या पूयोत्पत्ति होना। जिसे पुरःकपाल वायुविवरशोथ (Frontal sinusitis) कहते हैं। इस अवस्था में वह क्षेत्र मृदु और पीडनाक्षम हो जाता है, नासास्राव होता रहता है। क्षकिरण के चित्र में क्षेत्र पारदर्शी (Trans illuminated) हो जाता है जिससे निदान में सहायता होती है। (ख) शिर का अभिघात या अस्थिशोथ (ग) ग्रैवेयक सौत्रशोथ (Fibrocitis)।

२. संवाहित पीडा—(क) नासा-प्रतिश्याय, नासा जवनिका (Septum), विमार्गगमन या स्थानान्तरण। (ख) नेत्र-परावर्त्तन के दोष, निकट दृष्टिजन्य विषम दृष्टि (Myopic Astigmatism) इसमें दृष्टि के अतियोग से सिर की पीड़ा बढ़ती है, आँख को विश्राम देने से बंद हो जाती है। तारामण्डल शोथ (Iritis) अधिमंथ (Glaucoma)। (ग) दन्तगतशोथ, मध्यकर्णशोथ। (घ) आमाशयिक अथवा गर्भाशय बीज ग्रंथिक परावर्तित क्रियायें (Reflex) भी शिरःशूल पैदा करते हैं।

२. वातिककारण—(वातनाडीजन्य कारण) (क) विशेषतः त्रिधारानाडीशूल (Trigeminal nerve) पीडा या तो विस्तृत क्षेत्र में होती है अथवा उपरिनेत्रप्रदेश में सीमित रहती है। (ख) मस्तिष्कगत कारणोंमें फिरंग, मस्तिष्कावरणशोथ, अर्बुद, विद्रधि, अंतर्मस्तिष्कधमनी

विस्तृति (Aueurysm), जलमस्तिष्क, बृहन्मस्तिष्कशोफ, मस्तिष्कावरणगत रक्तस्राव, अंतर्मस्तिष्कभार का कम या अधिक होना और खञ्ज (Lethargica)।

४. शारीरिक कारण—(Constitutional) जीर्ण वृक्कशोफ, मूत्रविषमयता या सार्वदैहिक रक्तभार का बहुत ऊँचा अथवा नीचा होना, रुधिरकायाणुमयता (Polycythemia), तीव्रपाण्डु, रक्ताधिक्य युक्त हृदयावसाद (Congestive heart failure) अपस्मार की पश्चादवस्था, योषापस्मार एवं अर्धावभेदक, नव तथा जीर्ण मदात्यय, बच्चों की अनुबद्ध छर्दि (Cyclic), सामुद्र तथा वायुयान रोग इत्यादि। अम्लपित्त, जीर्णविबंध, जीर्णयकृच्छोफ, मधुमेह, वातरक्त, नागविष, अम्लमयता या क्षारमयता (Acidosis or Alkalosis), नवज्वर विशेषतः विषमज्वर, आंत्रिकज्वर, मसूरिका, स्कारलेट ज्वर, मन्थरज्वर (Typhus), पीतज्वर और वातश्लैष्मिकज्वर (Influenza), अंशुघात, उष्णातपदग्ध (Heat stroke) और भी कई अन्यकारण हैं जिनकी वजह से सिर के ऊपरी भाग में पीड़ा होती है। जैसे योषापस्मार, रक्तभाराधिक्य एवं उष्णातपदाह। सिर के पश्चाद्भाग में पीड़ा करने वाले कई एक रोग होते हैं जैसे मस्तिष्कावरणशोथ, बृहन्मस्तिष्कसुषुम्नागत फिरंग, लघुमस्तिष्कार्बुद, जीर्ण वृक्क शोफ, जीर्णगर्भाशय और बीजग्रन्थि के रोग सौत्रशोथ, पेशीशूल तथा वातिकनाडी शूल।

ज्ञातव्य—शिरःशूल का ठीक निदान करने के लिये कई बातों की जानकारी आवश्यक है। इन बातों की जानकारी रोगी से पूछ कर की जा सकती है। १. प्रश्न के द्वारा रोग का इतिवृत्त, अवधि, बलाबल, वेग और दौरे का ज्ञान। किसी विशेष समय पर होता हो या किसी प्रकार की उत्तेजक परिस्थिति में बढ़ता हो अथवा किसी अभिघात का इतिहास मिलता हो। २. यदि कुछ और भी रूप शूल के साथ मिलते हों जैसे वमन, दृष्टि की विकृति या चक्कर आना तो उसका भी प्रश्न से जानकारी कर लेनी चाहिये। ३. दृष्टिशक्ति के लिये आँख की परीक्षा, नासाविवर (Sinuses) के लिये नासा की परीक्षा, दाँत

की परीक्षा, गर्दन की पेशियों तथा शिरःकपाल की परीक्षा भी कर लेनी चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर क्ष- किरण के द्वारा भी शिरःकपाल की परीक्षा कर लेनी चाहिये। ४. इसके अतिरिक्त रक्तवहसंस्थान, मस्तिष्क सुषुम्नाजल, रक्त तथा मूत्र (रासायनिक और अणुवीक्षणात्मक परीक्षा), फिरंग की उपस्थिति का ज्ञान करने के लिये 'वाशरमैन' अथवा 'कानकसौटी' की विधि द्वारा रक्त परीक्षा कर लेनी चाहिये।

आधुनिक ग्रंथों में शिरःशूल के सम्बन्ध में प्रारम्भ में मोटे दो भेद कर दिये जाते हैं वातिकशूल (Neuralgia) तथा शिरःशूल (Headache) यद्यपि इन दोनों रोगों में बहुत सी बातें समानताद्योतक होती हैं, फिर भी न्यूरैल्जिया में किसी विशेष वातिकनाडी में दर्द होता है—इस प्रकार एक विशेष दिशा में जितनी दूरी में नाडी का प्रसार रहता है, दर्द होता है और दौरे के साथ तीव्र पीडा होती है। इस तरह कुछ न कुछ पीडनाक्षमता पीडा के क्षेत्र में मिलती है।

ऊपर के वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि सिर का दर्द एकदम स्वतंत्र व्याधि नहीं है, अन्य अवयवों तथा आशयों के साथ उसका सम्बन्ध है। विशेषकर आमाशय, पक्वाशय, नाडीसमूह, और मस्तिष्क सुषुम्ना की विकृति से निकट सम्बन्ध है। सिर का शरीर के सब अवयवों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी एक में विकार होने से सिर पर उसका असर अवश्य पहुँचता है, जब वह असर अधिक प्रभावशाली होता है तो उसका संवहन मस्तिष्कतक संवेदनात्मक नाडीसूत्रों से होने लगता है और व्यक्ति को पीडा का अनुभव होता है। कई ऐसे रोग हैं जिनमें लक्षणरूप में या उपद्रवरूप में शिरःशूल देखने को बहुत मिलता है—जैसे विभिन्न प्रकार के ज्वरों में अन्य लक्षणों के साथ, रक्तपित्त के पूर्वरूप में, विविध प्रकार के कास रोग में, विशेषतः वातिक और क्षयज में, विविध प्रकार के स्थावर और जंगमविषों के प्रभाव में, नाडी फिरंग, वातवलासक विविध प्रकार के उदररोग, विविध प्रकार के रक्ताल्पत्व तथा पाण्डुरोग, अंशुवात प्रभृतिरोगों में शिरःशूल का लक्षण मिलता है। कई बार यह शिरःशूल एक लक्षण रूप में न होकर स्वतंत्र व्याधि का ही रूप ले लेता है उस अवस्था में शिरोरोग मानकर दोष

विवेचना करके चिकित्सा करना ही श्रेयस्कर होता है। अन्यथा यदि यह लक्षण सामान्य मिला, अति प्रबल नहीं हुआ तो प्रधान रोग की चिकित्सा से ही इसका भी प्रशम हो जाता है-"प्रधानप्रशमात्प्रशमः।"

त्रिदोषवादी वैद्यक सिद्धान्त तो लाक्षणिक चिकित्सा करता ही है किसी भी अंग की विकृति के कारण लक्षण पैदा हुआ हो तो दोषविवेचना करता हुआ चिकित्सा की व्यवस्था कर देता है।

यही कारण है कि त्रिदोषवादी वैद्यक सिद्धान्त के अनुसार उसके लक्षणों में दोषविभेद करके उसके निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण तथा चिकित्सा का विवरण ग्रंथों में मिलता है।

शिरोरोग के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति—अधिक धुआँ लगने, अधिक धूप में घूमने, पाला, ओस, बर्फ पड़ते हुए शीत में खुले सिर रहने, अधिक देर तक पानी में डुबकी लगाने या पानी में अधिक देर तक खेलते हुए तैरते और नहाते रहने से, अधिक सोने से या अधिक जागरण से, अधिक परिश्रम के कारण स्वेदाधिक्य से, अत्यन्त मानसिक क्षोभ, पुरवा हवा से सेवन या तेज हवा का झोंका लगने से, आँसू का वेग धारण करने से, अधिक रुदन से, अधिक मद्य या पानी पीने से, सिर में कृमियों की उत्पत्ति होने से, मल, मूत्र, छींक आदि के वेगों का धारण करने से, सिर के नीचे तकिया को विषम (बेकायदा) रखने से, स्नान न करने से, सिर में तेल न लगाने से, अधिक समय तक नीचे या ऊंचे मस्तक कर देखने रहने से अथवा एकाग्र दृष्टि करके देखते रहने से, असात्म्य गंध या उत्कट गंध के कारण शिर पर तैल लगाने में द्वेष होने से, दूषित आम का संचय होने से तथा उच्च भाषण या अधिक बोलने की वजह से वायु कुपित होता है और वह वायु शिरोगत अन्यान्य दोषों को क्षुभित करके विभिन्न प्रकार के शिरोरोगों को उत्पन्न करता है।[1]

---

१. धूमातपतुषाराम्बु–क्रीडातिस्वप्नजागरैः ।
उत्स्वेदाधिपुरोवातवाष्पनिग्रहरोदनैः ॥
अत्यम्बुमद्यपानेन कृमिभिर्वेगधारणैः ।

चरक और यूनानी हकीमों ने अत्यन्त मैथुन से भी सिरदर्द होने की बात लिखी है। प्रत्यक्ष में अति व्यवाय से शिरःशूल होता देखा गया है। वाग्भट ने अधिक जल पीना शिरोरोग का कारण लिखा है; किन्तु चरक अधिक ठंडा जल पीने से शिरोरोग होना मानते हैं। सिर पर चोट लगने और अधिक सिर तप जाने से भी सिर में दर्द होता है। मेघाच्छन्न समय में बाहर घूमने से, मानसिक संताप से, देशकाल के विपरीत होने से अर्थात् जाङ्गल तथा साधारण देश में वर्षाधिक्य से आनूप देश के लक्षण हो जाने अथवा आनूप देश में अनावृष्टि के कारण रुक्षता बढ़ जाने से तथा वसन्त, शरद् आदि ऋतुओं में उनके विपरीत लक्षणों के होने से उस परिस्थिति में रहने वाले व्यक्तियों को शिरोरोग हो सकता है।

उपधानमृजाभ्यंगद्वेषाधः प्रततेक्षणैः ॥
असात्म्यगंधदुष्टामभाष्याद्यैश्च शिरोगताः,
जनयत्यामयान् दोषास्तत्र मारुतकोपतः । (वाग्भट)

२

सामान्य प्रतिषेध

आचार्य वाग्भट की उक्ति है कि "ऋषियों ने पुरुष-शरीर की तुलना अश्वत्थ वृक्ष से की है, इस वृक्ष का मूल ऊपर एवं शाखायें नीचे की ओर फैली हुई रहती हैं, अतः सिर में होने वाले रोग, मूल पर ही प्रहार करने वाले होते हैं। फलतः इस स्थान या अंग पर होने वाली व्याधि का शीघ्रातिशीघ्र उपचार करके ठीक करना चाहिये।"[1] इसके अतिरिक्त सिर एक ऐसा अंग है "जिसमें सभी प्रकार के इन्द्रियों का आश्रय है, प्राण भी उसी में समाश्रित रहता है, इसीलिये इसको शरीर का उत्तम अङ्ग माना गया है अतएव उत्तमाङ्ग (सिर) की विकारों से रक्षा करने में सदैव तत्पर रहना चाहिये।"[2]

शिरोरोग की चिकित्सा करते हुए सर्वप्रथम 'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्' सूत्र का अनुसरण करते हुए जिन विविध कारणों से रोग की उत्पत्ति हुई है उन्हीं को दूर करना चाहिये। आचार्य चरक ने कई श्लोकों में 'कियन्तः शिरसीयाध्याय' में शिरोरोगों के कारणों का उल्लेख किया है।[3] इन कारणों को दूर करना शिरोरोग का पहला प्रतिषेध है। उदाहरण के लिये–यदि शिरःशूल के रोगी में वेग संधारण अर्थात् मल, मूत्र आदि वेगों के रोकने का वृत्त मिले तो मृदु रेचक एवं मूत्रल ओषधियों से मलों का निर्हरण करा देने से शिरःशूल शान्त हो जाता है। यदि रोगी में शिरःशूल, दिन में सोने या रात्रि के जागरण से

---

१. ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः।
मूलप्रहारिणं तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं जयेत्॥

२. सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन संश्रिताः।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत्॥ (अ० हृ० उ० २४)

३. च० सूत्र० १७.

हो तो उसको विपरीत आचरण का अनुष्ठान करना ही रोग के लिये पर्याप्त है। इसी प्रकार यदि शिरःशूल पैदा करने वाले कारणों में नशीली चीजों का सेवन, ओस, उच्च भाषण, पुरवैया हवा, अति स्त्रीसेवन असात्म्य गंध का सूंघना, धूलि, धूम, तेज धूप या शीत वायु प्रभृति हेतु मिलते हों तो इनमें रोगी को इनसे बचाकर रखने से ही रोगी का शिरोरोग जाता रहेगा। इसी तरह रोगी में अधिक गरिष्ठ भोजन, अधिक खटाई, हरित आर्द्रक आदि के सेवन या अत्यन्त शीतल द्रव्यों के सेवन का इतिवृत्त मिले और उसको शिरःशूल हो रहा हो, तो इन द्रव्यों का सेवन बन्द करा देने से शिरोरोग शान्त हो जाता है। यदि रोगी के सिर पर अभिघात का इतिहास मिले अथवा रोने और आँसुओं के वेग रोकने का वृत्त मिले, तो इन कारणों का परिहार कर देने मात्र से रोग संशमित हो जाता है। यदि शिरःशूल पैदा करने वाले कारणों में देश, काल, ऋतु प्रभृति का स्वभाव विपरीत होना ज्ञात हो अथवा मेघादिक कारण ज्ञात हो तो भी कारणों के परिहार करते हुए चिकित्सा करनी चाहिये।

शिरोरोग की चिकित्सा में दूसरा विचार दोष प्राबल्य का होता है। क्योंकि कारणों से दोषों की दुष्टि होती है, एवं विकृत हुए दोष प्रसर करते हुए शिरोगत रक्त को दूषित कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप विविध लक्षणों से युक्त शिरोरोग या शिरःशूल पैदा होते हैं। अतः कुपित हुए दोष का शमन करना आवश्यक हो जाता है।[1]

दोषभेद से चिकित्सा करते हुए शिरःशूल के प्रतिषेध में सफलता प्राप्त करने के विधान का विशद वर्णन पहले के अध्यायों में किया गया है। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में कुछ सामान्य बातों का उल्लेख ही पर्याप्त है। जब रक्त और पित्त की विकृति से शिरोरोग होता है तब पीड़ा दिन में अधिक एवं रात में शान्त हो जाती है। इसके विपरीत

१. वातादयः प्रकुप्यन्ति शिरस्यस्रं च दुष्यति ।
ततः शिरसि जायन्ते रोगाः विविधलक्षणाः ॥ (च० सू० १७)

वायु या श्लेष्माजन्य पीड़ा रात में अधिक और दिन में कम हो जाती है। इस प्रकार दोष-विकृति की कल्पना कर चिकित्सा-विधि का निर्णय करने से कार्य में सरलता आ जाती है।

दूसरा विचार दोषों की प्रधानता तथा अप्रधानता की दृष्टि से करना चाहिये। शिरोरोग प्रायः त्रिदोषज होते हैं। उनमें उत्पादक कौन सा दोष प्रधान है, उसका ज्ञान करके पहले उसी के प्रशमन के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये। शिरामोक्षण या रक्तविस्रावण रक्तज शिरोरोग में ही करना चाहिये। शिरोविरेचन; जब दोष ऊर्ध्वगामी होकर मस्तिष्क में लीन हो जाते हैं, नासा संबंधी विवरों में दोषों का अवस्थान हो जाता है तभी लाभप्रद होता है। स्वेदन और उपनाह गाढ़े दोषों को पिघला कर निकालने के विचार से किया जाता है। शुष्क स्वेद जब दोष आमावस्था में हो, या पतला हो या क्लेद अधिक हो तो उसको कम करने या सुखाने के विचार से करना चाहिये। बन्धन; वायुजनित पीड़ा में ही लाभदायक होता है। कवलधारण एवं गण्डूष से इधर-उधर प्रसरित हुये दोष एकत्रित होकर स्रोतसों के मुख पर आकर बाहर निकलने के लिये उत्सुक हो जाते हैं। लेप से दोषों की स्थानिक उल्वणता शान्त होती है। अतएव जहाँ जैसी आवश्यकता समझ में आवे वहाँ उसी विधि का अवलम्बन करना चाहिये।

शिरःशूल की चिकित्सा में एक दूसरा विचार भी आवश्यक होता है कि व्याधि शीतद्रव्य साध्य है या उष्ण द्रव्य साध्य। सामान्यतया वायु एवं श्लेष्माजन्य शिरःशूलों में उष्णोपचार लाभप्रद होता है, परन्तु पित्तज एवं रक्तज शिरःशूलों में शीतोपचार से लाभ होता है। उसी प्रकार शीतऋतुओं में शिरोरोगों के उपचारों में ऊष्ण उपक्रमों का प्रयोग तथा ऊष्ण ऋतुओं में उत्पन्न शूल में शीतोपचार हितकर होता है। इसी लिये शीतऋतुओं में बादाम, पोस्ता आदि के प्रयोग तथा गर्मी के दिनों में नारंगी, अनार, अंगूर, बेर, वनप्सा आदि के पानक प्रयोग में आते हैं। इसी तरह यदि वात कफज या उष्णोपचार साध्य शिरःशूल हुआ, तो उसमें बादाम का तेल, नारायण तैल, लक्ष्मीविलास तैल का सिर पर

अभ्यंग कराना चाहिये; परन्तु गर्मी के कारण हुआ या रक्तज एवं पित्तज विकार हुआ, तो शीतल तैलों का अभ्यंग कराना चाहिये जैसे चंदनादि तैल, ब्राह्मी तैल, कद्दू का तेल। इन तैलों का अभ्यंग तथा अवमर्श कराना चाहिये। कुछ ऐसे भी तैल प्रयोग में आते हैं जिनका सभी प्रकार के शिरःशूलों में प्रयोग किया जा सकता है जैसे हिमांशु-तैल, गुलरोगन एवं सामान्य तिलतैल।

कई प्रकार के काष्ठौषधियों या मांस के बने लेप (वेसवार) आदि का वर्णन भी शिरोरोगों में आता है। इनमें भी शैत्य औष्ण्य का विचार अपेक्षित रहता है। बेसवार का प्रयोग उष्ण है इसका स्वेदन के विचार से ही प्रयोग हितकर है फलतः वायु एवं श्लेष्मा के विकारों में लाभप्रद होता है।[1] चरक मुनि ने सूत्रस्थान के चौथे अध्याय में अपने बत्तीस सिद्धयोगों में दो लेपों का शिरःशूल में प्रयोग बतलाया है—इनमें एक प्रायः शीतल द्रव्यों से बना है और दूसरा अपेक्षाकृत उष्णद्रव्यों से।[2] यद्यपि इनमें पूर्णतया एक को शीतवीर्य दूसरे को उष्णवीर्य नहीं कह सकते तथापि तरतम भाव का विचार करने से प्रथमोक्त शीतवीर्य तथा दूसरा उष्णवीर्य का है।

१. अगुरु, नीलकमल, श्वेत चन्दन, कूठ को पीसकर घृत में मिला कर लेप करना।

२. पुनरिया काठ, देवदारु (धूप), कूठ, मुलैठी, इलायची, लाल कमल, नील कमल, लाल सरका, चोर पुष्पी का घृत के साथ लेप।

मुचकुंद के फूल को पानी में पीसकर सिर पर लेप करने से भी शिरःशूल शान्त होता है।

---

१. निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितं कृष्णामरिचसंयुक्तं वेसवार इति स्मृतः। (चक्रपाणि सू० ४.)

२. (क) नतोत्पलं चन्दनकुष्ठयुक्तं शिरोरुजायां सघृतः प्रदेहः।
(ख) प्रपौण्डरीकं सुरदारु कुष्ठं यष्ट्याह्वमेला कमलोत्पले च सिरोरुजायां सघृतः प्रदेहो लोहैरकापद्मकचोरकैश्च।

शुद्ध नरसार को पानी में गाढ़ा घोल कर मस्तक (पुटपुरी) पर लेप करने से भी शिरोवेदना शान्त होती है।

आधुनिक ग्रंथों के आधार पर शिरःशूल की चिकित्सा करते हुए, कतिपय अन्य भी बातें विचारणीय होती हैं। शिरःशूल का होना, प्रायः कई विकारों में लक्षण रूप में मिलता है, स्वतन्त्र व्याधि के रूप में क्वचित् ही मिलता है; जैसे अर्धावभेदक या त्रिधारा नाडीशूल प्रभृति में। जहाँ पर लक्षण रूप में मिलता है वहाँ पर उसके उत्पादक कारण या प्रधान हेतुभूत रोग की चिकित्सा करने से ही शूल शमित हो जाता है। उदाहरणार्थ–जैसे हेतुभूत व्याधियाँ यदि अपस्मार, अम्लपित्त, जीर्ण विबंध, जीर्ण पित्ताशय या यकृच्छोथ, मधुमेह, वातरक्त, नागविष, अम्लमयता (Acidosis) या क्षारमयता (Alkalosis), विषमज्वर, आंत्रिकज्वर, वातश्लैष्मिकज्वर, अंशुघात, उष्णातपदग्ध अथवा पाण्डु प्रभृति हुई तो 'प्रधानप्रशमात्प्रशमः' इस सिद्धान्त के अनुसार प्रधान व्याधि की चिकित्सा होने से उनके कार्यभूत लक्षणों का भी शमन हो जाता है।

बहुधा ऐसी भी अवस्था आ जाती है जब कि शूल ही प्रधान व्याधि से अधिक कष्टकर हो जाता है अथवा शूलोत्पादक मूल व्याधि का निश्चय ही नहीं हो पाता, या शिरःशूल ही अन्यान्य लक्षणों के साथ स्वतंत्र व्याधि का रूप ले लेता है। अतएव इसी एक लक्षण की तत्काल प्रतिक्रिया करना आवश्यक हो जाता है।

आयुर्वेद के ग्रंथों में शिरःशूल या शिरोरोग के प्रतिषेध में बहुत सी प्रक्रियायें मिलती हैं जैसे क्षीर, घृत या तैल का पिलाना, सेक, प्रदेह, लेप, नस्य, धूम, अभ्यंग, शिरोवस्ति, आस्थापन, विरेचन, अनुवासन, वमन, शिरोविरेचन, गण्डूषधारण, बृंहण, कृमिघ्न, अवपीड और शिरावेध आदि। इन उपक्रमों को रोगी की अवस्था, दोष, बल एवं काल आदि का विचार करते हुए यथायोग्य एवं यथासमय व्यवहार में ले आना चाहिये।

शिरःशूल की चिकित्सा में अथवा यह कहा जाय कि ऊर्ध्व जत्रुगत सभी विकारों में नस्यकर्म का बड़ा महत्त्व है अतएव उसका विस्तृत

विवेचन इस स्थान पर कर देना प्रासंगिक है। ऊर्ध्व जत्रुगत अंगों को स्वस्थ रखने के लिये अथवा उनमें हुए विकारों को दूर करने के लिये नस्यकर्म करना चाहिये। यह उपक्रम इन रोगों में बहुत लाभदायक होता है।

नियमित रूप से नस्य लेने वालों की आँख, कान, नाक की शक्ति अक्षुण्ण रहती है, अकाल में बाल सफेद नहीं होते और न गिरते हैं। मन्यास्तंभ, शिरोवेदना, अर्दित, हनुस्तंभ, पीनस, अर्द्धावभेदक, शिरःकम्प आदि विकार नष्ट हो जाते हैं। ऊर्ध्वजत्रुगत सिरायें, शिरःकपाल संधियाँ, स्नायु तथा कण्डरायें परिपुष्ट हो जाती हैं। मुख प्रसन्न रहता है, स्वर स्निग्ध, स्थिर तथा गम्भीर रहता है; इन्द्रियाँ निर्मल एवं बलवती होती हैं। सिर में प्रतिदिन तैल का अभ्यंग करने से शिरःशूल नहीं होता, बाल मुलायम रहते, इन्द्रियाँ प्रसन्न रहतीं और सुखपूर्वक नींद आती है। अतएव शिरोरोग में नस्य, अभ्यंग आदि का प्रयोग हितकर होता है। चरकाचार्य ने यथाकाल विधिवत् नस्यकर्म की बड़ी प्रशंसा की है।[1]

---

१. नस्यकर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते।
न तस्य चक्षुर्न घ्राणं न श्रोत्रमुपहन्यते।
न स्युः श्वेता न कपिलाः केशाः श्मश्रूणि वा पुनः।
न च केशाः प्रलुप्यन्ते वर्धन्ते च विशेषतः।
मन्यास्तंभं शिरःशूलमर्दितं हनुसंग्रहः।
पीनसार्धावभेदौ च शिरःकम्पश्च शाम्यति।
शिराः शिरःकपालानां संधयः स्नायुकण्डराः।
नावनप्रीणिताश्चास्य लभन्तेऽभ्यधिकं बलम्॥
मुखं प्रसन्नोपचितं स्वरः स्निग्धः स्थिरो महान्।
सर्वेन्द्रियाणां वैमल्यं बलं भवति चाधिकम्॥
न चास्य रोगाः सहसा प्रभवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः।
जीर्यतश्चोत्तमाङ्गे च जरा न लभते बलम्। (च० सू० ५.)

नस्य कर्म—नस्तः कर्म अथवा शिरोविरेचन की प्रक्रिया का उल्लेख प्रायः सभी ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में विशेषतः शिरोरोगों में प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। शिरोरोगों में इस कर्म की उपादेयता बतलाते हुए आचार्य चरक मुनि ने लिखा है "शास्त्र के ज्ञानकारों को चाहिये कि शिरोरोगों में नस्यकर्म करे क्योंकि नासिका शिरोगुहा का द्वार (दरवाजा) हैं। अस्तु, नासा के मार्ग से किसी प्रकार ऊपर को पहुँचाई गई ओषधि सिर में फैल कर व्याप्त हो जाती है एवं तत्स्थानगत रोग नष्ट हो जाते हैं।"[1] नस्य कर्म के पाँच प्रकारों का उल्लेख आचार्य ने किया है तथा उनके उपभेदों का भी वर्णन किया है जिसका संक्षेप में नीचे लिखे कोष्ठक में दिग्दर्शन कराया जा रहा है।[2]
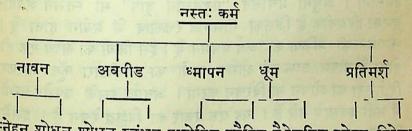
स्नेहन शोधन शोधन स्तंभन प्रायोगिक स्नैहिक वैरेचनिक स्नेहन विरेचन

आचार्य सुश्रुत ने भी नस्यकर्म के पाँच ही भेद बतलाये हैं, परन्तु चरकोक्त 'नावन' शब्द के स्थान पर 'नस्य' शब्द का प्रयोग किया है जिससे अर्थग्रहण सरल एवं स्पष्ट हो जाता है।[3] इन भेदों में नावन या नस्य करना एक साधारण क्रिया है। मामूली ढंग से किसी भी हल्के क्षोभक द्रव्यों का नासा में प्रविष्ट करना-जिससे नासिका का स्नेहन

---

१. नस्तः कर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रवित्।
द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्य हन्ति तान्।

२. नावनञ्चावपीडञ्च ध्मापनं धूम एव च।
प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्तःकर्म तु पंचधा। (च. सि. ९)

३. "तद्द्विविधमपि पंचविधकल्पं तद्यथा, नस्यं,
शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शोऽवपीडः प्रध्मनञ्च।" (सु. चि.)

अथवा शोधन हल्के ढंग से हो जाय नावन कहलाता है। *अवपीडन* की प्रक्रिया नस्य से खरतर है इसमें सैन्धव, पिप्पली प्रभृति द्रव्यों का कल्क करके अर्थात पानी से पीस करके या ताजी ओषधि हो तो उसको वैसे ही पीस करके पुनः उसको निचोड़कर (अवपीडित) करके उसके स्वरस को नाक में बूँद बूँद करके टपकाना अवपीडन नस्य कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है क. शोधन तथा ख. स्तंभन। यदि शोधन करना लक्ष्य हो; तो तीक्ष्ण औषधियों का स्वरस नाक में छोड़े और यदि स्रावों का स्तंभन करना उद्देश्य हो; तो शीतवीर्य द्रव्यों का कल्क बना कर एवं उसका स्वरस निकाल कर नाक में टपकाना चाहिये। जैसे नासागत रक्त में दूर्वाका कल्क बना कर निचोड़ कर उसका रस टपकाना। अधुना प्रचलित "एड्रेनैलीन ड्राप" भी स्तंभन अवपीडनका ही प्रतीक है जिसका नासागत रक्तस्राव में प्रयोग होता है। *ध्मापन*—की प्रक्रिया का अर्थ प्रधमन है। इस क्रिया का लक्ष्य एक ही होता है तीक्ष्ण, उष्ण एवं क्षोभक द्रव्यों का नाडीद्वारा फूँक मारकर शिरोगुहा का शोधन या विरेचन करना। अतएव इसके उपभेद ग्रन्थों में नहीं बतलाये गये हैं। यह एक प्रकार का विशुद्ध रेचन है। इसमें त्रिकटु, कट्फल प्रभृति द्रव्यों का नाडी के द्वारा फूँक मार कर नस्यकर्म किया जाता है। यह बड़ा ही तीक्ष्ण होता है। इससे शिरोगत स्रोतों का विशोधन होता है। *धूम*का अर्थ नासिका के छिद्र से धूम का प्रयोग करना। मुखद्वारा पीया गया धूम, धूमनस्य नहीं है। इसका विशेष प्रयोजन वायवीय पदार्थों के द्वारा शिरोविरेचन ही ज्ञात होता है। इसके भी धूम्रपान सदृश ही प्रायोगिक, स्नैहिक एवं वैरेचनिक तीन भेद चरकाचार्य ने बतलाये हैं। *प्रतिमर्श*—का प्रयोग प्रायः दोषरहित अवस्था में किया जाता है। इसका लक्ष्य नासा की श्लेष्मलकला का स्नेहन मात्र होता है। इसके लिये काल, वय आदि का विचार आवश्यक नहीं होता। इसका प्रयोग किसी भी समय प्रातः या सायं या रात्रि में नित्य किया जा सकता है।[1] अधिकतर इसका प्रयोग स्वस्थ व्यक्तियों

१. प्रतिमर्शस्तु नस्यार्थं करोति न च दोषवान्।

में ही होता है। विधि यह है कि ऊंगली को तेल या किसी स्नेह में भिगोकर ऊंगली को नासा छिद्र में डालकर तैल को ऊपर की ओर खींचे। इससे शिरःकपाल दृढ़ होते हैं। "नाक के द्वारा थोड़े उच्छिङ्घन (सुरुकने) से तेल ऊपर को आकर जब मुख में आ जाय तब प्रतिमर्श पूरा हो गया ऐसा समझे।" "प्रतिमर्श का अभिप्राय नासिका से तैल को (खींचकर) मुख से पीने का नहीं है क्योंकि ऐसा करने से कण्ठ से स्राव होने का भय रहता है। अतः पूर्वोक्त प्रमाण के अनुसार ही प्रतिमर्श को रखना चाहिये[१]। इस प्रतिमर्श का विधान यदि किसी अवस्थाविशेष में विरेचन या स्नेहन के लिये करना हो और तैल की मात्रा अधिक हो, तो उस अवस्था में उसका सार्वकालिक प्रयोग नहीं करना चाहिये।

बहुत प्रकार के जो नस्यकर्म बतलाये गये हैं उनके थोड़े मोड़े अन्तर के साथ अंग्रेजी पर्याय इस प्रकार के हो सकते हैं। नावन या साधारण नस्य (Snuffs), अवपीडन और ध्मापन या शिरोविरेचन (जिनमें कल्क या चूर्णों का बलपूर्वक नासारंध्र से ऊपर की ओर पहुँचाना लक्ष्य रहता है)। (Insufflation or Inhalation of powders)। धूम से वायवीय पदार्थों का (Gaseous Substances) नासा द्वारा प्रयोग (Inhalation of Gases)। प्रतिमर्श से तात्पर्य केवल नासागत श्लेष्मलकला का स्नेहन या चिकना करना उद्देश्य

प्रतिमर्शस्तु सर्वदा।
स्नेहनं शोधनञ्चैव द्विविधं नावनं मतम्।
नस्तः स्नेहाङ्गुलिं दद्यात् प्रातर्निशि च सर्वदा।
न चोच्छिङ्घेदरोगाणां प्रतिमर्शः स दार्ढ्यकृत् (च. सि. ९)

१. "ईषदुच्छिङ्घनात्स्नेहो यावान् वक्त्रं प्रपद्यते।
नस्तोनिषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शः प्रमाणतः।"
"प्रतिमर्शं तु न पिबेत् कण्ठस्रावभयान्नरः।
यावत्स्नेहो व्रजेदास्यं तत्प्रमाणं तु तस्य तु।":
(चक्रपाणि की टीका से उद्धृत)

होता है। (Application of Lubricant substances like Vasceline etc.)।

उपरोक्त नस्य कर्मों में क्रिया की दृष्टि से मुख्य तीन ही कार्य हैं। विरेचन, वृंहण तथा शमन। किसी ऊर्ध्व जत्रुगत रोग में यदि इनका प्रयोग आवश्यक हुआ तो इन तीनों कार्यों में से किसी एक का सम्पन्न करना लक्ष्य होता है। सामान्यतया 'शिरोविरेचन', शिरःशूल, शिरोजाड्य, गले के रोग, शोफ, कृमि, गण्ड, ग्रन्थि, कुष्ठ, अपस्मार या पीनस आदि में व्यवहृत होता है। बृंहण कार्य वाले नस्यों का प्रयोग वातिक शिरःशूल, सूर्यावर्त्त, स्वरावसाद, नासाशोष, मुखशोष, वाक्संग (आवाज का बन्द हो जाना), कृच्छ्रोन्मीलन (निःसंज्ञ अवस्था में नेत्रों के पलकों का न खुलना) तथा अवबाहुक में होता है। शमन क्रिया वाले नस्यों का प्रयोग नीलिका, व्यङ्ग, केशदोष और आँख के विकारों में किया जाता है। नस्यों के प्रयोग इन बातों का विचार करके यथोक्त योगों का निर्माण करके ही प्रयोग करना चाहिये।

प्रतिमर्श का उल्लेख ऊपर हो चुका है। आचार्य वाग्भट ने दो उपक्रमों का उल्लेख किया है, मर्श तथा प्रतिमर्श। इनमें मर्श का प्रयोग चरकोक्त वैरेचनिक प्रयोग है ऐसा समझना चाहिये। इसका प्रयोग रोग की अवस्था में मात्राभेद, बल, दोष आदि का विचार करते हुए किया जाता है, परन्तु प्रतिमर्श का जहाँ विशुद्ध तैल का अंगुली के सहारे नासा में प्रवेश कराया जाता है, उसका प्रयोग स्वस्थ व्यक्तियों में ही स्वास्थ्य-रक्षण की दृष्टि से करने का विधान है।

इस प्रकार के प्रतिमर्श की उपमा कायचिकित्सा में प्रचलित बस्ति-कर्म से की गई है। इसका प्रयोग नित्य स्वस्थ व्यक्तियों को करने का उपदेश किया गया है। इसमें मर्शवत् किसी बात की विचारणा की आवश्यकता नहीं होती, न इसमें किसी प्रकार के यन्त्रणा (पथ्यादि की व्यवस्था) अथवा व्यापद् (उपद्रव) होने का ही भय रहता है। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त इसका प्रयोग किया जा सकता है तथा

करना प्रशस्त है ।[1] इसका नित्य प्रयोग करते रहने से मर्श की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । फलतः नित्य के प्रयोग से यह मर्शवत् कार्यकर होता है ।

शिरोरोग में प्रयुक्त होने वाला दूसरा महत्व का प्रयोग शिरोवस्ति है । आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस प्रक्रिया को शिरःशूल के शमन के लिये परम साधन माना गया है । इसका विशेष उल्लेख वातिक शिरःशूल के प्रकरण में आगे दिया जायगा ।

शिरोरोग में प्रयुक्त होनेवाले कुछ सामान्य योग

लेप—१. गुंजा, करञ्जबीज, मरिच, भृंगराज इन ओषधियों को पानी में पीसकर कल्क बनाकर सिर पर लेप करना । (भै. र.)

२. काली मरिच, लाल मरिच को सेहुण्ड के दूध में पीसकर सिर पर लेपना । यह बड़ा तीक्ष्ण प्रयोग है, अतः लेप को शीघ्र ही उतार भी देना चाहिये । (भै. र.)

३. मुचकुन्द के फूल का लेप करना ।

४. पाठा, पटोलपत्र, सोंठ, एरण्डमूल, शिग्रुबीज, चक्रमर्द बीज, कूठ इन द्रव्यों को मट्ठे में पीस कर लेप करना शिरःशूल को शान्त करता है ।

नस्य—१. मधुयष्टि तथा वत्सनाभ इन दोनों द्रव्यों को दो दो रत्ती लेकर बारीक कपड़छान चूर्ण बनाकर थोड़ी सी मात्रा में नस्य के द्वारा लेने से तत्काल शिरःशूल शान्त होता है ।

---

१. आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु वस्तिवत् ।
मर्शवच्च गुणान् कुर्यात्स हि नित्योपसेवनात् ॥
न चात्र यन्त्रणा चापि व्यापद्भ्यो मर्शवद् भयम् ।
तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते ॥
शिरसः श्लेष्मधामत्वात् स्नेहाः स्वस्थस्य नेतरे । (अ. हृ. सू. २०)

२. सीप का चूना और नौसादर पीसकर सूंघने से शिरःशूल नष्ट होता है। (भै. र.) "अमोनियम् कार्ब" से निकलने वाली 'अमोनियम्' वायु के सूंघने से भी लाभ होता है।

३. कपास के बिनौले, दालचीनी, नागरमोथा, चमेली के पत्ते और फूल को पीस कर उसका रस नाक में छोड़ने से सब प्रकार की शिरोवेदना शान्त होती है।

४. अपराजिता की जड़ या फल के स्वरस का नस्य देने से किंवा जड़ को कान में बाँधने से शिरोव्यथा नष्ट होती है। (भै. र.)

५. सोंठ ३ माशे लेकर १६ तोले दूध में पीसकर नस्य देने से अनेक दोषोत्पन्न शिरःशूल शान्त होते हैं। (भै. र.)

६. *अर्धनारीश्वर रस*—वराट भस्म, शुद्ध टंकण, प्रत्येक का पाँच पाँच भाग, काली मरिच का चूर्ण ६ भाग, शुद्ध वत्सनाभ विष ३ भाग स्त्री या गाय के दूध में खरल कर दो दो रत्ती की गोलियाँ बनाकर सुखाकर रख ले। पानी में घिसकर उसका नस्य शिरोरोगों में देने से तत्काल वेदना शान्त होती है। इसका प्रयोग विशेषतः कफाधिक्यजन्य वेदना में करना चाहिये।[1]

७. फिटकरी और कपूर के चूर्ण का नस्य लेने से शिरःशूल तथा नासागत रक्तपित्त तत्काल शान्त हो जाता है। (भै. र.)

तैल तथा घृत—१ षड्बिन्दु तैल–मूर्च्छित कृष्ण तिलतैल तथा बकरी का दूध प्रत्येक १ सेर, भृङ्गराजस्वरस ४ सेर कल्कार्थ–एरण्डमूल, तगर, सौंफ, जीवन्ती, रास्ना, सैंधव, दालचीनी, वायबिडङ्ग, मुलैठी और सोंठ कुल २० तोले भर लेकर यथाविधि तैल को सिद्ध कर लेना चाहिये। ६ बूँद की मात्रा में नासिका में डालने से समग्र शिरोव्यथायें नष्ट होती हैं।[2]

१. वराटं टंकणं शुद्धं पंचभागसमन्वितम् ।
नवभागं मरीचस्य विषं भागत्रयं मतम् ।
स्तन्येन वटिकां कृत्वा नस्यं दद्यात् विचक्षणः ।
शिरोविकारान् विविधान् हन्ति श्लेष्मोत्तरानपि । (भै० र०)

२. षड्बिन्दवो नासिकयोर्निधेया निहन्ति शीघ्रं शिरसो विकारान् । (भै० र०)

२. दशमूल तैल—सरसों का मूर्छित तैल २ सेर, दशमूल क्वाथ ८ सेर, गोदुग्ध ८ सेर, दशमूल कल्क आधा सेर, तैलपाक विधि से पक्व तैल का अभ्यंग सभी प्रकार के शिरःशूल को नष्ट करता है। (भै० र०)

३. धुस्तूर तैल—सरसों का मूर्च्छित तैल २ सेर, धुस्तूर पंचाङ्ग क्वाथ ८ सेर, धुस्तूरकल्क आधा सेर लेकर यथाविधि सिद्ध तैल। अभ्यंग से शिरःपीडा और दाह को शान्त करता है। (भै० र०)

४. गुञ्जातैल—मूर्च्छित तिलतैल, कांजी तथा भृङ्गराजस्वरस प्रत्येक ८ पल तथा कल्कार्थ घुंघुची का कल्क दो पल लेकर यथाविधि मंद अग्नि से तैल सिद्ध करके, एक दिन तक पड़ा रहने दे, पश्चात् नस्य और अभ्यंग के रूप में शिरोरोगों में व्यवहार करे। (भै० र०)

५. हिमांशुतैल—तिलतैल २ सेर, रतनजोत १ तोला, छोटी इलायची ६ माशे, एकाङ्गी १ तोला, लौंग ½ तोला, मुचकुन्द १ तोला, पानड़ी १ तोला, सुगंधबाला १ तोला, खस १ तोला, सफेद चंदन १ तोला, कुलंजन १ तोला, बड़ी इलायची २॥ तोले, कपूर १ तोला, चम्पा पुष्प १ तोला तैलपाक विधि से सिद्ध तैल का प्रयोग सभी प्रकार के शिरःशूलः में विशेषतः पित्तोल्वण शिरोरोग में लाभप्रद है (अनुभूत)। इन तैलों के अतिरिक्त भी बहुत से तैलों का शास्त्रों में पाठ मिलता है जिनका प्रयोग शिरःशूल में लाभप्रद बतलाया गया है-जैसे कुमारी तैल (भा० प्र०) कनक तैल, तप्तराजतैल, रुद्रतैल, लक्ष्मीविलासतैल, भृङ्गराजतैल (भै० र०) आदि।

१. *महामायूराद्य घृत*—मूर्च्छित गोघृत ८ सेर, क्वाथार्थ पक्ष, आंत्र, चोंच, पादादि से रहित मयूर का मांस तथा दशमूल दसों द्रव्य तथा बला ये ग्यारह द्रव्य समान प्रमाण में मिलित १००-१०० पल लेकर पृथक्-पृथक् यवकुट कर दो दो द्रोण जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ ८-८ सेर लेकर गायका दूध दो द्रोण एवं कल्कार्थ पुनरिया काष्ठ और जीवनीय गण की बारह ओषधियों का मिश्रित कल्क २ सेर लेकर सम्यक् पाकार्थ बत्तीस सेर जल मिलाकर यथाविधि तैल का पाक करे। यह महामायू-

राद्यघृत मेधा, बुद्धि और स्मृति को बढ़ाता है एवं ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में तथा अन्य शारीरिक रोगों में लाभप्रद होता है।[1] (चक्रदत्त)

२. मयूराद्य घृत—मूर्च्छित गोघृत १ सेर, क्वाथार्थ दशमूल की दस ओषधियाँ पृथक् पृथक् ३-३ पल तथा एक मयूर के पंख, पित्ताशय, आंत्र, मल, पाँव तथा मुख (चोंच) इन भागों से वर्जित अन्य भागों का समस्त मांस ३६ पल लेकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बनाकर घृत में छोड़े। इसमें कल्कार्थ जीवनीयगण तथा काकोल्यादिगण की ओषधियों के प्रत्येक का २-२ कर्ष तथा गाय का दूध १ सेर मिलाकर यथाविधि घृत को सिद्ध कर ले। इस मयूराद्य घृत के प्रयोग से सभी ऊर्ध्वजत्रुगत विकार नष्ट होते हैं। विशेषतः शिरोरोग दूर होते हैं अर्थात् कान, नाक, आँख, जीभ, मुख तथा गले के रोग नष्ट होते हैं। (च० द०)

३. अन्य आमिषघृत—उपरोक्त घृत की कल्पना के अनुसार ही मयूरमांस के स्थान पर चूहे, मुर्गी, हंस तथा खरगोश इनके मांस के स्वरस से भी पृथक् २ घृत का पाक किया जा सकता है।[2] इन घृतों का भी प्रयोग सभी ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में विशेषतः शिरोरोगों में लाभप्रद होता है।

क्वाथ—पथ्याषडङ्ग क्वाथ—हर्रे, बहेरा, आँवला, चिरायता, हल्दी, नीम की छाल और गिलोय-सबका समान भाग लेकर षोडश गुण जल में क्वाथ करे और चौथाई भाग शेष रहने पर उतार कर ठंडा कर पुराना गुड़ मिलाकर पिलावे। यह शिरःशूल विशेषतः पुराने

---

१. शतं मयूरमांसस्य दशमूलाबलातुलां
द्रोणेऽम्भसः पचेत् क्षुत्वा तस्मिन् पादस्थिते ततः।
निषिच्य पयसो द्रोणं पचेत्तत्र घृताढकं
प्रपौण्डरीकं वर्गोक्तैर्जीवनीयैश्च भेषजैः॥
मेधाबुद्धिस्मृतिकरमूर्ध्वजत्रुगदापहम्। मायूरमेतन्निर्दिष्टं सर्वानिलहरं परम्।
मन्याकर्णशिरोनेत्ररुजापस्मारनाशनम्। विषवातामयश्वासविषमज्वरकासनुत्

२. आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान्।
कल्पेनानेन विपचेत्सर्पिरूर्ध्वगदापहम्। (चक्रदत्त या भै० र०)

शिरःशूल की परमौषधि है । इसका नस्य रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है । यह वैद्यों की परम्परा में श्रेष्ठ योग माना गया है । शिरःशूल की तीव्र या जीर्ण दोनों अवस्थाओं में लाभप्रद है ।[1] यह बहुशः अनुभूत योग है ।

रसौषधियाँ—शिरःशूलाद्रिवज्ररस-शुद्ध पारद, शुद्धगंधक, लौहभस्म तथा ताम्रभस्म १-१ पल, शुद्ध गुग्गुलु ४ पल, त्रिफला चूर्ण २ पल, कुष्ठ, मुलैठी, पिप्पली, शुंठी, गोक्षुर और बायविडङ्ग चूर्ण १-१ तोला तथा दशमूल चूर्ण १० तोले भर लेकर दशमूल के क्वाथ में गुग्गुलु को घोलकर उसी से सब चूर्ण को भावित कर एक दिन तक खरल करें। फिर थोड़े से घृत के साथ कूट कर ४-४ रत्ती की वटिकायें बना लें। यह चण्डनाथ आचार्य का कथित शिरःशूलादि वज्ररस है-इसका मधु या बकरी के दूध के अनुपान से सेवन करने से एक दोषज, द्विदोषज, त्रिदोषज, वातिक, पैत्तिक आदि सर्वप्रकार के शिरोरोग नष्ट होते हैं।

(भै० र०)

महालक्ष्मीविलासरस—लौहभस्म, अभ्रकभस्म, शुद्ध वत्सनाभ, मुस्तक त्रिफला, त्रिकटु, शुद्ध धत्तूर बीज, विधारा बीज, शुद्ध भाँग का चूर्ण, दोनों गोखरू, पिप्पलीमूल इनके प्रत्येक का एक एक तोला भर लेकर, धत्तूर के पत्तों के स्वरस के साथ भावित कर २-२ रत्ती की वटिकायें बनाकर सेवन करने से सभी प्रकार के शिरोरोग नष्ट होते हैं ।

(रसेन्द्रसारसंग्रह)

दन्तीप्रवालयोग—गोदन्ती भस्म १ माशा, प्रवाल भस्म २ रत्ती इस प्रकार के मिश्रण से बने योग का घी और चीनी के अनुपान से दिन में तीन बार प्रयोग करने से शिरःशूल नष्ट होता है। कुछ लोग प्रवाल के स्थान पर बराट भस्म का प्रयोग करते हैं। (अनुभूत)

वासकपुष्पयोग—अडूसे के फूल और गुड को मिलाकर सेवन करना शिरःशूल का शीघ्र शमन करता है ।

१. पथ्याक्षधात्रीभूनिम्बनिशानिम्बामृतायुतैः ।
कृतः क्वाथः षडङ्गोऽयं सगुडः शीर्षशूलनुत् । (शार्ङ्गधर संहिता)

शिरोवेदना को अस्थायी किन्तु तत्काल लाभ पहुँचानेवाली कई ओषधियाँ वर्त्तमान चिकित्सा में व्यवहृत होती हैं। इन ओषधियों के प्रयोग से शिरःशूल तत्काल शान्त हो जाता है, परन्तु उनका प्रभाव स्थायी नहीं रहता। कुछ ऐसे योगों का उल्लेख नीचे किया जारहा है।

वेदनाहरयोग—'एस्प्रिन' ५ ग्रेन, 'फेनासिटीन' ३ ग्रेन तथा 'कैफीन' 'साइट्रास' २ ग्रेन इन ओषधियों के मिश्रण का शीतल जल से प्रयोग करने से पीडा बंद हो जाती है। इसी आधार पर बने हुए कई औषध-निर्माताओं के योग बाजार में मिलते हैं इनका कई व्यावसायिक नामों से चिकित्साजगत् में व्यवहार हो रहा है। उदाहरणार्थ 'एसप्रो' 'कैस्प्रिन' 'सेरिडान' 'सिबाल्जिन' (सिबाकम्पनी का), 'अप्टैलिडान' (सैण्डोज कम्पनी का), 'डोलोनाल' (ड्युमैक्स कम्पनी का) 'एण्टाडोन' (स्टैण्डर्ड फार्मेस्यूटिकल कंपनी का) 'सोनाल्जिन' (मेबकर का), 'डाईडायल' 'ओम्नैपान' (राची का) 'कैब्रिटाल' (पार्क डेविस का) इन ओषधियों का प्रभाव शूलघ्न, संशामक अथवा निद्राकर होता है। कई बार 'ब्रोमाइड मिश्रण' देने से ही शिरःशूल का उपशम हो जाता है। इसके लिये एक सामान्य मिश्रण इस प्रकार का बना लेना चाहिये—क्लोरल हाइड्रेट ८ ग्रेन, पोटैशियम ब्रोमाइड १५ ग्रेन, सोडा ब्रोमाइड १० ग्रेन, टिंक्चर डिजिटैलिस १० बूँद, सिरप एमोनिया एरोमैट १ ड्राम, जल एक औंस इस मिश्रण का चतुर्थांश या षष्ठमांश की एक मात्रा करके प्रति तीन घंटे पर देते रहना चाहिये।

निद्राकर ओषधियों में 'ल्यूमिनाल' १½ ग्रेन की मात्रा में प्रयोग से रोगी को नींद आ जाती है, पीडा कुछ देर के लिये शान्त हो जाती है। प्रतिदिन रात्रि में एक मात्रा दी जा सकती है। इससे भी अधिक कार्यकर एक मिश्रण आज कल चल रहा है। जिसे 'गोवर्स' का मिश्रण कहते हैं। इसका प्रयोग अधिक दिनों तक किया जा सकता है। अधिकतर इसका प्रयोग अर्धावभेदक में लाभप्रद माना गया है। यह मिश्रण इस प्रकार है—'सोडियम ब्रोमाइड १० ग्रेन,

लिक्विड ट्रिनीटीन १ बूँद, टिंक्चर नक्सवोमिका १० बूँद, जेल्सि-मियम् १० बूँद, डाल्यूट हाइड्रोबोमिक एसिड ५ बूँद, जल १ औंस इस मात्रा में दिन में तीन बार कई सप्ताह तक प्रयोग किया जा सकता है।

पथ्यापथ्य—स्वेदन, नस्य कर्म, धूमपान, विरेचन, लेप, वमन, लंघन, शिरोवस्ति, रक्तविस्रावण, उपनाह, पुराना घी, शालि चावल, साठी का चावल, यूष (दाल), दूध, जांगल जीवों का मांस, परवल, सहिजन, द्राक्षा (अंगूर), बथुआ, करेला, आम, आँवला, अनार, बिजौरा नीबू, तैल, मट्ठा, कांजी, नारियल, हर्रे, कूठ, भृङ्गराज, घृत कुमारी, नागर मोथा, खश, चाँदनी रात, इत्र आदि सुगंधित द्रव्य और कपूर आदि शिरोरोग की चिकित्सा में प्रशस्त पथ्य हैं।[1]

छींक, जम्भाई, मूत्र, निद्रा, आँसू तथा मल इनके वेगों को रोकना तथा दूषित जलपान, विरुद्ध भोजन, सह्य और विंध्यपर्वत से निकली नदियों का जल, दातून करना और दिन में सोना ये सभी बातें शिरो-रोग में अपथ्य होने से वर्जित हैं।[2]

---

१. स्वेदो नस्यं धूमपानं विरेको लेपश्छर्दिर्लङ्घनं शीर्षवस्तिः ।
रक्तोन्मुक्तिर्वह्निकर्मोपनाहो जीर्णः सर्पिः शालयः षष्टिकाश्च ॥
यूषो दुग्धं धन्वमांसं पटोलं शिग्रुर्द्राक्षा वास्तुकं कारवेल्लम् ।
आम्रं धात्री दाडिमं मातुलुङ्गं तैलं तक्रं कांजिकं नारिकेलम् ॥
पथ्या कुष्टं भृङ्गराजं कुमारी मुस्तोशीरं चन्द्रिका गन्धसारः ।
कर्पूरश्च ख्यातिमानेष वर्गः सेव्यो मर्त्यैः शीर्षरोगे यथास्वम् ॥ (भै. र.)

२. क्षवजृम्भामूत्रवाष्पनिद्राविड्वेगभञ्जनम् ।
दुष्टनीरं विरुद्धान्नं सह्यविन्ध्यसरिज्जलम् ॥
दन्तकाष्ठं दिवानिद्रां शिरोरोगी परित्यजेत् । (भै. र.)

३

वातिक शिरोरोग

'जिस मनुष्य के शिर में अतर्कित कारणों से तीव्र पीडा होने लगती है और विशेषतः रात्रि में और भी अधिक हो जाती है तथा वह पीड़ा बन्धन एवं उपताप (स्वेदन) से शान्त हो जाती है उस मनुष्य में होने वाला यह रोग *वातिक* शिरोरोग कहलाता है।'[१] इस शिरोभिताप का वर्णन वाग्भट ने बहुत अच्छा किया है—'वातजन्य शिरोरोग में आँखों में अधिक चुभन होती है, कनपटी के शंखभाग में फटने जैसी पीड़ा होती है। दोनों भौंहों और ललाट में ऐसी कठिन पीड़ा होती है मानो सिर फट रहा है। कानों में दर्द होता है, उनमें सनसनाहट की आवाज होती है। आँखों में ऐसा मालूम होता है मानो उन्हें कोई निकाल रहा है। सारा सिर घूमता सा मालूम पड़ता है और ऐसा जान पड़ता है कि सिर धड़ से अलग हो रहा है। सिर की सम्पूर्ण शिराओं में स्फुरण, कंधे से लेकर सारी गर्दन और ठुड्डी जकड़ी सी मालूम होती है; प्रकाश की असह्यता होती हैं। अर्थात् रोगी सूर्य या धूप में देख नहीं सकता। नाक से पानी टपकता है, बिना कारण अकस्मात् पीड़ा रुक भी जाया करती है। यदि सिर में तेल लगाया जाय, सिर दबाया जाय, सिर में सेंक की जाय, या सिर बाँध दिया जाय तो पीड़ा में कमी हो जाती है। यदि यह दर्द पूरे सिर में हो तो शिरस्ताप और आधे सिर में हो तो अर्धावभेदक कहते हैं।'[२] वाग्भट के अनुसार अर्धावभेदक जिसका विशेष

१. यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च भवन्ति तीव्रानिशिचातिमात्रम्।
वन्धोपतापैः प्रशमश्च यत्र शिरोभितापः ससमीरणेन ॥ (मा. नि. शि.रो.)

२. निस्तुद्यते भृशं शंखौ घाटां सम्भिद्यते तथा।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटञ्च भ्रमतीवातिवेदनम् ॥
वाध्यते स्वनतः श्रोत्रे निःकृष्येत इवाक्षिणी।

वर्णन आगे चलकर होगा, वातिक शिरोरोग के अन्तर्गत ही आता है। उन्होंने शिरस्ताप की कालमर्य्यादा भी दी है। उनका कथन है कि शिरस्ताप एक पक्ष से लेकर मास तक की अवधि में अपना प्रकोप दिखलाते हुए स्वयं शान्त भी हो जाता है। यदि इसका रूप भयंकर हुआ तो कान अथवा दृष्टिशक्ति को भी नष्ट कर देता है।

यह रोग वातिक है अस्तु वायु के सदृश ही विषमगति वाला होता है। अतर्कित निमित्त से उठता है। इसमें रात्रि में बढ़ जाना, शैत्य, रौक्ष्य, वातवर्धक होने से प्रकोपक रूप में होते हैं और उपताप, बन्धन और अभ्यङ्ग उष्णप्रधान एवं वातशामक होने से प्रशामक रूप में आते हैं।

यों तो सभी शिरोरोग त्रिदोषज माने गये हैं; परन्तु दोषविशेष की उल्वणता से चिकित्सा में सरलता प्राप्त करने के लिए इनके विविध वर्गीकरण किये गये हैं। किसी कारण से किसी प्रकार का शिरःशूल हो यदि उपर्युक्त लक्षणों से मिलता चिह्न मिले तो उसे वातिक करके चिकित्सा करनी होगी। इस प्रकार के शिरःशूल को अंग्रेजी में 'न्यूरेल्जिया' या 'न्यूरैलिजिकहेडेक' कह सकते हैं। यह एक प्रकार का (Nervous Headache) वातिक शिरःशूल है, जो वातसंस्थान की क्षीणता (Degeneration of Nervous system), रक्तविकार, दन्तविकार, निर्बलता और चिन्ता आदि से उत्पन्न होता है। इनमें कारणों को दूर करते हुए संशामक योगों के प्रयोग करने से लाभ होता है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में निम्नलिखित की भाँति चिकित्सा का उपक्रम बतलाया गया है :—

घूर्णतीव शिरः सर्वं सन्धिभ्य इव मुच्यते ॥
स्फुरत्यतिसिराजालकन्धराहनुसंग्रहः ।
प्रकाशासह्यता घ्राणात्स्रावोऽकस्माद् व्यथाशमौ ॥
मार्दवं मर्दनस्नेहस्वेदवंधैश्च जायते ।
शिरस्तापोऽयमद्धर्न्तुं मूर्ध्नः सोर्द्धावभेदकः ॥ (वा.)

चिकित्सा[१]—१. स्नेह प्रयोग—अन्तःप्रयोग में पीने के घृत, तैल, वसा या मज्जा और बाह्य में सिर में तैल या घृत का अभ्यङ्ग करे जैसे वरुणादि घृत, रास्नादि तैल, काकोल्यादि तैल, बलादि तैल, नारायण तैल, दशमूल तैल, आदि का।

२. स्वेदन।

३. नावन (नस्यकर्म)—बृहत् पञ्चमूली क्षीर—पञ्चमूल की ओषधियों में से प्रत्येक का आधा आधा तोला लेकर आधा सेर दूध में एक सेर पानी मिलाकर क्षीरपाक करे और इसका नस्य नाक से दे। अथवा श्वासकुठाररस का नस्य से प्रयोग करे।

४. उपनाह—जीवनीय उपनाह—(१) अगुरु को पीसकर तेल में भूनकर गरम गरम सुहाता हुआ उपनाहस्वेद करना अथवा (२) जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलैठी के कल्क में तिल का तेल मिला उपनाहस्वेद करे। (३) मछली या मांस से उपनाह स्वेद करना। (४) तिल, चावल, उड़द की दाल की नमकीन खिचड़ी बनाकर स्वेद करना।

५. वातरोगापह अन्नपान।

६. मर्दन या अभ्यंग।

७. लेप—कुष्ठादि लेप—(१) कूठ और एरण्ड की जड़ को कांजी या मट्ठे में पीसकर लेप करना। (२) मुचकुन्द के फूल को पीसकर ईषदुष्ण (गुनगुना) लेप। कुष्ठ, एरण्डमूल और सोंठ का मट्ठे में पीस कर लेप। (३) देवदार्वादिलेप देवदारु, तगर, कूठ, जटामांसी और सोंठ को काञ्जी में या मट्ठे में पीसकर थोड़ा घी मिलाकर गरम करके लेप करे।

८. शिरोवस्ति[२]—शिर को चारों ओर से घेर लेने योग्य एक चमड़े

१. वातिके शिरसोरोगे स्नेहान् स्वेदान् सनावनान्।
पानान्नमुपनाहांच कुर्याद्वातामयापहान् ॥ (च. चि. २६.)

२. आशिरोव्यापि तच्चर्म षोडशाङ्गुलमुच्छ्रितं। तेनावेष्ट्य शिरोधस्तान्माष-कल्केन लेपयेत्। निश्चलस्योपविष्टस्य तैलैः कोष्णैः प्रपूरयेत्। धारयेदारुजः शान्ते-

का पट्टा जो सोलह अंगुल ऊँचा होसके लें, इसके द्वारा बीच की खोपड़ी खुली रखकर चारों ओर सिर को वेष्टित कर बाँध दें। पट्टी के नीचे के भाग संधिस्थल पर उड़द का आटा गूंदकर इस प्रकार लगा दें कि पट्टे से कोई द्रव पदार्थ बह न सके। रोगी को स्थिर बैठाकर पट्टे से निर्मित कोष में गुनगुना तैल भर दें। जब तक पीड़ा शान्त न हो तब तक अथवा एक पहर तक या आधे पहर (१॥ से ३ घंटे) तक तेल भरा रहने दें। इस शिरोवस्ति से वातजन्य शिरोरोग हनुग्रह, मन्यास्तम्भ, अक्षिशूल, कर्णशूल, अर्दित तथा शिरःकम्प नष्ट होता है। इस वस्ति का प्रयोग सदैव भोजन के पूर्व करना होता है। पाँच या सात दिनों तक अनुकूल होने पर अधिक दिनों तक भी प्रयोग हो सकता है। एक या आधे प्रहर के पश्चात् तेल निकाल कर किसी पात्र में रख ले। बन्धन को खोलकर शिरा, ललाट, मुख, ग्रीवा और कन्धे आदि का मर्दन करे। फिर गर्म पानी से स्नानकर पथ्यकर आहार ले। जाङ्गल मांस, शालिचावल, घी, दूध पथ्य है। रात में केवल मूँग, उड़द या कुल्थी को उबालकर गर्म मसाले और घी मिलाकर खावे और ऊपर से गर्म दूध पी ले। इसी प्रकार दूध और घी की शिरोवस्ति पित्तविकारों में दी जा सकती है।

भैषज्यरत्नावली[1] में भी एक सरल शिरोवस्ति की वातिक शिरोरोगों

र्यामं यामार्द्धमेव वा। शिरोवस्तिर्हरत्येष शिरोरोगं मरुद्भवम्। हनुमन्याक्षिकर्णार्तिमर्दितं मूर्धकम्पनम्। विना भोजनमेवैष शिरोवस्तिः प्रयुज्यते। पञ्चाहं वापि सप्ताहं षडहं चैवमाचरेत्। ततोपनीतस्नेहस्तु मोचयेद्वस्तिबन्धनम्। शिरोललाटवदनग्रीवांसादीन्विमर्दयेत्। सुखोष्णेनाम्भसा गात्रं प्रक्षाल्याश्नाति यद्धितम्।

(यो. र. शि. चि.)

१. आशिरो व्यायतं चर्म कृत्वाष्टांगुलमुच्छ्रितं।
तेनावेष्ट्य शिरोऽधस्तात् माषकल्केन लेपयेत्॥
निश्चलस्योपविष्टस्य तैलेरुष्णैः प्रपूरयेत्।
धारयेदारुजः शान्तेर्यामं यामार्द्धमेव वा॥
शिरोवस्तिर्जयत्येष शिरोरोगं मरुद्भवम्।
हनुमन्याक्षिकर्णार्तिमर्दितं मस्तककम्पनम्॥ (भै. र. शि. रो.)

में विधि वर्णित है। इसमें एक चर्म के पट्ट को सिर के चारों तरफ से वेष्टित कर आठ अंगुल ऊँचा रखने का विधान है फिर नीचे की ओर संधिस्थल को उड़द के पिष्ट से संहित करने की विधि है। रोगी को निश्चल खड़ा बैठाकर, तैल को उष्ण करके वस्ति को भर दिया जाता है जब तक पीड़ा शान्त न हो जाय रखे रहना होता है। प्रायः तीन घण्टे या डेढ़ घंटे में पीड़ा शान्त हो जाती है पश्चात् वस्ति को हटा देना चाहिए।

पैत्तिक शिरःशूल या शिरोरोग

'शिरःशूल के समय जिसका सिर गर्म जलते अङ्गार के समान उष्ण हो 'आँख तथा नाक में धुएं से भरे के समान दाह एवं जलन रहे, रात में शीत के कारण वेदना कम हो जाती हो उस शिरोभिताप को पित्तप्रकोप से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये।' गंदनिग्रह ने 'शिरोभिताप' की जगह 'शिरोभिघात' लिखा है। 'शीतेन' शब्द से इसके उपशय की सूचना मिलती है अर्थात् शीतप्रयोगों से वेदना का शमन होता है। सुश्रुत ने शीत के कारण रात्रि में विशेष होना बतलाया है; परन्तु यह समुचित नहीं मालूम होता क्योंकि पैत्तिक रोग की हेतु और सम्प्राप्ति शीत के बिल्कुल विपरीत है। अस्तु, शीत के विपरीत गुणों से ही पैत्तिक शिरःशूल का शमन होना चाहिये। चरकाचार्य ने लिखा है[2] कि "पैत्तिक शिरोरोग तीक्ष्ण, अम्ल और क्षारीय पदार्थों के सेवन से, अधिक मद्यपान, क्रोध, आतपनिषेवण (धूप में घूमना), अग्नि के पास अधिक देर तक रहना, प्रभृति कारणों से प्रकुपित हुआ पित्त मस्तिष्क का आश्रय लेकर पैत्तिक शिरोरोग को उत्पन्न करता है। ऐसी दशा में आँखों में

१. यस्योष्णमंगारचिते यथैव भवेच्छिरो धूप्यति चाक्षिनासाम् ।
शीतेन रात्रौ च भवेच्छमश्च शिरोभितापः स तु पित्तकोपात् (मा. नि.)

२. कट्वम्ललवणक्षारमद्यक्रोधातपानलैः ।
पित्तं शिरसि संदुष्टं शिरोरोगाय कल्पते ॥
दह्यते रुज्यते तेन शिरःशीतं सुषूयते ।
दह्यते चक्षुषी तृष्णा भ्रमः स्वेदश्च जायते ॥ (च. सू. १७)

जलन होना, प्यास लगना, चक्कर आना, अधिक स्वेद होना' स्वाभाविक है। अतएव इस विकारों में पित्तशामक शैत्य का प्रयोग लाभकारी होगा। शीतोपचार तथा शीतल रात्रि में पीड़ा का कम होना स्वाभाविक है। इसका समर्थन वाग्भट ने भी किया है।[1]

पैत्तिक शिरोरोग की समता अंग्रेजी के 'विलियस हेडेक' (Bilious Headache) नाम की शिरोवेदना से हो सकती है। यह रोग अधिकतर पचनसंस्थान की विकृति में देखने को मिलता है अतएव इसको 'कंस्टीट्यूशनलहेडेक' के वर्ग का समझना चाहिये। मन्दाग्नि अजीर्ण, अम्लपित्त, आमाशय शोथ, जीर्ण विबंध, यकृत की खराबी, आंत्रशोथ प्रभृति विकृतियाँ मूलभूत कारण होती हैं। उत्तेजकरूप में गीली भूमि पर रहना, अधिक परिश्रम, मद्य का अधिक सेवन, स्त्रियों में ऋतुस्राव प्रभृति आगन्तुक कारणों में रोग प्रकट हो जाता है। इसमें पीड़ा सिर और आँख में होती है, जी मचलाया करता है, कभी-कभी वमन भी हो जाता है। पीडा सवेरे अधिक होती है। भोजन करने पर पीडा में कुछ कमी हो जाती है, पेट में आध्मान रहता है। स्त्रियों में ऋतुस्राव के पहले या पीछे यह पीड़ा अधिक होती है। इस प्रकार की पीड़ा सिर के दाहिने भाग पर अधिक होती है। इस रोग की चिकित्सा में आमाशय, यकृत तथा आंत्र की विकृतियों को ठीक करते हुए, पित्तोद्रेचन की क्रिया को प्राकृत अवस्था में ले आना चाहिये। लाक्षणिक शान्ति के लिये शिरःशूल में हर योगों को देना चाहिये। यदि रोगी में विबंध हो तो विरेचन दे कर कोष्ठ-शुद्धि कर लेनी चाहिये।[2]

चिकित्सा—पैत्तिक शिरोरोग में घृतपान, क्षीरपान, शीतल परिषेक,

---

१. शिरोभितापे पित्तोत्थे शिरोघूमायनं ज्वरः ।
स्वेदोक्षिदहनं मूर्च्छा निशि शीतैश्च मार्दवम् ॥ (वाग्भट)

२. पित्तात्मकके शिरोरोगे स्निग्धं सम्यग्विरेचयेत्
मृद्वीकात्रिफलेक्षूणां रसैः क्षीरघृतैरपि । (यो. र.)

शीतल लेप, नस्य, जीवनीय घृत और पित्तघ्न अन्नपान का सेवन करना चाहिये।[1]

जीवनीय घृत—जीवनीय ओषधियों का कल्क डालकर दूध पकावे और दधि जमाकर मथकर मक्खन निकाले और उससे घी बनावे। इस एक सेर घी में एक छटाँक जीवनीय ओषधियों का कल्क और एक सेर जीवनीय ओषधियों में १६ सेर पानी डाल कर चार सेर रहने पर छान कर उसी घी में यह क्वाथ डाल कर घृत को सिद्ध किया जाय।

इस जीवनीय घृत को पीने, भोजन के साथ खाने, नस्य में लेने, सिर में लगाने और वस्तिद्वारा देने में उपयोग करे। इससे सम्पूर्ण रक्तज और पित्तज शिरोरोग नष्ट होते हैं।

अभ्यंग—हिमांशु तैल अथवा हिमसागर तैल का अभ्यंग। घी और क्षीर की शिरोवस्ति।

लेप—१. आमलक्यादि लेप।

२. नलादिलेप—नल, वेत, लाल कमल, लाल चन्दन, नील कमल, पद्माख, शंख, दूब, मुलैठी, नागरमोथा, और सफेद कमल इन सबको पीस कर घी में मिला कर लेप करना।

३. शतवर्यादिलेप—शतावरी, कुष्ठ, काली तिल, मधुयष्टि, नील कमल, दूब और पुनर्नवा सबको पीस कर सिर पर, लेप करना।

४. मृणालादि लेप—भसींडा (बिस) कमलकन्द, चन्दन, नील कमल या कुङ्कुम केसर का लेप।

५. शतधौत घृत का सिर पर अभ्यंग।

पानक—१. केसर या मिश्री डाल कर सिद्ध किया हुआ दूध या घृत पीने के लिये देना चाहिये।

२. पर्पट पानक—पित्पापड़ा ६ माशे, धनिया ६ माशे, बीज निकाले मुनक्के ६ माशे, मिश्री ४ तोले सबको आध पाव पानी के साथ पीसकर छान ले, उसमें १ तोला गुलाब का अर्क १ तोला मिश्री मिलाकर पीवे।

१. पैत्ते घृतं पयः सेकाः शीता लेपाः सनावनाः
जीवनीयानि सर्पींषि पानान्नं चापि पित्तनुत्। (च. चि. २६)

परिषेक—१. चन्दनादि परिषेक-श्वेत चन्दन, मधुयष्टि, बला, व्याघ्र-नखी (नख), खस और नील कमल सबको एकत्र दूध में पीस कर लेप करे अथवा कषाय बना कर सिर पर सिंचन करे।

नस्य या नावन—१. त्वक्-पत्र्यादि—दालचीनी, तेजपात और चीनी को चावल के धोवन के साथ पीस कर छान कर नस्य दे पश्चात् घी का नस्य दे।

२. मधुयष्टि, रक्त चन्दन, जवासा मूल, श्वेत दूर्वा समान भाग में ले कर गाय के दूध और घृत का पाक विधि से घृत बना कर अथवा मुलैठी, मुनक्का और मिश्री से सिद्ध घृत का नस्य दे।

रस के योग—स्वर्ण मालती वसंत, चंद्रकलारस, मुक्ताभस्म, यशद-भस्म, रौप्यमाक्षिक, सुवर्णमाक्षिक, दन्तीभस्म, प्रवालभस्म, शुक्तिभस्म या वराटभस्म का स्वतन्त्र या मिश्रित प्रयोग घृत और मिश्री के अनुपान से या गुलकंद से करना चाहिये।

कफज शिरोरोग

'जिस मनुष्य का सिर कफलिप्त, भारी, जकड़ा हुआ तथा स्पर्श में शीतल होता हो और जिसका मुख एवं आँखों का निचला भाग सूजा हुआ मालूम होता हो उसे श्लैष्मिक शिरोभिताप युक्त कहना चाहिये।'[१]

चरकाचार्य इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'कफ से उत्पन्न शिरोभिताप में पीड़ा हल्की होती है, सिर सुन्न सा पड़ जाता है और ऐसा ठंढा मालूम होता है मानो गीले कपड़े से लपेटा हुआ है। (स्तिमित) रोगी को आलस्य के साथ झपकी सी लगी रहती है एवं भोजन में अरुचि रहती है।'[२]

कहीं पाठ भेद होकर सिर और गले को भी कफोपदिग्ध होना

१. शिरो भवेद्यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमञ्च।
शूनाक्षिकूटं वदनञ्च यस्य शिरोभितापः स कफप्रकोपात्॥ (सु० ६।२५)

२. शिरो मंदरुजं तेन सुप्तस्तिमितभारिकम्।
भवत्युत्पद्यते तन्द्रा तथालस्यमरोचकम्॥ (च० सू० १७)

लिखा है। भावमिश्र ने 'शूनाक्षिकूटं' की जगह 'शूनाक्षिनासं' अर्थात् आँख और नाक का शोफयुक्त होना श्लैष्मिक शिरोरोग में बतलाया है। वाग्भट ने इस रोग की तीन विशेषतायें बतलाई हैं[1]। १. रात में बढ़ता, २. कान में खुजली होती और ३. वमन भी होता है। यहाँ भी उपशयात्मक निदान के रूप में स्वेदन का प्रयोग करना चाहिये, स्वेदन के उपयोग से पीड़ा का शमन होता है।

ऐसी पीड़ा की समता 'रीफ्लेक्स हेडेक' से हो सकती है जिसमें नासा की विकृति, प्रतिश्याय, दृष्टिशक्ति की कमी दन्तगतरोग, मध्यकर्णशोथ, आमाशय अथवा गर्भाशय में अवस्थित विकार के कारण संवेदनायें संवाहित होकर पहुँचती रहती हैं और सिर में मंदरुजा होती है।

चिकित्सा[2]—१. उपवास, २. रूक्ष, उष्ण और आग्नेय गुणवाले द्रव्यों से स्वेदन, ३. धूम, ४. नस्य, ५. प्रधमन। इन क्रियाओं से दोष बाहर निकल जाते हैं, स्रोतस शुद्ध हो जाते हैं। तदनन्तर ६. कफघ्नलेप, ७. शिरोविरेचन ८. वमन, ९. गण्डूष धारण, १० पुराण घृत का पान, ११. तथा कफघ्न अन्नपान की व्यवस्था करे १२. यदि वायु का संसर्ग हो तो दाह कर्म करे अन्यथा अन्य शेष सभी में रक्तमोक्षण करे।

लेप—सरलादि लेप–सरल धूप, कूठ, लताकरञ्ज, देवदारु, रोहिषतृण और अपामार्ग को जल में पीस कर कुछ नमक मिलाकर लेप करे।

तगरादिलेप—तगर, निर्गुण्डीबीज, शिलारस, नागरमोथा, इलायची, अगुरु, देवदारु, जटामांसी, रास्ना और एरण्डमूल इन सबको पानी में पीस कर गर्म करके लेप करे।

---

१. अरुचिः कफजो मूर्ध्नो गुरुस्तिमितशीतता।
सिरानिष्पंदताऽऽलस्यं रुङ् मन्दा ह्यधिका निशि
तन्द्रा शूनाक्षिकूटत्वं कर्णः कण्डूयते वमिः॥ (वा०)

२. कफजे स्वेदितं धूमनस्यप्रधमनादिभिः।
शुद्धं प्रलेपपानान्नैः कफघ्नैः समुपाचरेत्।
पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्वस्तिभिरेव च।
कफानिलोत्थे दाहः स्यात् शेषयो रक्तमोक्षणम्। (च० चि० २६)

पथ्यादि लेप—बड़ी हर्रे की छाल, सोंठ, नागरमोथा, मुलैठी, सौंफ, नीलकमल सबको जल में पीस कर लेप करे।

देवदार्वादि लेप—देवदारु, तगर, कूठ, जटामांसी और सोंठ को कांजी में पीसकर उसको तेल मिलाकर गर्म कर लेप करे।

शुंठ्यादिलेप—सोंठ, कूठ, चक्रमर्दबीज, देवदारु समभाग लेकर माहिषमूत्र में पीस कर लेप करे।

कृष्णादिलेप—पिप्पली, शुंठी, मुस्तक, मधुयष्टि, शतपुष्पा, नीलकमल और कूठ सबको लेकर जल में पीसकर किंचिदुष्ण लेप करना।

एरण्डादिधूम्र—एरण्डमूल, जटामांसी, क्षौम, सन के बीज, गुग्गुलु, अगुरु, लालचन्दन इनको पीस कर यथाविधि धूमवर्ति बनाकर धूम्रपान करावे।

इङ्गुदी—इङ्गुदीफल का गूदा और मेढाश्रृङ्गी पीस कर धूम्रवर्ति बनाकर धूम्रपान कराना चाहिये।

नस्यकर्म—कट्फलचूर्ण[1]—कायफर का कपड़छान चूर्ण बनाकर नासा से प्रयोग करने से शिरःशूल तत्काल शान्त हो जाता है।

अर्कादि नस्य—चावल को मंदार के दूध में भिगा के जब सूख जावे तो फिर उसी प्रकार भिगा दें। इसी तरह तीन बार करे पीस कर शीशी में रख ले। आवश्यकता पड़ने पर नस्य दे। इस प्रधमन के द्वारा कर्णशूल, कफज शिरःशूल और मूर्च्छा दूर हो जाती है। केवल अर्कक्षीर का नस्य भी तीव्र शिरोरेचन होता है और शिरःशूल शामक होता है। इससे छींकें बहुत आती हैं।

हयारिनस्य—कनेर का फूल, नकछिकनी, कायफर, जावित्री, बचा, त्रिकटु सबको महीन पीसकर कपड़छान कर चूर्ण बनाकर रख ले। आवश्यकता पड़ने पर मूर्च्छा, संन्यास तथा श्लेष्मज शिरोरोग में व्यवहार करे।

---

१. शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति। (मा. नि.)
वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद्दाहो मदस्तृषा।
कफाद् गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे। (च० सू० १७)

गण्डूष—राई, अकरकरा, दौनामरुआ, सआतर सबको कांजी में पीस थोड़ा शहद मिला कुल्ला करे। इसके बाद सोये के बीज और नाखूना औटाकर पानी से सिर धोवे।

त्रिदोषज शिरोरोग

'सन्निपातज शिरोरोग में सभी दोषों के लक्षण होते हैं। तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं जैसे वायु के कारण शूल, भ्रम तथा कम्प। पित्त के कारण दाह, मद और तृषाधिक्य एवं कफ के कारण भारीपन और तन्द्रा होती है।' यों तो जैसे पहले कहा जा चुका है सभी शिरोरोग त्रिदोषज होते हैं किन्तु दोषों के तरतम भाव का विचार करके उनमें दोषाधिक्य कल्पना की जा सकती है। परन्तु जहाँ पर तीनों दोष की विकृति का प्रश्न है वहाँ पर तरतम भाव से करने का प्रश्न ही नहीं उठता वहाँ पर विकृति, विषम समवेत होती है। सम्मिलित रूप से उनकी विषमता है। यह विकृति विषमसमवेत कारण भेद से समझना चाहिये। विरुद्ध लक्षणों के स्वरूप में नहीं। यह कारणभेद उत्कट सर्वदोषजन्य ही समझना चाहिये। कारणभेद से जो तीनों दोषों में विकृति होती है, उसके कारण वात प्रकोप से सिर में पीडा, चक्कर और कम्प होता है, पित्त के प्रकोप से दाह, मद और तृषा होती है तथा कफ के कोप से सिर में भी भारीपन एवं तन्द्रा होती है। इस प्रकार तीनों दोष के लक्षण प्रकट होते हैं।

चिकित्सा—सन्निपातसमुत्थ शिरोरोग में १. घृत, २, तैल, ३. वस्ति ४. धूम ५. नस्य ६. शिरोविरेचन ७. लेप, ८. स्वेदादिका विधान करना चाहिये ९. विशेषतः पुराण घृत का पान प्रशस्त माना गया है। इस प्रकार सन्निपात समुत्थ व्याधि में सन्निपातघ्न क्रिया करनी चाहिये।[2]

१. सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया। (च० चि० २६)
सन्निपातसमुत्थेऽत्र घृतं तैलञ्च वस्तयः। धूमनस्यशिरोरेकलेपस्वेदाद्यमाचरेत्।
पुराणसर्पिषः पानं विशेषेण दिशन्ति हि। (यो. र.)
२. सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया। (च. चि. २६)

१. प्रधमन तथा नस्य—स्मरादि प्रधमन—मदनफल, काली तिल, शिग्रुवीज, जटामांसी, कुशमूल, तेजपात, दन्तीमूल, प्रत्येक का एक एक तोला ले कर कूट कर कपड़छान कर उसमें आधा तोला शुद्ध तूतिया मिला कर घोंट कर शीशी में रख लें। इसके नस्य से त्रिदोषज शिरोरोग मिटता है।

२. दूध में सोंठ पका कर अवपीडन नस्य लेना।

३. करञ्ज, शिग्रुवीज, तेजपत्र, मिश्री और बच को पीसकर नस्य लेना।

४. त्रिकटु, पुष्कर मूल, हल्दी, रास्ना, देवदारु और असगन्ध का काढ़ा बना कर नासिका द्वारा लेने से त्रिदोषज शिरःशूल में लाभ होता है।

घृत—त्रिफलाघृत—त्रिफलाचूर्ण से सिद्ध किया हुआ घृत का पान।

तैल—१. जीवकाद्य तथा बृहज्जीवकाद्य तैल का अभ्यङ्ग नस्य और बस्ति के द्वारा प्रयोग करना। २. शताह्वादि तैल—शतावरी, एरण्ड, मूल, घोडवच, तगर, भटकटैयावीज इन सबके काढ़े में तैल सिद्ध कर नस्य लेना।

लेप—१. सफेद चन्दन, कपूर, केसर, पुराने चावल, गुलाबजल में पीस कर थोड़ा सिरका मिला कर सिर पर लेप करना। २. प्रियंगु, अनन्तमूल, काली निशोथ, सोंठ और सफेद चन्दन घिस कर सिर पर लेप करना। ३. कूठ, सोंठ, मुलैठी, सौंफ, नील कमल, पिप्पली सब को पीस कर गर्म करके लेप करना।

इस प्रकार के शिरःशूल को सार्वदैहिक विकृतिजन्य (Constitutional causes) विकार में ले सकते हैं। इसमें मूलभूत विकृति मर्माङ्गों में विशेषतः वृक्क एवं हृदय में होती है और विषमयता के कारण तीव्र शिरःशूल होता है। इसके अतिरिक्त विषसञ्चार, अम्लमयता, क्षारमयता, विषमज्वर आन्त्रिकज्वर प्रभृति तीव्र ज्वर, रक्तभाराधिक्य और मदात्यय प्रभृति रोगों में ऐसा देखने को मिलता है। मस्तिष्कावरण और (Meningitis) में भी त्रिदोषज शिरःशूल होता है।

सन्निपातसमुत्थेऽत्र घृतं तैलं च वस्तयः।
धूमस्तस्य शिरोरेकलेपस्वेदाद्यमाचरेत्।
पुराणसर्पिषः पानं विशेषेण दिशन्ति हि। (यो. र.)

रक्तज शिरोरोग

'रक्तोल्वण शिरोभिताप में सभी लक्षण पैत्तिक शिरोरोग के ही होते हैं विशेषता केवल यह होती है कि रक्तज शिरोरोग में सिर को छूने में अधिक दर्द होता है—इस लिये स्पर्श सह्य नहीं होता ।"[1] इस रोगविशेष का वर्णन इतना सूत्र रूप में है कि पाश्चात्य वैद्यक के किसी विशेष रोग से समता दिखलाना कठिन है। फिर भी दो विशेष लक्षण इसके बड़े महत्त्व के हैं—१. चेहरे का रक्ताभ (लाल) और २. शिरःस्थान का पीडनाक्षम हो जाना। ऐसी दशा में शिर की स्थानिक विकृतियों के कारण हो सकती है जैसे १. पुरःकपाल तथा ऊर्ध्व हन्वस्थि के वायुविवर में शोथ (Sinusitis), २. अभिघात (Injury to the bones) जिससे अस्थि में शोथ हो, रक्ताधिक्य से उस अङ्ग का वर्ण लाल और शिरःशूलयुक्त हो जाता है। अस्थिविवर शोथ की तीव्र अवस्थाओं में तीव्र शिरःशूल, दाह, स्थान मृदु और स्पर्शासह्य बना रहता है।

कई एक (Constitutional) सार्वदैहिक विकृतियों में रक्तज शिरोरोग की अवस्था प्राप्त हो सकती है जैसे तीव्रमदात्यय, मधुमेह, शोणितकायाणुमयता, रक्तभाराधिक्य तथा तीव्र विषवेग में। बहिर्ग्रीवाधमनी (Ext Carotid artery) की शाखा में विकृति और रक्ताधिक्य होने के कारण शिरःशूल और चेहरे की लालिमा (Flush) इस रोग में भी पाई जाती है।

चिकित्सा—रक्तज शिरोरोग में चिकित्सा का पूरा उपक्रम पित्तज की भाँति रखना चाहिये। विशेषतः शिरः कपालगत रक्ताधिक्य या रक्तभाराधिक्य को कम करने के लिये रक्तमोक्षण—प्रच्छान, शिरावेध, या जलौका के द्वारा, कराना चाहिये। यह सर्वोत्तम उपाय माना गया है।

१. रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च। (सु. ६।३५)
रक्तजे पित्तवत्सर्वं भोजनालेपसेवनम्।
शीतोष्णयोश्च विन्यासो विशेषाद्रक्तमोक्षणम्।

लेप—१. शतधौत घृत का प्रयोग । २. आमलकी, खस, सुगन्धबाला, कमल का फूल, धव का फूल और मुनक्के को गुलाब जल में पीस कर सिर पर लगा दे । ३. बलामूल, श्वेत चन्दन, खस, मधुयष्टि, नख, नील कमल तथा दूब को पीस कर लेप करे । ४. पीपल, सुगन्धबाला, सोंठ, मुलैठी, शतावर, कमलगट्टा और खस को पीस कर लेप करे ।

नस्य तथा नावन—१. चीनी, मुनक्का, मुलैठी—पानी में पीस कर रस निकाल कर नाक में बूँदें डाले । २. षड्बिन्दु तैल का अवपीडन । ३. यष्ट्यादिनस्य—मुलैठी, सफेद चन्दन, यवासामूल, खस—प्रभृति शीतल द्रव्यों का पाकविधि से सिद्ध घृत का नावन रक्तज शिरोरोग का शामक होता है ।

पेय—१. पर्पटफाण्ट—पित्तपापड़ा, धनिया, मुनक्का प्रत्येक आधा आधा तोला ले कर खौलते हुए आधे सेर पानी में डालें । चाय जैसे उसको थोड़ी देर में उतार कर छान लें । और थोड़ी देर में मिश्री मिला कर रख लें और सेवन करे । २. इसी प्रकार बांस के बीज के भी फाण्ट (चाय) शहद में मिलाकर लिया जाता है, इसमें बांस के बीज की मात्रा सवा तोला और मधु डेढ़ तोला होनी चाहिये ।

४

क्षयज शिरोरोग

'सिर में स्थित वसा, श्लेष्मा और वायु के क्षीण हो जाने से क्षयज शिरोरुजा होती है । यह शिरोरुजा कष्टसाध्य एवं अत्यन्त उग्र पीड़ा वाली होती तथा स्वेदन, वमन, धूम्रपान, नस्यप्रदान एवं रक्तमोक्षण से बढ़ जाती है ।'[१]

---

१. असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानां शिरोगतानामिह संक्षयेण ।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ।
संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैरसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति । (मु० ६।२५)

वसा और रक्त सम्पूर्ण देह में स्थित होते हैं, फलतः सिर में भी उनका अवस्थान रहता है। श्लेष्मा का स्थान तो सिर है ही, एवं ऊर्ध्व-गति होने से उदानवायु का भी अवस्थान हो जाता है। इस प्रकार इन धातुओं के क्षय से सिर में उग्र पीड़ा का होना स्वाभाविक है। उग्र पीड़ा के सम्बन्ध में मधुकोषकार को शंका होती है कि उग्र पीड़ा तो वायु की वृद्धिसे होती है न कि क्षय से। परन्तु क्षयज शिरोरोग में वायु का भी क्षय होना लिखा है तो पीड़ा की उग्रता का होना कैसे संभव है। उसका समाधान उन्होंने 'व्याधिस्वभाव' शब्द से किया है कि यह व्याधि का स्वभाव है कि उसमें उग्र पीड़ा होवे। अस्तु, होती है। क्योंकि 'वात, पित्त और कफ के क्षीण होने पर उनके प्राकृत कर्म की हानि होती है।'[1] फलतः यहाँ विना 'व्याधिस्वभाव' की कल्पना किये उग्र पीड़ा नहीं हो सकती। दूसरा समाधान पाठभेद के द्वारा किया गया है। गयी आदि आचार्यों ने इस पाठ को स्वीकार न कर 'वसाबलासक्षय-संभवानां' (वसाबलासक्षतसंभवानाम्) यह पाठ स्वीकार किया है, जो वस्तुतः युक्तियुक्त भी है। क्योंकि उपर्युक्त पाठ 'असृग्वसाश्लेष्म-समीरणानां' के अनुसार वात धातु के क्षय होने पर कफ की वृद्धि होगी और कफज शिरोरोग होगा क्योंकि 'दोषों के क्षीण होने पर प्राकृतकर्मों की हानि और विरोधी कर्मों की वृद्धि होती है।' इस प्रकार कफ के वृद्ध होने पर क्षयज शिरोरोग की चिकित्सा में जो यह कथन है 'पीने में, नस्य देने में, मधुर पदार्थों से श्रृत वातघ्न सर्पिः का प्रयोग करना चाहिये।'[2] वह संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि क्षीण वायु में शमन की चिकित्सा नहीं की जाती वहाँ तो 'क्षीणा वर्धयितव्याः' इस चरक वाक्य से वर्धन विधि कही गयी है। अतः यह सिद्ध होता है कि 'असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानां' समीरण (वायु) का पाठ संगत नहीं है। यहाँ पर वसा का ग्रहण शारीरिक स्नेह का उपलक्षण है। इससे मेद,

१. वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणा प्राकृताद्धानिः वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्। (च० सू० १८)

२. पाने नस्ये च सर्पिः स्याद् वातघ्नमधुरैः श्रृतम्।

मज्जा, शुक्र और मस्तिष्क का ग्रहण हो सकता है यह आचार्य गदाधर को मन्तव्य है ।

शिरोभिताप से शिरोरुजा का अर्थ ग्रहण होता है। संस्वेदन, छर्दन, धूमपान तथा नस्य से कफ की क्षीणता; नागरादि तीक्ष्ण धूम्रों के प्रयोग से मस्तिष्क धातु की क्षीणता; एवं शिरामोक्षण से रक्त की क्षीणता होती है। अतएव इन स्वेदनादिक क्रियाओं से क्षयज शिरोरोग की वृद्धि होती है। इस रोग का पाठ विदेह में इस प्रकार है 'सिर में भ्रमण, तोद और शून्यता; नेत्रों में विभ्रान्तता; मूर्च्छा और गात्रावसाद ये लक्षण क्षयात्मक शिरोरोग में होते हैं।'[1] आचार्य चक्षुष्य ने भी कहा है 'स्त्री गमन, अभिघात अथवा अत्यधिक शारीरिक कर्म से शीघ्र ही क्षयात्मक और कष्टसाध्य शिरोरोग होता है। इसमें वायु और पित्त के सम्मिलित लक्षण जानने चाहिये।'[2]

श्रीकंठ ने एकीय मत के अनुसार 'वसावलासक्षयसंभवानाम्' ऐसा पाठान्तर बतलाया है; परन्तु वस्तुतः 'वसावलासक्षतसंभवानां' यह पाठान्तर अधिक ठीक है। इसमें वसा, कफ तथा रक्त का संक्षय होना स्पष्ट कथित होता है, जिससे क्षयज शिरःशूल होगा। संभव है मुद्रण की गलतियों की वजह से 'क्षतसंभवानां' की जगह 'क्षयसंभवानां' पाठ हो गया हो क्योंकि श्रीकंठ ने निश्चित रूप से 'क्षत' रक्त को ही माना होगा क्योंकि अनुपशय बतलाते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है 'सिरामोक्षणादिभिरसृग्क्षयः' (सिरामोक्षण आदि के द्वारा भी रक्त का ही नाश होता है।) अतः प्रतीत होता है कि उन्होंने रक्त या क्षत को स्वीकार किया हो। सुश्रुत में भी डल्हण ने 'वसाबलासक्षतसंभवानां' यही पाठ सम्मत माना है।

---

१. भ्रमति तुद्यते शून्यं शिरो विभ्रान्तनेत्रता।
मूर्च्छा गात्रावसादश्च शिरोरोगे क्षयात्मके।

२. स्त्रीप्रसंगादभिघातादथ्वा देहकर्मणा।
क्षिप्रं संजायते कृच्छ्रः शिरोरोगः क्षयात्मकः।
वातपित्तात्मकं लिङ्गं व्यामिश्रं तत्र लक्षयेत्। (मधुकोष)

उपर्युक्त लक्षणों तथा उनके कारणों के ऊपर विचार करने से आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के ग्रंथों के आधार पर शिरःशूल के शारीरिक या सार्वदैहिक (Constitutional) वर्गीकरण के भीतर इस क्षयज शिरोरोग का समावेश कर सकते हैं। अधिक दिनों तक चलने वाले रोगों में शरीर के मेद और श्लेष्म-पोषक धातुओं का नाश अथवा रक्तनाश बहुत अधिक हो जाया करता है, अस्थिशोष, मधुमेह, जीर्ण विषमज्वर, अंकुशमुख कृमिरोग, पाण्डु, तथा दुष्ट पाण्डु। इन रोगों में शरीर में रक्त की कमी होने के कारण मस्तिष्क में भी रक्त की कमी (Cerebral anaemia) हो जाया करती है जिसकी वजह से शिरःशूल बना रहता है। जब तक प्रधान विकृति अथवा दूसरे शब्दों में रक्त, मेद एवं श्लेष्मा का पूरण नहीं हो जाता रोग चलता रहता है, अतएव रोग को कृच्छ्रसाध्य बतलाया गया है।

चिकित्सा—क्षयज शिरोरोग में चिकित्सा का क्रम ऐसा रखना चाहिये जिससे दोष और धातुओं का क्षय दूर होवे। इसके लिये अधिकतर १. बृंहण, २. घृतपान या स्नेहपान, ३. वातघ्न और मधुर द्रव्यों से सिद्ध नस्य प्रयोग, ४. क्षीरपिष्ट वातघ्न ओषधियों का अवपीडत, ५. गुड़ और घृत का प्रयोग। भोजन में घी और गुड़ या चीनी से बने भोजन-हलुवा, गुलगुले, मालपूवा, घेवर और जलेबी आदि बनाकर देना चाहिये। ६. क्षीर पिष्ट तिल और जीवनीयगण की ओषधियों का स्वेदन करावे। रसौषधियों में आलभस्म, महालक्ष्मी विलास, अभ्रभस्म, कांचनाभ्र, मुक्तापिष्टि, वसन्तमालती, प्रवालभस्म प्रभृति योगों का घृत या च्यवनप्राश के साथ सहपान देकर, दूध का अनुपान कराने से लाभ होता है[1]। अन्य भी शोषघ्न उपचारों की व्यवस्था इस रोग की चिकित्सा में करनी चाहिये।

१. क्षयजे क्षयनाशाय कर्त्तव्यो बृंहणो विधिः।
पाने नस्ये च सर्पिः स्याद् वातघ्नैर्मधुरैः शृतम्॥
योजयेत्सगुडं सर्पिः घृतपूरांश्च भक्षयेत्।

कृमिज शिरोरोग

व्याख्या—'जिस मनुष्य के सिर में अत्यन्त तोद (सुई चुभाने जैसी पीडा) हो और कपालास्थियों के अन्दर स्फुरण सा प्रतीत होता हो या ऐसा माल्रूम होता हो मानो वहां की श्लेष्मलकला खाई जा रही है एवं जिसकी नासिका से पूयमिश्रित जल बहता है उसको कृमिज शिरोरोग कहते है। यह रोग दारुण होता है।'[1]

'कृमिजन्य शिरोरोग में जो दर्द होता है वह ऐसा माल्रूम होता है मानो कोई खोपड़ी के भीतर बींधे डाल रहा हो (व्यध), इस दर्द की वजह से ऐसा माल्रूम पड़ता है मानो खोपड़ी फट रही है उसको कोई काट कर दो टुकड़े कर रहा हो (छेद) इस प्रकार की पीड़ा, खुजली, सूजन एवं दुर्गन्ध नाक से होती है। जहां शोथ है, सड़न है और जहां कृमियों की उत्पत्ति हो गई है वहां दुर्गन्धि का होना स्वाभाविक और क्रम प्राप्त है। इन लक्षणों के साथ ही कृमियों का दिखलाई पड़ना भी कृमिज शिरोरोग के निदान का समर्थक होता है।'[2]

हेतु और सम्प्राप्ति[3]—पथ्यापथ्यमिश्रित भोजन करने से अथवा संकीर्ण आहार से सिर में क्लेद भाव की वृद्धि होती है। वह क्लेदभाव शिरस्थ

नावनं क्षीरसर्पिर्भ्यां पानञ्च क्षीरसर्पिषोः ।
क्षीरपिष्टैस्तिलैः स्वेदो जीवनीयैश्च शस्यते ॥

१. निस्तुद्यते यस्य शिरोतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः ।
घ्राणाच्च गच्छेत्सलिलं सपूयं शिरोभितापः कृमिभिः स घोरः। (सु. ६।२५)

२. व्यधच्छेदरुजाकण्डूःशोफदौर्गन्ध्यदुःखितम् ।
कृमिरोगातुरं विद्यात् कृमीणां लक्षणेन च । च. सू. १७.

३. सङ्कीर्णैर्भोजनैर्मूर्ध्नि क्लेदिते रुधिरामिषे ।
कोपिते सन्निपाते च जायन्ते मूर्ध्नि जन्तवः ।
शिरसस्ते पिबन्तोऽस्रं घोराः कुर्वन्ति वेदनाः। चित्तविभ्रंशजननौ ज्वरकासौ बलक्षयः।
रौक्ष्यशोफव्यधच्छेददाहस्फुटनपूतिताः। कपाले तालुशिरसोः कण्डुशोषप्रलीमकः।
ताम्राच्छसिङ्घाणकता कर्णनादश्च जन्तुजे। (वाग्भट)

रक्त और मांस में प्रकट होता है। इस प्रकार के क्लेदभाव होने से शिरस्थ तीनों दोषों का प्रकोप हो कर त्रिदोषज या सान्निपातिक अवस्था उत्पन्न होती है उसके परिणाम स्वरूप कृमियों की उत्पत्ति होती है वे कृमि सिर के रक्त को पीना आरम्भ कर देते हैं जिससे घोर वेदना होती है। इस वेदना के कारण रोगी का चित्तविभ्रंश हो जाता है, रोगी को ज्वर और कास होने लगता है, फलतः बलक्षय हो कर अशक्तता बढ़ती है कृमि रक्त और क्लेद को खाते रहते हैं जिससे सिर में रूक्षता आ जाती है, और शोथ भी हो जाता है। शोथ में चुभन काटने की सी पीडा तथा स्फुरण और दाह होता है। कपाल, तालु और सिर में खुजली मालूम होती है, नाक से गिरने वाले रक्त से दुर्गन्ध आती है। खोपड़ी, तालु और नाक सूखी रहती है, रोगी आँखें बन्द करने का प्रयत्न करता है-नासा से जो स्राव होता है वह (ताम्राच्छ) पतला और ललाई लिये रहता है तथा कान में नाद-आवाज होती रहती है। चरक ने पथ्यापथ्य मिश्रित संकीर्ण आहार की सूची दी है, जिनके कारण कृमिज या जन्तुज शिरोरोग होता है। ये आहार शरीर के श्लेष्मा और क्लेद के उत्पादक हैं, फलतः सामान्यतया उदर के कृमिरोगों को पैदा करते हैं। वही शिरोगत कृमियों के भी उत्पादक होते हैं-जैसे तिल, गुड, दधि आदिका अधिक सेवन, अध्यशन, दुर्गन्ध युक्त सड़े गले पदार्थ का सेवन, संकीर्ण अर्थात् रस, वीर्यादि विरुद्ध बहुत से द्रव्यों को एकत्र मिला कर विरुद्धाहार करना, (undercooked or uncooked diet), इन भोजनों के द्वारा दोषल पुरुषों में रक्त, कफ तथा मांस में क्लेद उत्पन्न हो जाता है। यह क्लेद अर्थात् चिपचिपापन उस स्थान में सडान्ध पैदा करने का परिचय देता है-उस सडान्ध के कारण प्रज्ञापराध आदि करने वाले (पापकर्मा) पुरुष के सिर में कृमियाँ पैदा हो जाती हैं· जिनसे बीभत्स लक्षण पैदा होते हैं।[1]

१. तिलक्षीरगुडाजीर्णपूतिसङ्कीर्णभोजनात्।
क्लेदोऽसृक्कफमांसानां दोषलस्योपजायते।

पाश्चात्य वैद्यक की दृष्टि से विचार किया जाय तो कृमिज शिरोरोग को दो दृष्टि से विचार कर सकते हैं—१. प्रथम जिनमें कृमि आँख से न दिखाई पड़े २. दूसरा जिनमें कृमि दिखलाई पड़ते हैं। जहां तक प्रथम का सम्बन्ध है-उस अवस्था में प्रायः प्रत्येक प्रकार के उदरस्थ कृमियों में (गण्डूपद,अङ्कुशमुख, स्फीतकृमि) यदि उनकी संख्या अधिक हो तो परावर्तित शिरःशूल (Reflex Headache) हो सकता है। परन्तु यह पीडा इतनी उग्र जैसे व्यधन, छेदन, सम्भक्षण सदृश नहीं होती न इनमें नासा से पूय युक्त, रक्तयुक्त स्राव ही सम्भव है। एक अवस्था और भी होती है जिस समय में कृमियाँ (Taenia Solium, Taenia Echinococus, cysti cercus or hydatid) रक्त परिभ्रमण के साथ भ्रमण करते हुए मस्तिष्क में पहुंच जाती हैं भयङ्कर रूप का शिरःशूल पैदा करती हैं। इनके कारण रक्तवाहिनी का अवरोध हो कर रक्ताल्पता (Ischemia) पैदा हो जाती है जिस से शिरःशूल होने लगता है, जिस सीमा के भीतर रक्ताल्पत्व होता है उस स्थान विशेष पर पीडा अधिक होती है।

जहां पर दृष्ट कृमियों का प्रसङ्ग हो अर्थात शिरःशूल हो और नासा से कृमियाँ भी गिरती दिखाई पड़ें वहां पर औपद्रविक रूप मानना चाहिये। वहां पर औपद्रविक उपसर्ग पहुंच पर पुरानी वायुकोटरशोथ या वायु विवरशोथ 'साइनिसाइटिस' की स्थिति है, ऐसा समझना चाहिये। इस अवस्था विशेष को अंग्रेजी 'सेकेण्डरी इन्फेक्शन इन साइनासाइटिस' कहते हैं। ऐसी अवस्था फिरंगज उपसर्ग, शोधनाभाव के कारण अथवा 'मैगेट्स' (Magates) के कारण हो सकती है।

कृमिज शिरःशूल होने की एक और भी सम्प्राप्ति है। कृमियों के आंत्र में वास होने के कारण उनका जीवन-यापक आंत्रगत रक्त से होता है-जिसके परिणामस्वरूप औपद्रविक पाण्डु (Secondary Anaemia) हो जाती है। इस रक्त की कमी का प्रभाव मस्तिष्कगत रक्तसंचार में भी होता है—मस्तिष्कगत रक्ताल्पता होने से शिरःशूल होने लगता है। इस प्रकार में यह शिरःशूल कृमिजन्य होता है अस्तु कृमिज

शिरोरोग विशेष का वर्णन सार्थक है। इस रोग की समता रक्तज प्रतिश्याय से मानी गई है-क्योंकि दृष्ट कृमियों का पतन उनमें भी होता है।

चिकित्सा—कृमिज शिरोरोग में शिरोगत कृमियों को नासामार्ग से निकालने का प्रयत्न करना चाहिये साथ ही कृमिघ्न भोजन-पान आदि की भी व्यवस्था करनी चाहिये। आचार्य सुश्रुत ने लिखा है-१. शोणित नस्य-यदि कृमियों के द्वारा सिर खाया जाता सा अनुभव हो तो तत्काल रक्त का नस्य देना चाहिये। इससे कृमियाँ मूर्च्छित हो जाती हैं और मतवाली हो कर इतस्ततः दौड़ने लगती हैं पश्चात् उनका २. कूर्चक (Brush) के द्वारा निर्हरण करना चाहिये ३. अथवा ऊर्ध्वविरेचन विडङ्ग, अपामार्ग, शिग्रु प्रभृति द्रव्यों के द्वारा चूर्ण का अवपीडन करना चाहिये ४. अन्य कृमिघ्न अवपीडन को गोमूत्र या बकरी के मूत्र में पीस कर त्रिकटु, शिग्रु, तुलसी, नीली प्रभृति ओषधियों के योग से नस्य देना चाहिये। ५. विडङ्गादि तैल-वायविडङ्ग, सर्जिका क्षार, दन्ती, हींग को गोमूत्र में डाल कर तिल तैल में पाक कर के नस्य देना चाहिये। ६. पूतिमत्स्ययुक्त धूम-सड़ीमछली का धूम भी देना चाहिये।[1] ७. रक्तज प्रतिश्याय के प्रकरण में वर्णित क्रियाओं का भी विधान करना चाहिये।

ततः शिरसि संक्लेदात् कृमयः पापकर्मणः ।
जयनन्ति शिरोरोगं जाता बीभत्सलक्षणम् । (च. सू. १७)

१. कृमिभिर्भक्ष्यमाणस्य वक्ष्यते शिरसः क्रिया ।
नस्ये हि शोणितं दद्यात्तेन मूर्च्छन्ति जन्तवः ॥
मत्ताः शोणितगन्धेन समायान्ति यतस्ततः ।
तेषां निर्हरणं कार्यं ततो मूर्धविरेचनैः ॥
कृमिघ्नैरवपीडैश्च मूत्रपिष्टैरुपाचरेत् ।
पूतिमत्स्ययुतान् धूमान् कृमिघ्नांश्च प्रयोजयेत् ॥
भोजनानि कृमिघ्नानि पानानि विविधानि च । (सु.)

शीर्षक रोग

डल्हणाचार्य ने अपनी सुश्रुत की टीका में संग्रह करते हुए कई श्लोकों में शीर्षक नामक एक रोग का वर्णन किया है। इस रोग का किसी अन्य तंत्र में वर्णन उनको मिला था; अस्तु निबन्धकार ने उसको आर्ष पाठ न मान कर अङ्गीकृत नहीं किया है। इसकी समता सूर्यावर्त्त या सूर्यावर्त्तविपर्यय नामक व्याधि से है, जिसका विस्तृत उल्लेख आगे के वर्णनों में मिलेगा। साध्यासाध्यता की दृष्टि से विचार किया जाय तो इस रोग की समानता शङ्खक नामक शिरोरोग से होगी। मूल संहिता अथवा संग्रह ग्रंथों में इसका स्वतन्त्र उल्लेख नहीं पाया जाता, इस लिये इसके विशेष वर्णन की प्रस्तुत निबंध में आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

सूर्यावर्त्त या सूर्यापवर्त्त या भास्करावर्त्त

व्याख्या—"ऐसा शिरः शूल जो सूर्योदय के साथ मंद मंद प्रारंभ होवे, सूर्य की गति के साथ धीरे धीरे बढ़ता जावे, नेत्र और भ्रू में विशेष वेदनायुक्त हो, मध्याह्न में सूर्य के प्रखर होने पर तीव्रतम हो जावे और दोपहर के बाद सूर्य की मंद प्रकाशता के साथ ही साथ घटता जावे और सूर्य के अस्त होने पर पूर्णतया बंद हो जावे-इस पीड़ा रूप विकार को सूर्यावर्त्त कहते हैं। यह एक अत्यधिक कष्ट-प्रदत्रिदोषज रोग है। इस रोग की दूसरी संज्ञा सूर्यापवर्त्त या भास्करा-वर्त्त भी है।"

---

१. आलुञ्च्यते कम्पति चापि मूर्धा सर्पन्ति मध्ये च पिपीलिका वा।
स्कंधः शिरश्चाप्यवघूर्णते च मूर्च्छा प्रलापश्च तथैव निद्रा।
संज्ञाप्रणाशं जनयेद्विनिद्रां प्रातस्ततः पश्यति चातिचित्रम्।
गृह्णाति मन्ये हृदयञ्च रूपैः सर्वैरमीभिः समभिद्रुतस्तु।
तिस्रो हि रात्रिर्न स जातु जीवेत्तं शीर्षकं संप्रवदन्ति रोगम्। (डल्हण)

"इसमें कभी शीतोपचार से मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है और उष्णता से सुख का अनुभव करता है ।"[१]

सूर्यावर्त्त की व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'सूर्यमिव आवर्त्तो भ्रमणं यस्य स विकारः सूर्यावर्त्तः ।' सूर्य की तरह आवर्त्त, भ्रमण या चक्कर इस रोग में पाया जाता है इस लिये इसे सूर्यावर्त्त कहते हैं । इस प्रकार का आवर्त्तन होना व्याधि का अपना स्वभाव है, यह विचार श्रीकण्ठ आदिकों का है; किन्तु इसका ऐसा होना सकारण है । वह यह है कि रात्रि स्वभावतः शीतप्रधान और तमःप्रधान होती है । अतः कफ के जमजाने से मार्ग रुक जाता है एवं अवरोध के कारण वायु का कोप होता है, पीड़ा प्रातःकाल शुरू हो जाती है जो कि क्रमशः मध्याह्न तक बढ़ती चली जाती है । जब मध्याह्न में सूर्य का ताप प्रखर होता है, तो वह मार्गावरोधक कफ पिघल जाता है जिससे वायु का मार्गावरण दूर हो जाता है । वायु का अपने स्थान में अवस्थान होने लगता है, शिरःपीड़ा शान्त होने लगती है । सायंकाल तक सम्पूर्ण कफ पिघल जाने पर मार्ग साफ हो जाने से वायु स्वस्थान पर पूर्ण रूप में स्थित हो जाती है और पूरी तौर से शिरःशूल शान्त हो जाता है । इसी भाव को लेकर आचार्य निमि ने भी कहा है कि 'रात्रिः स्वभावशीलता तमोमूला' होती है जिससे कफ मार्ग में अवरुद्ध हो जाता है । रुद्ध होने से वायु बढ़ती है । अस्तु, इस शिरोभिताप

१. सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढा । विवर्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्त्तते च । सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं सूर्यापवर्त्तं तमुदाहरन्ति । शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च । तं भास्करावर्त्तमुदाहरन्ति सर्वात्मकं कष्टतमं विकारम् । आवर्त्तसंज्ञः स तु सूर्यपूर्वो व्याधिर्मतः पित्तसमीरणाभ्याम् । शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च । (सु. उ. २५) ।

स्वभावशीता तमसोभिमूला रात्रिस्तमोद्भूतकफेन मार्गे । रुद्धे मरुत्कोपमियात्प्रभाते रुजं करोत्यत्र शिरोभितापे । मध्याह्नसूर्यातपतापयोगात् कफे विलीने मरुति प्रपन्ने । स्वमार्गमायाति तथा दिनान्ते प्रशान्तिमावर्त्तमिहार्कपूर्वे । (निमि)

में प्रातः काल में वेदना होती है, मध्याह्न में सूर्यताप के अतियोग से कफ के विलीन होने से, वायु के मार्गावरण दूर हो कर स्वमार्ग में आ जाने से, सूर्यावर्त्त की पीड़ा दिन के अन्त में शान्त हो जाती है।'

यहाँ पर आचार्य दृढ़बल ने जो चरकसंहिता के संस्कर्त्ता हैं एवं चरक ही उनका आधार ग्रन्थ है, और ही कारण माना है। उनका कथन है कि सूर्य की गर्मी से मस्तुलुङ्ग विलीन हो जाता है, जिससे यह सूर्यावर्त्तक रोग होता है। इसका नियम यह है कि जैसे सूर्य आकाश के मध्य की ओर चलता जाता है, वैसे उसकी गर्मी बढ़ती जाती है, और गर्मी की वृद्धि के साथ मस्तुलुंग की विलीनता भी बढ़ती जाती है फलतः पीडा बढ़ती जाती है। मध्याह्न में सूर्य अपने पूर्ण यौवन पर होता है, उसकी सहचारिणी गर्मी भी पूर्ण यौवन में होती है। उस समय मस्तुलुङ्ग अधिक वेग से स्रवित होता है और पीडा तीव्रतम होती है। तदनु सूर्य क्षीण होने लगता है, उसकी गर्मी में भी जरावस्था आने लगती है, अस्तु, मस्तुलुङ्ग के शोषण में शिथिलता पड़ने लगती है। सायंकाल सूर्य के अस्त होने पर गर्मी के अभाव से मस्तुलुंग का स्रवण बन्द हो जाता है। वह जम जाता है और पीडा थम जाती है।[1] इस प्रकार की विवेचना व्याधि के स्वभाव और कारण के सम्बन्ध की है। आचार्य चरक ने भी मस्तिष्क का विष्यन्दन और स्त्यानीभवन ही कारण माना है।

दूसरी विवेचना दोष के सम्बन्धों की है। इस व्याधि को माधवाचार्य ने त्रिदोषज बतलाया है, परन्तु सुश्रुत की उपशमयात्यक विधियों पर विचार किया जाय तो उन्होंने लिखा है कि इसमें कभी-कभी शीत से शान्ति मिलती है और कभी-कभी उष्ण से अर्थात् एक बार शीत और दूसरी बार उष्ण प्रयोग लाभदायक होता है (Hot and cold application alternately) और रोग वायु और पित्त के संसर्ग से

१. सूर्योदयेऽशुंसन्तापाद् द्रवं विष्यंदते शनैः।
तदा दिने शिरःशूलं दिनवृध्या च वर्द्धते ॥
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के सम्प्रशाम्यति । सूर्यावर्त्तः स एव स्यात्।

होता है। यदि ऐसा है तो व्याधि में त्रिदोषजत्व कैसे आ सकता है। इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः यह सन्निपात से ही होता है, परन्तु सन्निपात के तेरह भेदों में से यह भेद वातपित्तोल्वण सन्निपात से होता है। अर्थात् सुश्रुत में इसका वातपित्तात्मक रूप से निर्देश दोषोत्कर्षता के कारण है, अतः विरोध नहीं आता। यदि ऐसी ही स्थिति है अर्थात् रोग वातपित्तोल्वण ही है तो रात्रि में वायु के समान गुण शीत होने से पीड़ा शान्त क्यों हो जाती है और दिन के आदि तथा अन्त में पीडा की गति मन्द क्यों हो जाती है? तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ पर पित्त के प्रबलतम होने से ही ऐसा होता है। फिर चिकित्सा में शिरीष मूल, पिप्पली मूल, वचा प्रभृति पैत्तिक पदार्थों का अवपीडन देने को लिखा है वह कैसे? इसका उत्तर है कि वह व्याधि प्रत्यनीक (व्याधि विपरीत) पड़ता है—दोष प्रत्यनीक नहीं; इसलिये दिया जाता है। भावार्थ यह है कि यह सूर्यावर्त्त नामक व्याधि वातपित्तोल्वण सन्निपात जन्य ही है। वातपित्तोल्वणता की एक और भी विशेषता है, काल की। वायु और पित्त के शीतोष्णात्मक होने से पूर्वाह्ण में सूर्य की वृद्धि के क्रम से स्रोतों के क्रमशः संकुचित होने के कारण उनका (वायुपित्त का) मार्ग रुक जाता है, जिससे वे पीड़ा करते हैं; एवं अपराह्ण में सूर्य के अस्त की ओर चलने से स्रोत खुल जाते हैं जिस से अपने मार्ग की रुकावट होने से वातपित्त पीड़ा को नहीं उपजाते। इस तरह भी काल का नियम युक्तियुक्त हो जाता है।

निमि ने भी ऐसा ही कहा है 'सूर्यचन्द्रात्मक पित्त और वात दिन के प्रथम भाग में तीव्र वेदना करता है। प्रखर तेज से युक्त सूर्य के निवृत्त होने पर स्रोतों के खुल जाने से श्लेष्मा विलीन हो जाती है और उद्धतवायु अपने मार्ग में चला जाता है, इसका कारण मध्याह्न के बाद इस रोग में पीड़ा शान्त हो जाती है।'[1]

---

१. सूर्यसोमात्मकं नित्यं स्वहेतू पित्तमारुतैः।
कुर्वति वेदनां तीव्रां दिनात् पूर्वाह्ण एव तु॥
आदित्यतेजसा युक्ते निवृत्ते चापि भास्करे।
स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माधिगच्छति॥

आचार्य वाग्भट ने स्पष्ट रूप से इसे पित्तप्रधान वायु सहकारी त्रिदोषज व्याधि बतलाया है 'वायु पित्त को सहकारी बनाकर (अनुबद्ध हो कर) आँखों की भौहों के ऊपर ललाट शंखप्रदेश में सूर्योदय से लेकर मध्याह्न तक वेदना को बढ़ाता चलता है। यदि रोगी भूखा रहे तो और विशेष हो जाती है। यह एक अव्यवस्थित व्याधि है जिसमें कभी शीतोपचार से एवं कभी उष्णोपचार से सुख प्राप्त होता है।'[1]

चरक ने दोषदुष्टि के विचार से सूर्यावर्त्त में वायु और रक्त की विकृति मानी है और इस विकृति को मस्तिष्कधातु की दुष्टि होना बतलाया है। दिन में सूर्य की उष्मा को प्राप्त करके मस्तिष्क द्रुत हो कर बहता है, अस्तु पीडा होती है। सूर्य के अभाव में अथवा यों कहें कि गर्मी के अभाव में उसका द्रवीभाव न होकर वह स्त्यानभाव (जमना) आता है, फलतः रात में पीड़ा बन्द हो जाती है। इस रोग के हेतु में उन्होंने वेगसंधारण और अजीर्ण को कारण माना है।[2]

आधुनिक प्रविचार—सूर्यावर्त्त एक ऐसा रोग है जो आमतौर से देखने को मिलता है। आये दिन सूर्यावर्त्त के रोगी देखने को मिलते रहते हैं। इन रोगियों में प्रतिश्याय का इतिवृत्त मिलता है और रोगियों के कहने और प्रत्यक्ष अनुभव से ऐसा ज्ञात होता है कि जुकाम का अच्छी प्रकार से स्राव नहीं हो पाया और सूख गया। वास्तव में बात ऐसी ही है। ये विभिन्न प्रकार अस्थिविवरों के श्लेष्मलकला के शोथ (Sinusitis) हैं। पाश्चात्य वैद्यक में इसकी हेतु तथा सम्प्राप्ति यह है

उद्‌गतो मातरिश्वा च स्वमार्गं प्रतिपद्यते ।
तस्मात्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदनात्र प्रशाम्यति ॥ (निमि)

१. पित्तानुबद्धः शंखाक्षिभ्रूललाटेषु मारुतः
रुजं सस्यंदनां कुर्यादनुसूर्योदयोदयानाम् ।
आमध्याह्नं विवर्द्धिष्णुः क्षुद्वतः सा विशेषतः
अव्यवस्थितशीतोष्णसुखा शाम्यत्यतः परम् ॥ (सूर्यावर्त्तः)

२. संधारणादजीर्णाद्यैर्मस्तिष्कं रक्तमारुतौ ।
दुष्टौ दूषयतस्तच्च दुष्टं ताभ्यां विमूर्च्छितः ॥ (चरक)

कि विभिन्न प्रकार के अणु जीवों (B. Influenza, M. Catarrhalis, Staphylococci, Strepto Cocci) के उपसर्ग नासामार्ग, गला या दाँत के जरिये, ऊपर पहुँचकर उन शिरःकपाल के अस्थिकोटरों की श्लेष्मलकला को शोथयुक्त कर देते हैं, जिसकी वजह से मन्दज्वर और स्थानिक पीड़ा होती है। इस अवस्था को अंग्रेजी में 'एक्युट साइनेसाइटिस' (Acute Sinusitis) कहते हैं। संभवतः यही अवस्था प्राचीन वर्णनों के सूर्यावर्त्त शब्द का लाक्षणिक अर्थ का द्योतक हो।

इसमें शिरःशूल के अनुभव होने का स्थान विकृति स्थान के कारण भिन्न-भिन्न हो सकता है। जैसे पुरःकपालास्थि छिद्रों में होने से पीड़ा पुरःशिर या ललाट में, ऊर्ध्व हन्वस्थि छिद्रों में होने पर कपोलप्रदेश में और 'जतुकास्थिकविवर' में होने पर गहराई में स्थित पीड़ा मिलेगी। इस रोग की विशेषता है कि यह प्रातः से लेकर मध्याह्न तक ही अधिक होता है मध्याह्न के पूर्व भाग में ही दिन में पीड़ा का होना चरक प्रतिपादित कारणों से हो सकता है।[१] आधुनिक युग में चिकित्सा 'शुल्व' एवं भूतघ्न योग (Sulphadrugs, Antibiotics) के द्वारा एवं शिरोविरेचन के द्वारा चिकित्सा की जाती है।

इस रोग का प्राचीन वर्णन बहुत व्यावहारिक, विशद तथा स्पष्ट है। चिकित्सा में शास्त्रीय चिकित्सा के उपक्रम श्रेष्ठ और शतशः अनुभूत है। वर्गीकरण के अनुसार विचार करना हो तो यह परावर्तित शिरःशूल (Reflex Headache) के वर्ग में समाविष्ट होता है।

सूर्यावर्त्त विपर्यय—माधवनिदान के मधुकोष टीकाकार निमि महाराज का उद्धरण देते हुए सूर्यावर्त्त विपर्यय नामक एक और रोग का भी वर्णन

१. Headache is more marked in the fore noon. (Bed Side Medicine A. R. Majumdar.)

सूर्योदयेऽशुसन्तापाद् द्रवः विष्यंदते शनैः ।
ततो दिने शिरःशूलं दिनवृद्ध्या विवर्द्धते ॥
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के संप्रशाम्यति । (च. सि. ९)

किया है। उसमें उन्होंने सूर्यावर्त्त का ही एक भेद इस रोग को माना है। विपर्यय का अर्थ है, उल्टा होना, परन्तु उसमें कोई विपर्ययभाव लक्षणों से स्पष्ट नहीं होता। एक बात की विशेषता जरूर है कि सूर्यावर्त्त नामक व्याधि में पित्तप्रधान और वायु सहकारी दोष होता है और इसमें वात प्रधानरूप से पित्त उसका अनुगामी होता है। मध्याह्न समय में सूर्य के तेज से वह उल्बण होकर बढ़ता है और पित्तसम्बन्धी घोर वेदना को वह पैदा करता है जब शाम होती है तो वायु प्रबल हो जाती है, और पित्त शान्त पड़ जाता है, अतएव रात में पीड़ा नहीं होती[1]। इसमें यह स्पष्ट नहीं होता कि सवेरे से लेकर मध्याह्न तक शिरोवेदना की क्या स्थिति रहती है क्योंकि हर हालत में मध्याह्न में वेदना की अधिकता होती है। यह वैसा ही सूर्यावर्त्त विपर्यय है जैसा चातुर्थिक-ज्वर में चातुर्थिक विपर्यय होता है। चिकित्सा की दृष्टि से भी इसमें कोई अंतर नहीं पड़ता। संभव है सूर्यावर्त्त को त्रिदोषज और विपर्यय को द्विदोषज माना हो क्योंकि गदनिग्रह में एक विशेष प्रकार के द्वन्द्वज सूर्यावर्त्त का भी वर्णन आया है। वह सूर्य के अस्त होने पर शुरू होता है, रातभर रहता है और फिर सूर्य के प्रकाशित होने पर शान्त हो जाता है।[2]

चिकित्सा—१. *क्षीरघृताभ्यास*—प्रातःकाल में उदर को खाली न रखना विशेषतः मधुर और स्निग्ध द्रव्यों से पेट को भर लेना। लेखक के अनुभव में प्रातःकाल सूर्य निकलने के पूर्व जलपान के रूप में शुद्ध

१. तत्र वातानुगं पित्तं चितं शिरसि तिष्ठति।
मध्याह्ने तेजसार्कस्य तद्विवृद्धं शिरोरुजम् ॥
करोति पैत्तिकीं घोरां संश्राम्यति दिनक्षये।
अस्तंगते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्द्धते ॥
पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना।
एष पित्तानिलकृतः सूर्यावर्त्तविपर्ययः ॥ (निमि)

२. अन्यप्रतिनिवृत्तेऽर्के सूर्यावर्त्तः प्रपद्यते।
रात्र्यन्ते प्रशमं याति स तु स्याद्वातपित्तजः ॥ (ग. नि.)

घृत में बनी पूड़ी, हलुआ, जलेबी, घेवर, मालपुआ प्रभृति भोजनों का खाना हितकर होता है। कुछ वैद्यों के अनुभव में गर्म खीर का भोजन भी अच्छा मिला है।

सूर्योदय होने के पूर्व ही तड़के इस प्रकार के घृतपक्व, क्षीरपक्व और मधुर द्रव्यों के सेवन हितकर होते हैं।[१] ताजी जलेबी को दूध में डुबाडुबा कर खाने से दो तीन दिनों में सूर्यावर्त्त की पीड़ा बन्द हो जाती है। कई बार गुड का बहुत गाढ़ा शर्बत घी मिलाकर पीने से रोग में लाभ होता है। इसमें शास्त्र और अनुभव दोनों प्रमाण हैं।

२. *विरेचन*—इस प्रकार भोजन से कोष्ठ के स्नेहन के अनन्तर विरेचन भी कराया जा सकता है।

३. *नावन या नस्य कर्म*—शिरोविरेचन या नस्यकर्म यों तो सभी प्रकार के शिरःशूल में लाभप्रद होते हैं तथापि इस व्याधि में अधिक हितकर होते हैं। इसके लिये कुछ अनुभव तथा शास्त्रप्रामाण्य से योग उद्धृत किये जाते हैं—

(क) अमोनियम् कार्ब के वायु का या नौसादर एवं चूना मिलाकर उससे उत्पन्न वायु का नस्य तत्काल पीड़ा को कुछ देर के लिये शान्त करता है।[१]

(ख) अपामार्गस्वरस का नस्य।

(ग) कागजी नीबू का स्वरस निकाल नाक के छिद्रों में टपकाना।

(घ) कायफर का चूर्ण महीन करके नासा स्रोत में नस्य के रूप में देना।

(ङ) दूध और घी का नावन (नस्य)।

(च) केसर को घी में भुनकर चीनी मिलाकर नस्य देना।

(छ) माष का मूल, श्वेतापराजिता की जड़, गुञ्जामूल, शिरीषमूल, रसोन स्वरस, त्रिकटु, तुलसी बीज, चक्रमर्दबीज चूर्ण प्रभृति का भी नस्य दिया जा सकता है।

---

१. नृसारस्य सुधायाश्च चूर्णं ह्येकत्र योजितम्।
साद्रं कृत्वाऽस्य गन्धेन विनश्यति शिरोव्यथा॥ (भै. र.)

(ज) भृङ्गराज का रस और बकरी का दूध बराबर मात्रा में लेकर सूर्य की रोशनी में तपाकर नाक में छोड़ने से सूर्यावर्त्त में लाभ होता है। यह प्रयोगों का राजा माना गया है।[1]

(झ) नवनीत नस्य।

४. *उपनाह*—जांगल जीवों का मांस पकाकर पोट्टली में बाँध कर सिर पर स्वेदन करे। घृत सिद्ध यवागू (हलुवे) का पोट्टली में बाँध कर उष्ण स्वेदन करना भी लाभप्रद होता है।

५. *अवलेप*—से सूर्यावर्त्त में लाभ होता है। सूर्यमुखी के बीज को उसी के स्वरस में पीस कर लेप करने से लाभ होता है। सारिवादि लेप के प्रयोग भी लाभप्रद हैं।

६. *रसौषधियों*—में दन्तीभस्म १ माशा की मात्रा में, प्रवालभस्म २ रत्ती मिला कर घी और चीनी के साथ सेवन करना लाभप्रद होता है।

७. *सिरावेध*—रक्तविस्रावण के द्वारा रक्त निकाल देने से रक्तगत भाराधिक्य कम हो जाता है, फलतः पीडा शान्त हो जाती है।

५

अर्धावभेदक

निदान, संप्राप्ति एवं लक्षण—"रूक्षभोजन, अध्यशन, अतिप्राग्वात-सेवन, अति हिम सेवन, अतिमैथुन सेवन, वेगावरोध, आयास (परिश्रम) और अतिव्यायाम से प्रकुपित वायु अकेले या कफ से मिश्रित होकर आधे सिर को जकड़ कर मन्या, भ्रू, शंख, कर्ण, नेत्र

१. सूर्यावर्त्ते सिरावेधो नावनं क्षीरसर्पिषोः।
हिता क्षीरघृताभ्यासस्ताभ्यां सह विरेचनम् ॥
भृंगराजरसश्छागक्षीरतुल्योऽर्कतापितः।
सूर्यावर्त्तं निहन्त्याशु नस्येनैव प्रयोगराट् ॥ (यो. र.)

और ललाटार्ध में तीव्र पीडा को उत्पन्न कर देता है, जो शस्त्र से कटने के सदृश और प्रचण्ड अग्नि के दाह सदृश तीव्र होता है। इस प्रकार के रोग को अर्धावभेदक कहते हैं। यही अत्यधिक बढ़ जाने पर नेत्र और कान की शक्ति को भी नष्ट कर देता है।"[1]

माधवनिदान ने इसे केवल वातजनित या द्विदोषज वातकफात्मज व्याधि माना है; परन्तु सुश्रुत ने इस व्याधि को त्रिदोषात्मक बतलाया है यथा 'जिस मनुष्य का सिर पन्द्रह दिन या दस दिन बाद अकस्मात् तोद, भेद भ्रम, मोह और शूल के साथ-साथ पीडित होता है उसे त्रिदोषज अर्धावभेदक समझना चाहिये।'[2]

माधवनिदान के वातज या वातकफज मानने का तात्पर्य दोषोत्कर्ष से है। 'सोर्धभेदः कफानिलात्' इस प्रकार का कथन विदेह तन्त्र में भी आता है वहाँ पर भी दोषोत्कर्ष के कारण ही समझना चाहिये। विदेहतन्त्र में अर्धावभेदक का वर्णन इस प्रकार का मिलता है—'जब कुपित वायु सिर के किसी एक पार्श्व में श्लेष्मा द्वारा अवरुद्ध हो जाता है, तो वह तोद, स्फुटन, दालन शूल और अवदारण से उस आधे सिर को भली प्रकार जकड़ लेता है। इसमें नेत्र भी अवदीर्ण होता है। यह अर्धावभेदक कफ और वात से होता है और इसका वेग तीन दिन बाद, पाँच दिन बाद, पन्द्रह दिन बाद या एक मास बाद होता है।'[3]

१. रूक्षाशनात्यध्यशनप्राग्वातावश्यमैथुनैः ।
वेगसंधारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥
केवलः सकफो वार्धं गृहीत्वा शिरसो बली ।
मन्याभ्रूशंखकर्णाक्षिललाटेऽर्धेऽतिवेदनाम् ॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोर्द्धावभेदकः ।
नयनं वाथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥ (मा॰ नि.)

२. यस्योत्तमाङ्गं रुजतेऽर्धमात्रं सतोदभेदभ्रममोहशूलैः ।
पक्षाद्दशाहादथवाप्यकस्मात्तमर्धभेदं त्रितयाद् व्यवस्येत् ॥ (सु. ३. २५)

३. शिरसोन्यतरे पार्श्वे कुपितो मारुतो यदा ।
श्लेष्मणा रुद्धयते जन्तुः तोदस्फुटनदालनैः ॥

संक्षेप में कहना हो तो अर्धावभेदक एक नियत अन्तर से होने वाला रोग (Periodical disease) है जिसमें आधे सिर में तीव्र वेदना होती है और रोग का दौरा दस या पन्द्रह दिन या एक मास के अन्तर से होता रहता है।

वाग्भटाचार्य ने अर्धावभेदक के वातिक शिरोरोग का भेद माना है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि यदि सिर का दर्द पूरे सिर में वायु के कारण हो तो उसको शिरस्ताप, एवं यदि आधे सिर में पीडा हो तो अर्धावभेदक कहलाता है। उनके मत से अर्धावभेदक केवल वायु के कारण होता है।[1]

आचार्य सात्यकि की विवेचना से भी अर्धावभेदक रोग में वायु की ही प्रधानता रहती है 'वायुः शिरःशंखभ्रूनेत्रमवगाह्य।' बिना वायु के पीडा में इतनी भयंकरता रोग में हो ही नहीं सकती।

अस्तु, यह निश्चय हुआ कि इस रोग में वायु और कफ की दोषोल्वणता युक्त सन्निपात की अवस्था होती है। कुपित हुआ वायु, कफ के द्वारा रुद्ध हो जाता है और फिर वह मन्या, भ्रूशंखदेश के कफ या सोम को सुखा कर सिर फाड़ने की-सी पीडा वाली व्याधि को पैदा करता है। इसके सन्निकृष्ट निदान में भी वायु को कुपित करने वाले ही कारण हैं—पश्चात् पित्त भी अनुगामी रूप में रह कर त्रिदोषजत्व सम्पादित करता है जैसा कि सुश्रुत के 'त्रितयाद्' शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है। अतएव इसकी चिकित्सा में वात कफघ्न विधान पर ही अधिक ध्यान रखना चाहिये।

आधुनिक प्रविचार—अर्धावभेदक की समता पाश्चात्यवैद्यक में प्राप्त होने वाले 'मिग्रेन' (Migraine) से बहुत कुछ है। यह एक ऐसा

शूलावदारणैर्गाढ़मर्धं तदवरुध्यते।
नयनं चावदीर्येत सोर्धभेदः कफानिलात्॥
तथा त्र्यहात्सपंचाहात्पक्षान्मासाच्च देहिनाम्। (विदेह)

१. वातिक शिरोरोग के वर्णन में आया है—
शिरस्तापोऽयमर्धे तु मुर्घ्नः सोर्धावभेदकः।

रोग माना जाता है जो आयु की दृष्टि से बाल्यावस्था में अधिक और मध्यमायु में क्रमशः कम होता हुआ वृद्धावस्था में बिल्कुल बन्द सा हो जाता है।

हैतुकी—यह रोग ज्यादातर बुद्धिमानों में, काम-काजी आदमियों में, विशेषतः औरतों में जो बहुत विचारशील होती हैं, होता है; फिर भी इसके लिये कोई विशेष समाज या व्यवसायकारी दल, सक्षम (Immune) हो ऐसा नहीं। कारण इस रोग का अनिश्चित है।

(क) शिरःशूल की पूर्वावस्था में यह हो सकता है जब कि शरीर के संश्लेषण या विश्लेषणक्रिया से उत्पन्न या दूसरे विष बीच-बीच में सर्वगत रक्ताभिसरण में चले आते हैं जिनकी वजह से समय-समय पर तीव्र शूल पैदा होता है, और पित्त का वमन तथा मस्तिष्कगत धमनियों के संकोच के कारण चेहरे की अवसन्नता (Pallor) तथा लक्षणों की विविधता पैदा होती है।

(ख) इन्हीं विषों का दूसरा परिणाम रक्तवाहिनी विस्तृति में हो सकता है जिसमें बहिर्ग्रीवा धमनी (Ext. carotid) की शाखाओं में विस्तृति हो जाती है और जिससे शिरःशूल तथा रोगियों के चेहरे में लालिमा भी मिलती है। इनके अलावे गर्दन तथा सिर की पेशियों का संकोचन भी शिरःशूल पैदा करता है। कई बार मस्तिष्क धातु (Cerebral cortex) की क्रिया सम्बन्धी विकृतियाँ जिसमें अपस्मार के लक्षण होते हैं, इस प्रकार के शिरःशूल को पैदा करती हैं। जैसे आवान्तरित शीर्षाम्बु में (Intermittent Hydrocephalus) 'मुनरो' के छिद्र को बीच-बीच में बन्द होने से तथा पीयूष ग्रंथि के दोष भी कारण रूप में माने गये हैं।

(ग) थकाने वाला व्यवसाय, चिन्ता, भोजन की अनियमितता (रूक्ष-भोजन, अध्यशन) तथा कुलज प्रवृत्ति (Heredity) भी रोगोत्पादन में सहायक होता है।

नैदानिकचित्रण—पूर्वरूप-रोगी स्वस्थ रहता है-रात में सो कर जब प्रातःकाल उठता है तो उसे चक्कर, हृल्लास, धुन्धला दिखलाई पड़ना,

आँख के सामने चिनगारी छिटकना (चमकते हुए धब्बे, रंगीन या टेढ़े मेढ़े, जो बीच-बीच में बदलते हुए या नष्ट होते हुए भासते हैं) अथवा सुन्नता या झुनझुनी शुरू हो जाते हैं। इनका प्रारम्भ शरीरान्त भाग से हो कर क्रमशः शाखाओं में ऊपर की ओर बढ़ते हुए चले जाते हैं और आधे घण्टे के भीतर सिर तक पहुँच कर शिर के अर्ध भाग में कभी-कभी पूरे में तीव्र पीडा शुरू करते हैं।

रूप—शिर शूल अधिकतर शंख देश के किसी छोटे से क्षेत्र में गम्भीर और विदारण (Boring) के स्वरूप का प्रारम्भ होकर फैल जाता है। यह पीडा संचायी (Cumulative) धमकने सी (Throbing) और विभिन्न काल प्रकर्ष या अवधि (कुछ घण्टे, दिन या सप्ताह) की हो सकती है। रोगी का चेहरा अवसन्न और सूखा सा (Pallor) तथा कभी-कभी विकृत पार्श्व में लालिमायुक्त भी रहता है। कई बार अनवरत वमन होता रहता है जिससे रोगी क्लान्त पड़ा रहता है। कोई भी गति, तीव्र प्रकाश या शब्द पीडा को बढ़ा देता है। शंखप्रदेशगा धमनी, दृष्ट, आध्मापित (Distended) रस्सी के सदृश कठोर एवं त्वचा में स्पर्शलभ्य हो जाती है। यही पीडा अधिक समय तक बनी रहती है और किसी भी प्रकार शान्ति नहीं मिलती जब तक कि रोगी को निद्रा नहीं आ जाती। रोगी दूसरे दिन प्रातःकाल सोकर, क्लान्त हुआ सा उठता है।

कई बार मूकता या वाग्विकृति (Aphasia), एकाङ्गघात, अर्धाङ्गघात भी देखने को मिलता है। कई बार रोग तीव्र दौरे में नेत्रपेशी-घात (Ohthalmoplagia) अथवा अन्य शिरस्का नाड़ियों की क्रियाशक्ति का नाश भी हो जाता है। परन्तु ये सभी उपद्रव दौरे के बीच के काल में शान्त हो जाते हैं। पुनः दूसरे दौरे में भी उनकी संभावना बनी रहती है।

इस प्रकार इस रोग में शिरःशूल का दौरा दिन या रात में कभी भी आ सकता है। चिरकालीन रोग में कुछ न कुछ, मन्द पीडा दौरे के बीच के काल में भी बनी रहती है।

अर्धावभेदक का रोग वर्षों चल सकता है, कई बार इसके दौरे नियमित समय पर ही आते हैं। रोगी की आयु जैसे-जैसे बढ़ती जाती है रोग की तीव्रता भी वैसे-वैसे ही कम होती जाती है और मध्यमायु के बाद आमतौर से पूरी बन्द हो जाती है। इससे आयु कम नहीं होती, कई बार इस रोग के परिणामस्वरूप नेत्रदोष एवं कई बार अपस्मार देखे गये हैं।

रोगनिश्चिति—पूर्वरूप की अवस्था में अर्धावभेदक की समता अपस्मार से रहती है, परन्तु सापेक्ष्य निदान में इसके दो आत्मलिङ्ग विचारणीय हैं—१. यह अधिक देर तक चलता है। २. इसमें चेतना बनी रहती है जहाँ पर अपस्मार में संज्ञा नष्ट हो जाती है। मस्तिष्कान्तर्गत आङ्गिविकार (Intracranial organic disease) से भी पृथक्करण आवश्यक होता है। इन विकारों में विकृति स्थायी रहती है यहाँ पर अर्धावभेदक में अस्थायी केवल दौरे के समय ही होती है।

विद्युत्-अन्तःमस्तिष्काङ्कन (Electro Encephalogram) भी इस व्याधि के स्थिर निदान में सहायभूत होता है।

चिकित्सा—यदि दौरा की अवस्था हो तो उस काल वेदना के शमन के लिये लाक्षणिक चिकित्सा करनी चाहिये। संशामन ओषधियों के प्रयोग में 'ब्रोमाइडस' (१०-३० ग्रेन की मात्रा में) 'एस्प्रिन' या 'पीरैमिडिन' (५-१० ग्रेन की मात्रा में) या 'फेनासिटीन' (२-५ ग्रेन की मात्रा में) बार-बार दिये जा सकते हैं। निद्राकर ओषधियों में 'ल्युमिनाल' (१½ ग्रेन) यदि बहुत तीव्र वेदना हो तो 'क्लोरोफार्म' का नासा से प्रयोग अथवा 'अहिफेन' के यौगिकों का त्वचा के नीचे सूचीवेध द्वारा प्रयोग हो सकता है। हाल में 'एर्गोटेमीन टार्टरेट' ५ से १ मिलीग्राम की मात्रा में मुखद्वारा अथवा त्वचाधःप्रवेशद्वारा लाभप्रद समझा गया है। 'डाइ हाइड्रो एरगो टैमीन टारटरेट' उसी मात्रा में शिराद्वारा अत्यधिक पीडा में, दिया जा सकता है। कुछ रोगियों में 'एण्टी हिस्टैमिनिकयोग ('एन्थिसान' 'एविल' या 'एण्टिस्टीन') का प्रयोग भी लाभप्रद होता है।

आँख में दृष्टिविकार हो, यकृत की विकृति हो या ऋतु-दोष हो तो उसे भी सुधारना चाहिये।[1] दौरे के बीच के काल में स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार, परिश्रम, भाराधिक्य और चिन्ता आदि का दूरीकरण, जीवतिक्ति बी, का प्रयोग या 'प्रोजेस्टेरान' का प्रयोग करना चाहिये।

आयुर्वेद की चिकित्सा—सूर्यावर्त्त की चिकित्सा में जो उपक्रम बतलाये गये हैं, उन्हीं का अनुपालन अर्धावभेदक की चिकित्सा में भी करना चाहिये।[२] चिकित्सासूत्र यह है कि रोगी को १. पहले स्नेहपान करावे जिससे उसकी आभ्यन्तरिक रूक्षता घट जाय २. स्वेदन करावे, जिससे स्रोतसों का अवरोध हटकर स्रोतस शुद्ध हो जायँ और दोषों के निकलने की प्रवृत्ति हो जाय। ३. फिर विरेचन देकर कायिक शुद्धि और शिरोविरेचन देकर मस्तिष्क की शुद्धि करे। ४. आस्थापन एवं अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे। ५. इस प्रकार शरीर की शुद्धि हो जाने पर नासा या मुख द्वारा धूम का प्रयोग करे। ६. तदनन्तर स्निग्ध एवं उष्ण भोजन की व्यवस्था करे। स्निग्ध और उष्ण भोजन के लिये सूर्यावर्त्त की भाँति ही रोगी को गरम-गरम घृतपक्व जलेबी, मालपुआ और गुलगुले अथवा क्षीरपक्व खीर खाने को प्रातःकाल में देना चाहिये।

नस्य विडङ्गादिनस्य—वायविडङ्ग तथा काली तिल को समान भाग में दूध में पीसकर, बकरी के दूध में या गर्म पानी में पीसकर रस निचोड़ कर नाक में डाले या सिर पर लेप करे।

दुग्धशर्करा—दूध में मिश्री या चीनी मिलाकर नाक के द्वारा पीवे। यदि सम्भव न हो तो मुखद्वारा पिलावे।

---

1. Gower's Mixture—Sodii Bromide grs10, Liquid Trinitrin mi. Tr. Nux Vomica 5 m., Tr Gelsemiaum 10 m, Dilute Hydrobromic Acid 5 m. 3 times a day for many weeks or months.

२. एष एव विधिः कार्यः कृत्स्नश्चार्धावभेदके।
अर्धावभेदके पूर्वे स्नेहः स्वेदो हि भेषजम्॥
विरेकः कायशुद्धिश्च धूपः स्निग्धोष्ण भोजनम्।
विडङ्गानि तिलान् कृष्णान्समान्पिष्ट्वा विलेपयेत्॥ (यो. र.)

वचादि नवपीडन—मुलैठी, जौ, वच, पिप्पली समान लेकर पानी से पीसकर रस निकालकर शहद मिलाकर अवपीडन नस्य दे।

तुलस्यादि घ्रत—तुलसी, नकछिकनी, धतूरे की पत्ती के चूर्ण का प्रधमन।

मनःशिलादि अवपीडन—मैनसिल एवं चन्दन पानी से पीसकर रस निकाल कर मधु मिला कर नासा द्वारा दे।

मधुरादिनस्य—काकोल्यादि या मूर्वादिगण से सिद्ध घृत तैयार करके नस्य देना।

कटफलादि नस्य—कायफल, एलाचूर्ण, बालछड़, सोंठ सब के चूर्ण का नस्य।

क्षीरिणी बिन्दु—खिरनी के तीन बीज की मींगी पानी में पीसकर सूर्योदय से पहले जिस तरफ में पीडा हो उसके विपरीत नासारन्ध्र से बूंद-बूंद करके टपकावे।

चुल्लिका नस्य—अधिक दिनों से जिस चुल्हे में रसोई बनती हो उसकी मिट्टी लेकर उसमें काली मिर्च समान भाग में डालकर पीसकर चूर्ण का नासा द्वारा प्रधमन करना।

वंशमूल अवपीडन—बाँस की जड़ और कपूर पीसकर अवपीडन।

लेप तथा अभ्यङ्ग—१. दौरे के समय सिर पर गुलाब जल और गुल-रोगन के तेल का प्रयोग। माथे पर बकरी के दूध की पट्टी।

२. सिर पर क्लोरोफार्म से भिगोया लिण्ट, राई की पट्टी, या मृगश्रृङ्ग का लेप।

३. तिलादि लेप-काली तिल, जटामांसी, सेंधा नमक पीसकर मधु मिलाकर लेप।

४. सारिवादि लेप— सारिवा, नील कमल, कूठ, मुलैठी, अम्लवेत सब को पीसकर घृत में मिलाकर सिर पर लेप।

५. पञ्चमूली तैल का प्रयोग।

६. अमृतधारा (अजवायन, कपूर और पीपरमेण्ट मिला द्रव) सिर पर लगावे और भी कई इस प्रकार उड़नशील गन्ध द्रव्यों के बने बाम मिलते हैं उनका व्यवहार करे।

पान तथा अन्य योग—१. नारियल का पानी, घृतपान, क्षीरपान लाभ प्रद है।

२. *धान्यकपान*—उस्तखद्दूस ६ माशे, धनियाँ ४ माशे, काली मिर्च छः दाने पीसकर डेढ़ छटाँक ताजे पानी में घोलकर विना नमक या चीनी मिलाये सवेरे पी जाये।

३. चन्दनादि वटी—सफेद चन्दन १½ माशा, लाल चन्दन १ माशे अजवायन ५ माशे, कद्दू के बीज ५ माशे, बबूल का गोंद ५ तोले, रसवत ३ माशे, अफीम ३ माशे, केशर ३ माशे सबको पीसकर मकोय के रस या धनियाँ के पानी में गोली बनाकर रख ले, पानी में घिसकर अर्धावभेदक में सिर पर लेप करे।

६

शंखक

व्याख्या, हेतु, निदान और सम्प्राप्ति—'शंख देश में दूषित हुए, बढ़े हुए तथा मिले हुए पित्तरक्त तथा वायु तीव्र पीडा तथा दाह और लालिमायुक्त दारुण शोथ उत्पन्न करते हैं। यह शोथ विषवेग के समान अपने वेग से शीघ्र ही सिर तथा गले को अवरुद्ध कर तीन ही दिन में रोगी को मार डालता है, इस व्याधि को शंखक नाम से कहते हैं। इसमें चिकित्सक को प्रत्याख्यान करके (जवाब देकर ही) चिकित्सा करनी चाहिये।'[1]

उपर्युक्त व्याख्या माधवनिदानकृत है, इससे ऐसा ज्ञात होता है

१. रक्तपित्तानिलादुष्टाः शंखदेशे विमूर्च्छिताः।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम्॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शंखको नामतः परम्॥
त्र्यहाज्जीवितभैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत्। (मा. नि.)

कि इस रोग में रक्त, पित्त और वायु मात्र ही दूषित होते हैं। परन्तु जब ये तीनों दूषित हो बढ़ें, और मूर्च्छित हों, तथापि कफ पर उनका प्रभाव न पड़े ऐसा कथन संगत नहीं मालूम पड़ता, अतएव यहाँ पर कफ को दुष्टि भी माननी चाहिये। सुश्रुत ने इसे स्वीकार भी किया है और दूषित होने के क्रम से संप्राप्ति भी बतलाई है—

'शंख देश में वायु संचित होकर उदीर्ण होता है, कुपित होकर बड़े वेग के साथ वहाँ से निकलता है एवं कफ, पित्त और रक्त को मूर्च्छित कर अपने अधीन कर रखता है। जिससे सिर में बहुत तीव्र वेदना उत्पन्न करता है। यद्यपि वेदना सारे सिर में रहती है तथापि पीडा की अधिकता शंखप्रदेश में होती है। इस कष्टसाध्य शंखक नामक व्याधि को आयुर्वेद ज्ञाता पुराने महर्षियों ने उद्गत मृत्युकल्प अर्थात् उपस्थित मृत्यु के समान माना है। यह शीघ्रता से अपनी क्रिया करता है, सहस्रों चिकित्सकों से भी दुर्निवार है।'[1]

दोषों की उल्वणता की दृष्टि से शंखक व्याधि के संबंध में विभिन्न ग्रंथकारों में थोड़ी मत की भिन्नता दिखाई पड़ती है—जैसे माधव-निदान ने रक्त की प्रधान दुष्टि, सुश्रुत ने वायु की उल्वणता एवं वाग्भट ने पित्त की प्रधानता घोषित की है। तथापि रोग सन्निपातजन्य है। सभी वर्णनों में वायु, पित्त एवं रक्त की वृद्धि और मूर्च्छना दिखलाई गई है, उसी के अनुरूप लक्षणों का वर्णन भी मिलता है। सभी वर्णनों में रोग के तीन दिन की अवधि के भीतर विकल्प से असाध्यता और तीन दिनों के बाद निश्चित असाध्यता प्रकट होती है। इसीलिये वाग्भट ने लिखा है 'तीन दिनों के भीतर ही रोगी का जीवन नष्ट हो जाता है अथवा शीघ्र कुशल चिकित्सक द्वारा चिकित्सा होने पर बच भी सकता है।'[2] इसी का समर्थन विदेह तन्त्र के उद्धरण से भी प्राप्त होता है

१. शंखाचितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुयात्रः कफपित्तरक्तैः।
रुजः सुतीव्रा प्रतनोति मूर्ध्नि विशेषतश्चापि हि शंखयोस्तु ॥
सुकष्टमेनं खलु शंखकाख्यं महर्षयोर्वेदविदः पुराणाः।
व्याधिं वदन्त्युद्गतमृत्युकल्पं भिषक्सहस्रैरपि दुर्निवारम् ॥ (सु.)

२. त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति सिद्धत्यप्याशु साधितः। (वाग्भट)

'आहार-विहार तथा शिरोरोग उत्पन्न करने वाले कारणों के प्रभाव से शंख देश में पित्त प्रकुपित होता है और वहाँ के संचित वायु को भी अपने साथ दूषित और उल्वण कर मर्मस्थानों को भर देता और उनके मुख को रोक देता है जिससे शंख देश में आग के समान जलन मालूम होती, सूई के समान तुदन और अत्यन्त दारुण पीड़ा होती है। इसमें प्यास, मूर्च्छा और ज्वर के उपद्रव होते हैं। चतुर वैद्य यदि तीन दिनों के भीतर रोग को अपनी मुट्ठी में कर ले तो रोगी बच जाता है।''[1]

आधुनिक प्रविचार—शंखक नामक व्याधि के सम्बन्धमेंअब विचारणीय है कि इसमें इन्द्रिय विकृति (Organic defect) क्या हो सकता है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि शिरःशूल का अनुभव तीन प्रधान विकृतियों से होता है-प्रथम शिरोगुहा की बाह्य रचनाओं विशेषतः करोटि के आवरण रूप में पाई जाने वाली पेशियों या धमनियों से। द्वितीय, मार्ग (Path ways) की संवेदनाओं के द्वारा विशेषतः पंचम शिरस्का नाडी से तथा तृतीय, करोटि गुहा की भीतर की रचना में विकृति होने से। यहाँ पर शंखक में तीसरी की संभावना ही विशेष है। क्योंकि प्रथम के भीतर तो हम वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज शिरोरोगों को ले सकते हैं, द्वितीय में अन्यतोवात या अनन्तवात का समावेश कर सकते हैं। परन्तु शंखक को इनसे विशिष्ट ही मानना पड़ेगा। इसके कई निम्न कारण हैं। जैसे—

१. इसमें पीड़ा सार्वत्रिक (Generalised) अर्थात् पूरे सिर में

१. चीयते तु तदा पित्तं शंखयोरनिलाचितम् ।
निरुणद्धि ततो मर्म परिपूरितमुल्बणम् ।
अतः शंखौ प्ररुज्येते दह्येते इव वह्निना ।
सूचीभिरिव तुद्येते निकृत्येत इवासिना ॥
शंखको नाम शिरसि व्याधिरेषः सुदारुणः ।
तृष्णामूर्च्छज्वरकरस्त्रिरात्तापरमन्तकृत्
कुशलेनउपक्रान्तस्त्रिरात्रादेव जीवति ।

न होकर सीमित (Localised) रहती है। शंखप्रदेश (Tempro-parietal) में पीडा बद्ध होकर रहती है।

२. यह पीडा अत्यन्त दारुण होती है, इतनी दारुणता अन्य शिरोरोगों में नहीं रहती।

३. इसकी कुल कालमर्यादा तीन दिनों की है। इसी के भीतर रोगी का प्राणान्त हो जाता है, जैसे अन्य शिरोरोगों में सम्भव नहीं।

४. इसमें ज्वर और तृष्णा की विषमयता के कारण होती है।

५. इसमें मूर्च्छा (Syncope) भी पाई जाती है।

६. तीन दिनों के भीतर ही कुशल चिकित्सक की चिकित्सा हो तो सफलता कभी कभी मिल जाती है।

७. यह प्रत्याख्येय व्याधि है, जैसा कि अन्य शिरोरोगों में नहीं पाया जाता। इसमें पहले ही चिकित्सक को प्रत्याख्यान "चिकित्सा न करने से मृत्यु ध्रुव है, चिकित्सा करने में संशय है"[1] ऐसा कह कर चिकित्सा करनी होती है।

८. शंखक की चिकित्सा में उष्ण स्वेद नहीं किया जाता है। स्वेद का निषेध है।

अब विचारणीय है कि शिरोगुहा के भीतर पाई जाने वाली रचनाओं में किस रचना की विकृति में यह सम्भव है कि जिसमें (A condition where tempo-harietal region of the scull is excessively Painful with fever & thirst, patient falls in a syncopic stage, death ensues within some hours to 3 days & fomentation to the part may prove to be injurious) यह उपरोक्त लक्षण मिलें। यह कोई मस्तिष्क के किसी भाग की शोफकी अवस्था नहीं हो सकती। पीडा सांवेदनिक पञ्चम, नवम्, दशम शिरस्का नाडियाँ अथवा ऊपर की ग्रैवेयक नाडियों के शोफ के कारण भी नहीं हो सकती क्योंकि इन सभी विकृतियों में स्वेदन के उपचार से लाभ होना चाहिये हानि नहीं; परन्त शंखक में इसके विपरीत होता

१. अक्रियायां ध्रुवं मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्। (सु० अश्मरीचिकित्सा)

है । अस्तु, शंखक रोग में निश्चितरूप से बड़े बड़े शिरा कुल्या (Venous Siuuses) या उनकी शाखा-प्रशाखाओं के अथवा 'ड्यूरल' और 'बैसल' धमनियों के विकार कारणभूत होते हैं ।

इन धमनियों में यदि किसी कारण से रक्त जम जाय (Thrombosis) या रक्त का थक्का आकर अँटक जाय (Embolus) अथवा रक्तस्राव (Haemorrhage) फट जाने से हो जाय तो यह दारुण अवस्था उत्पन्न होती है एवं मृत्यु शीघ्रता से हो जाती है कई बार मस्तिष्कगत रक्तस्राव हल्का होने पर रक्त के संघात (जमावट) के कारणों के सुधार होने की तो कुछ आशा भी रहती है; परन्तु रक्तस्रावाधिक्य चाहे जिस किसी वजह से आधुनिक ग्रन्थों में घातक ही माना गया है । इस अवस्था को अंग्रेजी में 'एपोप्लेक्सी' मस्तिष्कगत रक्तस्राव कहते हैं ।

यह रक्तस्राव (Cerebral Haemorrhage) या तो मस्तिष्कगत धातु (Substance) या मस्तिष्कगत कोष्ठों (Ventricle) में हो सकता है । किसी धमनी केशिका, सिराजग्रन्थि (Anneurysm), मस्तिष्कगत बड़ी शिरा या शिराजाल (Venous Sinuses) के फट जाने से होता है । (Intra cranial Haemorrhage)

हेतु एवं *विकृति*—विप्रकृष्ट कारणों में मद्यातिसेवन, चिन्ता, परिश्रमाधिक्य, विबंध; सिरा कुल्या के कारणों में वृद्धावस्था के कारण धमनियों की अपक्रान्ति, रक्तभाराधिक्य; शिशुओं का कुकास (कुकुरखांसी), मस्तिष्कगत बाह्याभिघात, रक्त के रोग जैसे रक्त पित्त (Purpura) या श्वेतकणमयता (Lucaemia) प्रभृति अवस्थायें ।

एक धमनी के फट जाने पर रक्त निकल कर अपने मस्तिष्क धातुओं को चीरता हुआ बहता है जो स्वयं रक्तवाहिनियों से भरे रहते हैं—जिससे नये नये रक्त फेंकने वाले विन्दु (Fresh bleeding points) बनते जाते हैं । जिसका परिणाम यह होता है कि एक बार रक्तस्राव शुरू हो जाने पर बढ़ता ही जाता है, बंद नहीं होता। धीरे रक्त निकलने का क्षेत्र क्रमशः विस्तृत होता जाता है और अन्त में रोगी की

मृत्यु हो जाती है जिसकी अवधि कुछ घण्टे से लेकर एक से चार दिनों तक की होती है।[1] सिराज ग्रंथि (Anneurysm) की अवस्था में प्रारम्भ रक्त स्राव समय समय पर (Periodic) होता रहता है एवं अन्त में अत्यधिक रक्तस्राव होकर मृत्यु हो जाती है।

लक्षण तथा चिह्न—१. लक्षणों का अचानक प्रारम्भ बिना किसी पूर्वरूप के या अधिकतर शिरःशूल के साथ २. रोगी की अवसन्न मूर्च्छा की अवस्था ३. श्वसनछिन्न ४. शाखायें घातित एवं ढीली ५. मूत्र का अवरोध एवं मल का अनैच्छिक त्याग ६. परावर्त्तनों का अभाव ७. ज्वर-कई बार स्वेदाधिक्य होकर मंदताप ८. नाड़ी तीव्र एवं कमजोर ९. यदि दोष वहिर्भाग (Cortex) तक ही सीमित है तो रोगी पूर्ण निःसंज्ञ नहीं होता।

साध्यासाध्यता—मस्तिष्क-रक्तस्राव एक ऐसा रोग है कि इसमें सुधार की आशा विरल होती है। फिर भी रोगी का संज्ञा में आना (Recovery to concious) एक आशाजनक चिह्न है।

चिकित्सा में—१. रोगी को पूर्ण विश्राम २. शिरःस्थान को उठाकर रखना ३. शीतोपचार-वर्फ की थैली सिर पर रखना (अर्थात् स्वेदन का अभाव जैसा कि शास्त्रीय चिकित्सा में युक्त है) ४. कई बार सिरावेध भी लाभप्रद है। ५. वस्तिद्वारा कोष्ठशुद्धि ६. भार को कम करने के लिये वेधकर्म के द्वारा मस्तिष्कसुषुम्ना जल को निकालना ७. अभ्यंग।

यह एक सामान्य मस्तिष्कगत रक्तस्राव का वर्णन रहा जिसमें शंखकव्याधि के लक्षण प्रायः मिलते हैं, विशेषार्थ में शंखप्रदेश के समीपवर्त्ती मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों का फट जाना और मस्तिष्क का रक्तस्राव होना ग्रहण कर सकते हैं। सबसे प्रसिद्ध (Haemorrhage of the middle menigeal Arteries) मध्य मस्तिष्कावरणगत धमनी या उसकी शाखाओं का रक्तस्राव है। पार्श्वगतशिरा कुल्या

1. Bed side Medicine 'Appoplexy' by A. R. Majumdar देखें।

(Lateral sinus) यथा ऊर्ध्व लम्ब सिराकुल्या (Sup. Longitudinal) का विदीर्ण होना या जम जाना (Rupture or thrombosis) माना जा सकता है । अथवा पार्श्वगत मस्तिष्ककोष्ठ (Lateral Ventricle) का रक्तस्राव का ग्रहण हो सकता है। एक और विकृति जिसको अश्मास्थिशोथ (Petrositis) कहते हैं अधिकतर मध्य कर्णशोथ के परिणामस्वरूप होती है शंखक नामक रोग से सादृश्य रखती है इसमें पीड़ा एक ही पार्श्व में संकोचन के स्वरूप की होती है और शूल का विशेष अनुभव शंखप्रदेश में होता है इसके परिणामस्वरूप में सपूय मस्तिष्कावरण शोथ हो जाया करता है जो प्रायः आशुघातक होता है । इसमें (1) Unilatcral Headache (2) Spasmodic in type (4) Felt to the side of head and to the temple (4) Extension of the disease may lead to a diffuse purulent meningitis. इन विशेषताओं के अनुसार–शंखक के साथ सादृश्य है।

चिकित्सा—१. कुशल चिकित्सक के द्वारा तत्काल चिकित्सा का आरम्भ कराना। २. दूध में घी मिलाकर पिलाना। ३. दूध में बना नावन। ४. भोजन में स्निग्धाहार, जांगलमांस रस, विदारिगंधादिगण काकोल्यादि या उत्पलादिगण की ओषधियों का लेप या सेंक। ५. सूर्यावर्त्तक में प्रयुक्त अवपीडन। ६. उष्णस्वेद का निषेध। ७. सिरामोक्षण–बक, जलमुर्गी, हंस, सारस, कच्छप का मांसरस पिलाकर सिरावेध करे। वेध में शंखप्रदेश की ऊर्ध्वगत शिराओं का भेदन किया जाता है ताड़ना नहीं।[1]

---

१. ऊर्ध्वस्तिस्रः शिराः प्राज्ञो भिन्द्यादेव न ताडयेत् ।
सूर्यावर्त्ते हितं यच्च शंखके स्वेदवर्ज्जितम्
क्षीरसर्पिः प्रशंसन्ति नस्त.पानञ्च शङ्खके ।
शीततोयावसेकांश्च क्षीरसेकांश्च शीतलान् ।
कल्कैश्च क्षीरिवृक्षाणां शङ्खकस्य प्रलेपनम् । (भै० र०)
गिरिकर्णीफलरसं मूलञ्च नस्यमाचरेत् ।
मूलं वा बन्धयेत्कर्णे शीघ्रं हन्ति शिरोव्यथाम् ।

लेप—दार्वीलेप—दारुहल्दी, हल्दी, मजीठ, नीम की छाल, खश, पद्माख इन्हें पीसकर शंखदेश पर लेपना।

वलादिलेप—वलामूल, नीलकमल, धव का फूल, काली तिल और पुनर्नवा को पानी में पीस कर लेप। क्षीरी वृक्षों की छाल का लेप।

शतावरीलेप—शतावर, तिल, मुलैठी, नीलकमल, दूर्वा, पुनर्नवा, दूध में पीस कर लेप।

महासुगंध लेप—सारिवा, सर्पगंधा, कालीनिशोथ, प्रियंगु इनको कांजी में पीसकर लेप करना। गिरिकर्णी नीलपुष्प अपराजिता के फलों का स्वरस या मूल को स्वरस का नस्य ले। अथवा कान में उसका मूल बाँध दे तो प्रभाव से शंखक की शिरोऽव्यथा शान्त होती है।

७

अनन्तवात

व्याख्या-हेतु-सम्प्राप्ति—'वात, पित्त और कफ तीनों दोष प्रकुपित होकर ग्रीवा की दोनों मन्या नाडियों का (मन्याप्रदेश) को पीड़ित करके घाटा अर्थात ग्रीवा के पश्चात् भाग में बाधा, दाह, गौरव एवं तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं। फिर वे कुपित दोष विशेषकर नेत्र, भौंह और शंखदेश में स्थिर होकर शीघ्र पीड़ा उत्पन्न करते हैं। नेत्रों के नीचे गण्डपार्श्व में कम्प होता है, नसें फड़कती हैं और हनुग्रह होकर ठुड्डी जकड़ जाती है। इसके कारण नेत्र के विकार और नेत्ररोग हो जाते हैं। इस प्रकार के त्रिदोषोत्थ शिरोविकार को अनन्तवात करते हैं।"[1]

---

१. दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां सम्पीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम्
कुर्वन्ति योऽक्षिभ्रुवि शंखदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु।
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान्।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम्। (मा० नि०)

इस रोग को सुश्रुत में अन्यतोवात के समान मानकर उसीमें अनन्तवात को ग्रहण करके दस ही शिरोरोग बतलाये गये हैं। इसी प्रकार तंत्रान्तर में 'कीर्तितास्तद्विदादश' से दस ही शिरोरोग कहे गये हैं। किन्तु माधवकरने इसके त्रिदोषजत्व तथा इसमें कम्प, अनुग्रह आदि लक्षणों को देखकर इसे केवल वातिक अन्यतोवात से विलक्षण माना है। इसलिये यहाँ पर अनन्तवात का पाठ अधिक पढ़ा गया है।

चक्रपाणिदत्त ने चरक की टीका में स्पष्ट लिखा है कि अनन्तवात को ही तत्रान्तर में अन्यतोवात कहा गया है, उसके लक्षणों में कुछ अन्तर नहीं, दोनों एक ही रोग है। परन्तु इतना भेद तो निश्चित है कि अन्यतोवात नेत्ररोगाधिकार में पढ़ा गया है और अनन्तवात शिरोरोगाधिकार में। संभव है एक में नेत्र की विकृति प्रधान होती हो दूसरे में नेत्र का विकार प्रधान न हो बल्कि शिरःशूल मात्र ही लक्षण हो। ऐसी दशा में पाश्चात्य वैद्यक के दो रोगों की सम्भावना होती है—'ग्लॉकोमा' तथा 'ट्राइजेमिनल न्यूरैल्जिया'। इनमें अन्यतोवात नेत्र रोगाधिकार की व्याधि होने से 'ग्लॉकोमा' का बोधक एवं अनन्तवात 'ट्राइजेमिनल न्यूरैल्जिया' का ज्ञापक होता है।

त्रिधारा नाडीशूल—(Trigeminal Neuralgia)—यह एक ऐसी अवस्था है, जिसमें दौरे के साथ तीव्र शिरःशूल अथवा मन्द तुदन के समान पीडा (Paroxymal or dull aching pain) पाँचवीं शिरस्कानाडी के पूरे क्षेत्र में बिना किसी प्रत्यक्ष वैकृतिक चिह्न (स्थानिक शोफ, विद्रधिव्रण प्रभृति) के होती रहती है।

हैतुकी[1]—यह रोग अधिकतर मध्यमायु के बाद की अवस्था में, स्त्री-पुरुष दोनों लिङ्गों में समान भाव से पाया जाता है, प्रायः शीत ऋतु में अधिक होता है। पीडा की प्रकृति ठीक ज्ञात नहीं, संभव है रक्तवाहिनियों की बाधा (disturbancc) कारण हो। कई बार तीव्र औपसर्गिक ज्वरों के बाद स्वास्थ्य के गिर जाने से या त्रिधारा नाडी की किसी शाखा पर कोई पूयोत्पादक स्थान हो, जैसे-जैसे कृमिदन्त

१. उपवासातिशोकातिरूक्षशीताल्पभोजनात् । (च. सि.)

अथवा अस्थ्यावरण शोथ की विद्यमानता के कारण नाडी में क्षोभ होकर शूल शुरू हो जाता है। शीत लग जाने से, केशों में कंघी करने से अथवा चर्वण से अचानक शिरःशूल प्रारम्भ हो जाता। कुलज प्रवृत्ति भी रोग में देखी जाती है। यह रोग विशुद्ध रूप से वातिक नाड़ी की संवेदनाजन्य ही होता है। इसमें नाडी गण्ड (Gasserian ganglion) की परीक्षा करने पर रचनासंबन्धी कोई भी विकृति दृष्टिगत नहीं होती।

लक्षण—पीडा प्रायः अचानक नासाछिद्र या नेत्राधःप्रदेश की त्वचा के नीचे से प्रारम्भ होकर नाडी के पूरे मार्ग में फैल जाती है। पीडा तीव्र गोलीलगने की, छेदने की सी, अग्नि से दाह होने की सी (Shooting, Burning or Penetrating) तथा विभिन्न काल मर्यादा की कुछ घण्टों से लेकर कई दिनों तक की हो सकती है। कई बार रुक रुक कर होती है कई बार अनवरत कई दिनों तक चलती रहती है। विभिन्न दौरों में पीडा अधिक तीव्र होती चलती है, और मोक्षकाल (Period of remission) छोटा होता जाता है। मोक्षकाल (दौरे के बीच के काल) में भी मन्दतोद (dull aching pain) होता रहता है। स्पर्शनाक्षम भी स्थान हो जाता है।

त्रिधारा नाडी की तीन शाखायें होती हैं¹, प्रथम विभजन (Opthalmic) का क्षेत्र कपालार्ध, ललाट, भ्रू, अक्षि (ऊर्ध्व नेत्रवर्त्म) नासा की ऊपरी श्लेष्मलकला, कपालास्थि तथा मस्तिष्कावरण है। अस्तु, पीडा का अनुभव इस पूरे क्षेत्र पर अर्थात् अक्षिभ्रू, नासा का ऊपरी भाग, ललाटादि पर होता है। जिसकी व्याख्या 'अक्षिभ्रू' शूल करके अनन्तवात के वर्णन में प्राचीनों ने किया है। दूसरे विभाजन या शाखा का क्षेत्र (Superior Maxillary) ऊर्ध्व हन्वस्थि के दाँत, मुख की त्वचा (गण्ड) कपोलार्द्ध, उत्तरोष्ठ (Upper lip) नासार्ध भाग,

१. दुष्टा दोषास्त्रयो मन्यापश्चाद्घाटासु वेदनाम् ।
तीव्रां कुर्वन्ति सा चाक्षिभ्रूशंखेष्वतिष्ठते ।
स्पन्दनं गण्डपार्श्वस्य नेत्ररोगं हनुग्रहम् ।

गला, कंठ शालूक और उपजिह्वा है। अस्तु, पीडा का अनुभव इस पूरे क्षेत्र पर होता है, जिसका प्राचीन वर्णन सूत्ररूप से-'हनुग्रह मन्या (ग्रीवा की दोनों सिरा) शूल, (गले का दर्द) गण्डपार्श्वशूल, गण्डकम्प" प्रभृति शब्दों से किया गया मिलता है। तीसरी शाखा (Inferior Maxillary branch) का क्षेत्र अधरोष्ठ, अधोहन्वस्थि, ठुड्डी, गण्ड का पार्श्व (a part of cheek) शंखप्रदेश (Temple), बाह्य कर्ण, कर्णमूल ग्रंथि (Parotid), मुख का फर्श, लाला ग्रंथियाँ, अधोहन्वस्थि में लगे दाँत, और जिह्वा हैं। अस्तु, पीडा का अनुभव इस पूरे क्षेत्र पर होता है जिसका वर्णन-'हनु सन्धि शूल, गण्डपार्श्वशूल, हनुग्रह (Lock Jaw), शंख देश की पीडा प्रभृति शब्दों से प्राचीन ग्रंथों में मिलता है।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर अनन्तवात को त्रिधारा नाडीशूल (Trigeminal Neuralgia) कहा जा सकता है। मन्याग्रह, हनुग्रह, घाटाग्रह प्रभृति चिह्न पेशीसंकोच (muscular Spaesm of the muscles of neck and face unilateral furring of the tongue) के कारण हो सकता है। नेत्रज रोगों में अश्रुस्राव, नासास्राव, नेत्राभिष्यन्द प्रभृति चिह्न मिल सकते हैं। अनन्तवात नामक रोग का दूसरा साम्य जातुकशूल शूल से भी है। क्योंकि इसमें पीडा उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार की अनन्तवात में। जैसा कि नीचे के उद्धरणों से स्पष्ट होता है।

"जातुक शिरःशूल (Sphenoidal Headache)—यह शिरःशूल प्रधानतया केन्द्र भाग में होता है, इस शूल का प्रसार शंखदेश, पीछे की ओर ग्रीवा पश्चाद् भाग घाटा तथा सामने की ओर गले के दोनों पार्श्वों अर्थात् मन्या भाग में और कनपटी के पीछे भी हो सकता है।"

चिकित्सा—यदि कोई क्षोभ उत्पन्न करने वाला कारण हो तो उसको दूर करना। पीडा में शमन प्राप्त कराने के लिए एक मिश्रण जिसमें टिंकचर जैल्सिमियम् (१०-१५ बूँद) 'सोडा सैलिसिलास' (१० ग्रेन) सोडा ब्रोमाइड (१० ग्रेन) पड़ा हो देना अथवा कोलटार वेदनाहर योग जैसे 'एस्प्रिन', 'पिरैमिडन' या 'फेनाल्जिन' ५ ग्रेन की मात्रा में

दिन में तीन बार देना । 'ट्राइक्लोर एथीलीन पर्ल्स' को रूमाल में तोड़ कर नस्य के लिये देना (Inhalation)। उष्णस्वेद या गम्भीर क्षकिरण का प्रयोग भी लाभप्रद बतलाया गया है।

यदि पीडा में दौरे का जोर रहे थोड़े थोड़े अन्तर से ही आने लगे तो ९०% एल्कोहल नाडी की शाखाओं (mandibular or Maxillary Nerve) में सूचीवेध के द्वारा देना अथवा नाडीगण्ड (Ganglion) में देना बहुत हितकर होता है।

यह चिकित्सा लाक्षणिक है। इसके प्रयोग से तात्कालिक शान्ति रोगी को मिल जाती है परन्तु रोग को निर्मूल करने के लिये आधारभूत आयुर्वेद की चिकित्सा ही श्रेयस्कर है। वह इस प्रकार की है :—

चिकित्सा—१. अनन्तवात में शिरामोक्षण करना विशेषतः लाभकारी है और शेष उपक्रमों में सूर्यावर्त्तनाशक भेषजों द्वारा उपचार करना चाहिये। २. अनन्तवात में आहार-विहार वातपित्तनाशक रखना चाहिये। ३. शहद में लपेट कर संयाव खिलाना चाहिये। ४. घृताश्य या घृतपक्व पुआ, मालपुआ खिलाना चाहिये। श्रीहाराणचन्द्र ने संयाव का अर्थ 'घृतादि के द्वारा पकाया गया गेहूँ का आटा' बतलाया है जिसका अर्थ पञ्जीरी होगा। किन्तु यदि 'संयाव से घृत, क्षीर, गुड और गेहूँ के आटे से पक्व अन्न परिभाषा माने तो हलुआ अर्थ होना चाहिये। इस रोग में घृतपूर खिलाने की भी व्यवस्था दी गई है। परिभाषा से घृतपूर मालपुआ का द्योतक होता है।[२] इसमें चीनी मिला हुआ दूध, नारियल का पानी या शीतल जल पिलाना चाहिये।

५. *लेप*—हरिद्रादि लेप-आमाहल्दी, मरोड़ फली, काकड़ा सींगी, रसवत् समान भाग में लेकर बकरी के दूध में पीसकर सिर पर लेप करना।

---

१. अनन्तवाते कर्त्तव्यः सूर्यावर्त्तहितो विधिः। शिराव्यधश्च कर्त्तव्योऽनन्तवातप्रशान्तये॥ आहारश्च प्रदातव्यो वापपित्तविनाशनः। मधुमस्तुकसंयावघृतपूरैर्विशेषतः॥ (यो. र.)

२. "संयावस्तु घृतक्षीरगुडगोधूमपाकजम्" घृतपूरस्तु—"मर्दिता समिता क्षीरनारिकेलघृतादिभिः। अवमथ्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुच्यते।"

६. विरेचन—कोष्ठ-शुद्धि के लिए विरेचन देना चाहिए। रक्त के विरेचन अर्थात् मोक्षण के लिए जलौका के द्वारा रक्त की शुद्धि करना चाहिये।

७. शिरो विरेचन।

८. नेत्राञ्जन—चन्द्रोदयावर्ति, या नागार्जुनवर्ति का अञ्जन लाभकारी है।

९. *योग*—सप्तामृत लौह-हरीतकी, विभीतक, आमलकी, मधुयष्टि, लौहभस्म समान भाग में लेकर योग बनाकर रख ले। एक माशा की मात्रा में प्रातः-सायं घृत आधा तोला और मधु एक तोला या समान भाग में मिलाकर सेवन करे।

१०. बृंहण एवं स्नेहन—आहार तथा विहार के द्वारा रोगी को संयत करना चाहिये।

अनन्तवात के समान धर्म वाले रोग अन्यतोवात का वर्णन, जैसा सुश्रुत का वर्गीकरण है, नेत्ररोगाध्याय में ही उचित है फलतः वहीं किया जायगा। उसकी समता पाश्चात्य वैद्यक में वर्णित 'ग्लाकोमा' (Glaucoma) के साथ है। यह अन्यतोवात भी नेत्ररोगों में पठित अधिमंथ का ही एक उपद्रव है। अधिमंथ के लक्षण बिल्कुल आधुनिक 'ग्लाकोमा' रोग से मिलता है जिसका विशेष वर्णन नेत्र रोगाध्याय में प्राप्त होगा।

—ooXoo—

८

वाग्भटोक्त कुछ अन्य शिरोरोग

पहले कहा जा चुका है कि वाग्भट ने जो अधिक शिरोरोगों का वर्णन किया है—ये सभी सिर के बाह्य भाग में होते हैं। यद्यपि इनका प्राचीन वर्णन सुश्रुत संहिता के अनुसार अन्यस्थलों में होना चाहिये, उदाहरण के लिये अरुंषिका, दारुणक, इन्द्रलुप्त, खालित्य एवं पालित्य का शल्यतन्त्रान्तर्गत क्षुद्र रोगों में, शिरोग्रन्थि, शिरोर्बुद,

शिरोविद्रधि, शल्यतंत्रान्तर्गत उन उन सामान्य अधिकारों में । तथापि आचार्य ने कुछ वैशिष्ट्य देखते हुए अथवा शिरःस्थान में होने के नाते उनका संग्रह कर दिया है जो उचित भी है । परन्तु शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार शिरोरोग अर्थात् शिरोरुजा, शिरःपीडा शिरःशूल अर्थ होने पर परिभाषा के अनुसार बद्ध या सीमित हो जाने पर उनका वर्णन अप्रासंगिक होता है क्योंकि चिकित्सा में भी उनको कोई विशिष्टता नहीं। अस्तु, उनका संग्रह इस निबंध में करना अनावश्यक प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में पुनरुक्ति या पिष्टपेषण मात्र होता है। अस्तु, उनको छोड़ दिया जाता है । हाँ एक उपशीर्षक रोग का विशेष उल्लेख आता है जिसका वर्णन करके इस अध्याय की समाप्ति की जायगी ।

पश्चात् कालीन ग्रन्थकारों ने जैसे 'आयुर्वेदविज्ञान', गदनिग्रहकार प्रभृति प्राचीन तथा आधुनिक लेखकों ने शिरोरोग के सन्बन्ध में बहुत बढ़ा संग्रह किया है जो अधिकतर मस्तिष्क तथा नाडी संस्थान (Diseases of the Brain and Nervous System) से सम्बन्धित है इनका भी संग्रह या वर्णन शिरोरोगाध्याय में मैंने अप्रासंगिक समझकर छोड़ दिया है क्योंकि प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार इनका वर्णन वात रोगाधिकार में जो कायचिकित्सा का अंग है मेरे विचार से उस अधिकारविशेष में होना चाहिये था ।

यदि आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक ग्रन्थों की ओर दृष्टिपात किया जाय तो वहाँ शिरःशूल का वर्णन दो रूपों में प्राप्त होगा, एक तो 'आर्गेनिक' शिरस्थ अंग मस्तिष्क के विविध भागों की विकृतियाँ (Pathological manifestation of Diflerent structures of the Brain and spinal cord) अथवा शरीर के विविध संस्थान के अवयवों की विकृतियाँ-जिनके कारण शिरःशूल हो अथवा दूसरा वर्ग वातनाडीजन्य शिरोवेदना (Neuralgic Headache) है । यहाँ पर दोनों अवस्थाओं में शिरःशूल का होना एक उपलक्षण मात्र है । चिकित्सा में लाक्षणिक चिकित्सा के आधार पर संशामक उपचार शिरःशूल का करते हुए प्रधान व्याधि या विकृति के उपचार में दत्तचित्त होकर उसके दूरीकरण का उपाय किया जाता है ।

प्राचीन वैद्यक में तो शिरःशूल को एक रोग मानते हैं, और दोष-भेद से उसका वर्गीकरण करके चिकित्सा की जाती है, साथ ही साथ उसी उपचार के द्वारा प्रधान इन्द्रिय-विकृति भी दूर हो जाती है, ऐसा मानते हैं। इसी सिद्धान्त को अपनाते हुए शिरःशूल की चिकित्सा में बड़े बड़े लम्बे उपक्रम बरते जाते हैं—जैसे स्वेद, नस्य, धूम, विरेचन, उपवास, रक्तमोक्षण, आहार, विहार प्रभृति सार्वदैहिक उपचार तथा लेप, सेक, शीर्षवस्ति, अभ्यंग प्रभृति स्थानिक उपक्रम किये जाते हैं—और इन दोनों उपक्रमों के विद्यमान होने से चिकित्सा में पूर्ण सफलता प्राप्त होती है।

इसी सिद्धान्त में आयुर्वेद की महत्ता है कि एक शिरःशूल जैसे व्यापक लक्षण को जिसमें आधुनिक युग के विविध साधनों के रहते भी ठीक निदान और चिकित्सा कठिन होती है, अपने दोषभेद की विवेचना के वर्गीकरण के द्वारा चिकित्सामार्ग सरल एवं 'हस्तामलकवत्' बना रखा है। कारण कोई भी हो, विकृति कोई भी हो एक लक्षण शिरःशूल को पकड़ कर उसको रोग मानकर उसकी विवेचना करते हुए दोषानुसार पूरे उपक्रमों को बरतने से लाभ होता है।

उपशीर्षक

"जिस समय बालक गर्भ में रहता है उसी समय माता के आहार-विहार के दोषों से यदि कपालस्थ वायु दूषित हो जाय तो उसके सिर पर एक सूजन उत्पन्न हो जाती है जो वर्ण में सवर्ण (चमड़े के रंग की ही होती है। उसमें पीड़ा नहीं होती, उसे उपशीर्षक कहते हैं।"[1]

१. कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते ।
सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम् ।

Cephalheamatoma. This consists of an effusion of blood between the skull and Pericranium and is more likely to occur in vertex than the breach presentation. The effusion gives rise to a soft fluctuant-tumour situated over one or other of the parietal bones or over the occiput.

इस रोग का पाठ बालरोग या कौमारभृत्य में होना चाहिये यह पाश्चात्य वैद्यक ग्रंथों में इसे उपरितन रक्तवाहिनियों के क्षत या भार के कारण होने वाले त्वचा और कपालस्थि के परिसर के बीच रक्त के इकट्ठे होने से (Cephal Heamatoma) और जल के संचय से Caput succedenum) उपशीर्षक कहा गया है। प्रायः इस रोग में चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती, कुछ दिनों में शोफ स्वयं शान्त हो जाता है।

चिकित्सा—यह रोग अपने आप शान्त हो जाता है यदि अधिक दिनों तक चलता रहे तो जौ, गेहूँ, तथा मूंग को पीसकर घी में मिला कर कोष्ण लेप करने से शोफ मिट जाता है। दशमूल क्वाथ या स्वरस में घी डालकर किंचिदुष्ण करके परिषेक करे। इससे शोथ मिट जाता है, पाक नहीं होता। परन्तु यदि कहीं उपसर्ग पहुँचकर पाकोत्पत्ति हो जाय तो विद्रधिवत् उपचार करना चाहिये। कई बार (बहुत ही कम) इसमें शोफ का उपशम न होकर निर्जीवाङ्गत्व (Gangrene) भी शुरू हो जाता है। कई बार रक्तविस्रावण से लाभ होता है।

Caput Succedenum–Oedema may be due to compression of superficial vessels during labour. The caput succedeneum is the most common example of this. The oedema is transient lasting only a few days, but occasionally the swollen tissues become injected, which for obvious reason is more likely to happen in perineal region, and the inflammation may go on to local gangrene. (Diseases of infancy and childhood by sheldon)

शालाक्यतन्त्र

मुखरोगाध्याय

Diseases gf Buccal Cavity or Mouth.

(Affections of lips, Gums, Teeth, Tongue, Palate and Throat)

ओष्ठौ च दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा च तालु च ।
गलो मुखादिसकलं सप्ताङ्गं मुखमुच्यते ॥

मुखरोग का अर्थ मुखगत या मुखाश्रित रोग है। मुख में होने वाले रोग तो बाह्य आभ्यन्तर पूरे मुखमण्डल में हो सकते हैं; परन्तु यहाँ पर मुख से मुख-गह्वर (Buccal cavity) का ग्रहण किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। मुखगह्वर में समष्टि और व्यष्टि के रूप में विचार करते हुए स्पष्टतया दो विभाजन करने पड़ेंगे। प्रथम ऐसे रोग का जो पूरे मुख को प्रभावित करें, जिसकी व्याख्या 'सर्वसर' नाम से संहिताओं में मिलती है। दूसरा विभाग मुखगह्वर में पाये जाने वाले विभिन्न अवयवों के जैसे ओष्ठ, कण्ठ, तालु, दन्तमूल (मसूड़े) दन्त, और जिह्वा में होने वाले विकारों का है। इन सभी अववों के भिन्न-भिन्न रोगों का स्वतन्त्र-स्वतन्त्र वर्णन आगे के पाठों में चलता रहेगा। इस प्रकार समष्टि या समुदाय रूप में देखने पर मुख रोगों का (मुख गह्वर गत) एक ही अध्याय में पाठ है, परन्तु व्यष्टि रूप में या पृथक्-पृथक् देखने से मुख के भीतर सात अवयवों के अनुसार सात छोटे-छोटे अध्याय हो जायेंगे। इसी लिये मुख को सप्ताङ्ग युक्त योगरत्नाकर ने बतलाया है।

१

मुख-रोग

मुखरोगों में सामान्य हेतु एवं सम्प्राप्ति—आनूपमांस, क्षीर, दधि और उड़द का अधिक सेवन करने से श्लेष्मा प्रवृद्ध होकर बढ़ता तथा अन्य दोषों को कुपित करके मुखरोगों को पैदा करता है। अर्थात् मुखरोगों में कफ ही प्रधान रूप से विकार करने वाला दोष है।[1]

मुख रोगों की संख्या—मुख रोगों में पाये जाने वाले रोगों की कुल संख्या सुश्रुत ६७ तथा वाग्भट ने ७५ बतलाई है। जो निम्नलिखित हैं।

रोग	सुश्रुत	वाग्भट
ओष्ठरोग	८	१२
दन्तरोग	८	१०
दन्तमूलरोग	१६	१३
जिह्वारोग	५	६
तालुरोग	६	८
कण्ठरोग	१८	१८
सर्वसर	३	

समन्वय और सुश्रुत की मान्यता—सुश्रुताचार्य ने प्रधानतया ओष्ठ रोगों की संख्या आठ ही मानी है; परन्तु वाग्भट ने इनमें चार अधिक जोड़ दिये हैं—'जल बुद्बुद' या 'जलार्बुद' (Cyst), खण्डौष्ठ

---

१. आनूपपिशितक्षीरदधिमाषादिसेवनात् ।
मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः ॥ (यो. र.)
स्युरष्टावोष्ठयोर्दन्तमूलेषु दश षट् तथा । दन्तेष्वष्टौ च जिह्वायां पञ्च स्युर्नव तालुनि ॥
कण्ठे त्वष्टादश प्रोक्तास्त्रयः सर्वसराः स्मृता । एवं मुखामयाः सर्वे सप्तषष्टिर्मता बुधैः ॥
मत्स्यमाहिषवाराहपिशितामकमूलकं । माषसूपदधिक्षीरशुक्तेक्षुरसफाणितम् ॥
अवाक्शय्यां च भजतो द्विषतो दन्तधावनम् । धूमच्छर्दनगण्डूषानुचितं च सिराव्यधम् ॥
क्रुद्धाः श्लेष्मोल्वणा दोषाः कुर्वन्त्यन्तर्मुखे गदान् ।

(Here lip) और कपोलगत एक गण्डालजी नामक व्याधि । वास्तव में सुश्रुत के वर्गीकरण के अनुसार इनका ग्रहण शल्यतन्त्र के अन्तर्गत 'जलार्बुद' का ग्रन्थि के अधिकार में, खण्डौष्ठ का सन्धान कर्म में तथा कपोलगत 'गण्डालजी' का मुखबाह्य रोगों में करके रखना ही उचित प्रतीत होता है । दन्तगत रोगों में वाग्भट ने दो विशेष रोगों का 'चालन' एवं 'दन्त भेद' का वर्णन किया है । इनमें चालन में दांत हिलते हैं । यह एक लक्षण मात्र है जो कई अवस्थाओं में मिल सकता है । अत एव सुश्रुताचार्य ने इसका स्वतन्त्र उल्लेख न कर चिकित्सा के प्रसङ्ग में इस अवस्थाविशेष की चिकित्सा बतलायी है । यही दशा 'दन्तभेद' नामक रोग की भी है । दन्तभेद का ग्रहण सुश्रुत प्रतिपादित 'भञ्जनक' रोग में हो सकता है । आचार्य सुश्रुत ने दन्तमूल में होने वाले १६ रोगों का तथा वाग्भट ने कुल १३ ही रोगों का वर्णन किया है तीन रोगों का (दन्तवेष्ट, परिदर एवं अधिदन्त) उल्लेख इस प्रकरण में छोड़ दिया है ।

जिह्वागत रोगों में सुश्रुत ने केवल पाँच रोगों का ही वर्णन किया और अष्टाङ्गहृदयकार ने एक 'अधिजिह्वक' नामक व्याधि का अधिक वर्णन किया है । जो वास्तव में एक ही रोग (Renula) है—इनकी कल्पना के अनुसार जिह्वा के ऊपर हुआ तो 'उपजिह्वा,' जीभ के नीचे हुआ तो 'अधिजिह्वा' संज्ञा दी जायगी ।[1] 'अधिजिह्वक' नामक रोग का वर्णन सुश्रुत ने कंठ के रोगों में किया है ।

तालुगत रोगों में सुश्रुत ने वाग्भट से एक अधिक रोग (अध्रुष) का वर्णन करके तालुगत रोगों की संख्या नौ बतलाई है ।

कण्ठगत रोगों में सुश्रुत एवं अष्टाङ्ग दोनों की प्रायः समानता है । दोनों ने कुल रोगों की सूची अठारह की दी है । परन्तु वाग्भट ने 'अधिजिह्वक' नामक रोग का यहाँ पर वर्णन न करते हुए एक विशेष रोग

१. प्रबन्धनेऽधो जिह्वायाः शोफो जिह्वाग्रसन्निभः ।
ताद्दगेवोपजिह्वास्तु जिह्वाया उपरि स्थितः ॥ (अ. हृ. २१ उ०)

'गलगण्ड' का उल्लेख किया है, जो वास्तव में सौश्रुतीय वर्गीकरण के अनुसार शल्यतन्त्र के भीतर समाविष्ट है। यह उचित भी है क्योंकि यहाँ पर गले के रोग से गले के भीतरी रोगों का वर्णन अभीष्ट है न कि गले के बाहर के रोगों का।

सर्वसर रोगों में प्रधान दोष-भेद से सुश्रुत ने तीन रोगों का उल्लेख किया है। अष्टाङ्गहृदय ने इस रोग के कई और उपभेदों का वर्णन करते हुए कुल मुखपाकों की संज्ञा आठ कर दी है।

रोग	अधिष्ठान	दोषप्राबल्य	अंग्रेजी पर्याय
१. वातज ओष्ठरोग (कोप)	ओष्ठ (Lips)	वा०	Cracked lips
२. पित्तज " "	"	पै०	Herpes-
३. श्लेष्मज " "	"	श्लै०	Labialis
४. सन्निपातज" "	"	त्रि०	"
५. रक्तज " "	"	र०	"
६. मांसज " "	"		Epilhelioma of the lip.
७. मेदज " "	"		Macrochelia
८. अभिघातज या क्षतज ओष्ठ कोप (खण्डोष्ठ)	"	वा. क. रक्त	Hare lip.
१. शीताद	दन्तमूल (Gums)	कफशोणित	Bleeding or Spongy-gums
२. दन्तपुप्पुट	"	"	Gingivitis or Gum boil
३. दन्तवेष्ट	"	"	Pyorrhoea Alveolaris
४. शौषिर	"	कफवात	
५. महाशौषिर	"	त्रिदोषज	Cancrum oris
६. परिदर	"	पित्तरक्तकफ	Gangrenous stomatitis
७. उपकुश	"	पित्तरक्त	
८. दन्तवैदर्भ	"	अभिघात	Gingivitis
९. खलिवर्द्धन, वर्द्धन अधिदन्त	दन्त (Teeth)	वायु	Extra or wisdom tooth

रोग	अधिष्ठान	दोषप्रावल्य	अंग्रेजी पर्याय
१०. अधिमांस	दन्त (Teeth)	कफ	Impacted wisdom tooth
११. दन्तनाडी	"	पाँच प्रकार	Sinuses of the Gums
१२. दन्तविद्रधि			Alveolar Abscess
१. दालन	दन्त	वा०	Toothache
२. कृमिदन्त	"	"	Dental carries
३. भंजनक	"	"	Odontitis
४. दन्तहर्ष	"	कफवात	
५. दन्तशर्करा	"	"	Tartar
६. कपालिका	"	"	Enamel separation
७. श्यावदन्त	"	पित्तरक्त	
८. हनुमोक्ष, हनुग्रह हनुस्रंस	"	वा०	Lock jaw Dislocation of jaw
१. जिह्वाकंटक	जिह्वा (Tongue)		Chronic superficial glossilis
२. वातकंटक	"	वा०	Cracked or fissured tongue
३. पित्तकंटक	"	पि०	Redgland tongue
४. श्लेष्मकंटक	"	श्ले०	Ictheosis
५. अलास	"	कफरक्त	Sub lingual Abscess
६. उपजिह्विका	"	"	Ranula or salivary cyst
१. गलशुण्डिका	गल (Throat)	"	Elongeteduvula
२. तुण्डिकेरी		"	Elongated tonsil
३. कच्छप	तालु	"	Sarcoma
४. अर्बुद	(Palate)	रक्त	Cancer
५. मांससंघात	"	श्लेष्मा	Adenoma of the Palate
६. तालुपुप्पुट	"	कफभेद	Epulis of the Palate
७. तालुपाक	"	पित्त	Ulceration of the Palate

रोग	अधिष्ठान	दोषप्रावल्य	अंग्रेजी पर्याय
८. तालुशोष	तालु (Palate)	वा०	
९. अध्रुष	"	र०	Palatitis
१. रोहिणी	गल (Throat)	१. वा. २. पि. ३. श्लै. ४. र.	Dyptheria
६. कंठशालूक	"	कफ	Adenoids
७. अधिजिह्वक	"	कफरक्त	Epiglotitis
८. वलय, गलौघ या विडालिका	"	कफ	
९. वलास	"	कफवात	
१०. वृन्द	"	पित्तरक्त	
११. एकवृन्द	"	कफरक्त	
१२. शतघ्नी	"	त्रिदोष	
१२. गिलायु	"	रक्तकफ	
१३. गलविद्रधि	"	त्रिदोष	Pharyngeal Abscess
१४. गलौघ	"	रक्तकफ	
१५. मांसतान	"	त्रिदोषज	
१६. विदारी	"	पित्त	
सर्वसररोग	सर्वमुख (M. Membrane of the mouth)	×	Stomatitis
१. वातिक	"	वा०	Ulcerative stomatitis
२. पैत्तिक	"	पि०	Gangrenous stomatitis
३. श्लैष्मिक	"	श्लेष्मा	Apthous Stomatitis

—००:०:००—

२

मुखरोगों की साध्यासाध्यता एवं सामान्यप्रतिषेध

मुख में होने वाले रोगों में अर्बुद (कराल, मांसौष्ठ पाक, रक्तौष्ठ-पाक एवं जलार्बुद को छोड़कर), कच्छप, तालु पिटिका, गलौघ, सुषिर, महाशौषिर, स्वरघ्न, श्यावदन्त, शतघ्नी, वलय, अलस, त्रिदोषज नाडी व्रण, त्रिदोषज-रक्तज-मांसज-ओष्ठकोप, रक्तजन्य रोहिणी, सान्निपातिक रोहिणी, दन्तभेद (दाँतों का फटना) पक्व उपजिह्विका और स्वरभ्रंश प्रभृति रोग असाध्य हैं। इसी तरह दन्तभेद और दन्तहर्ष याप्य माने गये हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी मुखरोग साध्य हैं, कहीं पर औषधोपचार से काम चल जाता है एवं कहीं पर शस्त्रकर्म के द्वारा चिकित्सा की जाती है। सुश्रुत ने त्रिदोषज ओष्ठपाक, दन्तरोगों में दालन और अवभंजन, कण्ठरोगों में वृन्द, वलास और विदारिका और मांसतान को भी असाध्य बतलाया है।[1]

असाध्य रोगों की चिकित्सा में व्यर्थ प्रयास और व्यय होता है। अस्तु, शास्त्रकारों ने असाध्य रोगियों में चिकित्सा करने का निषेध किया है।[2] किन्तु साथ ही रोगी की तथा उसके परिवार की सान्त्वना के लिये अथवा कई बार दैवयोग से अरिष्ट युक्त रोगी भी जीवित होते

---

१. ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजा।
दन्तवेष्टेषु वर्ज्यौ तु त्रिलिङ्गगमतिसौषिरौ॥
दन्तेषु च न सिद्ध्यन्ति श्यावदालनभञ्जनाः।
जिह्वारोगे वलासस्तु तालुजेष्वर्बुदं तथा॥
स्वरघ्नो वलयो वृन्दो वलासः सविदारिकः।
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी गले॥
असाध्याः कीर्त्तिता ह्येते रोगा दश नवोत्तराः।
तेषु चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत्॥ (सु.)

२. असाध्यन्नोपक्रमेत्। (सु. सू. ६)

पाये गये हैं इसलिये जब तक साँस रोगी लेता रहे तब तक चिकित्सा करते रहनी चाहिये ।[1] ऐसी अवस्था में आचार्यों ने 'प्रत्याख्यान' का आदेश किया है जिसका अर्थ होता है कि रोगी के अभिभावक या सम्बन्धियों में इस बात को स्पष्ट कह देना चाहिये कि रोग असाध्य है। यदि चिकित्सा नहीं की जायगी तो रोगी निश्चित मर जायगा और चिकित्सा करने में भी फल में संशय है—सफलता दैवाधीन है। फिर भी चिकित्सा कर रहा हूँ।

सामान्य मुखरोग चिकित्सा—(१) मुख गह्वर स्थित रोगों में अधिकतर कफ और रक्त की प्रधान दुष्टि होती है, इसलिये इनमें रक्तमोक्षण एक सर्वप्रथम उपाय है।[2] विरेचनद्वारा कोष्ठशुद्धि एवं आवश्यकतानुसार वामक ओषधियों का प्रयोग भी हितावह होता है।

(२) कवलग्रह और गण्डूष की क्रिया प्रायः सभी मुखरोगों में लाभकारी होती है। (३) नस्य तथा शिरोविरेचन भी मुखरोगों में पथ्य है। तथा (४) स्वेदन, (५) विरेचन, (६) वमन, (७) प्रतिसारण, (८) धूम, (९) शस्त्रकर्म, (१०) अग्निकर्म, (११) तर्पण प्रभृति कर्मों के द्वारा मुखरोगों में शान्ति मिलती है।[3]

पथ्य—सामान्यतः सभी मुखरोगों में पुराना चावल, जौ, मूँग, कुल्थी, करेला, परवल, कोमल मूली, गर्म पानी, तीक्ष्ण, तिक्त एवं कटुरस पथ्य माना गया है। विशेषतः ऐसा आहार हो जो कारणभूत कफ एवं रक्त का शोधक हो। खाने में जौ की दलिया, रोटी, काकुन, कोदो और सावाँ का भात भी प्रशस्त है। इसके अतिरिक्त ताम्बूल

१ तावत् चिकित्सा कर्त्तव्या यावच्छ्वसिति मानवः ।
यावत् कंठगतप्राणस्तावत्कार्या प्रतिक्रिया ॥
कदाचिद्दैवयोगेन दृष्टारिष्टोपि जीवति ।

२. गलदन्तमूलदशनच्छदेषु रोगाः कफास्रभूयिष्ठाः ।
तस्मादेतेषु रुधिरं विस्रावयेद् दुष्टम् ॥

३. स्वेदो विरेकः वमनं गण्डूषः प्रतिसारणम् ।
कवलोऽसृक्स्रुतिर्नस्यं धूमः शस्त्राग्नितर्पणम् ॥

का सेवन, कर्पूरवासित जल या कर्पूराम्बु, खदिर और घृत का सेवन भी मुखरोगों में हितकर होता है। भोजन में हरे शाक, ताजे फल, सूखे मेवे, मक्खन, गाजर, टमाटर, मोसम्मी, सन्तरा, नीबू, हरी धनियाँ, पालक, आँवला, आलू बुखारा प्रभृति द्रव्य विशेषतः जिन द्रव्यों में जीवतिक्ति द्रव्य 'ए,' 'बी,' 'डी' तथा 'सी' मिलते हों उनका सेवन हितकर है।[1]

अपथ्य—सभी मुखरोगों में सामान्यतः अम्लपदार्थ दही, दूध, गुड़, मिठाई, उड़द, रूक्षान्न, कठिन, भारी और अभिष्यन्दी आहार वर्ज्य हैं। ठण्ढे पानी का सेवन, दातून, करना, कड़े पदार्थ का खाना, मछली का सेवन, आनूपदेशज प्राणियों के मांस तथा दिन में सोना अहितकर होता है। मुख को नीचे करके या लटकाकर सोना भी अपथ्य है।[2]

सामान्ययोग—गण्डूष—खदिरादि गण्डूष, खैर, लोहा, आँवला, हर्रे, बहेरा, अर्जुन की छाल, एरण्ड और पूतिखदिर, का काढ़ा बनाकर गण्डूष (कुल्ला) करने से सभी मुखरोगों में लाभ होता है। (गण्डूष का अर्थ कुल्ली भरना होता है।)

पटोलादि गण्डूष—पटोल, शुण्ठी, त्रिफला, इन्द्रायण मूल, का त्रायमाण, कुटकी, हरिद्रा, दारु हरिद्रा और गुडूची के क्वाथ का गण्डूष अथवा कवल धारण करना।[3]

सप्तच्छदादि क्वाथ—सप्तपर्ण त्वक्, सुगन्धबाला, पटोलमूल, नागरमोथा इनका हर्रे, चिरायता, कुटकी, मुलैठी, अमलतास का गूदा और

१. तृणधान्ययवा मुद्गाः कुलत्था जाङ्गलो रसाः ।
वहुपत्रो कारवेल्लं पटोलं बालमूलकम् ॥
कर्पूरनीरं ताम्बूलं तप्ताम्बु खदिरो धृतम् ।
कटुतिक्तौ च वर्गोयं मित्रं स्यान्मुखरोगिणाम् ॥

२. दन्तकाष्ठं स्नानमम्लं मत्स्यमानूपमामिषम् । दधिक्षीरं गुडं माषं रूक्षान्नं कठिनाशनम् ॥
अधोमुखेन शयनं गुर्वभिष्यंदकारि च । मुखरोगेषु सर्वेषु दिवा निद्रां च वर्जयेत् ॥

३. पटोलशुण्ठीत्रिफलाविशालात्रायन्तितिक्ताद्विनिशामृतानाम् ।
पीतः कषायो मधुना निहन्ति मुखे स्थितश्चास्य गदानशेषान् ॥

चन्दन क्वाथ बनाकर गण्डूष या, कवल धारण करना या पीने में प्रयोग करना सामान्यतया मुखरोगों में लाभप्रद होता है ।[1]

कल्क—पीतदारु कल्क—दारुहल्दी का रस या रसवत लेकर पकावे, गाढ़ा होने पर उसमें गेरु और मधु डालकर मुख में रखे ।

त्रिफलादि कल्क—त्रिफला एक सेर लेकर चतुर्गुण जल में क्वाथ कर चतुर्थांशावशिष्ट जल शेष रखकर पुनः उसे कड़ाही में डालकर उसमें पटोलमूल, नीम की छाल, मुलेठी, अडूसा, चमेली के पत्ते, काला कड़वा खैर, सफेद खैर, त्रिफला प्रत्येक का चार चार तोला चूर्ण डालकर पकावे और गाढ़ा हो जाने पर उसकी तीन-तीन माशे की गोली बनाकर उसका मुख में धारण करना अथवा इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ का गण्डूष या कवल धारण सामान्यतया सभी मुखरोगों में हितकर होता है ।

कालक चूर्ण—गृहधूम, यवक्षार, हरताल, सैंधव, पाठा, त्रिकटु, रसाञ्जन, तेजोह्वा, त्रिफला, लौह और चीते का चूर्ण बनाकर मधु के साथ मिलाकर मुख में धारण करना ।[2]

प्रतिसारण—दन्त, जिह्वा, तालु तथा अन्य मुखरोगों में ओषधि के चूर्ण, कल्क तथा लेह प्रभृति द्रव्यों को अंगुली के सहारे धीरे-धीरे घर्षण करना (रगड़ना) प्रतिसारण कहलाता है ।[3]

जात्यादि तैल—चमेली के पत्ते के क्वाथ, शंखपुष्पीस्वरस, बकुल के छाल का क्वाथ डालकर तिलतैल का पाक करे उसमें गायत्री, आम की गुठली, त्रिफला, त्रिकटु, चव्य, नीलोत्पल, कूठ, मुलैठी, दारुहरिद्रा, हरिद्रा, नागरमोथा, सुगन्धबाला, लोध्र, सिन्दूर, स्वर्ण गैरिक और वटाङ्कुर का कल्क बनाकर छोड़े । इस प्रकार का सिद्ध जात्यादि तैल

१. सप्तच्छदोशीरपटोलमुस्त हरीतकी मुस्तक रोहिणीभिः ।
यष्ट्याह्वराजद्रुमचन्दनैश्च क्वाथंपिवेत्पाकहरं मुखस्य ॥

२. गृहधूमयवक्षारपाठाव्योषरसाञ्जनम् । तेजोह्वात्रिफलालोहं चित्रकञ्चेति चूर्णकम् ॥
सक्षौद्रं धारयेदेतद् गलरोगविनाशनम् । कालकं नाम तच्चूर्णं दन्तास्यगलरोगनुत् ॥

३. दन्तजिह्वामुखानां यच्चूर्णकल्कावलेहकैः । शनैर्घर्षणमङ्गुल्या तदुक्तं प्रतिसारणम् ॥

सम्पूर्ण मुखरोगों में धारण, गण्डूष और कवल के रूप में प्रयुक्त होता तथा भगन्दर, उपदंश एवं दुष्ट व्रणों में स्थानिक प्रयोग के द्वारा प्रयुक्त होकर लाभप्रद होता है।[1]

खदिरादि तैल—खैर की छाल २०० तोले, मौलसिरी की छाल २०० तोले लेकर कूटकर २०४८ तोले जल में डालकर पकावे जब ५१२ तोले जल शेष रहे तो कपड़े से छान ले। पीछे उसमें तिल का तेल १२८ तोले और खैर की छाल, लौंग, गेरु, अगर, पद्माख, मजीठ, लोध, मुलैठी, लाख, वट की छाल, नागरमोथा, दालचीनी, जायफल, कबाबचीनी, अकरकरा, पतंग, धाय के फूल, छोटी इलायची, नागकेसर और कायफर की छाल प्रत्येक १-१ तोला ले उनका कल्क करके मिलावे। तैल पाक विधि से मंद आँच पर पकाते हुए जब तैल सिद्ध हो जाय तो उतार कर ठंडा होने पर उसमें १ तोला कपूर का चूर्ण मिलाकर शीशी में भर ले।

उपयोग—इस तैल से मुँह का पकना, मसूड़ों का पकना उनमें मवाद (पीप) का होना, दाँतों का सड़ना, दाँतों में छिद्र होना दाँतों का फटना दाँतों में कीड़े होना, मुँह की दुर्गंध, जीभ, तालु अथवा ओठ के रोग दूर होते हैं।

वक्तव्य—शार्ङ्गधर में यह पाठ इरिमेदादि तैल के नाम से मिलता है। उसमें इरिमेदक स्थान पर खैर तथा मौलसिरी (वकुल) की छाल लेकर बनाने से यह योग अधिक गुणकारक होता है। शार्ङ्गधर

१. जातीपल्लवतोयेन शंखपुष्पीरसेन च।
वकुलत्वक्कषायेण पचेत्तैलं तिलोद्भवम् ॥
गायत्रीमाम्रबीजञ्च त्रिफलां कटुकत्रयम् ।
चव्यं नीलोत्पलं कुष्ठं मधुकं रजनीद्वयम् ॥
मुस्तकं बालकं रोध्रं सिन्दूरं स्वर्णगैरिकम् ।
कल्कीकृत्य क्षिपेत्तत्र वटरोहमयोऽपि च ॥
जात्याद्यांख्यमिदं तैलं निखिलान्मुखजान्गदान् ।
भगन्दरोपदंशौ च व्रणं दुष्टं निहन्ति च ॥ (भै. र.)

से किंचित् परिवर्त्तित यह खदिरादि तैल का योग है—इसका उद्धरण स्वर्गीय वैद्य पं० यादव जी महाराज के अनुसार उनके संग्रह सिद्ध योग से दिया गया है। इस तैल को मसूड़ों पर लगाने, तैल एवं गण्डूष के रूप में मुख रोगों में करना चाहिये। इरिमेदादि तैल का पाठ दन्त रोगों में आगे दिया जावेगा।

खदिरादिवटी—२०० तोले खैर और १०० तोले काला खैर या पूति खदिर को आठ गुने जल में पका कर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बना ले। फिर उसे छान कर पुनः कड़ाही में डाल कर पकावे और उसमें सुगन्धबाला, खस, पतंग, गेरू, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, पठानी लोध, ऊख की जड़, मुलैठी, लाख, सफेद सुरमा, काला सुरमा धाय के फूल, कायफल, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला, दालचीनी, इलायची, नागकेसर, तेजपात, अगर, नागरमोथा, मजीठ, बरगद की जटा, जटामांसी, धमासा की जड़, पद्माख, एलुवा और लज्जालु पीस कर चूर्ण बना कर डाले। दवा को बराबर चलाता रहे ताकि जलने न पावे जब गाढ़ा हो जावे तो उतारे और उसमें जावित्री, लौंग, जायफल और कंकोल चार-चार तोले और अच्छा कपूर १६ तोले डाल कर मटर के बराबर गोलियाँ बना ले। इन गोलियों को मुख में धारण करने से समस्त मुखगह्वर के रोग अच्छे होते हैं, दाँत बलवान् होते हैं। स्वस्थ व्यक्ति के मुख में धारण करने से मुखरोगों का निवारण होता है[1]।

सर्व प्रकार के मुखरोगों में इसी प्रकार क्षीर, ऊख का रस, गोमूत्र, दधि, मट्ठा, खट्टी कांजी, तैल और घृत प्रभृति द्रव्यों का स्वतंत्र या ओषधियों से सिद्ध करके कवल धारण करना शास्त्र में प्रशस्त माना गया है।[2]

सहकारादि बटी—आम की छाल का काढ़ा नीम की छाल का काढ़ा, खदिर का काढ़ा, असन का काढ़ा प्रत्येक आधा द्रोण लेकर

१. शुष्का मुखे विनिहता विनिवारयन्ति रोगान् गलौष्ठरसनाद्विजतालुजातान्
कुर्युर्मुखे सुरभितां पटुतां रुचिञ्च स्थैर्य्यं परं दशनगं रसना लघुत्वम्। (यो. र.)

२. क्षीरेक्षुरस गोमूत्रदधि मस्त्वम्ल कांजिकैः।
विदध्यात्कवलान वीक्ष्य दोषं तैलघृतैरपि॥ (सु.)

सबको एक में मिलाकर गाढ़ा करके घनसत्त्व बना ले फिर उसमें श्वेत चन्दन, सुगन्धबाला, लाल चन्दन, गेरू, लवंग, धाय का फूल, हल्दी, दारु हल्दी, लोध, जायफल, निशोथ, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नाग केसर, त्रिफला, वटांकुर, मजीठ, जटामांसी, मुस्तक, काला नमक, शुंठी, मरिच, छोटी पीपल, लौह भस्म और कपूर प्रत्येक का एक-एक पल महीन लेकर मिलाकर गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को मुख में रख कर चूसने से सम्पूर्ण मुख, जिह्वा एवं तालुगत रोगों में लाभ पहुँचता है।

रस के योग—*रसेन्द्रवटी*—शुद्ध पारद, गन्धक, शीलाजित, प्रवाल-भस्म, लौहभस्म सभी समान भाग में लेकर पारद की चौथाई मात्रा में सुवर्ण भस्म डाले। फिर इसमें निम्ब पत्र स्वरस अशन वृक्ष स्वरस और चित्रक क्वाथ की एक-एक भावना देकर दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना कर रख ले। नित्य एक गोली प्रातः त्रिफला क्वाथ, त्रिफलाहिम या केवल जल के साथ लिया करे। इसके प्रयोग से सम्पूर्ण प्रमेह, वात रोग, ज्वर, मुखरोग तथा मुखरोगजनित ज्वर नष्ट होते हैं। शरीर की अग्नि, बल और वीर्य की वृद्धि तथा रसायनियों की पुष्टि होती है।

सप्तामृत रस, चतुर्मुखरस, मुखरोगनाशक रस और पार्वतीरस[1] के पाठों का संग्रह भैषज्यरत्नावली में मिलता है। इनमें अधिकतर पारद गन्धक के अतिरिक्त, लौह, ताम्र, अभ्रक, गुग्गुल, शिलाजतु आदि के योग मिलते हैं। इनका प्रयोग सामान्यतया आभ्यन्तरोपचार के लिये सभी मुखरोगों में श्रेयस्कर होता है।

---

१. पार्वतीशिवसम्भूतो दरदो मधु पुष्पकं।
गुडूची शाल्मली द्राक्षा धान्यभूनिम्बमार्कवम्॥
तिलमुद्गपटोलञ्च कूष्माण्डलवणद्वयम्।
यष्टिका धान्यकं भस्मं चान्तर्दग्धं समं समं।
मुखरोगं निहन्त्याशु पार्वती रस उत्तमः।
पित्तज्वरं चिरं हन्ति तिमिरञ्च तृषामपि॥

३

धूमोपयोग

(Inhalation of Gases and Vapours by the method of cigarettes and pipes)

आयुर्वेद के शालाक्य नामक इस अंग में धूम का बड़ा महत्त्व वर्णित है। सुश्रुत ने लिखा है कि यथाविधि बने धूम का यथाशास्त्र उपयोग करने से मनुष्य की इन्द्रियाँ स्वस्थ और वाणी तथा मन प्रसन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त केशश्मश्रु तथा दाँत दृढ़ हो जाते हैं, एवं मुख सुगन्धित और विशद हो जाता है। वायु तथा कफ की अधिकता से होने वाले मुख, नासा, कर्ण, कण्ठ तथा शिर के रोग भी नष्ट हो जाते हैं।[1]

यही कारण है कि सिर, नाक, आँख, मुँह, कान और कंठगत रोगों के इस उपक्रम का चिकित्सा में बहुधा प्रयोग आया है। अस्तु इस स्थल पर इस क्रिया का एक सरल, सुबोध तथा विशद वर्णन देना आवश्यक हो जाता है।

सुश्रुत ने धूम के पाँच प्रकार बतलाये हैं, परन्तु चरक ने प्रायोगिक, स्नैहिक एवं वैरेचनिक इस प्रकार के तीन ही भेदों का उल्लेख किया है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने चरक के तीन भेदों के भीतर ही सुश्रुतोक्त दो इतर (कासघ्न और वामक) भेदों को समाविष्ट कर लिया है। मूलतः धूम के अन्तःपरिमार्जन या बहिर्मार्जन कर्म के लिये तीन ही भेदों का कथन समुचित है—क्योंकि कासघ्न चौर वामक धूम तो आवस्थिक प्रयोग हैं—अवस्थाविशेष में ही इनका प्रयोग होता है। अस्तु इनको विशिष्ट धूम के वर्गीकरण में रखना चाहिये। तथा सामान्य त्रिविध धूम का ही वर्णन प्रस्तुत में ग्रहण करना चाहिये।

१. नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः ।
दृढ़केशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिविशदाननः ॥ (सु. सू. ४०.)

सुश्रुतोक्त पञ्चविध धूमों का वर्णन कर देने से आयुर्वेद में धूमोपयोग का (Inhalation of Vapour or Gases) विधान स्पष्ट हो जाता है अतएव उसीका वर्णन यहाँ पर प्रासंगिक है।

प्रायोगिक—यह एक मृदु तथा साधारण प्रयोग है। इसका व्यवहार स्वस्थ व्यक्तियों को नित्य करना चाहिये। इस धूमोपयोग का प्रयोजन अनागत बाधाप्रतिषेध (Profilaxis) ही अधिक है, बल्कि आगत-बाधा प्रतिषेधात्मक (Curative Value) कम है। चरक ने लिखा है कि इसका नियमित एवं यथाविधि प्रयोग करने से केश, सिर, स्वर तथा ज्ञानेन्द्रिय संबन्धी विकार नहीं हो पाते; प्रत्युत ये अंग बलवान् हो जाते हैं। वायु तथा श्लेष्मा के कारण होने वाले रोग नहीं होते। वायु एवं कफ कितने भी प्रबलरूप से कुपित क्यों न हों; परन्तु ऊर्ध्व जत्रुगत कोई भी विकार ऐसे व्यक्तियों में नहीं उपजा सकते, और न शिरोगत ही कोई रोग पैदा कर सकते हैं।[1]

प्रायोगिक धूमपान के नियमित प्रयोग से सिर का भारीपन, शिरःशूल, पीनस, अर्धावभेदक, कर्ण एवं चक्षुगत पीडा, कास, श्वास, हिक्का, गलग्रह, दाँतों की दुर्बलता, नासा, कर्ण, चक्षुःप्रभृति उपाङ्गों के स्राव, नासा या मुख से दुर्गंध आना, अनुग्रह, मन्याग्रह, अरोचक, दन्तशूल, खुजली, कृमिरोग, मुख की पाण्डुता, स्वरावसाद, कफस्राव, गलशुण्डी, उपजिह्विका, खालित्य, पिंजरत्व (केशों का पीतवर्ण का होना) केशों का पतन, क्षवथु, अतितन्द्रा, बुद्धि का मोह और अतिनिद्रा प्रभृति विकार शान्त हो जाते हैं, इनका उद्भव नहीं होता और इन्द्रियों को बल भी प्राप्त होता है। (चरक. सू. ५)।

प्रायोगिक धूम की व्याख्या करते हुए डल्हण ने लिखा है कि इसका उपयोग केवल स्वस्थ व्यक्तियों में सदैव होता है। इस प्रयोग के द्वारा

१. धूमपानात्प्रशाम्यन्ति बलं भवति चाधिकम्।
शिरोरुहकपालानामिन्द्रियाणां स्वरस्य च ॥
न च वातकफात्मानो बलिनोऽप्यूर्ध्वजत्रुजाः।
धूमवक्त्रकपानस्य व्याधयः स्युः शिरोगताः ॥ (च. सू. ५)

कफ का उत्क्लेश होता, फिर उत्क्लिष्ट हुए कफ का अपकर्षण हो जाता है; साथ ही वायु का भी शमन हो जाता है। फलतः वायु एवं कफ दोनों के शमन के लिये यह क्रिया स्नेहन तथा विरेचन के तुल्य पड़ती है। इसी लिये आचार्य सुश्रुत ने प्रायोगिक का दूसरा पर्याय साधारण तथा मृदु दिया है।[1]

वैरेचनिक—नाम से ही स्पष्ट है, धूम का ऐसा प्रयोग जिसके द्वारा दोषों का विरेचन हो। यह धूम रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण एवं विशद गुणों से युक्त होने के कारण कफदोष का उत्क्लेश करते हुए उसको खींचकर बाहर फेंक देता है। चूँकि यह अभिष्यण्ण (स्रोतों के निरोधी एवं भारी) दोषों का विरेचन करता है—इसलिये वैरेचनिक कहलाता है।[2]

स्नैहिक—नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार का धूम जिसके द्वारा रूक्ष हुई इन्द्रियों का स्नेहन हो। इस प्रयोग से वायु का विकार शान्त होता है क्योंकि इन धूमों में स्नेहन और उपलेपन (चिकनई तथा आर्द्रता) का गुण होता है।[3]

कासघ्न—यह एक रोग में या अवस्था विशेष में प्रयुक्त होता है अत एव आवस्थिक भी कहलाता है। कास (खाँसी) को दूर करने के लिये श्वास या कास व्यवहृत होता है अतः कासघ्न कहा गया है। इसका प्रयोग उरः प्रदेश (छाती) तथा कंठ के रोगों में विशेष करके होता है।[4]

वामनीय—इस प्रकार के बने धूमों का प्रयोग वमन कराने के लिये व्यवहृत होता है। अत एव वामनीय शब्द का व्यवहार इसकी विशिष्ट संज्ञानिर्धारण में हुआ है। जब कि कण्ठ तथा छाती अत्यधिक कफ से

---

१. प्रायोगिकः श्लेष्माणमुत्क्लेशयत्युत्क्लिष्टं चापकर्षतिशमयति वातं साधारणत्वात् पूर्वाभ्यामिति । (सु. सू. ४०)

२ वैरेचनः श्लेष्माणमुत्क्लेश्यापकर्षति, रौक्ष्या तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्वैशद्याच्च । (सु. सू. ४०)

३. रूक्षस्य स्नेहाय प्रभवतीति स्नैहिकः; स च वातं शमयति स्नेहनादुपलेपनाच्च।

४. कासहरत्वात्कासघ्नः, स पुनरुरःकण्ठरोगहरोऽप्यावस्थिक एव ।

व्याप्त होकर भर गये हों उस अवस्था में इस धूम का प्रयोग कफ को वमन के द्वारा निकाल देने के लिये करना चाहिये ।[1]

धूमनेत्र तथा धूमवर्ति के बनाने के विधान—(Inhalation pipe and Cigarettes) इस क्रिया में सबसे पूर्व वर्ति के बनाने की आवश्यकता है । इसके लिये बारह अंगुल लम्बाई का एक सरकण्डा (शरकाण्ड) जिसकी मोटाई कनिष्ठिका अंगुलि के परिमाण की हो, लेना चाहिये। पश्चात् उसके ऊपर यथावश्यक ओषधियों का कल्क बनाकर (पानी में महीन पीसकर) उसके ऊपर जौ के बराबर मोटा लेप कर देना चाहिये। इस कल्क के लेप को सरकण्डे के प्रारंभ और अन्त के दो-दो अङ्गुल छोड़कर केवल मध्य भाग में आठ अङ्गुल की दूरी में ही करना चाहिये। लेप के चढ़ाने के पूर्व क्षौम (अतसी वस्त्र या रेशम) के कपड़े की एक, दो लपेट देना चाहिये। पश्चात् उसके ऊपर कल्क का लेप करना चाहिये। इस प्रकार की बनी वर्ति को छाया में सुखा लेना चाहिये। सूख जाने पर आहिस्ते, आहिस्ते सरकण्डे को वर्ति से बाहर खींच लेना चाहिये। इस प्रकार सच्छिद्र वर्ति तैयार हो जाती है।

वर्ति के बाद दूसरी आवश्यकता धूमनेत्र की पड़ती है। यह धूमनेत्र (Tube or pipe) वस्तिनेत्र के सदृश ही बनता है। इसके बनाने के लिये उसी प्रकार के द्रव्य सोना, चाँदी, पीतल, सीसा, ताम्र एवं कांस्य व्यवहृत होते हैं। इसकी लम्बाई धूमभेदों के अनुसार विभिन्न होती है। जैसे-प्रायोगिक में ४८ अंगुल, स्नेहन में ३२ अंगुल, वैरेचनिक में २४ अंगुल, कासघ्न एवं वामनीयों में १५ अंगुल का दैर्घ्य होता है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट और शार्ङ्गधर के अनुसार भी लम्बाई में विविधता है, परन्तु सुश्रुतोक्त प्रमाण अधिक मान्य होने से वही लेना उत्तम है। धूमनेत्र (Pipe) की मोटाई तथा छिद्र एवं स्रोत प्रायः सभी प्रकार के धूमोपयोगों में समान ही होता है। कनिष्ठिका अंगुली के परिमाण की मोटाई अग्र की ओर (जो भाग मुँह या नाक से लगता है, जिससे

१. वामयतीति वामनीयः, स पुनरुत्क्लिष्टकफाभिपन्नकराठोरसः ।
(डल्हण सु. सू. ४०)

धूमपान किया जाता है) करनी चाहिये, और क्रमशः मूल की तरफ मोटा करते हुए मूल में अंगुष्ठ के बराबर मोटा नेत्र (pipe) को बना होना चाहिये । इसके अग्र का छिद्र छोटी बैर (कोल) या मटर के परिमाण का होना चाहिये । कई अन्य तन्त्रों में धूमनेत्र को त्रिपर्विका, त्रिखण्डा (शार्ङ्गधर), त्रिकोषा (वाग्भट, चक्रदत्त) बनाने का विधान है जिसका अर्थ होता है—नलिका के उदर को बीच-बीच में चौड़ा कर देना । जैसा कि हुक्के की बनावट में पाया जाता है ।

धूमोपयोग का विधान—(Method of Inhalation through pipe) प्रसन्न मन हो कर, सुखपूर्वक आसन पर सीधे बैठ कर, दृष्टि को नीचे करके, सावधानी से (अतन्द्रित), धूमवर्त्ति के अग्रभाग को घृत या तैल में डुबो कर, अग्नि से जला कर, नेत्रस्रोत में वर्ति को रख कर धूम का पान करना चाहिये ।

पहले मुख से पिये पश्चात् नाक से पिये । मुख से पिये अथवा नासा से पिये दोनों धुएँ को मुख के मार्ग से ही निकाले । मुख से धुएँ को खींच कर नाक से न निकाले क्योंकि धुआँ का प्रतिलोम (उल्टे) गमन होने से नेत्र को तथा दृष्टिशक्ति को हानि पहुँचती है । विशेषतः प्रायोगिक धूमों को नाक से, स्नैहिक धूम को मुख और नासा दोनों से, वैरेचनिक धूम को नासिका से तथा कासघ्न और वामनीय धूमों को मुख से ग्रहण करना (पीना खींचना) चाहिये ।[1] नाक से धूम को खींचते

१. मुखेन तं पिबेत्पूर्वं नासिकाभ्यां ततः पिबेत् ।
मुखपीतं मुखेनैव वमेत्पीतं च नासया ।
मुखेन धूममादाय नासिकाभ्यां न निर्हरेत् ।
तेन हि प्रतिलोमेन दृष्टिस्तत्र निहन्यते ।
विशेषतस्तु प्रायोगिकं घ्राणेनाददीत, स्नैहिकं,
मुखनासाभ्यां नासिकया वैरेचनिकं, मुखेनैवेतरौ (सु. सू. ४०)
घ्राणेनास्येन कण्ठस्थे मुखेन घ्राणगे वमेत् ।
आस्येन धूमकवलान् पिबन् घ्राणेन नोद्वमेत् ।
प्रतिलोमं गतं ह्याशु धूमो हिंस्याद्धि चक्षुषी । (च. सू.)

समय एक नासा छिद्र को बन्द कर लेना चाहिये। चक्षुष्येण का तन्त्रान्तर में वचन मिलता है कि 'छाती और गले का रोग हो तो धूम का ग्रहण मुख से करे और यदि सिर, कर्ण, अक्षि और नासा का रोग हो तो नासारन्ध्र से धूम पिये। परन्तु दोनों अवस्थाओं में धूम को मुखमार्ग से निकाले अन्यथा नेत्रविभ्रम होने का भय रहता है।'[1] इसी सिद्धान्त का समर्थन वाग्भट भी करते हैं।[2]

'धूम के पीने (ग्रहण) के सम्बन्ध में कुछ और भी जानने योग्य बातें हैं। जैसे प्रायोगिक धूम का तीन-तीन या चार-चार बार करके नाक और मुख से पर्यायक्रम से खींचना और छोड़ना चाहिये। अर्थात् तीन बार नाक से धूम को ग्रहण करे और छोड़े, पश्चात् चार बार मुख से; फिर यदि मुख से तीन बार खींचे तो नाक से चार बार खींचे और छोड़े। स्नैहिक धूम का प्रयोग तब तक करना चाहिये, जब तक आँख से अश्रुस्राव न होने लगे। वैरेचनिक धूम का ग्रहण और विसर्ग (छोड़ना) तब तक जारी रखे जब तक कि दोष न निकलने लगे। तिल-तण्डुल का यवागू बना कर आकण्ठ पिलाकर पश्चात् वामक धूम का प्रयोग करे। कासघ्न धूम का प्रयोग ग्रासान्तर में या ग्रासान्त में करावे। ग्रासान्तर का अर्थ भोजन काल में कवलों के बीच-बीच में होता है और ग्रासान्त का अर्थ भोजन के बाद का है।'[3]

डल्हण ने उपरोक्त सूत्र की टीका में कई तन्त्रान्तर के वचनों का

---

१. उरःकण्ठादिरोगेषु मुखेनैव पिबेन्नरः।
शिरःकर्णाक्षिनासोत्थे नासातो धूममाचरेत्।
निर्वमेत्तु मुखेनैव नासया न कथञ्चन।
विलोमतो गतो धूमः कुर्याद्दर्शनविभ्रमः। (चक्षुष्येण)

२. प्राक् पिबेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राणशिरोगते।
उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण विपरीतं तु कण्ठगे। (वाग्भट)

३. प्रायोगिकं त्रींस्त्रीनुच्छ्वासानाददीत मुखनासिकाभ्यां च पर्यायांस्त्रींश्चतुरो वेति, स्नैहिकं यावदश्रुप्रवृत्तिः, वैरेचनिकमादोषदर्शनात् तिलतण्डुलयवागूपीतेन पातव्यो वामनीयः। ग्रासान्तरेषु कासघ्न इति। (सु. सू. ४०)

संग्रह किया है जिनमें कई विशिष्टतायें आ जाती हैं। रोगी तथा रोग के बलाबल के अनुसार निमि का विधान है। वे धूमपान के ग्रहण (खींचने) की तीन कला तक समय लगने की एक मात्रा मानते हैं। इस प्रकार की तीन मात्रा का प्रमाण त्रिमात्रिक है और यह एक मापदण्ड (Standard) है। इस त्रिमात्रिक धूम (तीनकला तक खींचने और छोड़ने की मात्रा) का प्रयोग स्वस्थ, अभिष्यण्णसिर, बलवान् तथा व्याधित व्यक्ति को करना चाहिये। यदि व्यक्ति दुर्बल हो तो उसको एक कला के मात्रा प्रमाण में ही धूमोपयोग करना चाहिये।[1]

भोज की उक्ति है कि स्नेहिक धूमोपयोग में यदि रोगी कृश हो तो (हीन) मात्रा के प्रमाण में ही खींचे, परन्तु यदि बलवान् हो तो तब तक पिये जब तक अश्रुस्राव न होने लगे।[2]

दिन में कितनी बार धूमोपयोग रोगियों में किया जाय इसके संबन्ध में एक अन्य तंत्र का संग्रह टीका में मिलता है कि 'यदि रोगी में स्नेहन धूम का उपयोग हो, या प्रायोगिक धूम का प्रयोग हो तो दिन में एक ही बार करना चाहिये। परन्तु वैरेचनिक धूम हो और उसका लक्ष्य दोषों का निकालना हुआ तो दिन में दो, तीन या चार बार तक उसका प्रयोग रोगी में करना चाहिये'[3]।

धूमपानकाल—स्नैहिक धूम का उपयोग मल-मूत्र के त्याग के बाद, छींक, हँसी और क्रोध के अनन्तर तथा मैथुन के पश्चात् करना चाहिये। वैरेचन धूम का उपयोग स्नान, वमन और दिवास्वाप के बाद करना

१. धूमपाने तु विज्ञेया उच्छ्वासास्त्रिगुणा कालाः।
तिस्रः कलाश्चात्र मात्रा प्रमाणं स्यात्त्रिमात्रिकम्।
पिबेत्स्वस्थविधौ मात्रा दुर्बलस्तु कलां पिबेत्।
अभिष्यण्णे प्रमाणं स्यात् प्रमाणञ्च पिबेद्रुजि। (निमि)

२. प्रमाणं स्नैहिके धूमे कृशो मात्रां पिबेन्नरः।
बलवांस्तु पिबेत्तावद्यावदश्रु न गच्छति। (भोज)

३. सकृत्पिबेत्स्नेहनीयं प्रयोगे सकृदेव च।
द्विर्वा विरेचनीयं तु त्रिश्चतुर्वा पिबेन्नरः। (तन्त्रान्तर)

चहिये । प्रायोगिक का उपयोग दन्तप्रक्षालन, नस्य, स्नान, भोजन तथा शस्त्रकर्म कराने के पश्चात् करना चाहिये ।

वर्तिमान तथा द्रव्य—धूमनेत्र (Pipe) की लम्बाई का छठवाँ भाग वर्ति का प्रमाण होना चाहिये । जैसे धूमनेत्र की लम्बाई प्रायोगिक धूम के लिये ४८ अंगुल की मानी जाती है तो उसमें वर्त्ति उसका षष्ठमांश अर्थात् ८ अंगुलों की होनी चाहिये ।[1] धूमवर्ति के बनाने के लिये अनेक योगों का उल्लेख मिलता है, त्रिविध प्रकार की ओषधियों के प्रयोग होते और विभिन्न कार्यों में व्यवहृत होते हैं । सामान्यतया इन वर्तियों के उपयोगानुसार निम्न ओषधियों के योग से निर्माण किया जा सकता है—

प्रायोगिक—कुष्ठ और तगर को छोड़कर एलादिगण की ओषधियों के कल्क से ।

स्नैहिक—तिल शिग्रु, विभीतक प्रभृति स्नेह फलों की मज्जा, मोम, गुग्गुलु, सर्जरस प्रभृति के कल्क से ।

वैरेचनिक—शिरोविरेचनीय द्रव्यों के कल्क से ।

कासघ्न—छोटी, बड़ी कटेरी, त्रिकटु, कासमर्द, हींग, इङ्गुदी त्वक, मनःशिला, गुडुची, कर्कट शृङ्गी प्रभृति कासघ्न ओषधियों के कल्क से ।

वामक—स्नायु, चर्म, खुर, शृङ्ग, केकड़े की अस्थि, शुष्क मछली, शुष्क मांस, कृमि प्रभृति द्रव्यों के कल्क से ।

धूमयोग—स्वर्गीय आचार्य यादव जी का एक अनुभूत धूमयोग का पाठ उद्धृत किया जा रहा है । यह पाठ उनके सिद्धयोग संग्रह नामक ग्रन्थ से उद्धृत है ।

द्रव्य एवं निर्माण विधि—छाया से सुखाई हुई अडूसे की पत्ती ४ भाग, छाया में सुखाई हुई धतूरे की पत्ती २ भाग, भांग २ भाग, काली चाय २ भाग, खुरासानी अजवायन की पत्ती २ भाग सबका मोटा चूर्ण करके कलमी शोरे के संतृप्त विलयन में (जल में कलमी शोरे को छोड़ कर घोल बनावे । जब उसमें अधिक सोरा न घुल सके तब उस घोल

१. अङ्गुष्ठपरिमाणेन मध्ये स्थूलान्तयोस्तनुः ।
घूमनेत्रस्य षड्भागं वर्त्तिमाने प्रचक्षते । (तन्त्रान्तर)

को संतृप्त विलयन कहते हैं ।) भिगों कर, छाया में सुखाकर रख ले। आवश्यकता पड़ने पर इसको मोटे कागज में लपेट कर धूमपान करने के लिये दे।

उपयोग—इस धूमपान से दमे के दौरे में तत्काल, लाभ होता है। यदि रोगी को खुश्की मालूम हो तो धूमपान कराने के थोड़ी देर बाद गाय का दूध देना चाहिये।

धूमपान के सम्बन्ध में भी अयोग, मिथ्यायोग या अतियोग होने का भय रहता है। यदि अतियोग हो जाय तो उसकी चिकित्सा में "घृतपान, नावन, अञ्जन और तर्पण करना चाहिये।"

अधोलिखित कोष्ठक में संक्षेपतः उपर्युक्त धूमोपयोग का संग्रह किया जा रहा है—

प्रायोगिक	स्नैहिक	वैरेचनिक	कासघ्न	वामनीय
(मृदु या साधारण) (वातकफ शामक) (नासा से विशेषतः मुख से भी ग्राह्य)	(मध्यम) (वातशामक) (मुख एवं नासा से ग्राह्य)	(तीक्ष्ण) (श्लेष्मापकर्षक) (नासा से ग्राह्य)	(आवस्थिक) (मुख से ग्राह्य)	(आवस्थिक) (मुख से ग्राह्य)
तीन, तीन या तीन, चार उच्छ्वास (खींचना) पर्याय क्रम से लेना चाहिये	जब तक आँसू न गिरने लगे	जब तक दोष न दिखलाई पड़े	कवलों के बीच बीच मे वैरेचनवत्	तिल तण्डुल की यवागू पिलाकर जब तक सम्यक् वान्त के लक्षण न मिलने लगे
दन्तप्रक्षालन नस्य स्नान भोजन शस्त्रकर्मान्त में प्रयोग	मूत्रोच्चारक्षवथु हसितरुदितमैथुनान्त में उपयोग	स्नानच्छर्दन दिवास्वप्नान्त में उपयोग		

कवल तथा गण्डूष—(Gargles) दोनों उपक्रमों का उद्देश्य मुख में औषधियों के क्वाथ या कल्क का धारण करना या कुल्ली करना होता है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार इन दोनों में भेद इतना ही है कि कवल में मुख में भरी चीज को आसानी से चलाया जा सकता

है, परन्तु गण्डूष में मुख में द्रव्य इतना रहता है कि उसको चलाया नहीं जा सकता। अर्थात् कवल की मात्रा संचारी होती है एवं गण्डूष की असञ्चारी।[1] इस परिभाषा के अनुसार कवल एक प्रकार का 'गार्गल' (Gargle) होगा। अष्टाङ्गसंग्रह ने स्पष्टतया इसको कण्ठ तक संचारण कराने का उल्लेख किया है।[2] जैसे कि 'गार्गल' में होता है।

रोग या दोषानुसार, जैसी आवश्यकता हो, इस (कवल या गण्डूष) क्रिया में घी, दूध, मधु, मांसरस, गोमूत्र, तिलकल्क, क्षारोदक, अम्ल, क्वाथ या गर्म जल का व्यवहार किया जा सकता है।

इसी प्रकार त्रिकटु, वंच, सर्षप और हर्रे का कल्क बनाकर उसे तैल, शुक्त, सुरा, मूत्र, क्षार या मधु इनमें से किसी एक में आलोडित करके भी कवलधारण किया जा सकता है। कवल या गण्डूष का धारण तब तक करना चाहिये जब तक कि उत्क्लिष्ट दोषों से मुख भर न जाय और नाक तथा नेत्र से स्राव न होने लगे। इनका धारण अनन्य मन हो, वायुरहित स्थान और धूप में उन्नत शरीर (खड़े शरीर) बैठ करके मुख को ऊँचा उठा कर करना चाहिये।

यदि दोषों की शुद्धि हो गई है तो व्याधि का घटना, तुष्टि, मुख की स्वच्छता, लघुता और इन्द्रियों में प्रसन्नता प्रभृति लक्षण होंगे।[3] इसके विपरीत कवल के हीन या अतियोग के चिह्न मिलेंगे।

कवलधारण चार प्रकार के माने गये हैं—स्नेही, प्रसादी, शोधन और रोपण।[4] स्नेही-स्निग्ध एवं उष्ण होता है, वायु के विकारों में प्रयुक्त होता है, प्रसादी-स्वादु और शीत गुण भूयिष्ठ होता है, पित्तजन्य रोगों में व्यवहृत होता है। शोधन-कटु, अम्ल, लवण, और रूक्ष गुणों

१. सुखं संचार्यते या तु मात्रा सा कवलः स्मृतः
असंचार्या तु या मात्रा गण्डूषः स प्रकीर्त्तितः ।। (सु. सू. ४०)

२ कवले तु पर्यायेण कपोलौ कण्ठं च संचारयेत्। अयमेव कवलगण्डूषयोः विशेषः। (अ. सं. सू. ३१.)

३. व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम्। इन्द्रियाणां प्रसादश्च कवले शुद्धिलक्षणम्॥

४. चतुर्धा कवलः स्नेही प्रसादी शोधिरोपिणौ। (सु. सू. ४०.)

से युक्त होता है, फलतः कफज रोगों में इस्तेमाल में आता है। रोपण—मुखज व्रणों के रोपण में व्यवहृत होता है और इसकी ओषधियाँ कषाय, तिक्त, मधुर, कटु, उष्ण गुणों से युक्त होती हैं।[1]

कृष्णात्रेय का एक वचन मिलता है जिसमें नस्य, धूम, कवल, प्रतिमर्श आदि उपचारों की आयु-मर्यादा दी गई है। जैसे "आयु के सातवें वर्ष के बाद से रोगी के दोष, व्याधि एवं बलादि का विचार करते हुए नस्य कर्म करना चाहिए। बारहवें वर्ष की आयु से धूम का प्रयोग, पाँचवें वर्ष की आयु से कवल का प्रयोग तथा जन्म से ही वमन एवं प्रतिमर्श का प्रयोग करना चाहिये।"[2] अष्टाङ्गसंग्रह ने गण्डूष के भी उपरोक्त चार भेद बतलाये हैं।[3]

प्रतिसारण—(Paste or Paint)-अंगुली से उठाकर औषध का चूर्ण, कल्क, रसक्रिया अथवा मधु का किसी स्थान में फैलाना या लेप करना प्रतिसारण कहलाता है। शालाक्य तन्त्र में लिखा है कि "छोटी बेर की गुठली (कोलास्थि) के बराबर पिण्ड (वस्तु) से दोष और व्याधि के अनुसार पाँच या सात बार हीन, मध्यम और उत्तम व्याधियों में प्रतिसारण करे। वहाँ पर अतिघर्षण न करे अतिघर्षण करने से वहाँ पर स्थानिक ओष, चोष, दाह, क्लेद, शोथ, तृष्णा, अरुचि शब्दोच्चारण बन्द हो जाता है। असम्यक् प्रतिसारण से पिच्छिलता, गुरुता, भोजन की अनिच्छा, मूर्च्छा प्रभृति विकार उपस्थित हो

१. स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते, स्वादुशीतैः प्रसादनः ।
पित्ते कट्वम्ललवणैर्रूक्षोष्णैः शोधनः कफे ॥
कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णै रोपणो व्रणे ।
चतुर्विधस्य चैवास्य विशेषोऽयं प्रकीर्त्तितः ॥ सु. सू. ४०.

२. सप्तवर्षमुपादाय नस्यकर्म चतुर्विधम् । प्रतिमर्शोऽथ वमनं जन्मप्रभृति शस्यते ॥
धूमो द्वादशवर्षस्य कवलः पंचमे ततः ।
दोषव्याधिबलावस्थां वीक्ष्य चैतान् प्रयोजयेत् । (कृष्णात्रेय)

३. चतुर्विधो भवति गण्डूषः स्नैहिकः शमनः शोधनो रोपणश्च।(अ.सं.सू. ३१)

जाते हैं। सम्यक् प्रतिसारण से मुख में विशदता, लघुता, छींक आना, लालास्राव का अभाव तथा भोजन में रुचि जागृत होती है।"[1]

प्रतिसारण चार प्रकार का होता है—कल्क, रसक्रिया, क्षौद्र और चूर्ण। मुखरोगों में इनका अंगुली के अग्रभाग से प्रयोग करना होता है।[2] इस परिभाषा में जितने भी मंजन, टूथ, पेस्ट, वगैरह हैं उन सब का प्रतिसारण की क्रिया में अन्तर्भाव करना चाहिये।

४

ओष्ठगत रोग

(Diseases of the lips)

प्राचीन संहिता-ग्रंथों में आठ प्रकार के ओष्ठाश्रित रोग माने गये हैं इनकी संज्ञा ओष्ठप्रकोप दी गई है। उदाहरण के लिये दोषभेद से वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, रक्तज, मांसज, मेदोज और अभिघातज या क्षतज।

वातज—वातज ओष्ठकोप में दोनों ओष्ठ कर्कश, रूक्ष तथा स्तब्ध होते हैं, ओष्ठ फटते हैं, उनमें दरारें पड़ती हैं और पीड़ा होती है। ओष्ठों के रंग में श्यामता आ जाती है। इस प्रकार की अवस्था प्रायः शीत ऋतुओं में देखने को मिलती है। कोष्ठबद्धता भी कारणरूप में पाई जाती

---

१. कोलास्थिमात्रेण पिण्डेन यथादोषं यथाव्याधि पञ्च सप्त वा वारान् हीनमध्योत्तमेषु व्याधिषु च प्रतिसारणं कुर्वीत। न चैनमतिघर्षयेत्। अतिघर्षणादोषचोषदाहक्लेदश्वयथुतृष्णा भक्तच्छन्दवाक्संगा भवन्ति। असम्यक् प्रतिसारणात् पैच्छिल्यगुरुत्वानन्नाभिलाषप्रमोहविकारानुपशयाः, सम्यक् प्रतिसारणाद्वैशद्यं लाघवं क्षवथुरप्रसेकोऽन्नाभिलाषश्च। इति शालाक्ये (डल्हण की टीका से उद्धृत।)

२. कल्को रसक्रिया क्षौद्रं चूर्णं चेति चतुर्विधम्।
अंगुल्यग्रप्रणीतं तु यथास्वं मुखरोगिणाम्॥ (सु सू. ४०)

है। अंग्रेजी में इस अवस्था को 'क्रक्डलिप्स' या 'चैप्डलिप्स' कहते हैं।[1] वाग्भट ने इस अवस्था को 'खण्डौष्ठ' की संज्ञा दी है।

चिकित्सा—१. चतुर्विध (घृत, तैल, वसा, मज्जा) स्नेह में मोम मिला कर अभ्यंग करना २. शाल्वणस्वेद अथवा नाडीस्वेद करना ३. सिर में लगाने के लिये अथवा नस्य लेने के लिये वातघ्न तैलों का प्रयोग ४. श्रीवेष्टक, राल, देवदारु, गुग्गुलु और मुलैठी के चूर्ण का प्रतिसारण करना। ५. तैल, घी, राल, रास्ना, गुड, सेंधानमक और गेरु सबको पका कर मोम उसी में गला दे और इस मलहम को होंठों पर लगा दे। ६. राल, मोम, गुड से पक्व तैल या घृत का स्थानिक प्रयोग करना चाहिये।[2]

आधुनिक सर्जरी के ग्रंथों में एक पाठ खण्डौष्ठ (Hare lip) का मिलता है, यह एक सहज विकार है। वंश-परंपरा का भी इसके ऊपर प्रभाव पड़ता है, रोग के कई एक प्रकार देखने को मिलते हैं। इसमें चिकित्सा पूर्णतया शस्त्रकर्म की है—इस रोग का वातज ओष्ठप्रकोप से कोई सम्बन्ध नहीं। इसका बहुत कुछ वर्णन सूत्ररूप में सुश्रुताचार्य के अनुसार सन्धानकर्म के अध्याय में सूत्रस्थान में पाया जाता है।[3] इसकी चिकित्सा में सन्धान कर्म (Repair) की आवश्यकता पड़ती (May need plastic operation) है। वाग्भट ने इसी दृष्टि से

1. "Cracked lips are painful fissures following exposure to cold."

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णा तीव्ररुगन्वितौ।
दाल्येते परिपाट्येते ह्योष्ठौ मारुतकोपतः।

२. चतुर्विधेन स्नेहेन मधूच्छिष्टयुतेन च।
वातजेऽभ्यंजनं कुर्यान्नाडीस्वेदं च बुद्धिमान्।
विदध्यादोष्ठकोपे तु शाल्वणं चोपनाहने।
मस्तिष्के चैव नस्ये च तैलं वातहरं हितम्।
श्रीवेष्टकं सर्जरसं सुरदारु सगुग्गुलु यष्टीमधुकचूर्णं तु विदध्यात्प्रतिसारणम्।

३. सौश्रुतीके सन्धानकर्मीयाध्याय देखें।

खण्डौष्ठ की चिकित्सा में क्षौम सूत्र से सीवन करके व्रणवत् उपचार का विधान किया है ।[१] आधुनिक शस्त्रकर्म में ओष्ठ के फटेपन का सुधार या मरम्मत करना शल्यकर्म का अंतिम उद्देश्य रहता है ।

पित्तज—पित्तप्रकोप से जो ओष्ठ रोग होता है उसमें किसी वस्तु का स्पर्श सहन नहीं होता ओठों का रंग पीला हो जाता है । ओठों पर सरसों के समान छोटे छोटे दाने निकल आते हैं । ओठों में क्लेद या या चिपचिपापन मालूम पड़ता है, ओठ पक जाते हैं और उनमें दाह होता है ।[२]

कफज—कफजन्य ओष्ठकोप में ओठों पर ठण्डी चीजें सह्य नहीं होतीं, ओठ भारी पड़ जाते हैं और उनमें सूजन हो आती है, खुजली और मन्दवेदना मालूम पड़ती है, एवं इस प्रकार में पिडिकायें सवर्ण होती हैं ।[३]

रक्तज—ओष्ठ, रक्त वर्ण के हो जाते हैं और उनसे रक्तस्राव होता रहता है । पिडिकाओं का वर्ण खजूर के फल सदृश मालूम पड़ता है ।[४]

अभिघातज—ओठों पर चोट लगने से ओठों में दर्द होता, सूजन आ जाती, ओठ फट जाते, लाल हो जाते और खुजली होती है ।[५]

सन्निपातज—ओष्ठ प्रकोप में ओठों का रंग अनेक प्रकार का होता है अर्थात कभी काला, कभी पीला और कभी श्वेत वर्ण का होता है। अनेक प्रकार की फुन्सियों से ओठ भरा रहता है । ओठों से दुर्गन्ध निकलती

१. खण्डौष्ठस्य विलिख्यान्तौ स्यूत्वा व्रणवदाचरेत् ।

२. आचितौ पिडिकाभिस्तु सर्षपाकृतिभिर्भृशम् ।
सदाहपाकसंस्रावौ नीलौ पीतौ च पित्ततः ।

३. सवर्णाभिस्तु चीयेते पिण्डिकाभिरवेदनौ ।
कण्डुमन्तौ कफाच्छूनौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ।

४. सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च ।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडिकाचितौ ।

५. खर्जूरफलवर्णाभिः पिडिकाभिः समाचितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ।

और पिच्छिल स्राव स्रवित होता रहता है। कभी मलिनता, कभी सूजन और कभी दर्द होता है। कुछ भाग में पाक होता कुछ में नहीं होता, कोई भाग पहले पकता और कोई बाद में पकता है।[1]

विवेचन—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक ओष्ठप्रकोप से 'अल्सरेशन आफ दी लिप्स' का बोध होता है—क्योंकि सभी अवस्थाओं में ओष्ठ में पिडिकाओं का होना, उनसे स्राव, शोथ और वेदना आदि के लक्षणों का उत्पन्न होना बतलाया गया है—ये चारों विकार एक ही रोग की तीन अवस्थायें हैं। पाश्चात्य शल्य ग्रंथों में भी ठीक इसी प्रकार 'अल्सरेशन आफ दी लिप्स' के कई प्रकार बतलाये जाते हैं १. हर्पिटिक (परिसर्प सदृश) २. साधारण (Cracked lip) ३. फिरंगज घातक ४. क्षयज।

चिकित्सा—पित्तज, रक्तज और अभिघातज में चिकित्सा समान है। जलौका द्वारा रक्तमोक्षण कराके पित्तविद्रधि के सदृश पूरा उपचार करना चाहिये।[2] यदि श्लैश्मिक ओष्ठप्रकोप हो तो रक्तनिर्हरण करने के बाद शिरोविरेचन, धूम, स्वेदन और कवल धारण करना चाहिये। त्रिकटु, यवक्षार, स्वर्जिका और विड्लवण का प्रतिसारण कराना चाहिये।[3]

मांसज ओष्ठकोप—इसमें ओष्ठ भारी, मोटे, मांसपिण्डवत् उभरे हुए होते हैं—इसका अवस्थान अधिकतर सृक्क (ओष्ठ प्रान्त कोने) से होता है। इस विकार में कृमियाँ भी पड़ जाती हैं। पाश्चात्य शल्यग्रंथों में इसी से मिलता हुआ वर्णन "पैपीलोमा" अथवा "एपिथिलियोमा"

१. क्षतजाभौ विदीर्येते पाठ्येते चाभिघाततः।
ग्रन्थितौ च समाख्यातौ ओष्ठौ कराडुसमन्वितौ।

२. पित्तरक्ताभिघातोत्थं जलौकोभिरुपाचरेत्।
पित्तविद्रधिवच्चापि क्रियां कुर्यादशेषतः। (सु.)
वेधं सिराणां वमनं विरेकं तिक्तस्य पानं रसभोजनञ्च।
शीताः प्रदेहाः परिषेचनञ्च पित्तोपसृष्टेष्वधरेषु कुर्यात्।

३. शिरोविरेचनं धूमः स्वेदः कवल एव च।
हृते रक्ते प्रयोक्तव्य ओष्ठकोपे कफात्मके।

आफ दी लिप्स" का है। यह विकार प्रायः मिट्टी के पाइपों से धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों में देखने को मिलता है। ओष्ठ बारबार उनसे रगड़ खाते हैं, शनैः शनैः वहाँ पर अंकुरों की उत्पत्ति होती और बढ़ते बढ़ते वे अर्बुद का रूप ले लेते हैं। कई बार कृमिदन्त और हनु की खराबी होने पर भी यह रोग पैदा हो जाता है। कई बार विदीर्ण ओष्ठ के चारों ओर अंकुरों की उत्पत्ति होने के कारण भी इसकी उत्पत्ति हो जाती है। इसमें पूय या पूयाभ-स्राव होता है, बाद में रक्तस्राव होने लगता है, वेदना अत्यधिक होती है। चिकित्सा में यह असाध्य है। पाश्चात्य वैज्ञानिक इसमें छेदन और 'रेडियम्' के द्वारा प्रतीकार का मार्ग बतलाते हैं।[1]

मेदोज ओष्ठ कोप—इसमें ओष्ठ घृतमण्ड के समान वर्ण के भारी और कण्डुयुक्त हो जाते हैं तथा स्फटिक के समान निर्मल स्राव को करने वाले हो जाते हैं।[2] इस अवस्था को ओष्ठों की वृद्धि (Hypertrophy of the lips) समझना चाहिये। पाश्चात्य शल्यविज्ञान में इस विकार को 'मैक्रोकीलिया' (Macrocheilia) कहा जाता है। इसके तीन प्रकार माने गये हैं।

(१) *सहज*—प्रायः नीचे वाला ओष्ठभाग विकृत होता है यह अधिकतर क्षयरोग से पीडित कुटुम्बों में पाया जाता है।

(२) *जन्मोत्तर*—ओष्ठों के पूर्णतया विदीर्ण रहने के कारण अनेक प्रकार के विषों का शोषण होता रहता है जिससे लसीका का संचय होने लगता है और ओष्ठ मोटा होने लगता है। इस प्रकार में विकार अधिकतर ऊपरी ओष्ठ में आता है अर्थात् ऊपर वाले ओठ में संयोजक तन्तु बढ़कर ओठ को मोटा कर देते हैं।

---

१. मासदुष्टौ गुरू स्थूलौ मांसपिण्डवदुद्गतौ ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति सृक्कस्योभयतो मुखात् ।

२. मेदसा घृतमण्डाभौ कण्डूमन्तौ स्थिरौ मृदू ।
अच्छस्फटिकसंकाशं स्रावं च स्रवतो गुरू ।

(३) फिरंगज—फिरंग की तृतीयावस्था में अधिकतर नीचे वाले ओष्ठ में होता है ।

चिकित्सा—१. स्वेदन, २. भेदन, ३. अग्निकर्म, ४. शोधन, ५. प्रतिसारण-प्रियंगु, त्रिफला, लोध्र और मधु से प्रतिसारण करना ।[1]

५

दन्तमूलगत रोग

(Affection of the Gums and Alveolar Processes)

शीताद—(Bleeding or Spongy gums) यह कफ और रक्तजन्य व्याधि है । इसमें अकस्मात् दन्तमूल से रक्तस्राव होने लगता है । तथा दन्तवेष्ट दुर्गंधयुक्त, कृष्णवर्ण, क्लेदान्वित और मृदु हो जाते हैं । और गलने लगते हैं ।[2] लक्षणों के आधार पर इस रोग को अंग्रेजी में 'ब्लीडिङ्ग अथवा स्पांजीगम्स' कहा जाता है । यह विकार कई कारणों से हो सकता है जैसे मुख की सफाई ठीक न रखना, कच्चे पारद का सेवन, मूत्र विषमयता (Ureamia) तथा स्कर्वी रोग के कारण होता है ऐसा आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है ।

चिकित्सा—१. रक्तावसेचन (जलौका. अलाबु या शृङ्ग से) २. शुंठी, सर्षप, त्रिफला, नागरमोथा, रसौंत इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर गण्डूष धारण करना ३. प्रियङ्गु, मुस्तक और त्रिफला का प्रलेप ४. मुलैठी, उत्पल

१. मेदोजे स्वेदिते भिन्ने शोधिते ज्वलनो हितः ।
प्रियंगुत्रिफलालोध्रं सक्षौद्रप्रतिसारणम् ॥

२. शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यत्राकस्मात्प्रवर्त्तते ।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ।
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् ।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः ।

(नील कमल), पद्माख और त्रिफला सिद्ध तैल का नस्य लेना। ५. शुंठी, पर्पट (पित्पापड़ा) के काढ़े का गुनगुना गण्डूष धारण ६. शीतादगत पूतिमांस की अवस्था में कासीस, लोध्र, पिप्पली, मनःशिला, प्रियंगु और तोजोह्वा को मधु में मिला कर मुख में धारणा तथा अन्य भी वातघ्न तैल या घृत का गण्डूष धारण किया जा सकता है।[१]

दन्तपुप्पुट (Gum boil)—दो या तीन दाँतों के मसूड़ों में महान् शोफ हो और पाक होने लगे तो उस व्याधि को दन्तपुप्पुट कहा जाता है। यह व्याधि कफ और रक्त दोषों की विगुणता से होती है। आधुनिक चिकित्सा-शास्त्रज्ञ इसका कारण कृमिदन्त बतलाते हैं जिसके कारण हनु तथा मसूड़ों में संक्रमण पहुँचता है और मसूड़ों में शोथ हो जाता है। अंग्रेजी में इस अवस्था को 'गमबायल' कहा जाता है।[२]

चिकित्सा—दन्तपुप्पुट की अवस्था में १. रक्तमोक्षण २. पंचलवण क्षार और मधु से प्रतिसारण करना चाहिए। पक्कावस्था में ३. भेदन और प्रतिसारण करना चाहिये। साथ ही आवश्यकतानुसार ४. शिरोविरेचन ५. नस्य तथा ६. स्निग्ध भोजन देना चाहिये। वर्त्तमान युग की चिकित्सा की दृष्टि से कारणभूत कृमिदन्त का आहरण, भेदन और स्वेदन आवश्यक माना गया है।[३]

दन्तवेष्ट (Pyorrhoea Alveolaris)—यह दुष्ट रक्त के कारण उत्पन्न होने वाला रोग है इसमें दन्तमूल से पूय और रक्त का स्राव होता है, दाँत ढीले पड़ जाते और हिलने लगते हैं इस विकार को

१. दन्तमूलसमुत्थेषु दन्तोत्थेषु गदेषु च ।
रक्तमोक्षं प्रशंसन्ति जलौकालाबुशृंगकैः ।
शीतादे हृतरक्ते तु तोये नागरसर्षपान् ।
निःक्काथ्य त्रिफलामुस्तं गण्डूषः सरसाञ्जनः !

२. दन्तयोस्त्रिषु वा यत्र श्वयथुर्जायते महान् ।
दन्तपुप्पुटको नाम स व्याधिः कफरक्तजः ।

३. दन्तपुप्पुटके कार्यं तरुणे रक्तमोक्षणम् ।
सपंचलवणक्षारैः स क्षौद्रैः प्रतिसारणम् । (सु०)

'पायरिया एल्वीयोलेरिस' कहा जा सकता है।[1] आधुनिक वर्णनों में कुछ लक्षण और मिलते हैं जैसे साँस से दुर्गंध आना, जिह्वा का श्वेत रहना दाँतों के मूल में शर्करा का एकत्र होना।

"An inflammatory condition of the gums, which are swollen and œdematous especially at the margins, resulting in pockets which extend along the root of the teeth. Bleeding readily occurs, and the pus can be sqeezed out by pressure along the alveolar margin. In time atrophy of the gums and alveolar process occurs the teeth become loosened and fall out. The condition is often preceded by excessive deposit of tartar, which favours bacterial growth."

अर्थात् दन्तवेष्ट रोग में दन्तमूल (मसूड़ों) का व्रणशोथ होता है। मसूड़े विशेषतः उनके किनारे सूज जाते हैं, आगे चलकर पूयकोष (Puspockets) फैलते हुए दाँतों की जड़ों तक चले जाते हैं। मसूड़ों से रक्तस्राव प्रायः होता है, दन्तकोटरों के किनारों को दबाया जावे तो उनसे पूय का स्राव होने लगता है। कुछ समय के पश्चात मसूड़े एवं दन्तकोटर प्रवर्द्धनों का शोष प्रारम्भ होकर वे छोटे हो जाते हैं। दाँतों में चलता आ जाती है, वे हिलने लगते हैं और गिर जाते हैं। इस अवस्था के पूर्व में दाँतों पर दन्तशर्करा (Tartars) का अतिमात्रा में संचय होता है जिसमें अणु जीवों (तृणाणुओं) की वृद्धि के लिये अच्छा अवसर मिल जाता है। यहाँ पर ये वृद्धि करके दन्तमूल, दन्तकोटर आदि को उपसृष्ट करके रोग का रूप दे देते हैं।

चिकित्सा—१. रक्त–पित्त–शामकोपचार २. शिरोविरेचन ३. नस्य ४. स्निग्ध भोजन ५. रक्तविस्रावण ६. लोध्र, पतंग, मुलेठी और लाक्षा चूर्ण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करना ७. तथा अन्य ग्राही तथा

१. स्रवन्ति पूयं रुधिरं चला दन्ता भवन्ति च।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः।

शोफघ्न (Astringents and antiseptic) ओषधियों का स्थानिक प्रयोग हितकर होता है जैसे क्षीरी वृक्षों के कषाय का मधु मिलाकर गण्डूष करना ८. काकोल्यादिगण की ओषधियों से सिद्ध क्षीर का नस्य लेना भी हितकर है ।[1]

९. बकुल की छाल का चर्वण, हिलते हुए दाँतों को मजबूत करता है ।[2] कुछ योग लेखक के प्रयोग में बड़े लाभप्रद मिले हैं–जैसे दुष्ट रक्त के शोधन के लिये अथवा कोष्ठबद्धता, मन्दाग्नि प्रभृति कारणों के दूरीकरण के लिये आरोग्यवर्धिनी नामक रसयोग (कुष्ठाधिकार, र० यो० सागर) का प्रतिदिन एक माशा की मात्रा में गाय के दूध या ठंढे जल से सेवन करना और श्वेत मंजन का दिन में दो बार हल्के हाथों से मंजन करना पश्चात् खदिरादि अथवा इरिमेदादि तैल का या सरसों के तेल का मसूढ़ों पर लेप करके गुनगुने जल से कुल्ली करना। ग्राही दाँतूनों का मृदु कूर्चक बनाकर हल्के हाथों से दातून करना भी हितकर है, ऐसे वृक्षों में बब्बूल, जामुन और बकुल श्रेष्ठ हैं। इनके लम्बे समय तक प्रयोग करने की आवश्यकता होती है।

१०. श्वेत मंजन—शु० खटिका १ सेर, सैन्धव ½ सेर, कर्पूर १ तो० शुद्धस्फटिका १ पाव, मरिच २॥ तोले का कपड़छन चूर्ण बनाकर मंजन करना हितकर होता है।

११. भद्रमुस्तादिवटी—भद्रमुस्ता, हरीतकी, त्रिकटु, विडङ्ग, निम्बपत्र इन द्रव्यों का समान भाग में लेकर गोमूत्र में पीसकर गोली बना कर छाया में सुखाकर रखले। उसको मुख में रखकर रोगी (जिसके दाँत हिल रहे हों) को सो जाना चाहिये। इसके कुछ दिनों के निरंतर

१. विस्राविते दन्तवेष्टे व्रणे तु प्रतिसारयेत् ।
लोध्रपत्तंगमधुकलाक्षाचूर्णैं र्मधुप्लुतैः ।
दन्तवेष्टे विधिः कार्यो रक्तपित्तनिबर्हणः ।
शिरोविरेकश्च हितो नस्यं स्निग्धं च भोजनम् ।

२. गण्डूषे क्षीरिणो योज्या सक्षौद्रघृतशर्कराः ।
चलदन्तस्थैर्यकरं काय वकुलचर्वणम् ।

प्रयोग से हिलते दाँत मजबूत हो जाते हैं। इससे बढ़कर चल दन्त की कोई ओषधि नहीं है। (यो० र०)

१२. सहचरादितैल—नीले पुष्प के सहचर (सैरेयक) की एक तुला लेकर एक द्रोण जल में पकावे। चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ में तैल डाल कर विधिवत् पाक करे। कल्क द्रव्यों में अनन्ता, खदिर, इरिमेद, जामुन, आम, मुलैठी तथा उत्पल का एक पल की मात्रा में लेकर पाक करे। इस प्रकार सिद्ध तैल का कवल या गण्डूष धारण करना शीघ्रता के साथ दाँतों को स्थिर कर देता है, उनका हिलना बन्द हो जाता है। (भावप्रकाश)

१३. दशमूली तैल या घृत—दशमूल के क्वाथ से सिद्ध हुए तैल या घृत का स्वतन्त्र या मधु के साथ मिला कर मुख में धारण करना चल या दन्तचालन (हिलते दाँतों) की अवस्था में लाभकारी होता है।

वास्तव में दाँतों में हिलने का विकार अभिघातजन्य अथवा दन्तवेष्ट (Pyorrhoea) नामक व्याधि के उपद्रवरूप में ही होता है। जब दन्तमूलगत मसूड़ों का अपचय (Atrophy) होने लगता है उस समय में दाँत हिलने लगते हैं। अस्तु, चिकित्सा में बृंहण उपक्रमों को तथा ग्राही या शीतवीर्य उपक्रमों को वहाँ पर बरत कर धातुओं का पोषण करना चाहिये। साथ ही मसूड़ों को सुधार कर दाँतों को स्थिर करने का विधान करना चाहिये। इसी लिये इतने प्रकार के तैलों का विधान शास्त्र में मिलता है।

१४. जीरकाद्यचूर्ण—जीरा, सेंधानमक, हरीतकी, शाल्मली कंटक का चूर्ण बनाकर प्रत्यह दन्तमूलों में चूर्ण का अंगुली के द्वारा घर्षण करना—दन्तमूलगत व्रण, दरण, पीडा, रक्तस्राव, शोफ और दन्तचलन में हितकर है। (यो० र०)

१५. कणाद्यचूर्ण—पिप्पली, सैन्धव और जीरे के चूर्ण का प्रयोग भी इसी प्रकार हितकर है। (यो० र०)

१६. वज्रदन्त मंजन—त्रिफला, त्रिकटु, तूतिया, कालानमक, पत्तंग

माजूफल के संग में दाँतों का मंजन करने से दाँत वज्र के समान मजबूत हो जाते हैं।[1]

आधुनिक चिकित्साविज्ञान में भी चिकित्सासूत्र ऊपर लिखे की भाँति है। जैसे १. दन्तशर्करा का आहरण २. ग्राही तथा जीवाणु प्रतिरोधी लेपों का स्थानिक प्रयोग ३. दन्तों का आहरण जिससे भविष्य में विषों का शोषण होकर सार्वदैहिक उपद्रवों के होने का भय नहीं रहे।

दन्तवेष्ट या पायोरिया एल्वीयोरिस

दाँतों के लिये कालस्वरूप यह एक भयङ्कर व्याधि है। मोती के से चमकदार एवं दाडिम की भाँति मनोहर तथा सुन्दर दाँत जो कि मुख की शोभा का प्रधान कारण है, उसे यह पायोरिया-पिशाच सदा के लिए विकृत और नष्ट कर देता है। इस रोग से व्यथित हो अन्त में दाँतों को गिराना ही पड़ता है, अतः इसे कोई कोई 'दन्त-पातन' रोग के नाम से पुकारना पसन्द करते हैं। भारतवर्ष में इस व्याधि का प्रचार आधुनिक काल में ही विशेष हुआ है, अतः यह वर्तमान युग की एक प्रचलित व्याधि है।

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार मुखरोग में दन्तमूलगत्—शीताद, दन्तपुप्पुटक, दन्तवेष्ट आदि जो १५ रोग गिनाये गये हैं, उन में से 'दन्तवेष्ट' के लक्षण इस व्याधि में पाये जाते हैं। अतः इसे आयुर्वेदानुसार 'दन्तवेष्ट' व्याधि नाम से पुकारना ही युक्तियुक्त ज्ञात होता है।

इसे अंग्रेजी तथा प्रचलित भाषा में पायोरिया (Pyorrhoea) कहते हैं। वास्तव में यह ग्रीक भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है—छोटे से छिद्र में से (दन्त-वेष्ट के पोले स्थान से) पूय का स्राव होना। आजकल भारतवर्ष में ही नहीं समस्त संसार में यह इसी नाम से प्रख्यात हो गया है।

---

१. त्रिकटु त्रिफला तूतिया तीनों नोन पत्तंग।
दन्त वज्र सम होते हैं माजूफल से संग।

निदान, सम्प्राप्ति—प्रसिद्ध डॉक्टर बोद्रिक ने अपने स्वानुभव से इस रोग के कारण के विषय में लिखा है कि—

१—रक्त में अम्लता बढ़ जाने से दाँतों से पीव आने लग जाती है, तथा—

२—रक्तान्तर्गत अम्लता लार में आकर वह खपरी, शर्करा (कपालिका) के रूप से दाँतों पर जमती जाती है। रक्त में यह अम्लता यकृत की विकृति से होती है, तथा यकृत-विकृति प्रायः मंदाग्नि से होती है।

जिन दाँतों के मूल भाग में पायोरिया के कारण पूय-भवन की क्रिया होती है, उन दाँतों पर स्वभावतः अन्य दाँतों की अपेक्षा यह खपरी का आवरण अधिक होता जाता है। पूय में जो उष्णता होती है वह लार और कफ को घनी-भूत करती है, जो आगे चलकर उक्त खपरी का रूप धारण करता है।

पाश्चात्य दंत-चिकित्सक इस कपालिका या खपरी को ही पायोरिया का मूल कारण मान कर बार-बार इस खपरी को ही यंत्रद्वारा निकाला करते हैं। किंतु ऐसा करने से बहुधा रोग कम होने की अपेक्षा और भी अधिक वृद्धिंगत होते हुये नजर आता है। अतः इससे इस रोग का मूल कारण उक्त खपरी का जमाव है—ऐसा नहीं कहा सकता। प्रत्यक्ष देखने में आया है कि किसान, मजदूर, आदि निम्न श्रेणी के लोगों के दाँतों पर, अवस्था के कारण इस खपरी का प्रमाण अत्यधिक होते हुये भी उन्हें 'पायोरिया' रोग नहीं होता, किंतु श्रीमन्त, विलासी, अनियमित आहार-विहार करने वाले लोगों के दाँत (ब्रश आदि से साफ रहते हुये भी) इस रोग के शिकार बहुतायत से देखने में आते हैं।

मांसादि प्रकृति विरुद्ध, एवं दूषित कृत्रिम आहार का करना, नियमित रूप से मुख शुद्धि न करना, पान, सुपारी, तम्बाफू का अत्यधिक व्यवहार करना, गन्दे रद्दी ब्रशों, दंत लेपों और मंजनों का व्यवहार करना, अत्यधिक गरम-गरम चाय आदि पेय पदार्थों का सेवन, दाँतों

को आलपीन आदि से कुरेदते रहना प्रभृति कारणों से मसूड़ों का रक्त दूषित हो जाता है और वे पक जाते हैं, या दाँतों की जड़ों को मजबूत रखने वाला स्निग्ध पदार्थ धीरे-धीरे पिघल कर दाँतों की जड़ों से पृथक् होने लगता है, अथवा मांसादि दूषित आहार के तंतु दाँतों के बीच में पड़े-पड़े सड़ते हैं और यह सड़ान मसूड़ों के रक्त से मिल कर उसे दूषित कर देती है, फलतः दाँतों की जड़ें हिल जाती हैं और इस रोग का प्रादुर्भाव हो जाता है। भोजन को खूब चबाकर न खाने से मसूड़ों में रक्त का संचालन भली प्रकार से नहीं होता, जिससे मसूड़ों की जीवनी-शक्ति कम हो जाती है, और फिर सहज में ही इस रोग से ग्रसित होना पड़ता है। मुख से ही श्वासोच्छ्वास की जिन्हें आदत पड़ जाती है, उनके मुख के सामने के मसूड़े सहज में ही दूषित हो जाते हैं फलतः इस रोग की उत्पत्ति होती है।

उक्त कारणों से दाँतों और मसूड़ों में विकार होकर एक प्रकार की दंतशर्करा दाँतों पर संचित होती है। कभी-कभी यह बहुत ही कड़ी जम जाती है, अर्थात् एक प्रकार से कपालिका[1] की ही अवस्था प्राप्त होती है। इस आवरण में इतनी कठिनता होती है कि उसे दन्त निर्लेखनशस्त्र या दन्तशंकु द्वारा खरोंच कर निकालते समय ऐसा भास होता है, मानों दाँत का ही हिस्सा निकलता हो। इन खपरियों को दाँतों पर से बार-बार निकलवाते रहने से भी रोग शमन नहीं होता, प्रत्युत और भी बढ़ता ही जाता है। जैसे-जैसे दाँतों के ऊपर उक्त शर्करा या खपरी का आवरण चढ़ता जाता है, वैसे-वैसे दाँतों की जो नीचे की हड्डियों की पकड़ है वह ढीली होती है। इस के ढीली होने से दाँत हिलने लग जाते हैं, और दाँतों के हिलने से उनके तलभाग में जो छोटी-छोटी रक्तवाहिनियाँ हैं उन पर घर्षण होने से वे टूटती फूटती हैं, फलतः वहाँ व्रण हो जाते हैं। आगे इन व्रणों को दुष्ट व्रण की अवस्था प्राप्त होती है। मंजनादि केवल बाह्योपचारों का असर दाँतों के नीचे

---

१. कपालेष्विव दीर्यत्सु दंतानां सैव शर्करा।
कपालिकेति पठिता सदा दन्त विनाशिनी ॥ (मा. निदान)

की तल तक नहीं पहुँचता । व्रणों की स्थिति बहुत दिनों तक जैसी की तैसी बनी रहती है, प्रत्युत और भी भयंकर होती जाती है। उक्त दुष्ट व्रणों में से रक्तस्राव होकर पूय-उत्पादन-क्रिया होती रहती है, जो कि थोड़े दबाने मात्र से ही बाहर निकलता रहता है।

प्राचीन सिद्धान्तानुसार इस रोग के मूल कारण में रक्त की खराबी ही मानी गई है—

'स्रवन्ति पूयं रुधिरं चला दन्ता भवन्ति च। दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणित संभवः ॥' अर्थात् रक्त की दुष्टि के कारण दन्तमूल से रक्त और पीब बहने लग जाती है। ध्यान रहे, जैसे-जैसे यह अधिक पूय का निर्गमन होता जाता है तैसे-तैसे दन्तमूल या दन्तवेष्ट का पोला भाग बढ़ता जाता है और जैसे-जैसे यह पोला भाग बढ़ता जाता है, तैसे-तैसे दाँत कमजोर होकर हिलने लगते हैं।

ऊपर दाँतों पर खपरी चढ़ने के विषय में जो कहा गया है, वह आयुर्वेद[1] में वर्णित 'दन्तशर्करा' या 'दन्तकपालिका' नामक दन्तविकार है। शर्करा या खपरी को बार २ खुरचने से भी पायोरिया रोग हो जाता है, जिसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर करा दिया गया है।

पूर्वरूप—इस रोग के पूर्वरूप में मसूड़ों में सूजन, दाँतों से रक्त या पीब का निकलना, धीरे-धीरे दाँतों में कृमिसंचार, मुख में लिबलिबापन अधिक रहना, मुख से दुर्गन्ध आना इत्यादि लक्षण होते हैं।

रूप या लक्षण—यह रोग धीरे-धीरे कुछ भी मालूम न देते हुए बढ़ता ही जाता है। जब दाँतों के मूल से रक्त और पीब बाहर आने लगती है, तब कहीं रोगी की आँखें खुलती हैं। किंतु अब तो रोग परिपूर्ण वृद्धि को प्राप्त हुआ रहता है। दाँतों पर धीरे-धीरे कीटाणुओं का प्रभाव होने लग जाता है और दाँत किंचित् प्रमाण में हिलने लग जाते

१. 'मलो दन्तगतोयस्तु पित्तामारुतशोषितः ।
शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दंतशर्करा ॥' (मा० नि०)
'अधावनान्मलो दन्ते कफवातेन शोषितः ।
पूतिगन्धः स्थिरीभूतः शर्करा साऽप्युपेक्षिता ॥' (वाग्भट)

हैं । वेदना कुछ भी नहीं होती । इसीसे यह विकार शीघ्र ध्यान में नहीं आता । मसूड़े खराब हो जाते हैं, रक्त और मवाद से भर जाते हैं और धीरे-धीरे साधारण स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है ।

लक्षणों के भेद से साधारणतः इस रोग की तीन अवस्थायें की जा सकती हैं—

१. प्रारम्भिक (Early stage) दाँतों में दारारें, मसूड़ों में कुछ शोथ, थोड़ा सा दबाव पड़ने पर रक्त का निकलना आदि लक्षण होते हैं।

२. द्वितीयावस्था (Late) में मसूड़े अधिक सूजते हैं, परस्पर जुड़कर आस-पास की दन्त कोटरों शोष का होना प्रारम्भ हो जाता है, दाँतों की स्थिति में भी परिवर्तन हो जाता है, वे कुछ आगे की ओर निकल आते हैं । मसूड़ों के खराब होने और स्थान छोड़ने से वे ढीले पड़ जाते हैं । परिणामस्वरूप इनमें अवकाश (Pockets) हो जाते और उनमें पीब तथा भोजन आदि के कण जमा हो जाते हैं। फलतः जरा सा दबाव पड़ते ही लगातार पीब का निकलना जारी हो जाता है । प्रातःकाल आँख के खुलने पर उस रोगी के तकिये पर पीब और रक्त फैला हुआ पाया जाता है । जिसे देखकर रोगी स्वयं चिंतित हो उठता है । दाँतों की ग्रीवा पर काला मल (Tartar) शर्करा रूप में जम जाता है ।

३. अन्तिम अवस्था में रोगी का श्वास बदबूदार होता है और प्रातःकाल मुख का स्वाद खराब हो जाता है, थूक अधिक प्रमाण में निकलने लगता है ।

थूक और पीब के साथ पायोरिया के कीटाणु आमाशय और पक्वाशय में प्रविष्ट हो जाते हैं । दिन के समय तो ये उदर के पाचक-रस में जो 'हायड्रोक्लोरिक एसिड' या क्षार होता है, उसके प्रभाव से बहुत कुछ नष्ट हो जाया करते हैं । किंतु रात्रि में जब केवल थूक के साथ अन्दर पहुँचते हैं तो कई प्रकार के विकारों को उत्पन्न कर देते हैं । कभी-कभी यह विष मसूड़ों से ही सीधा रक्त में पहुँच कर उसे

दूषित कर देता है, जिससे शरीर में अनेक प्रकार के रोगों की सृष्टि होती है, तथा रोगी की जीवनी-शक्ति कम हो जाती है।

पायोरिया विकार के कारण वातरक्त, आमवात, अतिसार, ग्रहणी, आमाशयशोथ, आमाशय तथा पक्वाशय में व्रणों का होना, संधि-शोथ, ज्वर, कण्डू, पामा, अजीर्ण, शूल, उपांत्रशोथ, हृदयरोग, नेत्ररोग, मुख के भीतरी भाग और गले में एक प्रकार के दाह का होना, रुधिर की विशेष कमी, मस्तिष्क के रोग, बल के क्षीण होते ही भिन्न-भिन्न वात व्याधियों का होना, हाथ-पैरों में वेदना, पादहर्ष (झन-झनाहट) त्वचा का लाल हो जाना, भ्रम, मलबन्ध, स्वभाव में चिड़-चिड़ापन, शरीर की विकृति आदि उपद्रव शुरू हो जाते हैं। ऐसी विषमावस्था में ठीक-ठीक यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन सी व्याधि स्वतन्त्र है और कौन सी गौण या उपद्रव स्वरूप है।

आजकल जो बहुत लोग अतिसार या संग्रहणी रोग से अत्यन्त कष्ट पाते हैं, इसका एक महत्त्व का कारण पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने पायोरिया रोग का होना सिद्ध किया है। रोगी के दन्तवेष्ट या दाँतों की जड़ों में से निरन्तर अनेक कीटाणु, लार और भोजन के साथ पक्वाशय में जाकर भोजन को दूषित कर देते हैं। जिससे पक्वाशय के भीतरी स्तर पर दाहयुक्त शोथ होता है और अजीर्ण, आध्मान, खट्टी डकारों का आना, उदरशूल आदि विकारों से मनुष्य कष्ट पाता है। जो लोग इस रोग की उत्तम प्रकार से ठीक-ठीक चिकित्सा नहीं करते, उनको यह रोग स्थायी होकर पक्वाशय के क्षत या व्रण रोग में परिणत हो जाता है। इससे मनुष्य के पेट में घोर पीड़ा होती है और उसको प्रायः आहार के बाद वमन हो जाया करता है, अन्त में यहाँ तक होता है कि रुधिर का वमन होकर रोगी कालकवलित होता है।

जो मनुष्य इस रोग से स्थायी रूप में जकड़े होते हैं, उनके प्रायः वृद्धावस्था में 'कैन्सर' रोग हो जाता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने विशेष खोज के बाद निश्चय किया है कि नेत्रों के अनेक रोगों में दाँतों के दूषित पदार्थ ही एक प्रधान कारण हैं। जिसके नेत्रों में फूला रोग होता

है, उसके दांतों में प्रायः पायोरिया रोग पाया जाता है। आजकल चिकित्सक लोग जब आँख के फूले का आपरेशन करते हैं, तो पहले रोगी के दाँतों को साफ कर और यदि पायोरिया हो तो उसे यथा सम्भव दूर करने के पश्चात् ही शस्त्र-चिकित्सा करते हैं। उनका विश्वास है कि आपरेशन के बाद यदि दाँतों में कीटाणु रहें तो वे उपसर्ग पहुँचा कर नेत्रों को हानि पहुँचाते हैं, आँखों को अन्धी कर देते हैं। दन्त रोगों को निर्मूल न करते हुये यदि आपरेशन किया जाय तो उपसर्ग का भय सदैव बना रहता है और चिकित्सक को दोष का भागी बनना पड़ता है।

जीर्ण संधिशोथ, अतिशय रक्ताल्पता आदि का भी और कोई कारण निर्धारित न हो सके तो पायोरिया को ही उनका मूल कारण बतलाया जाता है, कारण जरा ध्यानपूर्वक देखने से उक्त रोगियों के मसूड़ों में पीब और रक्त दिखलाई देते हैं। रक्त में दूषित पदार्थों के मिश्रण से शरीर में कई प्रकार की विकृति होती है, शक्ति क्षीण होती जाती है। इस प्रकार के रोगी को सन्ध्या के समय थकावट सी मालूम देती है, उसके शरीर का चमड़ा ढीला हो जाता है, तथा पेट में सदैव कोई न कोई विकार बना रहता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसके शरीर की जीवनी-शक्ति कम हो जाती है। ऐसी दशा में अन्य रोगों की चिकित्सा महान् कष्टसाध्य होती है। यदि कोई मनुष्य यक्ष्मा रोग से आक्रान्त हो और साथ ही उसे पायोरिया भी हो, तो इस रोग में उसकी जीवनी-शक्ति इतनी कम हो जाती है कि यक्ष्मा रोग के नष्ट करने का उसके पास कोई उपाय ही नहीं रहता और वह बेचारा रोगी अकाल में ही काल का ग्रास बन जाता है। जिस स्त्री के प्रसूतावस्था में यह रोग होता है, उसका दूध कम हो जाता है, और जो उसके थोड़ा बहुत दूध होता भी है, वह दूषित पदार्थ के मिलने से बालक के लिये अनेक पीड़ायें उत्पन्न करने का कारण हो जाता है। दाँतों के समस्त दूषित पदार्थ हृदय पिण्ड के भीतरी आवरणों में विकार उत्पन्न करते हैं, जिससे हृदय की बड़ी हानि होती है।

यह एक भयङ्कर विकार है—प्रथमतः तो इसमें जो दाँत ढीले या

कमजोर पड़ जाते हैं, उनके फिर सुदृढ़ होने की आशा नहीं के बराबर है। दूसरे दाँतों को निकाल बाहर किये बगैर उनके अन्दर व्रणों का होना, रक्त-स्राव होना, पीब का बनना आदि अनर्थ परम्परा कदापि नहीं रुकती। यदि दाँत न निकाले जायँ तो अन्यत्र आस-पास के भागों में पीब और व्रण का संचार होने लग जाता है और शरीर में उक्त नाना प्रकार के कष्टदायक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अन्त में दाँतों के निकाल देने पर चर्वण-क्रिया ठीक नहीं होने पाती, नकली दाँतों से यह क्रिया की जाती है, किन्तु असली दाँतों के अभाव में चर्वण किये गये पदार्थों में उचित लाला सम्मिश्रण न होने से स्वास्थ्य पर अनिष्ट परिणाम होता ही है।

चिकित्सा—'पायोरिया की एक मात्र दवा' 'पायोरिया नाशक रामबाण ओषधि'—आदि बड़े-बड़े अक्षरों में दिये गये विज्ञापन आजकल बहुत देखने में आते हैं। लोग इस रोग के विषय में अनजान होने से चतुर विज्ञापन-बाजों के पञ्जों में फँस कर अपना और भी अनर्थ कर लेते हैं। बाजारू औषधियों से अन्त में हार मानकर रोगी जब किसी वैद्य या डाक्टर की शरण में आता है, तब उस रोगी की द्वितीय या अन्तिम परिवृद्धा अवस्था हो गई रहती है। ऐसी हालत में उस पर फिर कोई भी उपाय काम नहीं देता। अन्त में यही कहने सुनने में आता है कि पायोरिया पर सिवा दन्तपातन के कोई उपाय नहीं है।

ध्यान रहे अन्य रोगों के समान इस रोग में भी चिकित्सा-सूत्रों का सर्वाङ्गीण विचार आयुर्वेद सिद्धांतानुसार करने से अवश्य लाभ हो सकता है। आधुनिक डेण्टिस्ट या दन्तवैद्यों द्वारा इसका यथायोग्य सफल उपचार प्रायः बहुत ही कम देखने में आता है। कारण वे लोग रोगी के औषधान्न विहार, पथ्यापथ्य, दुष्टव्रण चिकित्सा आदि बातों की ओर पूर्णतया ध्यान नहीं दिया करते। वास्तव में पायोरिया, उपकुश[1]

१. उपकुश और दन्तवेष्ट (पायोरिया) में बहुत कुछ साम्य है। भेद इतना ही है कि उपकुश में दन्तवेष्ट या दाँतों के मूल में दाह होकर मसूड़े पकते हैं, दाँत हिलने लगते हैं और उनसे मन्द वेदनायुक्त रक्त-स्राव होता है पीब नहीं निकलती,

आदि दन्त-रोगों में इन बातों की ओर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। उनमें भी पायोरिया में तो रक्तान्तर्गत दोषों का विचार विशेष आवश्यक है। साथ ही साथ उदरान्तर्गत विकारों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। दाँतों को खुरचने से, उनके मल की सफाई आदि केवल दन्तोपचार से लाभ की आशा सर्वथा सम्भव नहीं है। अतः रक्तान्तर्गत एवं उदरान्तर्गत विकारों के शमनार्थ लंघन, शोधनादि अन्तःपरिमार्जनउपायों का यथाविधि अवलम्बन आवश्यक है।[1]

इस रोग की प्रथमावस्था में या प्रारम्भिक अवस्था में दाँतों पर जमे हुये मल को तुरन्त निकलवा डालना चाहिए, गर्म पानी में नमक डालकर खूब कुल्ले या गरारे करना चाहिये, मसूड़ों के चारों ओर जो पीब जम गई हो उसको भी बिल्कुल साफ कर डालना चाहिये।

महीन पीसा हुआ नमक सरसों के तेल में मिलाकर (इसमें थोड़ा

मुख में दुर्गन्धि आदि लक्षण पायोरिया जैसे ही होते हैं। यह विकार पित्त और रक्त की दुष्टि से होता है। कहा है—

'आध्मायते स्रुते रक्ते, मुखं पूति च जायते।
यस्मिन्नुपकुशः सस्यात्पित्तरक्तसमुद्भवः ॥' (योगरत्नाकर)

पायोरिया में केवल रक्तदुष्टि रहती है, किन्तु उपकुश में पित्त और रक्त दोनों की दुष्टि होती है, अतः दोनों में अन्तःपरिमार्जन की विशेष आवश्यकता है और दोनों की चिकित्सा में भी बहुत कुछ साम्य है।

1. 'While local irritation is the exciting cause, in that it lowers the resistance of the tissues to bacterial infection and leads to their destru tion by sepsis, the irritating agent is often itself an end product of an abnormal state of the blood.

In some mouths which are kept scrupulously clean, pyorrhoea is present, and these cases often associated with intestinal trouble, may possibly be due to the System being so clogged with waste products that a proportion of irritating material has to be got rid of by an unnatural route, the secretory glands of the mouth and elementary tract becoming temporarily excretory' Dr. J. D. Hamilton,

काली मिर्च और तमाखू चूर्ण भी मिलालें) उंगली से मलना टैनिक एसिड पाउडर की अपेक्षा विशेष लाभदायक है। उसे विशेष कर मसूड़ों पर दिन में दो बार धीरे-धीरे मलना चाहिये। यह प्रयोग लगभग दो मास तक करे और रोग के जो कारण बतलाये गये हैं, उनसे दूर करे। नीम की या अपामार्ग की दातुन करना या मौलसिरी की छाल या फलों को चबाना बहुत लाभ दायक है। पाश्चात्य प्रयोगानुसार रेशम के एक धागे को, 'हाइड्रोजन पर आकसाइड' में डुबोकर दाँतों के बीच में डाल कर उनकी सफाई करते रहना तथा टिंचर एकोनाइट (Tr. Aconite) १ भाग, टिंचर मिर्ह (Tr. Myrrh) १ भाग, और टिंचर आयोडिन रेक्टिफाइड से बना हुआ ४ भाग, इनको एकत्र मिला कर दाँत और मसूड़ों पर दिन में ३ बार लगाना चाहिये।

आयुर्वेदिक निम्न प्रयोग भी यथेष्ट लाभदायक हैं—

१. कड़ाही में सीसा को कोयले की आँच पर गलाकर उसे मदार (अर्क) की जड़ से खूब घोटना चाहिये। जब भस्म हो जाय तब शीशी में भर रक्खें, और दाँतों, मसूड़ों पर लगाया करें।

२. नीमपत्र १ सेर और फिटकरी १० तोला दोनों को मटकी में बन्द कर कण्डों की आँच में भस्म करलें और पीस छान कर रखलें। इसे दिन में दो बार ५-५ मिनट तक मसूड़ों और दाँतों पर मलें। फिर ५ या १० मिनट बाद २ तोला पीपल को आध सेर जल में पका कर १० तोला शेष रहे क्वाथ में १ तोला शहद मिला कुल्ले करें (यह क्वाथ पहले ही बना कर रख लें) फिर ५ मिनट के बाद साफ उष्णोदक से कुल्ले करें। तथा प्रातः सायं केशोर गुग्गुल १ माशा की एक मात्रा में दिन में दो बार महामंजिष्ठादि कषाय के अनुपान दें। भोजन के बाद सारिवाद्यास २ तोला बराबर जल मिला कर देना भी उत्तम है। रात में सोते समय "आरोग्यवर्धिनी" २ गोली दूध के साथ दे।

३. त्रिफला त्रिकुटा, दालचीनी, अकरकरा, बच, कूठ, मोचरस, माजूफल, धाय पुष्प, मस्तगी, बायविडंग, कसीस, पतंग, संगजराहत, समुद्रफेन और सेंधा नमक।

विधि—सबको सममाग ले थोड़ी फिटकरी मिला वस्त्रछान चूर्ण कर शीशी में भर रक्खें। दिन में दो या तीन बार इसका मंजन करें।

४. त्रिकटु, दालचीनी, तालीसपत्र, श्वेत जीरा, सौंफ, हरड़, आमला और इलायची के दाने प्रत्येक १-१ तोला। फिटकरी भुनी हुई ४ तोला, मुलहठी ४ तोला, सेंधा नमक ८ तोला, शुद्ध नीलाशोथ (तुत्थ) २ तोला, भुना सुहागा २ तोला और उत्तम खरिया मिट्टी ३० तोले।

विधि—सबको लेकर महीन कपड़-छन चूर्ण कर उसमें पिपरमेंट का सत् ६ माशे पीसकर मिला दें और शीशी में भर रक्खें। इसे नित्य मंजन करने से बहुत लाभ होता है।

५. शुद्ध पीली कौड़ी की भस्म ५ तोला, श्वेत फिटकिरी का फूला २॥ तोला और काली मिर्च १। तोला, इनका महीन चूर्ण कर रक्खें।

ध्यान रहे, उक्त मंजनों में से कोई भी मंजन मुख में दाँत और मसूड़ों पर अच्छी तरह धीरे-धीरे घिसते हुए लगावे और फिर कुछ देर के बाद उष्ण जल से कुल्ला कर मुख को साफ कर लेना चाहिये।

रोगी की द्वितीयावस्था में स्थानीय रक्तान्तर्गत दोष को निकालने के लिये प्रथम रक्तमोक्षण क्रिया इस प्रकार करें—स्वच्छ कपड़ा एवं ब्रुश से दाँत और मसूड़ों को जरा जोर से घिसना चाहिये। ऐसा करने से खूब रक्तस्राव होने लग जाता है। इससे चिंतित या घबड़ाना नहीं चाहिये। रक्तस्राव धीरे-धीरे स्वयंही कम होकर बन्द हो जाता है। पश्चात् कफदोषनाशक, तथा रक्त, मांस एवं धातुओं पर उत्तम कार्यशील सुगन्धित द्रव्यों का क्वाथ तैयार कर उससे कुल्ले करें। हम यहाँ एक अनुभूत क्वाथ का प्रयोग लिख देते हैं—

त्रिफला, सोंठ, नागरमोथा, कचूर और रूमी मस्तगी पाँचों १-१ तोला सबका चूर्ण कर आध सेर जल में पका कर, चतुर्थांशशेष रहने पर उसमें रसौंत (रसाञ्जन) ६ माशे मिलावें और फिर छानकर कुल्ले करें।

इसके पश्चात् प्रतिसारण अर्थात् उपर्युक्त ओषधियों को व्याधि-स्थान पर घिसना (घर्षण क्रिया करनी) चाहिये। प्रतिसारण क्रिया के

द्रव्यरोपण, संधानकारी और व्रणनाशक होने चाहिये। इसके लिये लोध्र, पतंग, मुलहठी और लाख (पीपल की) उत्तम कार्यकर हैं। इनका महीन चूर्ण कर शहद मिला कर प्रतिसारण करने से रोपणादि कार्य उत्तम प्रकार से होता है। दाँत यदि विशेष हिलते न हों तो इस क्रिया से अवश्य लाभ होता है। यदि दाँत बहुत ही हिलते हों, तब तो उन्हें निकाल डालना ही श्रेयष्कर है। न हिलने वाले दाँतों के ऊपर के शर्करा या टारटर (Tartar) को तो अवश्य ही निकाल डालना चाहिये। साधारण हिलने वाले दाँतों के ऊपर उक्त प्रतिसारण आदि क्रिया उत्तम कार्यकर होती है। साधारण क्रिया के पश्चात् भी उक्त क्वाथ से कुल्ले करना चाहिये। अथवा संधानकारी, रोपक ऐसे क्षीरी वृक्षों (बड़, गूलर आदि) की छाल के क्वाथ का, उसमें शहद, घृत और शक्कर मिला कर कुल्ले करना विशेष लाभदायक है।

प्रतिसारण के पश्चात् शिरोविरेचनार्थ, विरेचक योगों की योजना आवश्यक है। यह एक ऊर्ध्वजत्रुगत विकार होने से, उपर्युक्त नस्य कर्म आयुर्वेदसिद्धान्तानुसार इसमें महान लाभकारी होता है। इससे विकारोत्पादक दोषों का निर्हरण हो जाता है। यह उपाय भी इस विकार में ऐसा करना चाहिये जो संधान-कारी और रोपण गुण युक्त हो। इसके लिए काकोल्यादि गणान्तर्गत (काकोली क्षीर काकोली जीवकर्षभको तथा। ऋद्धिर्वृद्धिस्तथा मेदा महामेदा गुडूचिका। मुद्गपर्णी माषपर्णीपद्मकं वंशलोचना। शृङ्गी प्रपौण्डरीकं च जीवन्ती मधुयष्टिका। द्राक्षाचेति वर्गो ऽयं काकोल्यादिरुदीरतः) जितने भी द्रव्य प्राप्त हों उन्हें चूर्ण कर दशगुने दूध के साथ सिद्ध किये गए घृत का नस्य देना विशेष लाभदायक है।

खसखस का तैल ३ भाग, लौंग का तेल २ भाग, दोनों को मिला कर दाँत और मसूड़ों पर प्रतिसारण करे, अथवा प्रातः सायं 'टैनिक एसिड का घोल' (Solution of Tannic Acid in spirit) मसूड़ों पर लगाना भी लाभदायक है।

पायोरिया के प्रत्येक रोगी को मसूड़ों की ओर विशेष ध्यान देना

आवश्यक है। पीब जो कि दाँतों के आस-पास जमा हो, उसे युक्तिपूर्वक धीरे से दबा दबा कर निकालते रहना चाहिये। इसका उपाय यह है कि दाँत के दूसरी ओर मुँह में एक ओर अँगूठा और बाहर की ओर तर्जनी उंगली लगाकर दोनों से मसूड़ों को दबावें। निचले जबड़े में दाँत के ऊपरी ओर से और ऊपरी जबड़े में निचली ओर से दबाना चाहिये।

कई चिकित्सक पायोरिया पर 'इमेटिन' के इन्जेक्शन्स बहुतायत से लगाया करते हैं। किन्तु ये इन्जेक्शन्स हर एक हालत में सफल नहीं होते। उक्त आयुर्वेदिक क्रियानुसार चिकित्सा करने से यह रोग जड़मूल से जाता रहता है।

पथ्यापथ्य—रोग की प्रत्येक अवस्था में मसूड़ों और दाँतों का व्यायाम बहुत आवश्यक है। एतदर्थ मध्यमा अंगुली के अगले सिरे पर थोड़ा सा सरसों का तैल लगाकर मसूड़ों पर धीरे धीरे प्रातःसायं लगभग १० मिनट तक मलना चाहिये। ऐसा करने से पायोरिया और जमे हुए मैल (Tartar) दोनों को लाभ पहुँचता है, तथा रक्तसंचार तीव्र होकर रोग-नाशन में सहायता पहुँचती है। गर्म जल में सेंधा नमक मिलाकर दिन में कई बार कुल्ले करता रहे। दाँतों की सफाई के साथ पेट की सफाई की ओर भी ध्यान देते रहना चाहिये। बादी और गरिष्ठ चीजों से बचता रहे। ध्यान रहे कि दाँत की व्याधियों और आहार का बहुत निकटवर्ती सम्बन्ध है।

आहार को सुधार लेने से ये रोग होते ही नहीं और यदि हो भी गये तो शीघ्र ही अच्छे हो जाते हैं। पायोरियाग्रस्त रोगी को ऐसा भोजन करना चाहिये जिसमें बिटामिन 'सी' और 'डी' तथा क्षार की प्रधानता हो, जैसे ताजे फल, नीबू, सन्तरा, प्याज, हरे शाक (पत्रशाक) दूध, मक्खन, मेवे आदि। ईख (गन्ना) का चूसना विशेष लाभकारी है। चने के आटे मिली हुई रोटी खाना लाभदायक है। नीबू के छिलकों को रगड़ कर या दाँतों से कुचल कर मसूड़ों पर मलते रहना चाहिये।

भोजन को खूब चबाकर खावे, और भोजनोपरान्त खूब कुल्लेकर दाँतों को साफ करता रहे। नित्य प्रातः सायं खुली हवा में टहलने का जाना चाहिये। जामुन, बबूल, मौलसिरी, अपामार्ग, या गूलर की दातून करे अथवा बबूल का रस दाँतों में लगावे या बबूल की पत्ती चबाकर थूका करे अथवा वटक्षीर (बरगद का दूध) में घी, शर्करा और थोड़ा शहद मिला कर दाँतों और मसूड़ों पर दोनों समय लगाया करें। इससे सूजन रक्तस्राव और पीब की कमी होकर रोग बढ़ने नहीं पाता।

कई चिकित्सकों की मान्यता है कि अत्यधिक पान के व्यवहार से ही पायोरिया रोग हो जाता है। गर्म-गर्म चाय आदि उत्तेजक पेय-पदार्थ भी हानिकारक हैं, दाँतों को लोहे की पिन आदि से कभी न कुरेदे, क्योंकि इससे पक कर पीब पैदा होने (Septic) की संभावना रहती है। यदि बिना कुरेदे काम न चले तो सुवर्ण या चाँदी की कोई कुरेदने वाली चीज बनालें। व्याधि में फँसने की अपेक्षा उसे पैदा होने ही न देना बहुत अच्छा है।

दन्त-पातन—के विषय में डा० वल्लभम् का कथन है कि बहुत से लोग पायोरिया के रोगी को देखते ही डर कर, दाँत निकलवाकर, पोपला बनने का फतवा दे देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दाँतों का निकलवाना इस रोगी के लिये किसी सीमा तक लाभदायक है। किन्तु जहाँ तक बचाया जा सके अच्छा है। काम न चलने पर एक बार में ५ दाँतों से कभी अधिक उखड़वाना ठीक नहीं। अन्यथा रोगी के अन्दर विष (Toxin) का संचार होकर उसकी अवस्था भयङ्कर बन जायगी। ताजे घावों के कारण पीब के अकस्मात् लीन हो जाने से घोर उपद्रव की आशङ्का रहती है। दाँत निकलवाने के ५ या ६ मास पश्चात् कृत्रिम दाँत लगवाने चाहिये ताकि मसूड़े मजबूत होकर दाँतों की प्लेटों को बर्दाश्त करने योग्य बन जायँ।

पायोरिया और शीताद—कई विद्वान् भ्रम से आयुर्वेदीय शीताद रोग को ही पायोरिया मानते हैं। शीताद विकार में मसूड़े स्पञ्ज जैसे गुलगुले हो जाया करते हैं। अंग्रेजी में इसे 'स्पंजी गम्स' (Spongy

Gums) कहते हैं, इसमें मसूड़ों का मांस गलने लगता है, तथा उनमें अकस्मात रक्तस्राव होने लगता है। यह रक्त दुर्गन्धयुक्त, काला एवं कफ दूषित हुआ करता है। इसमें कफदोष तथा रक्तदूष्य की प्रधानता रहती हैं।[1] इसमें मसूड़ों में सड़ान युक्त शोथ होती है, तथा वह शोथ व्रणरूप में परिणत होकर उसमें से आगे चलकर पूयमिश्रित रक्त एक समान वहने लग जाता है। रोगी कुछ भी बराबर खा या पी नहीं सकता। जीभ में भी व्रण हो जाते हैं। मसूड़ों में अतिशय वेदना होती है, जिससे रोगी को निद्रा नहीं आती। शरीर में रक्त का अभाव, कृशता, रहती है। अतः पायोरिया से यह भिन्न व्याधि है।

सौषिर—कफ एवं वात दोष की विकृति होती है जिससे दन्तमूल शोथ, पीडा, कण्डु और लालास्राव होता है। वाग्भट ने इसमें एक लक्षण 'दाँतों के मांस भर जाते हैं' विशेष दिया है।[2]

चिकित्सा—१. रक्तनिर्हरण २. लोध्र, मुस्तक, रसाञ्जन का मधु के साथ लेप ३. क्षीरी वृक्षों के कषाय का गण्डूष धारण करना बतलाया है।[3]

महाशौषिर—यह एक सन्निपातज व्याधि है जिसमें दाँत वेष्टन ढीले पड़ जाते और वे हिलने लगते हैं तालु मुख में पाक होकर फटने लगते हैं। आधुनिक चिकित्साविज्ञान में इस रोग की समता 'गैंग्रिनसस्टोमेटाइटिस' या 'कैंक्रमओरिस' से होती है। ऐसी अवस्था सन्निपातिक ज्वर या कालज्वर के बाद दन्तमूल और मुख की श्लेष्मलकला में शोथ और फिर व्रण उत्पन्न हो जाने पर होती है। यह प्रसरित होते हुए सपूर्ण दन्तमूलों और श्लेष्मलकला को व्रणों से भर देता है। साथ में

---

१. श्लेष्मरक्तेन पूतीनि स्रवंत्यस्रमहेतुकम् ।
शीर्यन्ते दंतमांसानि मृदुक्लिन्नसितानि च ।। शीतादः असौ……
—वाग्भट ।

२. श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफवातजः ।
लालास्रावी सकण्डुश्च स ज्ञेयः सौषिरो गदः ।

३. सौषिरे हृतरक्ते तु लोध्रमुस्तारसाञ्जनैः ।
सक्षौद्रैः शस्यते लेपो गण्डूषे क्षीरिणो हिताः ।

अनेक सार्वदैहिक लक्षण भी रोगी में पाये जाते हैं। (इसकी कालमर्यादा सात रात में रोगी का घात करता है ऐसी बतलाई गई है।)[1]

चिकित्सा—इसमें दन्तवेष्ट या सौषिरवत् चिकित्सा की जा सकती है, यह असाध्य रोग है। अस्तु, शास्त्र में इसकी चिकित्सा का वर्णन नहीं हुआ है। आधुनिक चिकित्सा में व्रणित भाग को नष्ट करने के लिये दाह की क्रिया की जाती है।

परिदर—पित्त, रक्त और कफजन्य यह व्याधि है। इसमें दाँत के मसूड़े विशीर्ण होने लगते हैं और रक्त का स्राव होता है।[2]

चिकित्सा—शीताद के सदृश उपचार—१. वमन २. विरेचन ३. नस्य प्रभृति कर्मों को करना चाहिये।[3]

उपकुश—दन्तवेष्टों में दाह और पाक होता है जिससे दाँत चल हो जाते (हिलने लगते) हैं। मन्द वेदना होती और दबाने पर रक्त का स्राव होता है। इसमें पीड़ा अल्प होती है। रक्त स्रवित होने के कुछ देर बाद फिर मसूड़ों में सूजन होती है, दबाने पर पुनः रक्त स्राव हो जाता है। यह पित्त और रक्त दोष से उत्पन्न हुआ उपकुश नामक रोग है। इसमें मुख से दुर्गंध आती है।[4]

चिकित्सा—१. उभयतः संशोधन (वमन एवं विरेचन) २. शिरोरे-

१. दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालुश्चाप्यवदीर्यते ।
यस्मात्स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिर संज्ञकः । (सु०)
सदाहो दन्तमूलेषु शोथः पित्तकफानिलात् ।
महाशौषिर इत्येष सप्तरात्रान्निहन्त्यसून् ।

२. दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन्स्त्रवति चाप्यसृक् ।
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः । (भोज)

३. क्रियां परिदरे कुर्याद् शीतादोक्तां विचक्षणः । (सु०)

४. वेष्टेषु दाह पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च ।
अत्यर्दिताः प्रस्रवन्ति शोषिर्णं मन्दवेदनम् ।
आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते ।
यस्मिन्नुपकुशः सस्यात् पित्तरक्तसमुद्भवः ।

चन ३. कठूमर (काष्ठोदुम्बर) तथा गोजी पत्र से लेखन करके रक्त-विस्रावण ४. त्रिकटु सैंधव तथा मधु को मिलाकर प्रतिसारण-पिप्पली, सरसों, सोंठ तथा वेतस फल के द्वारा प्रतिसारण ५. इन्हीं ओषधियों से सिद्ध क्वाथ का कवल धारण काकोल्यादिगण की ओषधियों से सिद्ध घृत का कवल या नस्य लेना चाहिये।

दन्तवैदर्भ—यह एक अभिघातजन्य व्याधि है—जिसमें दाँतों की जड़ में घर्षण करने की वजह से शोथ और रक्तिमा उत्पन्न होती तथा हिलने लगते हैं।[1]

चिकित्सा—१. दन्तमूल स्थित दुष्टमांस को काटकर (शस्त्रकर्म) वहाँ पर २. क्षार कर्म करना तथा ३. शीतल उपचारों (गण्डूष एवं कवल) प्रभृति) को करना चाहिये।[2]

पाश्चात्य ग्रंथों के वर्णनों के आधार पर समन्वय करते हुए ऐसा ज्ञात होता है कि दन्तवेष्ट से प्रारंभ करके शौषिर, परिदर, उपकुश प्रभृति दन्तवैदर्भ तक सम्पूर्ण रोगों के लक्षण दन्तवेष्ट प्रकोप (Gingivitis) के विविध प्रकार, अथवा अवस्थाभेद (Stages) हैं; क्योंकि प्रायः सभी में दाँतों के मसूड़ों में सूजन, पीड़ा, रक्तस्राव प्रभृति लक्षण मिलते हैं, दोषों के तरतम भेद से लक्षणों में भिन्नता आ जाती है। 'जिन्जी वाइटिस' की यह अवस्था आमतौर से मुख की सफाई नहीं रखने वाले व्यक्तियों में होती है। भोजन के बाद अन्नावशेष मसूड़ों और दाँतों में लगा रह जाता है, और शनैः शनैः विकारी जीवाणु का योग पाकर शोथ उत्पन्न हो जाता है। मसूड़े सूज कर रक्तवर्ण और मोटे हो जाते हैं और दबाने पर रक्त का स्राव होने लगता है। पश्चात् उन्हीं स्थानों पर व्रण बन जाते हैं, इन व्रणों से विष का शोषण होता रहता है। पारद का सेवन और स्कर्वी रोग (जीवतिक्ति 'सी' की कमी) इस अवस्था की

१. घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान्।
चलन्ति च रदा यस्मिन् स वैदर्भोभिघातजः।

२. शस्त्रेण दन्तवैदर्भे दन्तमूलानि शोधयेत्।
ततः क्षारं प्रयुंजीत क्रिया सर्वाश्च शीतला।

वृद्धि में सहायता करता है। दन्तमूलों में व्रणों से पूय का भी स्राव होने लगता, मसूड़े गलने प्रारंभ हो जाते हैं, दाँत हिलने लगते हैं, मुँह से दुर्गंध आती है।

वर्धन—(Extra tooth)—वायु के प्रकोप से तीव्र पीड़ाकारक कभी-कभी एक दाँत और उत्पन्न हो जाता है जब यह पूर्णतः निकल आता है तो पीड़ा शान्त हो जाती है। अष्टाङ्ग-संग्रह तथा हृदयकार इसे 'खलिवर्धन' या 'अधिदन्त' कहते हैं।[1] चन्द्रचक्रवर्त्ति तथा अन्य आधुनिक टीकाकार इसे 'विस्डमटूथ' (Wisdom tooth) कहते हैं। परन्तु प्राच्य चिकित्सा में इसके उद्धरण तथा अग्नि कर्म करने का प्रसङ्ग आता है और कृमिदन्त के सदृश चिकित्सा करने का विधान आता है।[2] अस्तु इसे 'एक्सट्राटूथ' जो अधिदन्त का अंग्रेजी पर्याय मात्र है, मानना अधिक उचित ज्ञात होता है।

अधिमांस—(Impacted wisdom tooth) निम्न हनु के पिछले दाँत के पास दारुण, पीडायुक्त, लालास्रावी, कफजन्य भारी शोथ होता है जिसको अधिमांस समझना चाहिये। इसके कारण पूरे हनु में वेदना होती है, भोजन करना भी कठिन हो जाता है। इन लक्षणों की बहुत कुछ समानता 'इम्पैक्टेडेड विस्डम टूथ' नामक पाश्चात्य शालाक्योक्त रोग से है।[3]

चिकित्सा—१. छेदन (काटकर) २. वच, तेजोवती, पाठा, यवक्षार के चूर्ण से प्रतिसारण करना ३. इन्हीं चूर्ण के क्वाथ में मधु और पिप्पली मिला कर सुखोष्ण कवल धारण करना। ४. पटोल, त्रिफला और निम्ब

१. मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः।
खलिवर्द्धनसंज्ञोऽसौ संजाते रुक् प्रशाम्यति।

२. उद्धृत्याधिकदन्तं तु ततोऽग्निमववारयेत्।
कृमिदन्तकवच्चापि विधिः कार्यो विजानता। (सु.)

३. हानव्ये पश्चिमे दन्ते महान् शोथो महारुजः।
लालास्रावी कफकृतः विज्ञेयः सोधिमांसक।

के कषाय से प्रक्षालन ५. शिरोविरेचन और ६. वैरेचनिक धूम का प्रयोग करना चाहिये ।[1]

दन्तनाडी—(Sinus of the Gums)—दाँत के मसूड़ों में वात, पित्त, कफ, सन्निपात और शल्यजन्य पाँच प्रकार का नाडियाँ (गतियाँ) होती हैं ।

वास्तव में नाडियों की उत्पत्ति दन्तवेष्ट (Pyorrhoea Alveolaris) नामक रोग के ही उपद्रवरूप में होती है । ठीक प्रकार से शोधन नहीं होने से पूय की गति दांतों की जड़ों तक पहुँच कर नाडी पैदा करती है । 'Gums which are swollen and oedematous especially at the margins, resulting in pockets which extend along the roots of the teeth' दोषानुसार इन नाडियों के कारण तथा लक्षणभेद पाँच प्रकार के कर लिये गये हैं । यह शल्यतन्त्र का विषयहै । अस्तु, शल्यतन्त्र में कथित हेतु, सम्प्राप्ति और लक्षणों के ऊपर ही इसकी निदान तथा चिकित्सा भी व्यवस्थित है ।

सामान्य चिकित्सा—नाडी व्रणहर कर्म ।

विशेष चिकित्सा—जिस दाँत के मूल में नाडी जान पड़े उस दाँत को निकाल देना चाहिये । दन्त के उद्धरण के समय मसूड़ों को चारो ओर काट कर फिर निकालना चाहिये । इस प्रकार नाडी का अशेष समुद्धरण हो जाता है और नाडीगत पूय का भली प्रकार शोधन हो कर व्रणरोपण हो जाता है । यदि रोग में उपशमन हो पाये तो वहाँ पर क्षार तथा अग्नि के द्वारा दहन (Cauteriation) कर देना चाहिये । नाडीयुत युक्त दाँत के उद्धरण शास्त्र में इस लिये दिया गया है कि नाडी का बिना उखाड़े (उपेक्षा करने पर) रोपण नहीं हो पाता और वह नाडीव्रण की गति क्रमशः गहराई में जाकर हन्वस्थि तक उपसर्ग पहुँच जाता है और निश्चितरूप से हन्वस्थि का भेदन हो जाता है । अस्तु, मूल के साथ ही पूरे दाँत का उद्धरण करना चाहिये अथवा अस्थि तक नाडी-

१. छित्वाधिमांसं सक्षौद्रैरेभिश्चूर्णैरुपाचरेत् ।
हितो शिरोविरेकश्च धूमो वैरेचनश्च यः ।

गति होने पर भग्न हुई अस्थि के टुकड़ों को भी साफ कर देना चाहिये ।[1]

आचार्य सुश्रुत ने ऊर्ध्व दन्तपंक्ति अथवा ऊर्ध्वहन्वस्थि में पाये जाने वाले ऊपर के दाँतों के मसूड़ों में नाडी होने पर दाँत के निकालने का स्पष्ट निषेध किया है । ऊपर वाला विधान अर्थात् दन्तमूलगत नाडी में दाँत का उद्धरण केवल नीचे वाली दन्तपंक्तियों के लिये ही है। फलतः ऊर्ध्वहन्वस्थि से सम्बन्धित दाँतों की नाडी में दन्तसमुद्धरण अवश्य करना चाहिये; परन्तु ऊर्ध्वहन्वस्थि के सम्बन्धित दाँतों में नहीं करना चाहिये । इस चिकित्साविधान के उपदेश का कारण उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा है कि ऊपर वाले दाँतों की जड़ें बहुत गहराई में लगी रहती हैं और उनका मसूड़ों के साथ बंधन स्थिरस्वरूप का होता है। उनके उद्धरण से तीव्र रक्तस्राव होता है। जिसके परिणामस्वरूप रक्तक्षयजन्य अनेक उपद्रवों के होने का भय रहता है । कई बार रोगी काना (काण) हो जाता अथवा अर्दित (Facial paralysis) से युक्त हो जाता है। अतएव ऊपर की पंक्ति के दन्त यदि चल (हिलते) भी हों तो नहीं निकालना चाहिये । दन्तगत नाडी में दन्त का उद्धरण तभी करना चाहिये जब कि नीचे की पंक्ति में विकृति हो—ऊपर में नहीं हो ।

पश्चात् प्रक्षालन के लिये—चमेलीपत्ती, धतूर की पत्ती, गोखरू और खैर की छाल से बने काढ़े से कुल्ला करावे। अथवा चमेली की पत्ती, मैनफल, खैर की छाल, छोटे गोखरू के काढ़े से प्रक्षालन करे।

---

१. यं दन्तमभिजायेत नाडी तद्दन्तमुद्धरेत् ।
छित्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नोपरिजो भवेत् ।
शोधयित्वा दहेद्वापि क्षारेण ज्वलनेन वा ।
भिनत्त्युपेक्षिते दन्ते हनुकास्थिगति ध्रुवम् ।
समूलं दशनं तस्मादुद्धरेद् भग्नमस्थि च
उद्धृते तूत्तरे दन्ते समूले स्थिर बन्धने ।
रक्तातियोगात् पूर्वोक्ता रोगा घोरा भवन्ति हि ।
काणः सञ्जायते जन्तुरर्दितं चास्य जायते ।
चलमप्युत्तरं दन्तं अतो नापहरेद् भिषक् ।

जात्यादि तैल—चमेली की पत्ती, धतूर की पत्ती, बड़ी कटेरी की जड़, गोखरू, पंचाङ्ग, मजीठ, लोध, खैर और मुलैठी के काढ़े से सिद्ध तैल का स्थानिक प्रयोग करना चाहिये।

दन्तविद्रधि—(Alveolar Abscess) दन्तमांसगत मल तथा रक्त दोष के कारण बड़ा शोथ हो जाता है जो बाहर से दिखलाई पड़ता है इसमें दाह और पीड़ा होती है और उसके फट जाने पर पूय और रक्त का स्राव हो जाता है। इस प्रकार की दन्तमूलगत व्याधि को दन्तविद्रधि कहते है।[१] पाश्चात्य शल्यतन्त्र के ग्रंथों में भी दन्तविद्रधि का पाठ मिलता है इस रोग का अंग्रेजी पर्याय 'एल्वियोलर ऐब्सेस' है।

यह अधिकतर कृमिदन्त (Carious tooth) के उपसर्ग से होता है। पूयोत्पादन होकर पूय या तो मसूड़े की विद्रधि (Gum boil) के रूप में आकर फट जाय अथवा प्रसरित होते हुए गहराई में जाकर अस्थ्यावरण में पहुँच जाय जिसके परिणामस्वरूप हनु का कोथ पैदा करे। ऊपरी जबड़े (ऊर्ध्वहन्वस्थि) में विशेषतः प्रसार ऊपर की ओर जाकर उर्ध्वहन्वथि कोटर (Maxillary antrum) में पहुँच कर उसको भी दूषित कर देता है। नीचे की ओर यदि प्रसार हुआ तो अधोहन्वस्थि के समीप जो कोमल रचनायें हैं उनको विकृत कर देता है अथवा अधोहन्वस्थि के नीचे के क्षेत्र (Sub maxillary region) में भी पूय का संचार होने लगता है, ऐसी दशा में विद्रधि फट जाती है और एक स्थायी नाडी का रूप ले लेती है। जिसका दोषभेद से पञ्च प्रकार की नाड़ी के वर्णनों में प्राचीन शास्त्रकारों ने कथन किया है। यह नाडी तब तक बनी रहती है जब तक उस दाँत को न निकाल दिया जाय अथवा 'सेक्वेस्ट्रम' (Sequestrum) को न दूर कर दिया जाय। इस रोग में दो ही लक्षण प्रधान मिलेंगे पीड़ा और चेहरे की सूजन, साथ ही विष के शोषण होने की वजह से सार्वदैहिक विषमयता के लक्षण जैसे, ज्वर, विबंधादि लक्षण भी व्यक्त रहते हैं।

१. दन्तमांसमलैः सास्रैः बाह्यतः श्वयथुर्महान् ।
सदाहरुक् स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ।

चिकित्सा—दन्तविद्रधि में भी सामान्य विद्रधिवत् चिकित्सा का क्रम रखना चाहिये। प्रारम्भ में शोफशामक उपचार, पश्चात् भेदन, शोधन और रोपण प्रभृति कार्यों को करना चाहिये। परन्तु इस विद्रधि का शस्त्रकर्म किसी विशेषज्ञ (कुशलेनैव) के द्वारा ही करना चाहिये।[1]

—∞∞—

६

दन्तगतरोग

(Diseases of Teeth)

दालन—(Toothache or Odontodina) जहाँ पर दाँतों में विदीर्ण होने के समान तीव्र पीडा होती है अर्थात् रोगी को ऐसा अनुभव होता है मानों दाँत फट रहे हैं। यह रोग सदा वायु के कारण ही होता है।[2] अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसकी संज्ञा 'शीतदन्त' दी है। आचार्य सुश्रुत ने इस रोग की कोई विशेष चिकित्सा नहीं बतलाई है। अष्टाङ्गहृदय में इसकी चिकित्सा का विशिष्ट वर्णन प्राप्त होता है। १. व्रीहिमुखशस्त्र के द्वारा लेखन करके २. अत्यन्त उष्ण तैल द्वारा इसको दग्ध किया जाता है। ३. पश्चात् प्रतिसारण के लिये शहद, मोथा, अनार की छाल, त्रिकटु, त्रिफला और सैन्धव प्रभृति द्रव्यों का उपयोग करने का आदेश है। ४. साथ ही अणुतैल के नस्य का भी विधान है।

कृमिदन्त—(Dental caries or Carious tooth)—इस

१. विद्रध्युक्तं च विधिवद्विदध्याद्दन्तविद्रधौ।
शस्त्रकर्म नरस्तत्र कुशलेनैव कारयेत्॥
नाडीव्रणहरं कर्म दन्तनाडीषु कारयेत्। (यो. र.)

२. दीर्यमाणेष्विवरुजा यत्र दन्तेषु जायते।
दालनो नाम स व्याधिः सदागतिनिमित्तजः॥

अवस्था में दाँत कृष्ण वर्ण, छिद्रयुक्त, स्राव और शोथयुक्त होता है। इसमें वायु की वजह से विना किसी निमित्त के (अनिमित्त) तीव्र शूल हुआ करता है।[१]

पाश्चात्य वैज्ञानिक इस रोग का मुख्य कारण जीवतिक्ति द्रव्य 'डी' की अल्पता तथा शरीरगत खटिक (Calcium) का ह्रास मानते हैं। रोगी विकृत दन्त के द्वारा कार्य लेने में असमर्थ रहता है जिसके कारण वहाँ पर भोजन का भाग और दन्तगत मैल इकट्ठी होती रहती है। इसके सड़ने से दन्तमूल तथा दाँत के चारों ओर के भाग कमजोर पड़ जाते हैं। फल स्वरूप जीवाणुओं का संक्रमण होकर दाँत सड़ने लगता है। कृमिदन्त के परिणामस्वरूप रोगी का पचनसंस्थान विकृत हो सकता है, उसके कारण उसको मन्दाग्नि, विबन्ध तथा ज्वर, उदरशूल प्रभृति सार्वदैहिक लक्षण भी होने लगते हैं।

चिकित्सा—१. अवपीडन नस्य २. स्नेह, गण्डूषधारण ३. लेप, स्निग्ध भोजन ४. तप्त शलाका से दाह करना मुख्य कर्म है। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से अभाव की पूर्ति के लिये प्रचुर मात्रा में जीवतिक्ति 'डी' और खटिक का प्रयोग करना चाहिये। तत्काल पीड़ा को शमन के लिये लौंग का तेल, दाल चीनी का तेल, कपूर, पीपरमेण्ट, अजवायन का सत, एल्कोहोल, क्लोरोफार्म प्रभृति द्रव्यों का गर्त में पिचु बनाकर भरना चाहिये। वेदना के शमन के लिए 'क्लोरोफार्म कैम्फर' का फोया बनाकर या 'लिनिमेण्ट कैम्फर' का फोया बनाकर भरना उत्तम रहता है। कृमिवाले दाँत के गड्ढे की सफाई करके 'क्रियोजोट' के द्रव से जलाना भी उत्तम रहता है। वेदनाशामक औषधियों को भी मुख से सेवन करने के लिये रोगी को मुख से देना चाहिये। कई बार स्थानिक संज्ञाहर द्रव्य जैसे 'नोवोकेन' की फुरेरी भरने से भी वेदना का शमन होता है। पीड़ा के शान्त हो जाने पर दाँत के गर्भ का भरण (चाँदी, सोने, पारा या पेरिसप्लास्टर से)

१. कृष्णश्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः॥
अनिमित्तजो वातात्स ज्ञेयः कृमिदन्तकः।

करना चाहिये। यदि यह संभव न हो तो पूरे दन्त का समूल उद्धरण कराना (उखड़वाना) चाहिये ।[1]

यदि कृमिदन्त अचल हो तो उसको निकाले नहीं, बल्कि उसका रक्तविस्रावण एवं स्वेदन करे। अष्टाङ्गहृदयकार ने लिखा है कि यदि कृमिदन्त पीड़ित रोगी कृश, दुर्बल, वृद्ध, वातपीडित हो तो न निकाले, विशेषकर आगे के दाँतों (उत्तर दन्त) को न निकाले क्योंकि उससे बहुत से उपद्रव होने लगते हैं।[2] भद्रादार्वादि गण की ओषधियाँ और पुनर्नवा का स्निग्ध लेप करे। कृमिघ्न उपचारों में गरम-गरम हींग का दन्ताम्बर (खोखले) में भरना। बृहत्यादि गण्डूष, बृहती, भूमि कदम्बा, रेंड, कण्टकारी के क्वाथ का तैलयुक्त गण्डूष धारण। नील्यादिचूर्ण-नीलिनी, काकजंघा, कटु तुम्बी मूल में से किसी एक को लेकर दाँत के गर्त को दबाना। सारिवाकल्क-सारिवा की पत्ती पीस कर उसका कल्क भरना। इन प्रयोगों से कृमि गिर जाते तथा पीडा शान्त हो जाती है। (वैद्यविलास)। कासीसादिवटी—कासीस, हींग, सौराष्ट्री, देवदारु को पीस कर गुटिका बनाकर धारण करने से पीडा शान्त होती है। (चिकित्सासार)। अदरक की चटनी बनाकर काला नमक मिलाकर दाँत के खोखले में भरने से भी वेदना शान्त होती है। किसी भी वातघ्न तैल का मुख में भरना लाभप्रद होता है। जैसे नारायण तैल। सरसों का तेल नाक में चार पाँच बूँद छोड़ने से दाँत के दर्द में शमन होता है।

वाग्भट ने कृमिदन्त में होने वाले शूल में सप्तच्छद तथा मदार के दूध के प्रयोग का उल्लेख किया है। इन दूधों से दाँत के गर्त्त का पूरण शूल-शामक होता है।[3]

दन्तहर्ष—(Odontitis)—यह वायु और पित्त के कारण होने

---

१. जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम्।

२. कृशदुर्बलवृद्धानां वातार्तानां न चोद्धरेत्।

३. सतच्छदार्कक्षीराभ्यां पूरणं कृमिशूलजित्। (अ. हृ. २२ उ.)

नोद्धरेच्चोत्तरं दन्तं बहूपद्रवकृद्धि सः॥

वाला विकार है। इस अवस्था में दन्त, शीतल, रूक्ष, प्रवात (हवा का झोंका) अम्ल पदार्थों तथा स्पर्श का सहन नहीं कर सकते। उनको ये सभी चीजें असह्य हो जाती हैं।[१]

यह एक दन्तशोथ की अवस्था ज्ञात होती है जिस को अंग्रेजी में 'ओडोण्टाइटिस' कहा जाता है।

चिकित्सा—१. चतुर्विध स्नेहों का किंचिदुष्ण कवल धारण करना, २. त्रैवृत घृत (त्रिवत कल्क से सिद्ध) का कवल धारण, ३. वातघ्न ओषधियों के क्वाथ से गण्डूष धारण करना, ४. स्नैहिक धूम, ५. स्नैहिक नस्य, ६. स्निग्ध भोजन, ७. मांसरस, ८. मांसरस से सिद्ध यवागू, ९. दूध, १०. साढ़ी (सन्तानिका), ११. शिरोवस्ति तथा अन्य वातघ्नोपचारों को करना चाहिये। १२. केवल सर्षप तैल का गण्डूष धारण भी प्रशस्त माना गया है।[२] नारायण, विष्णु या प्रसारणी तैल का गण्डूष धारण भी हितकर होता है।

भंजनक—जिस दन्तरोग में कफ और वात के विकार से मुख टेढ़ा पड़ जाय और दाँत टूट जायँ उसे भञ्जनक या अवभंजक कहते हैं।[३]

आचार्य वाग्भट ने बंजनक का उल्लेख नहीं किया, प्रस्तुत उन्होंने दन्तभेद का वर्णन किया है जिसमें कहा गया है कि दाँतों में टीस होती है, दाँत फूटते और उनमें ठनका होता है और दाँत में चीरा पड़ता है। ये लक्षण प्रायः भञ्जनक से मिलते हैं।

---

१. शीतरुक्षप्रवाताम्लस्पर्शानामसहा द्विजाः ।
यत्र स्युर्वातपित्ताभ्यां दन्तहर्ष स कीर्त्तितः ।। (सु.)

२. स्नेहानां कवलाः कोष्णाः सर्पिषस्त्रिवृतस्य च ।
निर्यूहाश्चानिलघ्नानां दन्तहर्षप्रमर्दनाः ।।
स्नैहिकोत्र हितो धूमो नस्यंस्नैहिकमेव च ।
रसारसयवाग्वश्च क्षीरं संतानिका घृतम् ।।
शिरोवस्तिर्हिश्चापि क्रमो यश्चानिलापहः (सु.)

३ वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्य दन्तभंगश्च जायते ।
कफवातकृतो व्याधि स भंजनक उच्यते । (सु.)

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा में वातघ्न तथा कफवातघ्न उपचारों को रखना चाहिये। अर्दित में जो चिकित्सा की जाती है वैसी ही चिकित्सा इस रोग में भी करनी चाहिये। नारायण तैल का हनु प्रदेश में अभ्यंग, वस्ति देना एरण्ड तैल का पीने में प्रयोग करना, तथा स्वेद करना हितकर होता है।

अकरकरादि योग—अकरकरा, अफीम, कुन्दरु की गोंद पीसकर गोदुग्ध या मातृस्तन्य में सान कर मुख में कवल धारण करने के लिये प्रयोग में आ सकता है। इससे दाँतों का टूटना या फटना बन्द हो जाता है।

ये सभी उपचार लाक्षणिक हैं वास्तव में यह रोग असाध्य माना गया है। इसी लिये आचार्य सुश्रुत ने इसकी कोई भी विशेष चिकित्सा स्वकृत संहिता में नहीं दी।

दन्त शर्करा—(Tartar) जब दन्तगत मल एवं कफ वायु से शोषित होकर कण या कंकड़ (शर्करा) के समान स्पर्श में खर हो जाता है और दाँतों में चिपक जाता है तब उस व्याधि को दन्त-शर्करा कहते हैं।[1]

पाश्चात्य वैद्यक में इस अवस्था को 'टारटर्स' कहा जाता है यह कोई स्वतंत्र रोग नहीं; बल्कि एक लक्षण मात्र है। यह दाँतों में शर्करा या पथरी के समान स्थित होकर दाँतों के गुणों का नाश करने वाला मल है। यह मल दाँतों के मध्य में फँसी हुई चीजों के सड़ने से तथा खनिज पदार्थ विशेषत: कैल्शियम और फास्फेट के उनकी जड़ में जम जाने से उत्पन्न होता है। यह रोग अधिकतर उन व्यक्तियों को होता है जो दाँतों की सफाई नहीं रखते। दातून या मंजन करने में लापरवाही करते हैं और दाँतों की मैल कड़ी होकर नीचे में जम जाती है।

चिकित्सा—में १. कारणों का दूर करना—दाँतों की सफाई कूर्चक (Brush) दातून तथा मंजनों से करना २. आमाशय तथा पक्वाशय

१. मलो दन्तगतो यस्तु कफश्चानिलशोषितः ।
शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा ॥

के शोधन के लिये वमन तथा रेचक ओषधियों का प्रयोग ३. जमी हुई शर्करा का आहरण। इस क्रिया में सेंधानमक, समुद्रफेन, सीपी की राख, सीसे की भस्म, नील गाय के सींग की राख मिला कर मंजन करना। इस मंजन से शर्करादोष दूर हो जाता है। तथा अन्य भी दन्तहर्ष सम्बन्धी उपचार लाभप्रद होते हैं। आजकल दन्तशर्करा का आहरण दन्तविशेषज्ञ, दन्तशंकु (Tooth Scaler) के द्वारा छिलकर (लेखन-क्रिया के द्वारा) करते हैं।

कपालिका (Enamel Separation)—मलयुक्त दन्त भागों के विदीर्ण होने पर कपाल (चिप्पी) सदृश जो चीज निकलती है उसको कपालिका कहते हैं—इसमें दाँत का भाग कटता चलता है, इन सभी अवस्थाओं में दाँतों का नाश होता है।[1] दन्तवल्कल (Enamel) उस भाग को कहते हैं जो मसूड़े के ऊपर निकले हुए भाग का आवरण करता रहता है। यह शरीर के सम्पूर्ण धातुओं से कठिन होता है और इसी के कारण कठिन से कठिन पदार्थों का मनुष्य चर्वण करने में समर्थ रहता है। मुख की स्वच्छता ठीक न रखने पर शर्करा के साथ ही साथ इसकी भी दृढ़ता जाती रहती है और निकलता रहता है।

चिकित्सा—यह एक कृच्छ्रतम व्याधि है; तथापि शर्करा की भाँति चिकित्सा की जा सकती है।[2]

श्यावदन्त—रक्तयुत पित्त के द्वारा दाँत का पूर्णतया दग्ध हो जाने से उसका वर्ण श्याव या नील हो जाता है। अस्तु, रोग को श्यावदन्त की संज्ञा दी गई है। अष्टाङ्गहृदयकार ने इसमें वायु की विकृति भी मानी है जो अधिक युक्तिसंगत ज्ञात होता है क्योंकि वायु से कृष्णता का आना अधिक संभव है।[3]

---

१. कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तेषु समलेषु च।
कपालिकेति विज्ञेया दन्तच्छिद्दन्तशर्करा।

२. कपालिका कृच्छ्रतमा तत्राप्येषा क्रिया हिता।

३. योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः।
श्यावतां नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः।

चिकित्सा—यह एक असाध्य रोग है तथापि सामान्य दन्तरोगाधिकार के योगों का प्रयोग करते रहना चाहिये। सुश्रुत में इसकी चिकित्सा कथित नहीं है।

हनुमोक्ष (Dislocation of mandible orlock-jaw)—सुश्रुत प्रभृति कई प्राचीन आचार्यों ने दन्तरोग के अध्याय में इस रोग का वर्णन किया है। इसका कारण शायद आधाराधेयभाव हो क्योंकि दाँत हन्वस्थि में ही आश्रित होते हैं। अस्तु, आधार के विश्लेष से आधृत में (आश्रयी की प्रधानता से आश्रित में) भी दोष आ जाना स्वाभाविक है। अस्तु, आश्रयी की प्रधानता दिखलाते हुए आश्रितों (दाँतों) के प्रसंग में हनुमोक्ष का भी प्रसंग आ गया है।[1]

वायु के द्वारा हनुसंधि खराब हो जाती है और अपने स्थान से च्युत अथवा स्तंभित हो जाती है। इसमें लक्षण अर्दित के समान मिलते हैं। चरक और अष्टाङ्गसंग्रह में इसे वातरोगों में 'हनुग्रह और हनुस्रंस' नाम से समावेश किया गया मिलता है। आधुनिक विज्ञान के आलोक में देखने से इसमें स्पष्टतया दो अवस्थाओं का बोध है। हनुग्रह 'लॉकजा' तथा हनुस्रंस 'डिसलोकेशन आफ दी जा'। इसमें प्रथमावस्था वातिक रोगों में अपतानक (Tetanus) के कारण दूसरी अवस्था बाह्याभिघात के कारण हो सकती है।

चिकित्सा—अर्दितवत् करनी चाहिये।

आचार्य वाग्भट ने दन्तगतरोगों में तीन और रोगों का वर्णन किया है जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है—

कराल—दन्ताश्रितवायु धीरे-धीरे प्रकुपित होकर दाँतों को कराल,

---

१. वातेन तैस्तैर्भावैस्तु हनुसंधिविसंहतः।
हनुमोक्ष इति ज्ञेयो व्याधिरर्दितलक्षणः। (सु०)
भाराभिघाताज्जन्तोश्च हनुसंधिविमुच्यते।
निरस्तजिह्वक्रृच्छ्रेण भाषितुं तत्र गच्छति।
तं कृच्छ्रमनिलवाधिं हनुमोक्षं विनिर्दिशेत्। (तन्त्रान्तर)

विकट और बड़े आकार का कर देता है। यह एक असाध्य व्याधि है।[1]

चल दन्त या दन्त चलन या चालन—जब दाँत हिलते हैं और खाते समय दर्द होता है, उस अवस्था को चलनदन्त की संज्ञा दी गई है। वास्तव में ऐसी अवस्था दन्तवेष्ठ के ही उपद्रवरूप में आ सकती है जब कि मसूड़ों का शोषण या अपचय (Atrophy) होने लगता है। आचार्य सुश्रुत ने यद्यपि निदान में इस रोग का वर्णन नहीं किया है फिर भी मुख रोगों की चिकित्सा के सूत्रों में इस अवस्था की चिकित्सा का बड़ा सुन्दर और वैज्ञानिक विवरण दिया है।

चिकित्सा—सुश्रुतानुसार चलदन्त की चिकित्सा—जब दाँत हिल रहे हों और विविध तैल गण्डूष प्रभृति उपचारों से नहीं स्थिर हो रहे हों तो उनका उद्धरण (Extraction) करके सुषिर में (दाँत के निकालने के बाद बने स्थान में) दाह करना चाहिये।[2] चलदन्त की चिकित्सा में बकुल (मौलसिरी) की दातून करना या बकुल की छाल का दाँतों चबाना बड़ा उत्तम बतलाया गया है।[3]

दन्तभेद—वाग्भट ने इस रोग का वर्णन अपने ग्रंथ 'अष्टाङ्गहृदय' में किया है। इसमें दाँतों में सुई चुभोने सी पीड़ा, (तोद) फूटने जैसी पीड़ा (स्फुटन) तथा टूटने जैसी पीड़ा (भेद) होती है।

इस प्रकार के लक्षण आधुनिक दृष्ट्या बहुत से दन्तरोगों में मिल सकते हैं अतएव सुश्रुताचार्य ने इसका स्वतंत उल्लेख भी नहीं किया है।

चिकित्सा—वातघ्न चिकित्सा करनी चाहिये। तिल, मधुयष्टि से शृत दूध का गण्डूष धारण करना चाहिये।

दन्तरोगों में पथ्य तथा कुछ सामान्य योग—सामान्यतया सभी दन्त-

---

१. शनैः शनैः प्रकुपितो यत्र दन्ताश्रितोऽनिलः ।
करालविकटान् दन्तान् स करालो न सिद्धयति ।

२. चलमुद्धृत्य च स्थानं विदहेच्छुषिरस्य च। ततो विदारीयष्ट्याह्वशृंगाटककसेरुकैः।
तैलं दशगुणे क्षीरे सिद्धं नस्ये हितं भवेत् । (सु०)

३. सोयं सुगंधिमुकुलो वकुलोविभाति वृक्षाग्रणी प्रियतमे मदनैक बंधुः ।
यस्य त्वचैरचिरचर्वितया नितान्तं दन्ता भवन्ति चयला अपिवज्रतुल्याः ॥ (वै. जी)

रोगों में वातघ्नोपचार करना चाहिये। किंचदुष्ण पक्वतैल का कवल या गण्डूष सदा पथ्य होता है।

दन्तरोगियों में अम्ल फलों का सेवन, शीतल जल, रूक्षान्न (भूँजे हुए दाने), दातून करना, अत्यंत कठिन पदार्थों को चबाना, वर्जित है। सेंधानमक और सर्षपतैल का मंजन फलप्रद होता है।[1]

दशनसंस्कारचूर्ण (मंजन)—सोंठ, हरड़, नागरमोथा, खस, कपूर, सुपारी की राख, मिर्च, लौंग, दालचीनी के बारीक चूर्ण करके सबके बराबर खड़ियामिट्टी डाल करके खरल में घोंट कर बारीक चूर्ण बनाकर मंजन के रूप में व्यवहार करना।

दन्तरोगाशनिचूर्ण—जावित्री, पुनर्नवामूल, तिल, छोटी पीपल, कटसरैया की मूल, नागरमोथा, घोड़बच, सोंठ, अजवायन और हर्रे सबको मिलाकर चूर्ण बनावे। इसका सरसों का तेल मिलाकर मंजन या घृत में मिलाकर कवल धारण करे। इससे प्रायः मुखरोग और दन्तरोग नष्ट होते हैं।

कुष्ठादिचूर्ण—कूठ, रसौंत, लोध्र, मोथा, मजीठ, पाठा, चिरायता, तेजनी, पीतिका इनके बने चूर्ण से दाँतों का मंजन या घर्षण करने से वहाँ की पीड़ा, खुजली और रक्तस्राव बंद होता है।

श्वेतमंजन—(पूर्वोक्त) के द्वारा दाँतों का मंजन करना लाभप्रद होता है।

भल्लातकादि मंजन[2]—अरहर की दाल और भिलावे समभाग ले। एक मिट्टी के घड़े में आधी अरहर की दाल रखकर ऊपर भिलावे रखकर

---

१. फलान्यम्लानि शीताम्बु रूक्षान्नं दन्तधावनम् ।
तथातिकठिनान् भक्षयन् दन्तरोगी विवजयेत् ।
दन्तरोगेषु सर्वेषु शस्तो वातहरो विधिः । पक्वं तैलं कवोष्णं च शस्तं कवलधारणे।

२. आढक्यादलमध्यगान् सुमतिमान् भल्लातकान्मृन्मये,
पात्रेस्थाप्य विधायपावकमधः प्रज्वालयेद्युक्तितः ।
तन्मस्याखिलदन्त घर्षणमिदं कुर्वन्तु लोकाः सदा,
योगोयंकिल दन्तरोग मदमृन्मत्तेभ कण्ठीरवः ॥ (वैद्यामृतम्)

बाकी अरहर की दाल ऊपर से भर दे पीछे घड़े के मुँह पर सिट्टी की कसोरा रखकर सात बार कपड़ मिट्टी कर दे। सुखाकर घड़े को चूल्हे पर रख नीचे अग्नि जलावे। भिलावे जलकर तैल रहित कोयले जैसे हो जाय इतना अग्नि देना चाहिये। पीछे उनको पीसकर कपड़ छान कर शीशी में भर ले।

उपयोग—इस मसी से दाँत अच्छे साफ होते हैं। दाँतों के विविध रोगों में यह मंजन लाभप्रद होता है। दन्तवेष्ट में इसका उपयोग बड़ा ही उत्तम रहता है। यदि इस मसी में कपूर, बच, कूठ और अकरकरा सम मात्रा में मिलाकर प्रयोग किया जावे तो अधिक लाभ होता है। दाँतों के अतिरिक्त कठिन जिह्वा रोगों में इसका उपयोग हो सकता है।

गैरिकादि मंजन—गेरु २ सेर, भर्जित तुत्थ १ तोला दन्तों का मंजन करना उत्तम रहता है।

जात्यादि मंजन—चमेली की पत्ती ½ सेर, पुदीने की पत्ती ½ सेर और पान की पत्ती ½ सेर लेकर बनाये महीन चूर्ण का मंजन।

इरिमेदादितैल—(भावप्रकाश) ४०० तोले खैर की छाल २०४८ तोले पानी में पकाकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ करे। पश्चात दो सेर तेल कड़ाही में लेकर उसमें उस क्वाथ तथा निम्न कल्क को डालकर तैलपाक विधि से पाक करे—काला खैर, लौंग, गेरू, अगरु, पद्माख, मजीठ, लोध, मुलैठी, लाख, बरगद की जटा, नागरमोथा, दालचीनी, जायफल, कपूर, कंकोल, सफेद खैर, पतंग धौ के फूल, बड़ी इलायची, नागकेसर, कायफर, प्रत्येक का एक तोला। इस तैल का दाँतों और मसूड़ों में रगड़ने से सभी तत्स्थानगत रोगों में लाभ होता है।[1]

लाक्षादितैल—तैल, लाक्षारस और क्षीर प्रत्येक का एक-एक प्रस्थ लेकर पकावे पुनः इसमें निम्नलिखित द्रव्यों का एक-एक पल लेकर उससे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ को उसी में डाल दे। लोध्र, कंटफल, पद्म-केसर, पद्मक, चंदन, उत्पल, मधुयष्टि। इस तैल के गण्डूष धारण से

१. प्रदुष्टमांसं चलितं शीर्णदन्तश्च शौषिरम्। शीतादं दन्तहर्षञ्च विद्रधिं कृमिदन्तकम्। दन्तस्फुटनदौर्गन्ध्यं जिह्वाताल्वोष्ठजां रुजाम्। (भा० प्र०)

दालन, चलदन्त, हनुमोक्ष, कपालिका, शीताद, पूतिवक्त्र, अरुचि, प्रभृति रोग नष्ट होते हैं एवं दाँत स्थिर होते हैं। अस्तु, दन्तरोगों में पूजित यह लाक्षादितैल है। (यो० र०)

७

जिह्वागतरोग

(Affections of the Tongue)

जिह्वाकंटक (Chronic Superficial glossitis)—वात, पित्त और कफ दोषों से, पृथक् पृथक् अपने लक्षणों के अनुसार जिह्वा में कंटक रोग का प्रादुर्भाव होता है। वात से उत्पन्न कंटक से जिह्वा विदारयुक्त, रसज्ञान विरहित और शाकपत्र के समान खुरदरी हो जाती है। पित्त प्रकोप से उत्पन्न कंटक में जिह्वा पीतवर्ण दाहयुक्त, रक्तयुक्त और अंकुरों से व्याप्त रहती है। कफदोष से उत्पन्न कंटक में जिह्वा भारी स्थूल और शाल्मली कंटक के सदृश अंकुरों से व्याप्त रहती है।

आधुनिक ग्रन्थों के वर्णित जिह्वारोगों में कंटक नामक व्याधि का वर्णन जीर्णजिह्वाशोथ (Chronic superficial glossitis) से समता रखता है।

जिह्वाशोथ (Glossitis)—के वर्णन पाश्चात्य वैद्यक में कई प्रकार के मिलते हैं।

तीव्र उपरितन प्रकार—(Acute superficial type) सम्पूर्ण मुख गह्वर के पाक (मुख पाक) के परिणामस्वरूप यह रोग होता है।

तीव्राभिघातज प्रकार (Acute Parenchymatous type)—यह प्रकार अधिकतर दुष्ट व्रण, गहरे अभिघात, दंश तथा कीटदंश प्रभृति जीभ की चोटों और पारदसेवन के कारण होता है। उपसर्गकारी जीवाणुओं में अधिकतर मालाकार पूयजनक (Strepto cocccus pyogenes) का संक्रमण कारणभूत होता है। इस अवस्था में जिह्वा पीडा-

युक्त, फूली हुई और मुख से बाहर निकलती रहती है। लाला स्राव अत्यधिक तथा बोलने, निगलने और श्वासोच्छ्वास में बाधा मालूम पड़ती है। अत्यधिक श्वासकृच्छ्र तब होता है जब कि शोफ का प्रसार 'ग्लाटिस' (Glottis) तक हो जाता है। ग्रैवेयक ग्रन्थि शोथयुक्त हो कर बढ़ जाती है। कई बार यह अवस्था जिह्वा के आधे या एक ही पार्श्व में (Hemiglossitis) होता है। अधिकतर रोग का उपशम हो जाता है—यदि उपशम नहीं हुआ तो विकार का परिणाम पूयोत्पत्ति अथवा निर्जीवाङ्गत्व (Gangrene) में भी हो सकता है।

जीर्ण उपरितन जिह्वाशोथ प्रकार—ओष्ठ तथा कपोल के श्लेष्मलकला के विकारों के साथ-साथ यह रोग पाया जा सकता है। रोग के कारणों में १. फिरंग की तृतीयावस्था २. अत्यधिक धूम्रपान ३. दन्तगत रोगों के (Carious or rough teeth) उपसर्ग या रगड़ ४. तीव्रमद्य (Spirits) ५. अधिक गर्म मसालेदार भोजन (विशेषतः मन्दाग्नि और वातरक्त के रोगियों में) जीर्ण प्रकार का शोथ या वातकंटक नामक रोग होता है। यह विकार अधिकतर चालीस से साठ वर्ष की आयु में पाया जाता है। इस रोग का पच्चीस प्रतिशत तक परिणमन 'एपिथिलियोमा' नामक घातकार्बुद में हो जाता है। इस रोग की पाँच अवस्थाओं का वर्णन आधुनिक ग्रन्थों में मिलता है—जिनमें एक ही समय में कई अवस्थायें भी पाई जा सकती हैं।

अवस्थायें—जिह्वा पर अंकुरों के सूजन के कारण लाल और रक्ताधिक्ययुक्त चकत्ते पाये जाते हैं।

२. लाल और कोमल चकत्ते पाये जाते हैं—अंकुर नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में स्थानिक (Localised or psoariasis of the tongue) अथवा विस्तृत (Generalised) हो कर जिह्वा का वर्ण चमकता हुआ लाल (Glazed red tongue) भी हो सकता है।

३. विदार, गर्तयुक्त तथा व्रणित जिह्वा रहती है।

४. जिह्वा का वर्ण—श्वेत अपारदर्शक, उभारयुक्त या अंकुरयुक्त जिह्वा हो जाती है—इस प्रकार का विशेष नाम (Leukoplakia or Ichtheosis) इक्थियोसिस है ।

५. विदार के आस पास खुरदरे क्षेत्र पाये जाते हैं—जो भविष्य में होने वाले घातकार्बुदों की सूचना देते हैं ।

लक्षण—इन अवस्थाओं में तीन लक्षण प्रधान होते हैं—(क) वेदना या पीड़ा-अधिक उस समय होती है जब कोई उष्ण पेय, खुशबूदार गरम मसाले (Condiments) अथवा मद्य का सेवन किया जाय । (ख) बोलने में अक्षमता । (ग) स्वाद ज्ञान का अभाव ।

विवेचन—उपरोक्त लक्षणों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेदोक्त जिह्वाकंटकाभिध रोग निश्चित् रूप से पाश्चात्य विज्ञान के जीर्ण जिह्वाशोथ (Glossitis) का ही वर्णन है । दोषानुसार भेद करने पर वातिक प्रकार (Chronic Superficial glossitis) की उपरोक्त तीसरी अवस्था से[1], पैत्तिक प्रकार (Chronic Superficial glossitis) की प्रथम और द्वितीय अवस्था से[2] तथा श्लैष्मिक प्रकार (Chronic Superficial glossitis) की चतुर्थ और पंचम प्रकार से समानता है ।[3]

चिकित्सा—क्षोभक कारणों को दूर करना । धूम्रपान, तम्बाकूखाना, मद्य तथा गरम मसाले (Condiments) का परिहार करना चाहिये । यदि कृमिदन्त हो तो उसको भी दूर करना चाहिये । साथ ही जीवाणु विरोधी गण्डूषों (Mouth washes) के द्वारा मुख का प्रक्षालन करना चाहिये । इस कार्य में "सेवलान" (Cevlon I. c. i.) द्रव का पानी में घोल बनाकर कुल्ली करना या इसी की बनी लाजेन्जेज़का मुख में धारण करना उत्तम लाभप्रद है । जिह्वा के विदारों के लिये 'क्रोमिक एसिड' (५ ग्रेन का एक औंस में बने द्रव से) का लेप करना चाहिये ।

१. जिह्वानिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा ।
२. पित्तात्सदाहैरनुचीयते च दीर्घैः सरक्तैरपि कंटकैश्च ।
३. कफेन गुर्वी बहुलान्विता च मांसोच्छ्रयैः शाल्मलिकंटकाभैः । (सु.)

तीव्र दाहक पदार्थों का प्रयोग निषिद्ध है। यदि फिरंग के उपद्रव रूप में रोग की उत्पत्ति हुई हो तो फिरंग नाशक चिकित्सा भी करनी चाहिये।

जिह्वाकंटक की अवस्था में कई औषधियाँ उपयोगी मिलती हैं। जैसे बबूल की फली को जला कर उसकी राख का रगड़ना, आकाशवल्ली या गुडूची के प्ररोह का चूसना, मुखपाक की चिकित्सा में वर्णित भल्लातक मसी का जीभ के ऊपर लेप करना, एलादिचूर्ण, सहकारादि वटी या कल्याणावलेह का जिह्वा के ऊपर मधु मिलाकर लेप करना, जात्यादि कषाय से दिन में कई बार कुल्ली करना आदि। शास्त्रीय चिकित्सा निम्नलिखित प्रकार से वर्णित है।

आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सासूत्र—१. शोणित-मोक्षण प्रायः सभी जिह्वा रोगों में रक्त विस्रावण की क्रिया करनी चाहिये। २. कवल-धारण—गुडूची, पिप्पली, निम्ब और कुटकी का कवल धारण करना चाहिये। *वातकटक* में वातिक ओठ प्रकोपवत् मोम के साथ पकाये हुए घृत, वसा, मज्जा, या तैल का स्थानिक प्रयोग, अभ्यंग, नाडी-स्वेद, शाल्वणोपनाह; वातघ्न तैलों का नस्य तथा प्रतिसारण प्रभृति उपचारों को करना चाहिये।

पित्तकंटक में—गोजी, शेफालिका प्रभृति पत्रों से घर्षण करना चाहिये जिससे विकृत रक्त का निर्हरण हो जाय, पश्चात् काकोल्यादि गण की ओषधियों से प्रतिसारण, गण्डूष, नस्य प्रभृति कर्मों को करना चाहिये।

श्लेष्मकंटक में—लेखन करके रक्तविस्रावण करने के बाद पिप्पल्यादि गण की ओषधियों से प्रतिसारण तथा पीले सरसों और सैन्धव के द्वारा कवलधारण करना चाहिये। पश्चात् पटोल, निम्ब, बैगन तथा यवक्षार मिश्रित यूष के साथ भोजन रोगी को देना चाहिये।[1] कचनार की छाल

---

१. जिह्वागतविकाराणां शस्तं शोणितमोक्षणम्।
गुडूचीपिप्पलीनिम्बकवलः कटुभिः सुखः। ओष्ठप्रकोपेऽनिलजे यदुक्तं प्राक् चिकित्सितम्।
कण्टकेष्वनिलोत्थेषु तत्कार्यं भिषजा खलु। पित्तजेषु विघृष्टेषु निःसृते दुष्टशोणिते।
प्रतिसारणगण्डूषं नस्यं च मधुरं हितम्। कंटकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये।
पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यस्तु प्रतिसारणे। गृह्णीयात्कवलांश्चापि गौरसर्षपसैन्धवैः।
पटोलनिम्बवार्ताकुक्षारयूषैश्च भोजयेत्। (सु.)

और खदिर का क्वाथ बना कर गण्डूष धारण करना भी हितकर है। यह क्रिया प्रातःकाल में करनी चाहिये।[१]

अलास—कफ और रक्त के विकार से जिह्वा के नीचे बड़ा गाढ़ा उभार या शोथ होता है। यह शोथ बहुत बढ़ जाने पर जिह्वा का स्तम्भ कर देता है अर्थात् जीभ जकड़ जाती है और इसके कारण, जिह्वा के मूल में तीव्र पाक होता है। इस व्याधि को अलस या अलास कहा जाता है। 'आयुर्वेदविज्ञान' कार इसे त्रिदोषज रोग मानते हैं—क्योंकि इसमें जिह्वास्तम्भ वायु के कारण, शोथ या उभार कफ के कारण और भृश पाक पित्त के कारण होता है। यद्यपि सुश्रुत ने इसे कफ और रक्त का ही मूर्तिस्वरूप बतलाया है।[२]

पाश्चात्यवैद्यक की दृष्टि से कुछ लोगों ने इस रोग की तुलना 'सब लिंगुवल एब्सेस' (Sublingual abscess) से की है; परन्तु सुश्रुत की चिकित्सा की दृष्टि से विचार किया जाय तो ऐसा मालूम होता है कि यह व्याधि कोई घातक अर्बुद (Carcinoma) जैसी है और जो चिकित्सा में असाध्य है। इसीलिये चिकित्सा के स्थान में इसकी कोई विशेष चिकित्सा नहीं दी गई है। अष्टाङ्गहृदयकार ने इसकी दो विशेषतायें मांस को नष्ट करने वाला (मांस शातन) एवं मछली सदृश गन्ध का स्राव (मत्स्यगन्धि) होना बतलाई हैं जो घातकार्बुद की ओर इंगित करता है।[३]

उपजिह्वा—(Ranula) कफ और रक्त के विकार से होने वाला जिह्वाग्रके रूप का एक शोथ जीभ के नीचे होता है जिससे जीभ ऊपर

१. कांचनारकृतः क्वाथः प्रातरास्ये धृतः सुखः।
कुर्यात्सखदिरो जिह्वादरणोन्मूलनं मुहुः। (यो. र.)

२. जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले च जिह्वा भृशमेति पाकम्। (सु.)

३. कफपित्तादधः शोफो जिह्वास्तम्भकृदुन्नतः।
मत्स्यगन्धिर्भवेत् पक्कः सोलसो मांसशातनः। (अ. उ. २१)

को उठी रहती है और रोगी को प्रसेक, (लालास्राव) खुजली और दाह होता है। इस रोग को उपजिह्विका कहते हैं।[१]

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में एक रोग का वर्णन आता है—जिसे 'रैनुला' (Ranula) कहते हैं। उसमें जिह्वागत लसीकावाहिनियों का अवरोध होकर जिह्वा के नीचे शोथ हो जाता है और उसका आकार एक ग्रन्थि के रूप में होता है, जिसके कारण जिह्वा स्थानान्तरित हो जाती है।

Acystic swelling in the floor of the mouth containing glairy mucoid fluid which differs in composition from saliva. It may be a retention or degeneration cyst of the glands of Blandin and Nuhn or of the nature of dermoid arising from a displaced part of the cervical sinus. It forms a unilateral smooth, rounded, bluish tra. nslucent swelling to one side of the frenum and may displace the tongue.

अर्थात् मुख गुहा के फर्शपर पाया जाने वाला एक उभार या ग्रंथि जिसमें चमकदार, श्लेष्मलद्रव, जो लाला से पृथक् संघटकों का होता है, भरा रहता है। यह विकार 'ब्लाण्डीन' की जिह्वीय लालाग्रंथियों के निरोध या अपचय जन्य होता है अथवा भ्रूण ग्रीवा परिखा के स्थानान्तरित भाग से त्वगर्बुद के समान उद्भव का हो सकता है। यह द्रव ग्रंथि जिह्वा-कलापुटक के एकपार्श्व में चिकने, गोल, नीलवर्ण एवं पारदर्शी उभार के रूप में पाई जाती है जिससे जिह्वा अपसारित हो जाती है।

चिकित्सा—आचार्य सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा में १. लेखन कर्म. २. क्षार के द्वारा प्रतिसारण ३. शिरोविरेचन ४. गण्डूष और ५. धूम

१. जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः ।
प्रसेककण्डुः परिदाहयुक्तः प्रकथ्यते सा उपजिह्विकेति ।

का विधान किया है ।[1] योगरत्नाकर ने व्योष, क्षार, अभया, चित्रक के चूर्ण से घर्षण करने, इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध तैल का अभ्यंग, गृहधूम कांजी, मधु और सैन्धव मिलाकर लगाने, हाथ के द्वारा मर्दन करने और निर्गुण्डीपत्र तथा मुसलीकन्द चर्वण करने का विधान किया है। आधुनिक युग की चिकित्सा में १. अशेष निर्मूलन (Complete removal) शस्त्रकर्म के द्वारा २. यदि पूरा न निकल सके तो अवशिष्ट भाग को दाहकर्म (Diathermy) के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

८

तालुगतरोग

(Affections of the Palate)

गलशुण्डी या कंठशुण्डी—(Elongated Uvula) इसके उत्पादक कारण रूप में कफ और रक्त दोष बतलाये गये हैं जिससे तालु के मूल में दीर्घ भरी मसक के समान, तृष्णा, श्वास, कासादि लक्षणों के साथ युक्त होकर शोथ उत्पन्न होता है।[2] अंग्रेजी में इस विकार को 'इलांगेटेड यूवूला' कहा जाता है । यह अवस्था अधिक पुरानी खाँसी या वातिक कास के रोगियों में देखने को मिलती है। बोली में इसको लोग 'कौवा' कहते हैं। यह अंग शोफयुक्त होकर बढ़ जाया करता है। इसमें रोगी को बड़ी प्रबल सूखी खाँसी आती है जो विशेषतः चित लेटने में और बढ़ जाती है, कई बार खाँसते खाँसते रोगी को वमन भी होने लगता है।

---

१. उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत् ।
शिरोविरेकगण्डूषधूमैश्चैनमुपाचरेत् । (सु.)

२. श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात्प्रवृद्धो दीर्घः शोफो ध्मातवस्तिप्रकाशः ।
तृष्णाकासश्वासकृत्तं वदन्ति व्याधिं वैद्याः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ।

चिकित्सा—प्रारम्भिक अवस्था में कई प्रकार के संकोचक द्रव्यों के स्थानिक प्रयोग से ही शोफ का शमन हो जाता है।[1] जैसे—'शेफाली-मूलचर्वणम्'-हरसिंगार की जड़का चूसना। बच, अतीस, पाठा, रास्ना, कुटकी-निम्ब के छाल के काढ़े का गण्डूष (गार्गल) करना। परन्तु यदि शमन न हो तो शस्त्रकर्म करना चाहिये। संक्षेप में आधुनिक शस्त्रकर्म का विधान यह है कि शुण्डी को 'कोकेन' (संज्ञाहर द्रव्य विशेष) को अच्छी तरह से लगाकर स्थान को संज्ञाहीन कर के कर्त्तरी के द्वारा वृद्धियुक्त अंग के दो तृतीयांश का छेदन (काटकर साफ) कर दिया जाता है।

सुश्रुत ने भी कण्ठशुण्डी की चिकित्सा में शस्त्रक्रिया का ही विधान किया है, जिसका अविकल वर्णन उन्हीं के शब्दों में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

पूर्वकर्म— अंगुष्ठ अंगुली और संदंश (Forceps) की सहायता से जिह्वा के ऊपर पड़ी हुई गलशुण्डिका को खींचकर। कर्म—आधा छोड़कर या दो भाग छोड़कर तृतीयांश का मण्डलाग्र शस्त्र के द्वारा छेदन (Excision) करना चाहिये। छेदन के समय में इस बात का ध्यान रखे कि अधिक या कम न कटने पाये। क्योंकि दोनों ही दशायें रोगी के लिये हानिकारक हैं। अधिक कट जाने से अत्यधिक रक्तस्राव होने का भय रहता है जिससे रोगी की मृत्यु तक हो जाती है, इसके विपरीत कम कटने पर हीन छेदन होने से शोफ, लालास्राव, निद्रा और भ्रम (चक्कर आना) रोगी में होने लगता है। अत एव दृष्टकर्मा और विशारद वैद्य को सावधानी से शस्त्रकर्म करना चाहिये।"[2]

१. युंज्यात्कफहरं शुण्ड्यां रसं गण्डूषधारणे।
कुष्ठोषणवचासिन्धुकणापाठाप्लवैः सह।
सक्षौद्रैर्भिषजा कार्यं गलशुण्डीप्रधर्षणम्। (यो० र०)

२. अंगुष्ठाङ्गुलिसंदंशैराकृष्य गलशुण्डिकाम्।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थिताम्।
नोत्कृष्टञ्चैव हीनञ्च त्रिभागं छेदयेद्भिषक्।

पश्चात्कर्म—"वचा, अतीस, पाठा, कुटकी, रास्ना और निम्ब का क्वाथ बनाकर उसका कवल धारण करना। इङ्गुदी, कटभी, त्रिवृत्, दन्ती, देवदारु इन पाँच द्रव्यों के कल्क से बने पंचाङ्गी वर्तिका से धूम्रपान कराना चाहिये। यह कफघ्न क्रिया है। दिन में दो बार करके धूमपान कराना चाहिये। क्षार सिद्ध मूँग की दाल भोजन के लिये देना चाहिये।"

"पश्चात् कर्म की इसी विधि का प्रयोग, तुण्डिकेरी, अध्रुष, कूर्म, संघात और तालुपुप्पुट नामक रोगों में करना चाहिए—इन रोगों का वर्णन आगे किया जायगा।"[1] शस्त्रकर्मों में रोगानुसार थोड़ी विशेषता की जा सकती है। शस्त्रकर्म में विशेष भेद इस प्रकार करना चाहिये। तुण्डिकेरी और तालुपुप्पुट में भेदन करना, अध्रुष और मांस संघात में छेदन करना अथवा मांस का उभार अधिक हो तो लेखन करना तथा कूर्म या कच्छप का छेदन करना आवश्यक है। (डल्हण)

तुण्डिकेरी (Tonsils)—वनकपास के फलों को कहते हैं—इसके समान शोथ होने के कारण ही रोग को तुण्डिकेरी कहा जाता है।[2] यह कफ रक्तज होता है। इसमें दाह, पाक, शूल, तोद और दीर्घ शोथ होता है। वाग्भट ने इस रोग का वर्णन कंठगत रोगों में दिया है इस आधार पर तथा लक्षणों के अनुसार इस रोग की समता आधुनिक वर्णनों से वृद्धियुक्त टान्सिल (Enlarged Tonsil) से हो सकती है। यह विकार विभिन्न प्रकार के जीवाणु के उपसर्ग से होता है।

चिकित्सा—में गलशुण्डीवत् शस्त्रकर्म तथा पश्चात् कर्म करना

अत्यादानात्स्रवेद्रक्तं तन्निमित्तं म्रियेत च।
हीनच्छेदाद् भवेच्छोफो लाला निद्रा भ्रमस्तमः।
तस्माद्वैद्यः प्रयत्नेन दृष्टकर्मा विशारदः।
गलशुंडीं तु संच्छिद्य कुर्यात् प्राप्तमिमं क्रमम्। (सु०)

१. एष एव विधिः कार्यो विशेषः शस्त्रकर्मणि।
तुण्डिकेर्यध्रुषे कूर्मे संघाते तालुपुप्पुटे। (सु०)

२. शोथः शूलस्तोददाहप्रपाकी प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।

चाहिये। सुश्रुत ने इसे भेद्यरोग माना है। अस्तु, इसके शस्त्रकर्म में इसकी विशेषता रखनी चाहिये।

कच्छप या कूर्म—(Adenoma of the Palate) कछुए के समान ऊपर को उठा हुआ, वेदना रहित, देर में पाक होने वाला यह कफजन्य रोग है।[1] वर्त्तमान युग के पाश्चात्य ग्रंथों के आधार पर लिखित रोगों से साम्य करने पर इसके विशेष लक्षणों से युक्त कोई रोग नहीं मिलता फिर भी यदि इसको कोई घातक अर्बुद (सारकोमा) कहे तो अनुचित न होगा। क्योंकि इसकी कृच्छ्रसाध्य प्रकृति, दीर्घकालीन वृद्धि और चिकित्सा में छेदन के विधान का उल्लेख देखकर यही उचित प्रतीत होता है। सुश्रुत ने इस रोग को पूर्ण असाध्य नहीं बतलाते हुए शस्त्रकर्म का विधान किया है और इसकी चिकित्सा करने का उपदेश किया है। इसमें गलशुण्डीवत् छेदनकर्म का विधान किया है अस्तु, संभव है यह एक प्रकार का सौम्य अर्बुद हो। इसमें कई लक्षण आधुनिक 'एडीनोमा' नामक रोग से बहुत मिलते जुलते हैं। जैसे—This usually occurs between fifteen and thirty years of age, appearing as a *slowly growing submucous tumour* of the soft palate to one side of the middle line.

अर्थात् यह रोग अधिकांश पन्द्रह से तीस वर्ष की आयु में होता है। श्लेष्मलकला के नीचे से, मृदुतालु में मध्यरेखा के एक पार्श्व में, धीरे-धीरे वृद्धि करने वाला यह अर्बुद होता है।

ताल्वर्बुद—(Epithelioma of the palate) यह तालु में पद्मकर्णिका के आकार का रक्तार्बुद के लक्षणों से युक्त उभार है।[2] आधुनिक परिभाषा में इसे कैन्सर कह सकते हैं तथा यह असाध्य है।

तालु में होने वाला यही एक रोग है जिसको सुश्रुत ने असाध्य घोषित कर चिकित्सा करने की व्यवस्था नहीं दी है—इस आधार पर इसे 'सारकोमा' अथवा 'एपिथिलिपोमा' नामक आधुनिक रोगों की कोटि में माना जा सकता है।

१. शोथः शूलस्तोददाहप्रपाकी प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।

२. पद्माकारं तालुमध्ये तु शोफं विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम्।

मांससंघात—(Fibroma) यह कफ के कारण पीड़ा रहित दुष्ट मांस की उत्पत्ति है जो तालु के अन्तस्थ भाग में पाया जाता है।[1] यह भी एक प्रकार का सौम्य अर्बुद है। चिकित्सा में शस्त्रकर्म (छेदन) के द्वारा साध्य है। इसके लक्षण अंग्रेजी ग्रंथों में वर्णित 'फाइब्रोमा' के साथ समानता रखते हैं।

तालुपुप्पुट—(Epulis) यह बेर सदृश (परिमाण का) मेद युक्त कफ से उत्पन्न पीड़ा रहित वृद्धि है। यह एक स्थायी शोफ होता है।[2] इस वर्णन से ऐसा ज्ञात होता है कि यह विकार तालु में होने वाला सद्रव ग्रंथि रूप (Cystic Swelling) है। इस रोग की तुलना कई लेखकों ने अंग्रेजी के 'इप्युलिस' रोग से की है। यह बहुत कुछ ठीक भी है। यद्यपि आजकल इसका उद्भव दन्तकोटर के पर्यस्थ्यावृति (Periosteum of the Alveolus) से माना जाता है। तथापि तालु के सान्निध्य के कारण इसे तालुगत रोगों में प्राचीनों ने उल्लेख किया है।[3] इसकी आधुनिक चिकित्सा भी १. छेदन (Free local Excision) २. दाहकर्म (Prophylactic Irradiation) चिकित्सा ग्रन्थों में बतलाई गई है जो प्राचीनों की चिकित्सा से पूर्णतया साम्य रखती है। सुश्रुत ने इसको सूत्रस्थान के वर्गीकरण में भेद्य रोगों में बतलाया है, परन्तु चिकित्सा स्थान में चिकित्सा गलशुण्डीवत् करने का भी विधान किया है।

तालुपाक—(Ulceration of the Palate) तालु में पित्त जब तीव्रपाक उत्पन्न करता है तो उसे तालुपाक कहते हैं। इस अवस्था में

---

१. दुष्टं मांसं श्लेष्मणा नीरुजं च तात्वन्तस्थं मांससंघातमाहुः।

२. नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात्स्यान्मेदोयुक्तः पुप्पुटस्तालुदेशे।

३. आजकल भी मुखरोगों की अथवा तालु रोगों की चिकित्सा में दन्तविशेषज्ञ तथा सर्जन को सहयोग के साथ कार्य करना होता है। क्योंकि तालु और दन्तमूल में निकटतम सम्बन्ध रहता है। अस्तु दन्तमूलगत अर्बुद का तालुगत अर्बुदों में पाठ करना समुचित ही है।

तालु में अत्यन्त घोर पाक होता है।[1] इस अवस्था को अंग्रेजी में 'अल्सरेशन आफ दी पैलेट' कहा जाता है। आधुनिक अंग्रेजी पुस्तकों में इस व्रण के कई प्रकार पाये जाते हैं। जैसे—

१. साधारण (Simple)—सामान्यतया सभी प्रकार के मुखरोगों में पाया जाता है।

२. फिरंगज (Syphilitic)—फिरंगोपसर्ग की द्वितीयावस्था में (Mucous patches and Snail track ulcers) कोमल तथा कठिन दोनों ही तालुव्रणों से भर जाते हैं। तृतीयावस्था में गोंदार्बुद (गमा) का बनना उनका व्रणित होकर या कोथयुक्त होकर तालु को छिद्रित (Perforated) कर देना सम्भव है जिससे स्वर सानुनासिक हो जाता है।

३. चर्मकीलज (Lupoidal)—बच्चों में अधिक देखने को मिलता है–नासा, ओष्ठ या कपोल से इनकी पहुँच प्रसार होते हुए तालु तक हो जाती है इनके कारण भी व्रण होकर स्थानिक धातुओं का भयंकर नाश होना संभव है।

४. घातकार्बुद (Epithelioma) के कारण तालु का पाक होना भी संभव है।

चिकित्सा—इसमें पित्त नाशन का विधान करना चाहिए।[2]

अध्रुष—(Palatitis) तालु प्रदेश में रक्त के कारण उत्पन्न हुआ तीव्र पीडा और ज्वर से युक्त रक्तवर्ण का कठिन शोथ अध्रुष कहलाता है।[3] इस विकार को तालु का तीव्र शोफ (Acute Inflammation of the Palate) तालु की विद्रधि (Abscess of the Palate) समझना चाहिये। कई स्थानों में अध्रुष की जगह 'अध्रुव' का भी पाठ मिलता है। इसकी चिकित्सा में गलशुण्डीवत् छेदन कर्म का विधान है।

---

१. पित्तं कुर्यात्पाकमत्यर्थघोरं तालुन्येवं तालुपाकं वदन्ति ।

२. तालुपाके तु कर्त्तव्यं विधानं पित्तनाशनम् ।

३. शोथ स्तब्धो लोहितः शोणितोत्थो ज्ञेयोऽध्रुषः सज्वरस्तीव्ररुक् च ।

तालुशोष—यह एक वातज व्याधि है-जिसमें तालु का सूखना तथा उसका दरार युक्त होना और श्वास का उग्र रूप से चलना ये लक्षण मिलते हैं।[1] वाग्भट ने इस रोग को संसर्गज (वायु एवं पित्त के कारण) होने वाला बतलाया है। वर्त्तमान शल्य ग्रन्थों में इस प्रकार के रोग का कोई वर्णन नहीं पाया जाता है। एक सहज रोग का जिसमें तालु का द्विधा विभाजन हुआ रहता है उल्लेख आता है। अंग्रेजी में इस अवस्था को 'क्लेफ्ट पैलेट' कहा जाता है। इसमें मुख की छत में जन्म-जात विकार के कारण तालु के दोनों भागों का संयोजन नहीं हो पाता है। चिकित्सा में इस रोग में संयोजन करके तालु का सुधार कर दिया जाता है।

प्राचीनों का तालु रोग में पठित 'तालुशोष' इस रोग से भिन्न कोई अवस्था है। संभव है, सार्वदैहिक विकार, रक्तदुष्टि (Constitution disorder) तथा विषमयता (Toxaemia) के कारण यह रोग लक्षण रूप में तालु में व्यक्त होता हो। चिकित्सा में इसमें सार्वदैहिक वातघ्न काय चिकित्सा के उपचार लाभप्रद माने गये हैं। स्थानिक चिकित्सा में तालु पर अभ्यंग करके स्वेद करने का विधान है।[2]

९

गलगत या कंठगत रोग

(Affection of the Throat)

रोहिणी (Diptheria)—वात-पित-कफ-रक्त दोष पृथक् पृथक् अथवा सभी मिलकर गले में वर्द्धित होकर वहाँ के मांस को दूषित कर के गले को रुद्ध करने वाले मांसाङ्कुरों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार

१. शोषोत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः श्वासो वातात्तालुशोषोयमुक्तः ।

२. स्नेहस्वेदौ तालुशोषे विधिश्चानिलनाशनः ।

गले एवं श्वास का रोध करके प्राण को नष्ट करने वाली व्याधि को रोहणी रोग कहते हैं।[१]

रोहिणी सन्निपात से होती है, इसमें वातजादि का व्यपदेश उनकी उत्कृष्टता के कारण है। इनमें मारक काल पृथक्-पृथक् बतलाया गया है। खरनाद, भोज, चरक तथा मधुकोष में भिन्न भिन्न कालों का वर्णन है। प्रत्येक दोष से उत्पन्न रोहिणी की विशेष अवस्थायें तथा लक्षण पाये जाते हैं।

वातिक रोहिणी—जिह्वा के चारों तरफ अत्यधिक वेदनायुक्त बहुत से मांसाङ्कुर हो जाते हैं जिससे कण्ठ रुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी वायु के कारण होने वाले उपद्रव उत्पन्न होते हैं।[२]

पैत्तिक रोहिणी—इसमें मांसांकुर बड़ी शीघ्रता से उत्पन्न होते द्रुत गति से फैलते तथा तीव्र दाह, पाक, राग प्रभृति पैत्तिक लक्षणों को पैदा करते हैं।[३]

श्लैष्मिक रोहिणी—कफजन्य रोहिणी में भारी और स्थिर मांसांकुर होते हैं, देर से उनमें पाक होता है। इसमें स्रोतस का अवरोध एक विशेष लक्षण रूप में मिलता है[४] जिससे श्वासावरोध शीघ्र प्रव्यक्त होता है।

त्रिदोषजन्य रोहिणी—में लक्षण बड़े सांघातिक होते हैं उनका बढ़ाव रोकना कठिन होता है और गहराई में दोष का अवस्थान होने से गम्भीर (गहराई में स्थित) धातुओं का पाक होता है। लक्षण त्रिदोषज मिलते हैं।[५] यह चिकित्सा में असाध्य है।

१. गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्छितौ प्रदुष्य मांसं च तथैव शोणितम्।
गलोपसंरोधकरैस्तथांकुरैर्निहन्त्यसून् व्याधिरयं तु रोहिणी।

२. जिह्वासमन्ताद् भृशवेदनास्तु मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनाः स्युः।
सा रोहिणी वातकृता प्रदिष्टा वातात्मकोपद्रवगाढ़युक्ता।

३. क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजाता।

४. स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका गुरुः स्थिरा सा कफसम्भवा तु।

५. गम्भीरपाकिन्यनिवारवीर्या त्रिदोषलिङ्गा त्रिभवा भवेत्सा।

रक्तज रोहिणी—प्रायः सभी लक्षण पैत्तिक के मिलते हैं विशेषता बड़े बड़े स्फोटों के निकलने में रहती है। यह असाध्य प्रकार है।[1]

साध्यासाध्यता—यों तो सभी रोहिणी रोग त्रिदोषजन्य और घातक होते हैं, परन्तु दोषोत्कटता के विचार से उपरोक्त पाँच प्रकार किये गये हैं। इनमें अन्तिम दो अर्थात् त्रिदोषज और रक्तज असाध्य और शेष कृच्छ्रसाध्य हैं। अस्तु, साध्यों की ही चिकित्सा आगे बतलायी जायगी।[2] साध्यासाध्य का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये कि अन्तिम दो तो निश्चितरूप से असाध्य हैं—चिकित्सा करने पर भी कोई शुभ फल प्राप्त नहीं होता और शेष पूर्वोक्त तीनों में ठीक समय से विधिपूर्वक चिकित्सा करने पर सफलता की आशा रहती है अन्यथा वे भी असाध्य हो जाते हैं जैसी कि उक्ति है।[3] घातक काल मर्यादा—त्रिदोषज और रक्तज सद्योघातक हैं, कफ समुद्भव रोहिणी तीन दिनों में, पित्तजन्य

---

१. स्फोटैश्चिता पित्तसमानलिङ्गाऽसाध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मका तु ।

२. वातात् पित्तात् कफात्त्रिभ्यो रक्ताद्रोहिण्य ईरिताः (सु.)
अन्त्ये सद्यो मारयत अद्यास्तिस्रः क्रियां विना । (डल्हण)

३. सद्यस्त्रिदोषजा हन्ति त्र्यहात्कफसमुद्भवा ।
पंचाहात्पित्तसम्भूता सप्ताहात्पवनोत्थिता । (यो. र.)
रोहिणीनां तु साध्यानां हितं शोणितमोक्षणम् ।
वमनं धूमपानञ्च गण्डूषो नस्यकर्म च ।
वातजां तु हृते रक्ते लवणैः प्रतिसारयेत् ।
सुखोष्णस्नेहगण्डूषान्धारयेच्चाप्यभीक्ष्णशः ।
विस्राव्य पित्तसम्भूतां सिताक्षौद्रप्रियंगुभिः ।
घर्षयेत्कवलो द्राक्षापरुषैः क्वथितैर्हितः ।
आगारधूमकटुकैः श्लैष्मिकीं प्रतिसारयेत् ।
श्वेताविडङ्गदन्तीषु तैलं सिद्धं ससैन्धवम् ।
नस्यकर्मणि दातव्यं कवलं च कफोच्छ्रिते ।
पित्तवत्साधयेद्वैद्यो रोहिणीं रक्तसम्भवाम् । (सु.)

रोहिणी पाँच दिनों में और वातजन्य रोहिणी एक सप्ताह में घातक होती हैं।"

चिकित्सा—आचार्य सुश्रुत ने रोहिणी रोग की चिकित्सा में यह स्पष्ट लिखा है कि उनकी लिखी चिकित्सा केवल साध्य की कोटि में आने वाले रोहिणी की ही है असाध्यों की नहीं। चिकित्सा सूत्र निम्न-लिखित प्रकार से वर्णित मिलता है।

१. शोणित मोक्षण २. वमन ३. धूम ४. गण्डूष और नस्य कर्म-सामान्यतया सभी साध्य रोहिणी विकारों में करना चाहिये। वातज में रक्त मोक्षण के बाद सैंधव नमक से प्रतिसारण करना चाहिये तथा सुखोष्ण चतुर्विध स्नेह का गण्डूष धारण करना चाहिये, पैत्तिक रोहिणी में विस्रावण के अनन्तर शर्करा, मधु और प्रियङ्गु से घर्षण करना चाहिये। द्राक्षा और परूषक के क्वाथ का कवल धारण करना चाहिये। कफज रोहिणी में रक्तविस्रावण के अनन्तर गृहधूम और कटु पदार्थों के द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये। श्वेता, वायविडङ्ग और दन्ती से सिद्ध तैल में नमक मिला कर नस्य देना चाहिये। अथवा कफाधिक्य की अवस्था में इसी का कवल धारण करना चाहिये। रक्तज रोहिणी में पित्तवत् चिकित्सा का विधान करना चाहिये। इस प्रकार रोहिणी की सामान्य और दोष भेद से विशेष चिकित्सा का पाठ मिलता है।

इस शास्त्रीय पाठ के अतिरिक्त और भी कई फुटकर प्रचलित अनुभव सिद्ध योग मिलते हैं-जैसे रोहिणी की अवस्था में, पपीते के दूध का गले में लेप करना, पान के पत्रस्वरस का पिलाना अथवा इसी अनुपान के साथ कफघ्न औषधियों का प्रयोग करना। हिंगुलेश्वररस अथवा संजीवनीवटी का प्रयोग भी हितकर होता है।

पाश्चात्य चिकित्सा ग्रन्थों में 'गलरोग के अध्याय में अथवा औपसर्गिक रोगों के वर्णन में 'डिप्थीरिया' नामक रोग का वर्णन पाया जाता है-जिसमें रोहिणी के प्रमुख लक्षण-ज्वर, भाषण शैथिल्य, श्वासकृच्छ्रता, मांसाङ्कुरों की, या गले में अंकुरों या स्फोटों की उत्पत्ति प्रभृति लक्षण प्रायः मिलते हैं। अत एव विद्वानों ने रोहिणी नामक व्याधि को

पाश्चात्य वैद्यकोक्त 'डिप्थीरिया' नामक रोग ही माना है। यहाँ पर संक्षेप में उस रोग का आधुनिक वर्णन दे देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

रोहिणी (Diptheria)—यह रोग "क्लेबलोफलर" के दण्डाणुओं अथवा रोहिणी दण्डाणुओं से उत्पन्न होता है। यह रोग अधिकतर बालकों में दो से दस वर्ष की आयु में होता है। नासाग्रसनिका के भाग (Pillars of the Fauces, Tonsils, Base of the uvula) जिह्वा मूल तथा गलशुण्डिका के विकृत भागों पर झिल्ली पैदा होती है एवं वह फैलती है। इस स्थानिक विकृति के साथ ही रोग के जीवाणुओं के कारण विषमयता भी उत्पन्न होती है। इस विषमयता के फलस्वरूप रक्तवह संस्थान का अवसाद, घात तथा शुक्लीमेह (Circulatory Faillure, Paralysis & Albuminuria) भी रोगी में उत्पन्न हा जाते हैं।

कारण (Etiology)—'डिप्थीरियावेसिलस' के कारण यह रोग उत्पन्न होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं। १. गंभीर २. मध्यम और ३. क्षुद्र। इनमें से गंभीर प्रकार–मनुष्य के लिये भयानक है तथा अत्यधिक विषमयता उत्पन्न करते हैं। इनका बिन्दूत्क्षेप, प्याला, चम्मच आदि से तथा दूध द्वारा भी प्रसार होता है। वाहकों द्वारा भी इनका प्रसार तथा मरक फैलता है।

वैकृतिकी (Pathology)—लसीका द्वारा प्रचूषित विष से शारीरिक विकृतियाँ होती हैं। प्रचूषित विष प्रथम अपिस्तर (Epithial) का नाश करके झिल्ली उत्पन्न करते हैं। झिल्ली लसीका गलित धातु (Fibrin, necrosed cellular tissues) और जीवाणुओं (Organism) से बनती है। यह ग्रसनिका, नासिका, स्वरयंत्र, श्वासमार्ग, हृदय, आमाशय, फुफ्फुस, त्वचा आदि पर भी उत्पन्न हो सकती है।

संचयकाल—प्रायः २४ घण्टे से अधिक नहीं होता, किन्तु ३–४ दिन तक भी हो सकता है।

भेदक–लक्षण

(१) *गलतोरणिकागत* (Faucial) :—

१. उपसर्ग धीरे-धीरे या एकाएक भी होता है।

२. शुष्कता निस्तेज (Listlessness), पाण्डुता (Pallor) तथा सिर दर्द, वमन और मूत्र में शुक्ली (Albumin) मिलता है ।

३. ताप (Tempreture) १००% होता है । गंभीरावस्था में रोगी निर्ज्वर रहता है । नाड़ी मन्द तथा तीव्र गतियुक्त होतीं है ।

४. प्रारम्भ में कण्ठ में रक्ताधिक्य तथा निगलने की कठिनाई होती है । २४ घंटे के बाद धोये हुए चमड़े के समान झिल्ली हो जाती है तथा इसे निकालने पर रक्तस्राव होता है । उपसर्ग स्वरयन्त्र से कंठ नाड़ी (Larynx) तक आ जाता है ।

५. हनुसंधि के पास की ग्रन्थियों का शोथ होकर ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं तथा गला कड़ा मालूम होने लगता है ।

६. श्वास में विशिष्ट प्रकार की गंध आती है ।

७. शरीर की व्यापी विषमयता के कारण रोगी सातवें दिन मर सकता है ।

८. सातवें दिन के बाद हृदयगत विकार उत्पन्न होते हैं । साधारण रोगी में भी नाड़ी की गति तीव्र, रक्तभार का घटना तथा हृदय के वाम पार्श्व का विस्फार होना, हृदयध्वनि का मंद सुनाई देना, बेचैनी सुस्ती (Drawsiness), संन्यास (Coma) तथा हृदय के दक्षिण भाग का अवसाद (Failure) होना, वमन, यकृत का रक्ताधिक्य (Engorgement), मूत्राल्पता—ये गम्भीर लक्षण हैं ।

९. नाड़ी शोथ के कारण अंगघात होता है । इसी कारण से नाक से बोलना तथा निगलने की कठिनाई सर्वप्रथम होती है तथा मुख द्वारा प्रविष्ट पदार्थ नाक द्वारा बाहर वापस आता है ।

१०. आँख की नियमन शक्ति (Acomodation) तथा दृष्टि (Vision) नष्ट हो जाती है । प्रतिक्षेप मिलता है । सातवें या आठवें सप्ताह में शाखाओं का घात होता है ।

११. बच्चे की चाल-चलन बदल जाती है तथा पदच्युति होती है । बालक मंद, शांत या निश्चेष्ट स्वभाव का हो जाता है ।

निम्न अन्य प्रकार के भी रोहिणी रोग होते हैं। उनके स्थान भेद से भिन्न-भिन्न नाम हैं।

(२) स्वरयंत्रगत रोहिणी (५) नेत्रकलागत रोहिणी (Conjunctival)
(३) आनुनासिक रोहिणी (६) योनिगत रोहिणी
(४) कर्ण रोहिणी (७) व्रणोत्पन्न रोहिणी

इन सबों में झिल्ली (Membrene) का बनना अनिवार्य है। जिससे उन अंगों के कार्यों का अवरोध हो जाता है।

निदान—झिल्ली के अवलोकन से छूने से रक्तस्राव होने से तथा झिल्ली की अणुवीक्षणात्मक परीक्षा द्वारा रोहिणी के दण्डाणु का मिलना रोग का निदर्शक है। अन्य विशिष्ट लक्षणों से भी निदान-विनिश्चय किया जाता है।

चिकित्सा—प्रतिविष (Diptheria Antitoxin), प्रतिविष की मात्रा का निर्धारण रोगी की आयु के अनुसार न करके रोग के प्रसार एवं अवधि का विचार करते हुए करना चाहिये। सन्देहास्पद रोगियों में ४००० इकाई (units) की मात्रा में चिकित्सा का प्रारंभ करना चाहिये। जब रोग का पूर्ण निश्चय हो जावे तो १५००० इकाई की मात्रा में देना शुरू करे। यदि विषमयता बड़ी तीव्र हो तो अधिक मात्रा में तीस हजार से साठ हजार इकाई मात्रा भी दी जा सकती है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्रतिविष का मूल्य जितनी शीघ्रता से दिया जाय तभी रहता है अधिक विलम्ब हो जाने पर मात्रा बढ़ा कर देने का कोई महत्व नहीं है। 'वारोज एण्ड वेलकम' कम्पनी का गाढ़ा प्रतिविष १५०० यूनिट प्रति सीसी का आता है रोगियों की सुविधा की दृष्टि से यह उत्तम रहता है। एक मात्रा सूचीवेध करके मांसपेशी के द्वारा प्रथम बार दे। बारह से चौबीस घंटे के अनन्तर इसकी आधी मात्रा में दे। तीव्र रोग इस मात्रा में पुनः-पुनः तीन चार दिनों तक प्रति विष के देने की आवश्यकता पड़ती है।

(२) हृदयावसाद (Heartfailure) होने का विशेष भय होने से रोगी को पूर्ण आराम के साथ लेटाकर रखे ।

(३) रोगी के पोषण के लिये दूध, मिश्री, 'ग्लुकोज' एवं पर्याप्त मात्रा में जल पीने के लिये देना चाहिये । विबंध हो तो एनीमा से कोष्ठ शुद्धि कर दे । बेचैनी के लिये निद्राजनक ओषधि दे । माफिया का भी उपयोग अल्प मात्रा में करे ।

(४) टिंचर लवेण्डुली वा 'टिंचर मीरहे' (Myrrhy) का जीर्ण रोगी के गले में पिचकारी (Throat syringe) द्वारा देते हैं ।

(५) यदि स्वरयंत्र अवरुद्ध हो तो भाप लेना तथा गरम कपड़े से गले को सेंकना तथा ऊनी मफलर आदि से बाँधकर रखना चाहिये ।

(६) ग्रसनिकाभेदन (Tracheotomy) अथवा नाडीसंयोजन (Intubation)—यदि रोग में सुधार न हो और श्वासावरोध के लक्षण व्यक्त होने लगें तो शस्त्र कर्म की शरण ले । एतदर्थ इस शल्य कर्म का विधान है ।

(७) संवर्धन करने पर भी जब तीन बार तक दण्डकाणु न मिलें तब रोगी को रोग मुक्त समझना चाहिये ।

(८) पेनीसीलीन (Penicillin 50,000 units, morning & evening.) अथवा अन्य वृहत्तर क्षेत्र के 'एण्टीवायटिक्स' का सूचीवेध से प्रयोग करे ।

(९) शुल्वयोग (Sulpha Mezathin या Sulphatriad.) का उपयोग ।

(१०) तोरणिकाप्रकार (Faucial case) में तुण्डिकाछेदन (Tonsillectomy) करना चाहिये ।

(११) वाहकावस्था के लिये 'शिक' परीक्षा (Shicktest) करनी चाहिये । जिसमें प्रतिक्रिया हो उसे अक्षम जाने । ऐसे व्यक्ति में प्रतिविष अल्प मात्रा में दे । जिसमें प्रतिक्रिया न हो । उसमें क्षमता है ऐसा समझना चाहिये और इनमें प्रतिविष देने की आवश्यकता नहीं रहती ।

कण्ठशालूक—(Adenoids) 'बेर की गुठली के बराबर कफ से उत्पन्न हुई ग्रन्थि जो गले में कण्टक या शूल के समान, खुरदरा, स्थिर और शस्त्रक्रिया से साध्य हो वह कण्ठशालूक कहलाती है।' गले में बेर की गुठली के समान आकार वाली कड़ी, स्थिर तथा काँटों सी उठी हुई, शूल के चुभी हुई काँटों के समान वेदना करने वाली तथा स्पर्श में खर या कठिन जो गाँठ होती है उसे कण्ठशालूक कहते हैं[1]। इसमें कफप्रधान दोष रहता है। यह शस्त्रकर्म के द्वारा साध्य व्याधि है। अष्टाङ्गसंग्रहने इसका विशेष लक्षण मार्गावरोध तथा चरक ने श्वास क्रिया में वाधा बतलाई है।[2]

इन लक्षणों के आधार पर कई विद्वानों ने इस रोग को पाश्चात्यवैद्यक का वर्णित रोग 'एडीनायड्स' बतलाया है।

चिकित्सा—रक्तविस्रावण करके तुण्डिकेरी के समान चिकित्सा करनी चाहिये।[3]

गिलायु—गले में कफ और रक्त से उत्पन्न हुई, आँवले की गुठली के बराबर स्थिर, अल्पपीड़ा करने वाली गांठ जिससे रोगी को अँटके हुए भोजन की सी प्रतीति होती है। यह शस्त्र साध्य गिलायु नाम का रोग है। इस रोग में श्वास तथा आहार में बड़ी कठिनाई होती है।[4]

वक्तव्य—'तुण्डिकेरी' तथा 'कण्ठशालूक' ये दो रोग ऐसे मिलते हैं जिनकी संज्ञा निर्धारण अथवा पर्याय कथन में भ्रम हो जाता है। 'तुण्डिकेरी' नामक व्याधि का वर्णन सुश्रुत ने अपने तालुगत रोगों के वर्ग में किया है—अतएव बहुतों के विचार से इस रोग का अंग्रेजी पर्याय 'एडीनायड्स' है। परन्तु अष्टाङ्गहृदय ग्रंथ की मान्यता दी जाय

१. कोलास्थिमात्रः कफसम्भवो यो ग्रथिर्गले कंटकशूलभूतः ।
खरः स्थिरः शस्त्रतिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ।
२. अन्तर्गले धुर्घुरकान्वितञ्च शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारी । (च. चि. १२)
३. विस्राव्य कण्ठशालूकं साधयेत् तुण्डिकेरिवत् ।
४. ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः स्थिरोऽल्परुक् स्यात्कफरक्तमूर्तिः ।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनञ्च स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायुसंज्ञः ।

तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह गले का रोग है एवं निश्चित रूप से कण्ठ के भीतर होने वाले विकार वृद्धियुक्त या शोथयुक्त 'टान्सिल्' (Enlarged or Elongated Tonsil) का बोधक है। अष्टाङ्गहृदयकार ने लिखा है 'हनुसन्धि के आश्रित स्थान में गले के भीतर कपास के फल (बिनौले सदृश कठिन शोथ होता है, जिसमें मन्द-मन्द पीड़ा तथा पिच्छिल स्राव होता रहता है।'[1]

दूसरा रोग है 'कण्ठशालूक' इस रोग का परम्परया अर्थ वैद्य लोग बढ़ा हुआ 'टान्सिल' ग्रहण करते हैं। परन्तु शास्त्रीय विवेचना के आधार पर इस रोग का अंग्रेजी पर्याय 'एडीनायड्स' युक्तियुक्त ज्ञात होता है। इन दोनों रोगों का पृथक् पृथक् पाश्चात्य वैद्यक ग्रंथों के आधार पर नीचे प्रसङ्ग आ रहा है—जिससे इस कथन की युक्तिमत्ता प्रमाणित होती है।

कंठशालूक (Adenoids)

व्याख्या (Definition)—नासा 'ग्रसनिका (Naso-pharynx) के लसिकाभ धातुओं (Lymphoid tissue) के जीर्ण (Chronic) वृद्धि को कंठशालूक (Adenoids) कहते हैं। इसे नासाग्रसनिका तुण्डिका (Nasopharyngeal Tonsil) भी कहते हैं।

कारण (Etiology) :—यह रोग प्रायः बच्चों में पाया जाता है तथा २० वर्ष की आयु के बाद सामान्यतया नहीं मिलता, लेकिन चिरकालीन वृद्धि करके कहीं-कहीं मिलता भी है। ३–८ वर्ष के भीतर के बच्चों में होने की सम्भावना विशेष रहती है। किन्तु जन्म के समय से भी या ८ वर्ष के बाद भी हो सकता है। यह विश्वव्यापी रोग है। आर्द्र भूमि वाले प्रदेश तथा चिरकालीन या बार-बार नासा प्रसेक का होना इस रोग का मूल कारण माना जाता है। (Nasal catarrh) तीव्र प्रतिश्याय के अतिरिक्त रोहिणी (Diphtheria), स्कारलेट

१. हनुसन्ध्याश्रितः कण्ठे कार्पासीफलसन्निभः ।
पिच्छिलो मन्दरुक् शोफः कठिनस्तुण्डिकेरिका । (वा. उ. २१)

फीवर, रोमांतिका (Measles) आदि रोग भी कारण भूत हो सकते हैं।

वैकृतिकी (Pathology) :—यह लसिकाभ धातुओं का गुच्छ है, जो ऊपर को मोटा तथा नीचेको क्रमशः पतला होता जाता है। इसमें तांतव धातु (Fibrous tissues) के अधिक इकट्ठा होने से कठिन हो जाता है। बीच-बीच में रिक्त स्थान रह जाता है जिसमें स्राव एकत्रित होकर सड़ान पैदा करते हैं।

लक्षण :—(१) श्वासावरोध—नासा से श्वास न लेकर मुँह खोल कर रोगी श्वास लेता है। बच्चों में श्वासावरोध होता है जिसके कारण बच्चा दूध ठीक से नहीं पी सकता है। अतः इनमें क्षीणता अपोषण जन्य पाई जाती है।

(२) बच्चा रात में खर्राटा (Snore) तथा दिन में गम्भीर श्वास लेता है।

(३) खाना धीरे धीरे खाता है क्योंकि मुँह से श्वास लेना पड़ता है।

(४) प्राणवायु की कमी के कारण रात में पूर्ण निद्रा नहीं होती।

(५) रात को श्वासावरोध के कारण एकाएक उठकर बैठ जाता है।

(६) एकाग्रता नष्ट हो जाती है।

(७) निरन्तर श्वासावरोध के कारण मुख तथा जबड़े पर खराबी पहुँचती है और रोगी मुँह बराबर खुला रखता है।

(८) मसूड़े का आकार 'V' के समान हो जाता है। हड्डियों में लचकीलापन अत्यधिक हो जाता है।

(९) छाती लम्बी फूली तथा पतली हो जाती है। बीच में गढ़े (Transverse depression) पड़ जाते हैं तथा कबूतर की छाती के समान छाती की आकृति हो जाती है।

(१०) कर्णनाली (Eustachian tube) में उपसर्ग होकर बाधिर्य (Deafness) तथा कर्णशूल उत्पन्न करता है तथा मध्यकर्ण शोथ (Otitis media) भी उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त नेत्रा-

भिष्यंद और वर्त्मशोफ (Conjunctivitis तथा Blepheritis) भी उत्पन्न करता है।

(११) मन्द ज्वर तथा ग्रीवा (Neck) गत ग्रन्थियों का शोथ हो जाता है।

(१२) इससे उत्सर्गित श्लेष्मा (Mucus) पेट में जाकर अग्निमांद्य आदि विकार उत्पन्न करता है। कृमिदन्त (Dental caries) भी हो जाता है।

(१३) उपर्युक्त विकारों के कारण खाँसी, श्वासगत घर्घड़ाहट तथा बाद में श्वासकृच्छ्र, रात्रि में भय के साथ जाना (Night terrors) रात्रि में स्वप्न में एक ही बात को दुहराना या उत्तेजित होकर बोलना (Stammering) आदि लक्षण भी रोगी में मिलते हैं।

निदानः—नासा के पश्चिम भाग की परीक्षा से पता लगता है। इससे पीछे के भाग में अनियमित उठे हुए छोटे-छोटे पिण्ड (Mass) दिखाई देते हैं। इस उभार को छूने से रक्त स्राव होता है। कभी-कभी यह बहुत मृदु एवं भंगुर (Friable जल्दी टूटने वाला) होता है।

चिकित्साः—प्रारम्भ में निदान होने पर सुखोष्ण लवणजल का कवल (Rubber ball syringe) द्वारा प्रयोग करे अथवा इसी का सीकर परिषेक (Spray) करे या निक्षेपक (Dropper) द्वारा नाक में डाले। इसके बाद स्वच्छ तथा खुली हवा में रखना जरूही है। जैसे नदी या दरिया के किनारे पर रखना।

काड लीवर आयल, लोहभस्म, अञ्जन, मल्ल (Arsenic) का प्रयोग करे। रोग के प्रारम्भ में प्राणायाम या श्वास व्यायाम (Breathing exercise) लाभकर है, लेकिन अधिक श्वासावरोध में इसका प्रयोग हानिकर है। रोग के अभिवृद्ध होने पर या बा-बार दौरे आने पर या चिरकालीन होने पर या बाधिर्य आदि उपद्रव हो जाने पर छेदन (Excision) करके निकाल देना मात्र ही एक उपाय है। छेदन में कंठशाल्लूक (Adenoids) के अंश का अवशेष रह जाने की संभावना होती है। जिसके कारण रक्तस्राव होने लगता है। अतः सावधानी से कंठशाल्लूक के सम्पूर्ण भाग को निकाल देना चहिये। इसके निकाल

देने से उपद्रव रूप में पैदा होने वाले निम्न रोग शीघ्र ठीक हो जाते हैं। क्योंकि इनमें आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है।

(१) मध्यकर्ण शोथ (Otitis media)

(२) आमवात (Rheumatism)

(३) रोमान्तिका एवं स्कारलेट फीवर।

(४) वृक्क शोथ तथा गवीनी मुखशोथ (Nephritis and Pylitis)

(५) हीनपोषण (Malnutrition)

(६) अरोचक (Anorexia)

कंठशालूक की आयुर्वेदीय चिकित्सा—इसमें नासा रोगाधिकार की चिकित्सा वरतनी चाहिये। वल्य औषधियों का उपयोग करना चाहिये। नाक से व्याघ्री तैल का प्रक्षेप करना साथ में चित्रक हरीतकी का दूध के अनुपान से उपयोग उत्तम रहता है।

तीव्र उत्तुण्डिका शोथ या तुण्डिकेरी
(Acute Tonsillitis)

व्याख्या:—मुख के पश्चिम भाग में स्थित उत्तुण्डिका नामक ग्रन्थि का शोथ।

कारण:—*१. प्रधान कारण*—

जीवाणु:—स्तबक गोलाणु (Staphylo Cocci), माला गोलाणु (Strepto Cocci), फुफ्फुस गोलाणु (Pneumo Cocci) ये प्रधान हैं। इनका उपसर्ग अलग या मिश्रित रूप से भी हो सकता है।

क्षोभक पदार्थ:—नालों की गैस, अन्य गैसें (क्षोभक), क्षोभक पदार्थों का सेवन इत्यादि।

२. सहायक कारण:—

आयु:—यह प्रायः ५-६ साल के बाद २५-२७ साल की अवस्था तक ज्यादा पाया जाता है।

ऋतु:—शिशिर हेमन्त (Autum) और बसन्त (Spring) ऋतुओं में ज्यादा होता है। *सर्दी लगना, शारीरिक कमजोरी,* दूषित खाद्य-पेय।

अन्यरोगों से सम्बन्धः—आमवात, रोहिणी (Diptheria), रोमान्तिका (Measles) तथा अन्य मुख और गले या नासा के उपसर्ग।

सम्प्राप्तिः—उपसृष्ट रोगी के प्रत्यक्ष सम्बन्ध (Direct Droplet infection) से या रोगी अथवा वाहक के जूंठे वर्तन आदि के संपर्क में रोग उत्पन्न हो सकता है।

प्रकारः—I. आशयी (Parenchymatous)
II. कूपीय (Follicular).

शारीरिक विकृतिः-(Morbid Anatomy and Histology):—उत्तुण्डिकायें सूज जाती हैं, मुख के पश्चिम भाग की, ग्रसनिका (Pharyx) की तथा तालु की श्लेष्मल कला (Mucus Membrane) गहरे रक्तवर्ण की तथा शोफयुक्त हो जाती हैं। साथ ही वहाँ से स्राव भी होने लगता है। स्राव में पूय, कोषायें (Cells) तथा सड़ा गला भाग (Debris) निकलता है। रोहिणी (Diptheria) का उपसर्ग हो तो उत्तुण्डिकाओं पर एक सफेद झिल्ली भी बन जाती है (A diptheria membrane may cover the Tonsils).

इस प्रकार की झिल्ली स्राव के जमने (Coagulation of the discharge) से भी बन सकती है। परन्तु इस झिल्ली का छूने से रक्तस्राव नहीं होता है, जैसा कि रोहिणी की झिल्ली के छूने से पाया जाता है।

ग्रीवा में टटोलने से जबड़े के तथा कर्णमूल के पास शोफ तथा पीड़ायुक्त ग्रन्थियाँ (Tender & enlargred Glands). मिलती हैं।

वैकारिकी (*Pathalogy*):—शोफवत्, जैसे स्थानिक रक्ताधिक्य, स्राव (Serus or mucoserous exudate), उपसर्ग के कारण पूययुक्त स्राव के जम जाने से या श्लेष्मकला की वृद्धि (Proliferation of the Mucous Membrane) से झिल्ली भी बन सकती है। दो तीन सप्ताह के पश्चात् उपशम (Resolution) होकर रोग शान्त हो जाता है। परन्तु कुछ उपसर्ग अवश्य रह जाता है।

तीव्र शोथ के लक्षण (Symptoms)

१. गले में खराश (Rawness of the throat.)

२. पीडा। ३. निगलने में तथा बोलने में कठिनाई।

४. शीत का अनुभव, सिर में दर्द, जी चमलाना, कमर में या पाँव में दर्द, कान में तथा जबड़े के नीचे कर्णमूल के पास पीड़ा।

५. ज्वर १०३°–१०५° F. ६. विबन्ध आदि पचनसंस्थान के लक्षण।

७. खासी या कास।

चिह्न (Signs)

ग्रन्थि के प्रधान भाग में आशयी प्रकार या विकार होनेपरः—

१. पूर्ण ग्रन्थिका शोफ और कभी-कभी तो दोनों ओर की ग्रन्थियाँ फूलकर मार्गावरोध भी कर देती हैं। यह शोथ आस-पास में तीव्र रूप का होता है और गलशुण्डि (Uvula) भी काफी सूज जाती है।

२. उत्तुण्डिका (ग्रन्थि) तथा ग्रसनिका एवं तालू का रंग गहरा लाल हो जाता है।

३. ग्रीवा की लसग्रंथियाँ तथा जबड़े के नीचे की ग्रंथियाँ भी फूल जाती हैं तथा उनको दबाने से दर्द होती है।

४. जिह्वा मलावृत (Coated) हो जाती है।

५. मुख से दुर्गन्ध निकली है।

६. ज्वर प्रायः १०३°–१०५° F. तक हो सकता है।

कूपीय प्रकार :—में उत्तुण्डिका के छोटे-छोटे भागों में शोथ हो जाता है और वहाँ से पीला-सा स्राव निकलने लगता है। कभी-कभी जब यह स्राव जम जाता है तो वहाँ पर झिल्ली सी बन जाती है। जिसे छूने पर रक्तस्राव नहीं होता है। यही झिल्ली यदि रोहिणी के कारण हो तो छूने पर उसमें रक्तस्राव होने लगता है।

सापेक्ष निदान

(अ) रोहिणी से :—

१. इसका आरम्भ धीरे-धीरे होता है।

२. पीड़ा कम होती है।

३. ज्वर प्रायः कम रहता है (Slight rise of Temp.)
४. नाडी की गति ज्वर के अनुपात से ज्यादा होती है ।
५. इसकी झिल्ली को छूने से रक्तस्राव होता है और रंग में सफेद होती है ।
६. इसकी झिल्ली आस-पास के भाग में भी लगी रहती है ।
७. ,, ,, काफी संलग्न (Adherent) रहती है ।

८. झिल्ली पर से या आस-पास के श्राव की अणुवीक्षण से परीक्षा करने पर या कृत्रिम संवर्द्धन (Cultivation) से रोहिणीदण्डाणुओं का मिलना (Presence of Bacillus Diptheria or the Klebs Loffler Bacillus) रोहिणी का निर्देशक होता है ।

(आ) स्कार्लेट ज्वर (*Scarlet fever*) से :—
१. इसमें दाने निकलते हैं (Rash) ।
२. जिह्वा मलावृत न होकर रक्तवर्ण की रहती है ।
३. उत्तुण्डिकाओं पर शोफ के चिह्न बहुत कम मिलते हैं ।

(ई) कण्ठ–तालुगत विसर्प (*Erysipelas of th fances*) से :—
इसमें शोथ कम और रक्तिमा ज्यादा तथा बाह्य लक्षण भी होते हैं जैसे दाने आदि (Rash) का निकलना ।

उपद्रवः—(*Complication*) :—

१. परितुण्डविद्रधि (Peritonsillar Abscess)
२. स्वरयन्त्र शोथ (Laryngeal oedema)
३. उत्तुण्डिका का कोथ (Gangrene of the Tonsil)

चिकित्सा :—१. आराम
२. खाने के लिये, पेय पदार्थ ।
३. विरेचन
४. गले पर सेंक ।
५. यदि ज्वर तेज हो तो 'मिक्स्चर सेलिसिलेट' या 'एस्प्रिन' या 'सोडा सेलिसिलास' १५ ग्रेन दिन में तीन बार दे ।
६. कुल्ले के लिये एक गिलास गरम जल में ग्लाइकोथाईमोलीन एक चम्मच डालकर या नमक डालकर दे । 'सेवलान' (Cevlon

I. C. I.) एण्टी सेप्टिक लाजेञ्जेज़ का मुख से सेवन भी उत्तम रहता है।

७. उत्तुण्डिका पर लगाने के लिये Protargol Sol 50% या Cuaicol 5% दे।

८. शुल्वौषधियाँ   १. पैनिसलीन तथा अन्य एण्टी वायटिक का उपयोग करे।

जीर्ण उत्तुण्डिका शोथ या तुण्डकेरी (Chronic Tonsillitis)

व्याख्या :—प्रारम्भ से ही मंद स्वरूप का या तीव्र शोथ के बार-बार होने से जो उत्तुण्डिका शोथ पुराना हो जाता है उसे जीर्ण उत्तुण्डिका शोथ कहते हैं।

कारण :—जीवाणुओं का उपसर्ग, बार-बार सर्दी लग जाना, या रोहिणी के, कुक्कुर खाँसी के, रोमान्तिका के या (स्कारलेट ज्वर) के पश्चात् परिणामस्वरूप (Sequele) प्रायः जीर्णशोथ होना पाया जाता है। यह ५ से १५ साल की अवस्था में प्रायः होता है और प्रायः कंठशालूक (Adenoids) के साथ-साथ भी पाया जाता है।

रोग के लक्षण :—रोगी को प्रायः कोई कष्ट नहीं होता है, पर कभी-कभी रोगी पचनसंस्थान के गड़बड़ी को लेकर या कान अथवा कर्णमूल के पास की ग्रन्थियों का शोथ लेकर चिकित्सक के पास आता है और तब चिकित्सक के द्वारा परीक्षा करने पर रोग का पता चलता है।

कभी-कभी तीव्र शोथ के लक्षण जैसे पीड़ा, निगलने में तथा श्वास लेने में कठिनता, मुख की दुर्गन्ध, आदि लक्षण भी पाये जाते।

चिह्न तथा रोगज्ञान—मुख की परीक्षा करने पर कभी-कभी कुछ सूजे हुवे पर काफी लाल वर्ण में टान्सिल मिलते हैं। उत्तुण्डिका के ऊपर आच्छादित श्लेष्मकला (Anterior pillar) सूजी हुई और गहरी लाल वर्ण की होती है। उत्तुण्डिकायें प्रायः स्वस्थ से छोटी तथा अपने खात में छिपी हुई रहती है और प्रायः कडी (Fibrosed) भी पड़ जाती है।

कभी-कभी पूर्वभाग (Anteriorfold) उत्तुण्डिका को दबाने से कुछ पूययुक्त स्राव निकलता है ।

ग्रीवा की ग्रन्थियाँ प्राय: सूजी हुई मिलती है । अपची (Tuberular Adenitis) भी साथ में मिल सकती है । तीव्र शोथ के दौरों का, रोहिणी, आमवात, कुक्कुर खाँसी, रोमान्तिका आदि का भी इतिहास प्राय: मिलता है ।

उपद्रव—कर्ण के रोग, उण्डुक पुच्छ शोथ (Appendicitis), पुराण विषमयता (Chronic Toxinia), जोड़ों में दर्द (Chronic Arthritis) ये सब उपद्रव विष के कारण या उपसर्ग के कारण हो सकते हैं ।

चिकित्सा :—यदि रोग बहुत ही सौम्य स्वरूप का हो और बार-बार नहीं होता हो तो ठीक हो सकता है संशामक चिकित्सा ।

(अ) *उपशम-चिकित्सा* (Palliative treatment) :—रोगी को ताकत देने वाले पदार्थ देकर शरीर का स्थास्थ्य बढावें, खुली हवा में रखे । मुख की सफाई का ध्यान रखे, साथ में गले के भीतर 'मेण्डल का पेण्ट' लगावे ।

(आ) *शस्त्रकर्म से चिकित्सा* (Operative treatment) :—पूर्व कर्म (Pre-operative or the preparation of the patient)-

रोगी की परीक्षा :—१. हृदय, फुफ्फुस, नासा आदि पर विशेष ध्यान देते हुवे सांस्थानिक परीक्षा (Complete systemic exam.) करनी चाहिये । मूत्रपरीक्षा, रक्तश्राव की प्रकृति का (Tendency to abnormal bleeding or Haemophlia) इतिहास (या तो कुटुम्ब में या स्वयं रोगी में) लेना चाहिये ।

२. यदि रोगी कमजोर हो तो कुछ दिन तक पहले उसे काड मछली का तैल, लौह, सोमल (Iron & Arsemic mixture) या अन्य ताकतवर औषध तथा भाजन देना चाहिये ।

३. रोगी को (शस्त्रकर्म के) एक दिन पूर्व आतुरालय में भर्ती कर लेना चाहिये ।

शस्त्रकर्म के दिन प्रातःकाल रोगी को दूध, चाय या अन्य पेय देना चाहिये और शस्त्रकर्म के पूर्व मुँह को फिर से साफ करा देना चाहिये।

मुख साफ कराने के लिये:—Hydrogen peroxide के कुल्ले, नमक के कुल्ले, साधारण जीवाणु नाशक द्रव के कुल्ले कराने चाहिये। यदि कोई दाँत हिलता हो तो उसे निकाल देना चाहिये क्योंकि इस अवस्था में (५ से १५ साल के) प्रायः दूध के दाँत गिरते हैं।

प्रधान कर्म :—

संज्ञाहर औषध का प्रयोगः—In young children:—Ethyle chloride spray preceded by Luminal orally (1 to 3 grs.) or Paraldehyde with Glycerine Rectally.

In *Adults* :—Ethyl chloride spray preceded by I. V. inj. of Barbiturates such as Pentothel sodium, or Local inj. of cocaine 1% with Tonsil Syring.

शस्त्रकर्मः—यह दो प्रकार का है:—

(i) उत्तुण्डिका को गिलोटिन नामक शस्त्र से निकालना (Enucleation by the Guillotine)

(ii) विच्छेदन (Enucleation by Dissection)

(i) *गिलोटिन से निकालना :—*

शस्त्रज्ञानः—O 'Malleys Guillotine:—इसमें आगे एक मुद्रिकावत् रचना (Ring) रहती है और मुद्रिका के पीछे की ओर एक तीखी और एक बिना धार की दो पत्तियाँ (Blades) रहती हैं।

करीब, करीब ५-६ इञ्च की दूरी पर एक हैण्डिल रहता है जिसकी रचना नाई की (Hair cutting) बाल काटने की मशीन के हण्डिल के समान होती है। इसको दबाने से तीखी वाली पत्ती (Sharp Blade) आगे की ओर बढ़ती है और जो कुछ इसके सामने आता है उसे काट देती है। साधारण प्रकार के अन्य शस्त्र भी रहते हैं।

उत्तुण्डिका का काटनाः—मुखप्रसारक (Doyens Mouth gag) से मुह खोल कर जिह्वावनामक (Tongue depresser) से जिह्वा को

दबा देते हैं। फिर दाहिने हाथ में गिलोटिन कर्तनिका को लेकर मुँह में डालते हैं और मुद्रिका को उत्तुण्डिका के नीचे के पोल (Pole) से सटा देते हैं और जिह्वावनामक (Tongue depresser) को निकाल लेते हैं क्योंकि इसका कार्य गिलोटिन से ही हो जाता है। गिलोटिन को डालते समय उसका हण्डिल मुँह के विपरीत (उत्तुण्डका से) कोने की ओर रखते हैं (At the apposite angle of the mouth) तब शस्त्र को इस प्रकार घुमाना चाहिये कि मुद्रिका के पश्चात् कोण या स्तम्भ (Postrior fold or pillar) और उत्तुण्डिका के बीच में रहे। ऐसी अवस्था में बायें हाथ की तर्जनी (Index finger) अङ्गुली डाल कर पूर्वकोण या स्तम्भ (Anterior pillar or fold) को उत्तुण्डिका (टोन्सिल) से अलग करे और उत्तुण्डिका को मुद्रिका के अन्दर ढकेल दे। तत्पश्चात् वृन्त को दबावे, ध्यान रहे कि पूर्व या पश्चात् कोण (Anterior या Posterior pillor or fold) न कट जांय और कोश के साथ उत्तुण्डिका का पूरा भाग (Tonsil with its capaule) भी कट जाय।

इसी प्रकार दूसरी ओर की उत्तुण्डिका को भी निकाल दे। फिर रोगी का मुँह आगे की ओर कर दे ताकि रक्त तथा उत्तुण्डिकायें बाहर आ जांय।

मुँह में यदि रक्तस्राव हो रहा हो तो लौह का टिंकचर (Tr. Ferri perchloride) लगावे और कोई धमनी दीखती हो तो पकड़ कर स्नायु (Cat gut) से बाँध दे।

यदि 'एडीनायड्स' (Adenoids) भी हो तो लेखन शस्त्र (Curette) से खुरच कर निकाल देना चाहिये।

२. *विच्छेदपद्धति* (Dissection Method)

उत्तुण्डिका को सन्देश (Vulsellum forceps), से पकड़ कर उसको चारों ओर से कोश (Capaule) के साथ खुरच कर (Blunt dissection) अलग कर निकाल ले। या उत्तुण्डिकाजाल (Tonsil snare) से काट दे। उत्तुण्डिका निकालने का यह तरीका तभी काम

में लिया जाता है जब कि गिलाटीनपद्धति (Guillotine method) को काम में नहीं ला सकने । परन्तु किसी भी हालत में गिलोटीनपद्धति (Guillotine Method) ही अच्छी रहती है । पर कुछ शालाक्य-तन्त्रवेत्ता विच्छेदपद्धति (Dissection Method) को अधिक पसंद करते हैं । तरीका कोई भी हो परन्तु कर्त्ता का कुशल होना आवश्यक है ।

पश्चात् कर्म :—१. पाँच घण्टे के बाद यदि रक्तस्राव न हो रहा हो तो रोगी को द्रव पदार्थ देने चाहिये । और पीने के बाद मुँह को साफ कर देना चाहिये । २. बाद में पिपरमिंट की (Lemon drops or Ice or Penicilline Lozenges) गोली चूसने के लिये देनी चाहिये, ताकि रोगी निगलने की क्रिया करता रहे अन्यथा वहाँ की (Pharyngeal Museles) पेशियाँ कड़ी पड़ जावेंगी । ३. यदि दर्द हो तो कोई भी शामक (Sedative) औषध जैसे एस्प्रिन, वैरामन, अहिफेन तथा अन्य (Asprine, veramon, Morphin or other) वेदनाहर औषध दे । ईथर का सीकर-परिषेक (Ether spray) भी किया जाता है । ४. दूसरे दिन से प्रत्येक घण्टे कुल्ली (Asprin xv gr 8 oz. of warm water) कराना चाहिये । ५. मलावरोध का ध्यान रखना चाहिये ।

शस्त्रकर्म के पश्चात् उपद्रव (Post operative complications):—रक्तस्राव, उपसर्ग, ग्रीवा में विद्रधि, मध्यकर्ण शोथ, फुफ्फुस विद्रधि ।

(ई) डायथर्मी से आहरण (दहन or Removal of Tonsils by Diathermy)

कई अवस्थाओं में जहाँ शस्त्रकर्म से निकालने में कठिनाई होती है वहाँ 'डायथर्मी' से उत्तुण्डिका के स्कन्दन (Coagulate) कर देते हैं । परन्तु यह तरीका रोगमुक्त करने का अनिश्चित सा ही है क्योंकि डायथर्मी (Diathermy) की कोई विशेष क्रिया (Selective-action) उत्तुण्डिका तन्तुओं पर नहीं होती है ।

तुण्डिका की आयुर्वेदीय चिकित्सा—रोगी के गले में मफलर लपेट कर पट्टी बाँधकर रखना चाहिये । कवल धारण के लिये उसे १. त्रिफला

काढ़े का या २. त्रिफला और रीठे के काढ़े का या ३. गर्मजल में नमक एवं फिटकरी छोड़कर उस जल से गार्गल दिन में कई बार कराना चाहिये। मुखपाक में बतलाये जात्यादि कषाय का या अरहर की पत्ती, शहतूत की पत्ती या गूलर का कषाय या सहिजन का क्वाथ बनाकर उस जल से गार्गल करना भी उत्तम रहता है।

लेप—१. कफकेतु रस-(शंख भस्म, सोंठ, मरिच, छोटी पीपल, टंकण १ भाग, अदरक ३ भाग एवं वत्सनाभ ५ भाग) और समुद्रफेन बराबर मात्रा में लेकर अदरक से पीसकर गले के बाहर से लेप करना उत्तम रहता है।

२. अंधाहुली, शहतूत की पत्ती, रहर की पत्ती और काली मिर्च ७ दाने को पानी में पीसकर गर्म करके गले के बाहर लेप करना बड़ा ही लाभ-प्रद उपाय है। इसका उपयोग तीव्र एवं जीर्ण दोनों अवस्थाओं में ठीक रहता है। तीव्रावस्था में तो एक सप्ताह के लेप से ही रोग ठीक हो जाता है; परन्तु जीर्णावस्था में एक मास तक लगातार उपयोग की आवश्यकता होती है।

३. गृहधूम (रसोईघर का धुँवा), सेंधानमक और मधु का लेप गले के अन्दर 'मेण्डल पेण्ट' जैसे लगाना उत्तम रहता है।

४. कल्याणावलेह—हल्दी, वच, कूठ, छोटी पीपल, सोंठ, जीरा अजवायन, मुलैठी और सेंधानमक का महीन चूर्ण बनाकर मधु के साथ मिलाकर गले के भीतर लगाना भी उत्तम रहता है।

५. टंकण मायाफल लेप—शुद्ध टंकण १ भाग, मायाफल १ भाग और मधु ४ भाग मिलाकर बने लेप से गले के भीतर प्रतिसारण।

६. तुण्डिकाहर लेप—माजूफल २ तोला, मरिच १।। तोला, हरीतकी १।। तोला, सुंघनी ६ माशा। मधु यथावश्यक। गले के अन्दर लेप करना।

७. रसांजन-प्रतिसारण—रसाञ्जन ऽ-, माजूफल ऽ।।, विभीतक (बहेरा)ऽ।।, अरिष्ट (रीठा) ऽ।। क्वाथ बनाकर घना कर ले फिर मधु यथावश्यक मिलाकर गले के भीतर लेप करे। यह एक सिद्ध और अनुभूत लाभप्रद योग है।

तुण्डिका रोग से पीड़ित रोगी के लिये मुख में चूसने के लिये खदिरादिवटी, लवङ्गादिवटी, व्योषादिवटी या सहकारादिवटी देनी चाहिये। साथ में कफकेतु रस का २ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन या चार बार उपयोग अदरक के रस-मधु के साथ करना चाहिये।

अधिजिह्वा—(Epiglotitis) जिह्वा के मूल के ऊपर जिह्वाग्र के समान रक्तमिश्रित कफ से उत्पन्न हुआ शोथ अधिजिह्वा नामक रोग है। इसमें पाक (Suppuration) हो जाने पर त्याग देना चाहिये[1], क्योंकि चिकित्सा में यश नहीं मिलता और उपसर्ग का उत्तरोत्तर प्रसार होकर रोग असाध्य हो जाता है।

चरक और वाग्भट ने जिह्वा के ऊपर होने वाले शोथ को 'उपजिह्वा' और नीचे होने वाले शोथ को 'अधिजिह्वा' बतलाया है।[2] पाश्चात्त्य वैद्यक में जिह्वा के ऊपर होनेवाले, इस प्रकार शोथ को 'इपीग्लाटाइटिस' कहा जा सकता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा उपजिह्वा के समान ही की जाती है।[3] 'अष्टाङ्गहृदयकार' इसको यंत्र या अंगुलिशस्त्र से विस्रावण करके यवक्षार से घर्षण करने का विधान देते हैं।

वक्तव्य—कफ ही फैलकर अन्नवहस्रोत का अवरोध करके ऊँचा शोथ उत्पन्न करता है यह भीषण और त्याज्य व्याधि वलय कहलाती है—[4] चक्रपाणि के अनुसार चरकोक्त 'विडालिका' (चि० अ० १२) और 'वलय' एक ही हैं।[5] वाग्भट के अनुसार वलय और 'गलौघ' प्रायः एक

---

१. जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वोपरिष्टादसृजैव मिश्रात्
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम्।

२. जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विका स्यात् कफादधस्तादधिजिह्विका च (च०)

३. उपजिह्विकवच्चापि साधयेदधिजिह्विकाम्। सु० ४।

४. बलास एवायतमुन्नतं च शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य।
तं सर्वथैवाप्रतिवारवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति।

५. गलस्य संधौ चिबुके गले च सदाहरागः श्वसनेषु चोग्रः।
शोफो भृशार्तिस्तु विडालिका स्याद्धन्याद् गले चेद्वलयीकृता सा। (च०)

ही रोग है। केवल वलय में पीडा और शोफ की अधिकता रहती है। यह असाध्य है।

बलास—गले में प्रवृद्ध हुए कफ और वायु के द्वारा श्वास और पीडा युक्त शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसमें मर्म का छेदन होता है—यह दुश्चिकित्स्य व्याधि है, इसे बलास कहा जाता है, यह चिकित्सा में असाध्य है।[१]

एकवृन्द—यह कफ और रक्तजन्य व्याधि है। इसमें गोल, ऊँचा दाहयुक्त, कण्डुयुक्त, पकनेवाला, मृदु और भारी शोथ गले में हो जाता है।[२]

चिकित्सा—रक्तविस्रावण और शोधन मुख्य है।[३]

वृन्द—यह पित्त और रक्त से उपजा हुआ विकार है। इसमें शोथ अधिक उठा हुआ तीव्र दाह और तीव्र ज्वर से युक्त रहता है। यदि इसमें केवल तोद (सुई चुभाने की सी वेदना मात्र) लक्षण हो तो वातात्मक समझना चाहिये।[४]

एकवृन्द और वृन्द में अंतर यह है कि प्रथम में कफ और रक्तजन्य विकार होता है और दूसरे (वृन्द) में केवल वायुदोष ही प्रबल रहता है अथवा पित्त और रक्त दोष प्रबल होते हैं। वृन्द में वेदनाधिक्य, ज्वर और तीव्र दाह होता है; परन्तु एकवृन्द में ये लक्षण उतने प्रबल नहीं होते।

शतघ्नी—अधिक मात्रा में मांसाङ्कुरों के संचित हो जाने के कारण गले की रुकावट पैदा करनेवाली घनी बत्ती (वर्ति) सी गले में बनती है जिसके कारण अनेक प्रकार की वेदनायें होती हैं। यह त्रिदोष

१. गले तु शोथः कुरुतः प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् !
मर्मच्छिदं दुस्तरमेनमाहुर्बलाससंज्ञं भिषजो विकारम् ॥

२. वृत्तोन्नतोऽन्तःश्वयथुः सदाहः सकण्डुरोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च ।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोसौ व्याधिर्बलासक्षतजप्रसूतः ॥ (सु०)

३. एकवृन्दं तु विस्राव्य विधिं शोधनमाचरेत् । सु०

४. समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति ।
तच्चापि पित्तक्षतजप्रकोपाद्विद्यात्सतोदं पवनात्मकं तु ॥

से उत्पन्न होनेवाली प्राणहारक शतघ्नी नामक व्याधि है, जो शतघ्नी के समान होती है।[१] 'अयःकण्टकसंच्छन्ना शतघ्नी महती शिला' डल्हणाचार्य ने लिखा है कि शतघ्नी उस शिला को कहते हैं जिसमें सैकड़ों काँटे लगे हों। फलतः कंटकयुक्त शिला के समान गले के भीतर कंठ का निरोध करने वाले सैकड़ों मांसाङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं अथवा नाना प्रकार की पीड़ा उत्पन्न करने वाली गाँठे गले में उत्पन्न हो जाती हैं। यह प्राण को हरने वाली असाध्य व्याधि है।

गलविद्रधिः (Pharyngeal abscess or Peritonsilar abscess)—यह त्रिदोषज व्याधि है। वात, पित्त और कफ तीनों दोषों के प्रकोप से समस्त गले को व्याप्त करने वाला जो महान् शोथ उत्पन्न है, जिसमें तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाले लक्षण मिलते हैं उस रोग को 'गलविद्रधि' कहते हैं। इसमें त्रिदोषज विद्रधि के सभी लक्षण विद्यमान रहते हैं।[२]

चिकित्सा—यदि मर्मस्थान में इस विद्रधि का अवस्थान नहीं हो एवं विद्रधि पक्क हो तो भेदन करके पूय का निर्हरण करना चाहिये।[३] पश्चात् गण्डूष के द्वारा शोधन तथा रोपण की क्रिया करनी चाहिये।

गलौघ—इस व्याधि में रक्तयुक्त कफजन्य बड़ा शोथ गले में होता है, इससे अन्न और जल का अवरोध होता है, उदानवायु का अवरोध और तीव्र ज्वरादि लक्षण होते हैं।[४] अष्टाङ्गहृदयकार इसमें मस्तिष्क में भारीपन, तन्द्रा, लालास्राव प्रभृति अधिक लक्षण बतलाते हैं। यह असाध्य रोग है।

---

१. वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या चितातिमात्रं पिशितप्ररोहैः ।
अनेकरुक् प्राणहरा त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नीसदृशी शतघ्नी ॥

२. सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोफो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः ।
स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥

३. अमर्मस्थं सुपक्कं च भेदयेद् गलविद्रधिम् ।

४. शोथो महानन्नजलावरोधी तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता ।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्त्यतेऽसौ ।

स्वरघ्न—यह वायु के कारण उत्पन्न होनेवाली व्याधि है। यह वात के कफ से आवृत हो जाने के कारण होता है। रोगी बड़े कष्ट के साथ साँस निरन्तर लेता रहता है। रोगी में स्वरभेद और कंठ सूखा हुआ और आवाज के साथ साँस लेना पाया जाता है। यह असाध्य रोग है।[1]

मांसतान—यह त्रिदोषजन्य शोथ है। इसमें विस्तारयुक्त, अत्यन्त दुःखकारक, नीचे को लटकनेवाला, प्राणनाशक और शनैः शनैः गले को अवरुद्ध करने वाला शोथ होता है। यह असाध्य विकार है।[2]

विदारी—पित्तप्रकोप से गले के भीतरी भाग में दाह और सुई चुभाने की सी पीड़ा होती है, गले में रक्तवर्ण की सूजन हो जाती है, क्रमशः शोथस्थान का मांस सड़ कर गल जाता है और दुर्गन्ध करता है। तथा वह सड़ा हुआ मांस गिर भी जाता है। यह विदारी रोग गले में प्रायः उस ओर होता है जिस ओर करवट लेकर मनुष्य सोया करता है।[3]

इस अवस्था को पाश्चात्त्य वैद्यक की दृष्टि से निर्जीवाङ्गत्वजन्य मुखपाक (Gangrenous Stomatitis or Cancrum oris or Noma) जो मुखपाक का एक प्रकार है, कहा जा सकता है।

गलरोग में सामान्य चिकित्सा—कण्ठ रोगों में रक्तमोक्षण, तीक्ष्णादि नस्य के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। दार्व्यादिक्वाथः—रसौंत, दारुहल्दी, चित्रक, मोथा, इंद्रजौ, गुग्गुलु और हरीतकी का कषाय मधु मिलाकर गण्डूष के लिये देना चाहिये। कटुत्रिक, अतीस, देवदारु, पाठा, मुस्ता और इन्द्रजौ का गोमूत्र में क्वाथ बनाकर पीने से सामान्यतया सभी कंठरोगों में लाभ होता है। मुनक्का, कुटकी, त्रिकटु, देवदारु की छाल, त्रिफला, मोथा, पाठा, रसौंत, दूर्वा, तेजोह्वा—इनका चूर्ण बनाकर

१. यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः ।
कफोपदिग्धेष्वनिलायतेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात्स्वरघ्नः ॥

२. प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण ।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः ॥

३. सदाहशोथं श्वयथुं प्रसक्तमन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम् ।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात्स तु येन शेते ॥

मधु में मिलाकर कवल धारण करना या सेवन करना कंठ रोगों में महौषध माना जाता है। उपर्युक्त तीन योग क्रमशः वात, पित्त और कफ के नाशक हैं। यवक्षार, तेजोवती, पाठा, रसांजन, दारुहल्दी, मरिच इन द्रव्यों का मधु के साथ गुटिका बनाकर मुख में धारण करना सर्व प्रकार के गले के रोगों में लाभप्रद है। (यो० र०)

१०

समस्त मुखरोग

(Affections of the mucous membrane of the Buccal Cavity.)

सर्वसररोग या मुखपाक (Stomatitis)—*व्याख्या*—सर्वसररोग उस रोग को कहते हैं जो सम्पूर्ण मुख में हो अथवा मुखगत (ओष्ठ, दन्तमूल, दन्त, जिह्वा, तालु, गल प्रभृति) सप्त स्थानों में व्याप्त हो अथवा जो रोग सम्पूर्ण मुख में सरण करते हों वे सर्वसर रोग कहलाते हैं। ये सर्वसर रोग चार प्रकार के होते हैं—वात, पित्त, कफ और रक्त से होने वाले। वाग्भट और शार्ङ्गधर तथा अन्य तंत्रकारों ने सर्वसर रोग का मुखपाक नाम से वर्णन किया है। वाग्भट और शार्ङ्गधर ने मुखपाक के पाँच प्रकार बतलाये हैं अर्थात् उन्होंने सन्निपातज मुखपाक एक अधिक माना है। आचार्य सुश्रुत ने वास्तव में तीन ही प्रकार का माना है—रक्तज का पित्तज में ही अंतर्भाव कर लेते हैं एवं वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होनेवाले तीन ही सर्वसर रोग माने हैं और सर्वसर का पर्याय नाम ही मुखपाक है ऐसा लिखा है।[1]

---

१. स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद्यस्याचितं सर्वसरः स वातात् । रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् । कण्डूयुतैरल्परुजैः सवर्णैर्यस्याचितं चापि स वै कफेन । रक्तेन पित्तोदित एक एव कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः । (सु०) न चत्वारः सर्वसराः किन्तु त्रय एव । (ड०)

'रक्तेन पित्तोदित एक एव' इस वाक्य से एक अर्थ यह भी हो सकता है कि मुखपाक रक्त और पित्त से उत्पन्न हुआ एक ही प्रकार का होता है। इस अवस्था में यह एकीय सूत्र है जिसका संग्रह आचार्य ने किया है। संभव है तत्कालीन शास्त्रकारों में मुखपाक के प्रकार—भेद में मत-भिन्नता रही हो और एक दल ऐसा रहा हो जो मुखपाक का एक ही प्रकार मानता रहा हो। अस्तु, उस मत का भी आचार्य ने अपनी संहिता में उल्लेख आवश्यक समझा है।

पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार इस विकार को 'स्टोमेटाइटिस' कहा जा सकता है। इसमें मुखगह्वरगत श्लेष्मलकला का शोफ होता है विशेषतः बच्चों में और कृत्रिम दूध पर जीनेवालों में अधिक देखने को मिलता है।

प्रकार—१. स्रावी पाक (Catarrhal)—यह अयुक्त भोजन, विबंध, विषमाग्नि, विषमाशन, औपसर्गिक ज्वरों की दुर्बलता और रोमान्तिका प्रभृति ज्वरों के काल में दिखलाई पड़ता है। वयस्कों में कृमिदन्तयुक्त खुरदरे दाँत, अत्यधिक धूम्रपान, ठीक न बैठने वाले कृत्रिम दन्त (Dentures), दुग्ध और भोजनगत क्षोभ प्रभृति कारण उत्तरदायी होते हैं। श्लेष्मलकला में रक्ताधिक्य और शोथयुक्त स्थान बन जाते, बाद में छाले पड़ते, ऊपरी भाग छिल जाता और व्रणोत्पत्ति हो जाती है। चिकित्सा में कारणों को दूर करना, सामान्य स्वास्थ्य का परिवर्द्धन, जीवाणुनाशक मुखप्रक्षालनों का गण्डूष (Mouth washes) का प्रयोग (जैसे 'लायकर थायमल को' या 'हाइड्रोजेन पेराक्साइड', 'लाइसाल' 'डेटाल' या 'सेवलान') करना चाहिये।

२. धूसरमुखपाक—(Aphthus)—यह अधिकतर बच्चों में मिथ्या अशन (Badfeeding) की वजह से होता है। देखने में छोटे श्वेत वर्ण के स्थान मुख में दिखलाई पड़ते हैं जो पश्चात् व्रणित एवं पीड़ा युक्त हो जाते है।

३. दुर्दम पाक (Due to thrush)—दुर्बल स्वास्थ्य के बड़ी आयु के व्यक्तियों में तथा बच्चों में यह प्रकार पाया जाता है। प्रत्यक्ष परीक्षा

से उपर्युक्त की भाँति ही दिखलाई पड़ते हैं। इसके उत्पादन में कारण-भूत एक छत्रकाणु (Fungus) माना जाता है जिसको अंग्रेजी में 'ओडियम् एल्बिकन्स' (Odium Albicans) कहते हैं। यह अधिकतर खट्टे दूध में मिलता है।

४. कर्दमपाक (Gangrenous)—यह एक प्रकार का प्रसारयुक्त निर्जीवाङ्गत्व है जो दो से पाँच वर्ष की आयु के बच्चों में विशेषतः मुख में होता है। खासकर उन बच्चों में ज्यादा होता है जो रोमान्तिका प्रभृति औपसर्गिक विस्फोटक ज्वरों से पीडित हो सुधार की ओर चलते रहते या दुर्बल हो गये रहते हैं।

मुख के भीतर एक शोफयुक्त स्थान उत्पन्न होता है और तीव्र गति से प्रसरित होना प्रारंभ कर देता है। प्रथम तो काला और निर्जीवाङ्गत्व से युक्त होता है पश्चात् बादामी रंग का (कपिल) और पूययुक्त (Pustulous) हो जाता है। श्वास से बदबू आती है, कपोल की दीवाल गलती और सड़ती चली जाती है, पश्चात् हनु भी प्रभावित हो जाती है। उच्च तापक्रम, विषमयता, पूयमयता, जीवाणुमयता (Septicaemia) आ जाती है। तीन से चार दिनों के भीतर मृत्यु हो जाती है। इस रोग में उत्तरदायित्व रक्त द्रावक मालागोलाणु (Streptococcus Haemoliticus) और 'विन्सेण्ट' तृणाणुओं का रहता है।

इस वर्णन की बहुत कुछ समता गले के असाध्य रोगों से विशेषतः 'विदारी' नामक रोग से है।

५. पारदजन्य मुखपाक (Murcurial ginginitis)—दन्तमांस शोथयुक्त एवं स्पर्शासह्य हो जाते हैं और तनिक दबाव पर ही उनसे रक्तस्राव होने लगता है। बहुत तीव्रावस्था में दाँत ढीले पड़ जाते, हिलने लगते और हन्वस्थि का भी कोथ शुरू हो जाता है। लालास्राव और मुख से बदबू आना भी शुरू हो जाता है। इस अवस्था की चिकित्सा करते हुए पारद-सेवन को बंद करना 'पोटेशियम क्लोरेट' या हल्के 'लवणाम्ल' से मुख धावन (Mouth wash) करना तथा लवण विरेचनों का (Mag sulph or soda sulph) प्रयोग लाभप्रद होता है।

६. फिरंगज (Syphilitic)—मुख की पूरी श्लेष्मलकला 'टान्सिल',

शुण्डी (Uvula), कोमल तालु, जिह्वा और कपोल के भीतरी भाग में श्वेतवर्ण श्लेष्मलव्रण (Muccous patches or shallow ulcers) हो जाते हैं।

इन कारणों के अतिरिक्त अन्य रोगों के (जैसे रोहिणी, विसर्प) उपद्रव रूप में मुखपाक हो जाता है।

चिकित्सा—सामान्य चिकित्सा—१. शिरावेध । २. शिरोविरेचन । ३. विरेचन । ४. मधु, मूत्र, घृत और क्षीर के द्वारा शीतल कवलग्रह । ५. जातीपत्र (चमेली), गुडूची, द्राक्षा, जवासा, रसौंत, त्रिफला इनके क्वाथ को शीतल करके मधु मिलाकर गण्डूष करना । ६. चमेली की पत्ती का नित्य पान के समान चर्वण ७. काला जीरा, कूठ और इन्द्रयव इनको मिलाकर चर्वण करने से मुखपाक से उत्पन्न व्रणों के क्लेद और दौर्गंध्य का नाश तीन दिनों के प्रयोग से ही हो जाता है। ८. पटोल, निम्ब, जामुन, आम और मालती इनके नये पत्तों से बने काढ़े से मुखधावन (Mouth wash) । ९. पंच पल्लवों में त्रिफला मिलाकर बने क्वाथ से प्रक्षालन । १०. दार्वी का क्वाथ बनाकर उसे गाढ़ा करके रसक्रिया के द्वारा बने घनसत्त्व का मधु मिलाकर प्रयोग करने से मुखरोग, रक्तविकार एवं नाडीदोष ठीक हो जाता है। ११. गूलर की छाल का काढ़ा या उदुम्बर-घनसत्त्व को पानी में घोलकर कवल धारण करना अपने ग्राही गुण के कारण मुख एवं गले के व्रणों का रोपण करता है। १२. चमेली की पत्ती के काढ़े से कुल्ली करना अपने क्षारीय गुणों (Caustic action) से मुखगत व्रणों में लाभप्रद होता है। १३. सहिजन की छाल का काढ़ा भी अपने व्रण-शोथनिरोधी (anti septic, antiphaugistic & decongestent) गुणों से मुखपाक में उत्तम कार्य करता है। इसका गण्डूष के रूप में या पीने के लिये भी प्रयोग करना चाहिये। १४. त्रिफला और रीठे का काढ़ा भी कुल्ली के लिये मुख एवं गले के रोगों में उत्तम कार्य करता है। १५. भेंड़ का दूध का लगाना भी मुखपाक में बड़ा उत्तम कार्य करता है। यह व्रणों का उत्तम रोपण करता है। १६. शुद्ध टंकण को मधु में मिलाकर मुखगत व्रणों में लेप करना भी उत्तम लाभ दिखलाता है।

१७. एलादि प्रतिसारण—छोटी इलायची, कबाबचीनी (शीतलमिर्च), कत्था और संग जराहत प्रत्येक समभाग में लेकर कपड़छन चूर्ण कर रख ले। मुँह के छालों में इसको कई बार लगाकर पानी से कुल्ली करना या निम्नलिखित जात्यादि कषाय से कुल्ली करना भी उत्तम रहता है। १८. जात्यादि कषाय-चमेली की पत्ती, अनार की पत्ती, बब्बूल की छाल, बेर की जड़ की छाल प्रत्येक ६-६ माशा लेकर जौकुट करके ६४ तोले पानी में पकावे आधा शेष रहने पर कपड़े से छानकर उसमें फिटकिरी १० रत्ती और शुद्ध सुहागा १० रत्ती मिलाकर कुल्ला करने में मुख, जिह्वा और गले के पकने या छाले में अच्छा लाभ होता है। मुखपाक में रोगियों में विबंध (क़ब्ज) प्रायः पाया जाता है अस्तु यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशा की मात्रा में देकर कोष्ठशुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिये। १९. सप्तच्छदादिकषाय—छतिवन, खस, पटोल, नागरमोथा, हर्रे, चिरायता, कुटकी, मुलैठी अमलताश एवं चंदनक्वाथ पीने से मुखपाक का रोपण होता है। २०. तिलादि गण्डूष—तिल, नीलोत्पल, घृत, शर्करा, क्षीर एवं लोध्र का बना क्वाथ गंडूष रूप में लेने से दग्ध (जले हुए मुँह के छाले) मुखपाक को ठीक करता है।

हरिद्रादितैल—हल्दी, निम्बपत्र, मुलैठी, नीलकमल—इनसे सिद्ध तैल का कवल या गण्डूष। यष्टीमध्वादितैल-मुलैठी १ पल, नीलोत्पल ३० पल, तैल १ प्रस्थ, दूध दो प्रस्थ-डालकर तैलपाक विधि से सिद्ध किये तैल का नस्यरूप में प्रयोग करना मुखपाक में हितकर है।

खदिरादिगुटिका—एक पाठ का वर्णन सामान्य मुखरोग की चिकित्सा में हो चुका है। यहाँ पर एक और योग का प्रसंग योगरत्नाकर से दिया जा रहा है—इसमें विशेषता यह है कि ताम्बूल का बीड़ा खाते हुए चूने के अधिक लग जाने से जो मुख में छाले पड़ जाते हैं ऐसे मुखपाक में इसका प्रयोग श्रेयस्कर है।[1] इसमें केवल तैल एवं कांजी को मिलाकर कुल्ली का विधान है।

---

१. ताम्बूलमध्यस्थितचूर्णकेन दग्धं मुखं यस्य भवेत्कथञ्चित्। तैलेन गण्डूषमसौ विदध्यादम्लारनालेन पुनः पुनर्वा। (यो० र०)

कत्था और उसके बराबर चमेली की पत्ती, कंकोल, कर्पूर और सुपारी को मिश्रित मात्रा में मिलाकर गोली बनाकर मुख में धारण करना और बार-बार कांजी से गण्डूष करना चाहिये ।

मुखपाक या सर्वसररोग में दोषविभेद से विशिष्ट चिकित्सा-आचार्य सुश्रुत ने लिखा है-कि *वातज* सर्वसररोग में सैंधवनमक के द्वारा प्रतिसारण करके वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ से सिद्ध तैल या घृत का कवल और नस्य लेना चाहिये । पश्चात् उसे स्नैहिक धूमपान कराना चाहिये ।[1] जैसे शाल, राजादन (खिरनी), एरण्ड, खदिर, इङ्गुदी (हिंगोट), महुआ, गुग्गुल, गंधतृण, जटामांसी, कालानुसारिवा, लवङ्ग, राल की गोंद, शैलेय और मोम-इन द्रव्यों में घृत या तैल मिला कर लुग्दी जैसे बनाकर मधु मिलाकर एक सोनापाठा का डंठल लेकर उसमें लपेट कर लम्बी सिगरेट जैसे बनाकर उसे एक ओर जलाकर धूमपान करे। यह स्नैहिक धूम है एवं कफ और वायु का शामक है। यदि पित्तज मुखपाक हुआ हो तो रोगी का रेचन कराके विशुद्ध काय हो जाने पर पित्तघ्न मधुर और शीतल उपचारों को करना चाहिये। मधुरादिगण की ओषधियों से प्रतिसारण, गण्डूष, धूम तथा संशोधन करना चाहिये ।[2]

कफात्मक सर्वसर में कफघ्न विधियों का अनुष्ठान करना चाहिये । अतिविषादियोग-अतीस, पाठा, मोथा, देवदारु, कुटकी, इन्द्रजौ, गोमूत्र के साथ एक धरण सेवन करने से (सुश्रुत-मात्रा के अनुसार चौबीस रत्ती- डल्हण) कफकृत रोग नष्ट होते हैं। इसी योग से सिद्ध गण्डूष, तैल, शोधन और कवल तथा नस्य प्रभृति कर्मों को भी करना चाहिये ।[3]

---

१. वातात्सर्वसरं चूर्णैर्लवणैः प्रतिसारयेत् । हितं वातहरैः सिद्धं तैलं कवलनस्ययोः । ततोऽस्मै स्नैहिकं धूममिमं दद्याद्विचक्षणः ॥

२. पित्तात्मके सर्वसरे शुद्धकायस्य देहिनः । सर्वपित्तहरः कार्यः विधिर्मधुरशीतलम् ।

३. कफात्मके सर्वसरे विधिं कुर्यात्कफापहम् ।

शालाक्यतन्त्र
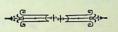
कर्णरोगाध्याय

(Affections of the Ear)

१

कर्ण-रोग

(Affections of the Ear)

व्याख्या—कर्णरोग का अर्थ होता है कान में होने वाले रोग। व्यवहार में कान से बाह्य कर्ण या कर्णपाली का ही ग्रहण होता है, परन्तु इसकी शास्त्रीय व्याख्या है 'कर्णशष्कुल्यवछिन्नमदृष्टोपगृहीतं श्रोत्रमुच्यते' (मधुकोष) अर्थात् शष्कुली से युक्त (अप्रत्यक्ष) अदृष्टज्ञेय श्रोत्र कहलाता है। इसका मतलब यह है कि शास्त्र में इन्द्रिय को सूक्ष्म मानते हैं उसका प्रत्यक्ष (चर्मचक्षु) से नहीं होता। जो कुछ हमें देखने को मिलता है वह इन्द्रियाधिष्ठान है। फलतः कर्णेन्द्रिय या श्रोत्रेन्द्रिय अदृष्ट है एवं जो दृष्ट है वह कर्णेन्द्रियाधिष्ठान है। जैसे कृत्रिम विद्युत् में जहाँ उसका उत्पादन होता है जिस मार्ग से तारों के जरिये लाई जाती है अथवा जिस स्थानविशेष पर उसका कार्य होता है सभी देखा जा सकता है, परन्तु वे सभी पदार्थ विद्युत् के अधिष्ठानमात्र हैं उसके शक्तिविशेष को आँख से नहीं देख सकते। ठीक इसी प्रकार इन्द्रिय के सूक्ष्मत्व या अतीन्द्रियत्व की कल्पना प्राचीनों ने की है।

अब यहाँ प्रश्न स्वाभाविक है फिर कर्णरोगों में इन्द्रियाधिष्ठान की विकृति का वर्णन होगा या श्रोत्रेन्द्रिय का इसका उत्तर यह है कि यहाँ पर दोनों का वर्णन अभीष्ट है। इसके बाद दूसरी शंका यह हो सकती है कि इन्द्रियाधिष्ठान तो बहुत बड़ा और गूढ़ रचना का है, इसके विभिन्न अवयवों या भागों में विकृति हो सकती है तो उनका स्वतन्त्र स्वतन्त्र उल्लेख क्यों नहीं किया गया। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उसमें रोग एकदेशगत होता है फिर भी अवयव में समुदाय का उपचार

करके कर्ण का अर्थ ग्रहण किया गया है या[1] निर्देश किया जाता है।

कर्ण-शारीर—प्राचीन ग्रन्थों में कर्ण की रचना का उतना विशद वर्णन नहीं पाया जाता जितना कि आधुनिक युग की शरीर रचना की पुस्तकों में प्राप्त होता है। संभव है उन ग्रन्थकारों को दोषविभेद करके चिकित्सा करते हुए उस अङ्ग की आंतरिक रचनाओं के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती हो अथवा निदान और चिकित्सा की दृष्टि से कुछ सीमित रोगों और कुछ सीमित उपचारों के विधान से ही काम चल जाता हो। फिर भी अति संक्षेप में कान की रचना के सम्बन्ध में कुछ मोटी बातों का जानना आवश्यक है। क्योंकि अधिष्ठानभेद से या एकदेशगत विकृति का आधुनिक दृष्टि से समन्वय करते हुए उसका प्राग् ज्ञान का हो जाना उचित ही है। विशेष वर्णन के लिये तो शरीररचना-सम्बन्धी किसी पुस्तक की ही शरण लेनी पड़ेगी। प्रस्तुत निबन्ध में जितना नितान्त ज्ञातव्य है उतना ही कहा जायगा।

कर्णेन्द्रियाधिष्ठान को आधुनिक युग के ग्रन्थों में तीन भागों में विभाजित करके वर्णन किया जाता है। १. बाह्यकर्ण २. मध्यकर्ण और ३. अन्तःकर्ण।

(१) बाह्यकर्ण—में दो भाग हैं। एक वह जो सीपी की तरह होता है उसमें कई उभार और दबाव होते हैं। यह भाग कड़ा होता है और तरुणास्थि (कार्टिलेज) का बना होता है यह बाहर से रहता है दूसरी तरफ से त्रिकोणाकार कड़ा भाग रहता है। इसमें बाहरवाले भाग की कर्णशष्कुली, त्रिकोणाकार हिस्से को पुत्रिका और कर्णशष्कुली के नीचे-वाले भाग को जो मुलायम होता है, सौत्रिक धातु और मेद का बना होता है कर्णपाली संज्ञा प्राचीन ग्रन्थों में दी गई है। बाह्यकर्ण का दूसरा भाग कान की तली है जिसको कर्णकुहर या श्रुतिपथ कहते हैं यह लम्बाई में सवा इञ्च की होती है, और टेढ़े-मेढ़े घूमकर पटह

१. तत्र यद्यप्येकदेशगतो रोगस्तथाप्यवयवेऽपि समुदायोपचारतः कर्णव्यपदेशः।

(Drum) तक पहुँचती है। यह पटह बाहरी तथा मध्य कान के बीच में होता है। इसके पश्चात् मध्यकर्ण शुरू हो जाता है।

(२) *मध्यकर्ण*—यह एक प्रकार की कोठरी है जो बाहर की ओर चौड़ी और भीतर की ओर सँकरी है। यह कोठरी कनपटी की हड्डियों के भीतर रहती है। इसमें से एक नली जिसे श्रुति सुरंगा (Eustrachian tube) कहते हैं गले की ओर जाती और गले से कर्ण गुहा को संयुक्त करती है। इसके द्वारा बाह्य वायुमण्डल तथा मध्यकर्णगत वायुमण्डल के भार का सामञ्जस्य ठीक बना रहता है। मध्यकर्ण में तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ होती हैं जो पटह से लेकर मध्यकर्ण की भीतरी दीवाल तक फैली रहती हैं। ये आपस में बंधनों द्वारा बँधी रहती हैं इनमें घूमने और हिलने वाली संधियाँ होती हैं। पटह के पासवाली हड्डी को मुद्गर (Hammer) बीचवाली को निहाई (Anvil) एवं तीसरी जो भीतरी कान के समीप होती है उसे रकाब (Stirrup) कहते हैं। इन हड्डियों के नाम उनकी बनावट के अनुसार ही हैं। इनके द्वारा पटह तक आई हुई वाचिक लहरियाँ अन्तःकर्ण तक पहुँचती हैं।

(३) *अन्तःकर्ण*—इसकी बनावट बड़ी जटिल है। इसकी जटिलता के कारण इसे घूमघुमैया (Labryinth) भी कहा जा सकता है। इसकी दीवालें शंखास्थि से बनती हैं। अस्थिकृत अन्तःकर्ण के भीतर का भाग झिल्ली से बना रहता है। अस्थिकृत नलियों के भीतर भी झिल्लियाँ रहती हैं। अस्थिकृत कर्णगुहा में झिल्ली के कोष्ठ रहते हैं। अस्थिकृत श्रुतिशंबूक में झिल्ली की कोकिला रहती है। अस्थि का आवरण उसके भीतर की रचना की रक्षा करता है। इस प्रकार अस्थिकला के बीच में एक प्रकार का द्रव (Perilymph) और कलामय कान्तार के भीतर भी एक जलीय रस (Endolymph) भरा रहता है। झिल्ली की जड़ में संवेदना ले जानेवाली नाड़ियों के छोर होते हैं।

ध्वनि की लहरें कान में पहुँचती हैं तो बाहरी कान उनको संग्रह करके श्रुतिपथ के द्वारा बढ़ाते हुए कर्णपटह तक पहुँचा देता है। वहाँ पर पहुँचकर पटह में वे पुनः स्पन्दन पैदा करती हैं। जैसा कि

ऊपर कहा जा चुका है, पटह बाहरी कान और मध्य कान के बीच होता है। इस पटह से मुद्गर जुड़ा हुआ रहता है। इसके द्वारा पटह का स्पन्दन निहाई तक पहुँचता है। यही स्पन्दन पीछे रकाब के द्वारा जो एक ओर निहाई से और दूसरी ओर भीतरी कान से जुड़ा रहता है, भीतरी कान तक पहुँचता है। यहाँ पहुँचने पर यह स्पन्दन भीतरी कान की झिल्ली में स्थित छोटे-छोटे बालों की कोठरियों को उत्तेजित करता है। इन बालों के उत्तेजित होने पर ध्वनि ग्रहण करने-वाली नाड़ियाँ उत्तेजित होती हैं और वे ध्वनि संवेदना को मस्तिष्क तक ले जाती हैं। मस्तिष्क में ध्वनिज्ञान को उत्पन्न करनेवाले क्षेत्र में पहुँच कर यह उत्तेजना ध्वनिज्ञान में परिणत हो जाती है।

अर्द्ध चन्द्राकार नलिकायें (Semicircular canals)—ये अन्तःकर्ण से सम्बद्ध हैं इनका उपयोग शरीर की हलचल और उसकी समता या संतुलन रखने में है। श्रवण कार्य में इनका कोई उपयोग नहीं है, इनके अधिक उत्तेजित होने पर चक्कर आने लगता है।

—०—

२

कान में होनेवाले रोग, उनकी संख्या एवं प्रकार

कर्णशारीर में पूरे इन्द्रियाधिष्ठान को तीन देशों में बाँट दिया गया है फलतः उनके विकार भी तीन हिस्सों में विभाजित किये जा सकते हैं जैसे—

बाह्यकर्ण में—१. सहज विकार (Congenital Abnormalities)—जन्म से ही शष्कुली (Pinna) का अथवा पालि का अभाव या श्रुतिपथ के छिद्र का बन्द हो जाना या कान का बहुत बड़ा हो जाना या छोटा हो जाना या कर्णशष्कुली के ऊपर कुछ 'कार्टिलेज' और मेद के संचय से एक और कान का हो जाना। ये सब ऐसे विकार हैं जिनके सुधार का कोई सरल उपचार नहीं है। वाग्भटोक्त

'कर्णपिप्पली' नामक विकार इसी कोटि का है। वाग्भटोक्त 'कूचिकर्णक' भी ऐसा ही एक विकार है।

२. कर्णरक्तजग्रन्थि (Heamatoma Auris)—यह रोग अभिघातजन्य होता है अधिक मल्लयुद्ध करनेवालों या कुश्ती लड़नेवालों में पाया जाता है। इस विकार में कर्ण लाल और शोफयुक्त हो जाता है। जब तक वेध करके उसका दोष न निकाल दिया जाय, पेशियों के संकोच के कारण बीभत्सता (Deformity) बनी रहती है। दोषावसेचन से प्रकृतावस्था आ जाती है। इसी रोग को वाग्भट ने 'परिपोटक' बतलाया है। इसी से मिलते-जुलते रोग 'उन्मथ' और 'दुःखवर्धन' भी हैं।

३. विचर्चिका या रकसा—कर्णशष्कुली और पाली रकसा और विचर्चिका (Fczema) का एक सामान्य स्थान है। आमतौर से नये या पुराने त्वक् रोग यहाँ पर होते रहते हैं। इनकी चिकित्सा में संशामक योग प्रयुक्त होते हैं।

४. बाह्याभिघात जन्य कर्णशष्कुली या कर्णपालि का छिन्न हो जाना (Traumatic affection of the Ear)।

उपर्युक्त चारों प्रकार की विकृतियों में शलाकाप्रवेश की या कर्णदर्शक (Auroscope) यन्त्र से परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती अस्तु, सुश्रुतसंहिताकार को इन विकृतियों को शालाक्यतन्त्रान्तर्गत विषयों में सम्मिलित करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। उन्होंने शल्यतन्त्र में ही इनका समावेश कर लिया है और एक स्वतन्त्र अध्याय जिसमें कर्णवेधसंस्कार तथा कर्ण के आघातजन्य, या पालि के बढ़ते हुए उसकी द्विधा छेदजन्यविकृतियों का उपचार बतलाते हुए (Accidental & Traumatic injuries) प्रसंगवश कर्णपालि के विविध आमयों (रोगों) का वर्णन और उनकी चिकित्सा लिखी है[1]। एक दूसरा कारण भी उपर्युक्त रोगों का शालाक्य में वर्णन नहीं करने का है

१. लेखक की 'सौश्रुती' का संधानकर्मीयाध्याय देखें। सु. सूत्र. 'कर्णव्यधबन्धविधि' अध्याय भी देखें।

वह यह है कि कुछ त्वग्रोगों (विचर्चिका, रकसा आदि) को छोड़ कर बाह्यकर्ण के उन रोगों में सन्धानकर्म (Plastic surgery) की आवश्यकता पड़ती है और यह सन्धान कर्म का विषय शल्याङ्ग से अधिक सम्बन्धित है। अस्तु, शल्यान्तर्गत सन्धान कर्मीयाध्याय में ही उसका वर्णन संगत रहा। इसी लिये सुश्रुताचार्यने अपने शालाक्य-विषय के अन्तर्गत उत्तरतन्त्र में कर्णगत रोगों के पाठ में ऐसे रोगों का वर्णन नहीं आने दिया जिसका परवर्त्ती आचार्यों (वाग्भट) ने अपने कर्णरोग के संग्रह में वर्णन किया है। उदाहरण के लिये कर्ण-पिप्पली[1], विदारिका[2], पालिशोष[3], तन्त्रिका[4], परिपोट[5], उत्पात[6], उन्मन्थ या गल्लिर[7], दुःखवर्धन[8], लेहिका या परिलेही[9]। इनमें कर्ण-

---

१. एको नीरुगनेको वा गर्भे मांसाङ्कुरः स्थिरः। पिप्पली पिप्पलीमानः।

२. सन्निपाताद्विदारिकाः। सवर्णाः सरुजः स्तब्धः श्वयथुः स उपेक्षितः। कटुतैलनिभं पक्वः स्रवेत् कृच्छ्रेण रोहति। संकोचयति रूढाश्च सा ध्रुवं कर्णशष्कुलीम्॥

३. शिरास्थः कुरुते वायुः पालिशोषं तदाह्वयम्।

४. कृशा दृढा च तन्त्रीवत् पाली वाते च तन्त्रिका।

५. सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्ट सहसातिप्रवर्द्धिते।
कर्णशोथो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान्॥
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात्परिपोटकः।

६. गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद् घर्षणादपि।
शोथः पाल्यां भवेत् श्यावो दाहपाकरुजान्वितः॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यां उत्पातः स गदो मतः।

७. कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति।
कफं संगृह्य कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम्॥
उन्मथकः सकण्डूकः विकारः कफवातजः।

८. संवर्द्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डूपाकरुजान्वितः।
शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्धनः॥

९. कफासृक्क्रिमयः क्रुद्धाः सर्षपाभा विसर्पिणः।
कुर्वन्ति पाल्यां पिडकाः कण्डूपाकरुजान्विताः॥

पिप्पली और कूचिकर्णक[1] सहज विकार की श्रेणी में, विदारिका शष्कुली की शोफ की श्रेणी में एवं पालि के रोगों में पालिशोष और तन्त्रिका अपक्रान्ति (Degenerative change) तथा परिपोट, उत्पात, उन्मन्थ, दुखःवर्धन पालि के शोफसम्बन्धी विकारों में (Heamatoma Auris) साथ ही परिलेही विचर्चिका (Eezema) के प्रकारों में आ जाता है। इनकी चिकित्सा सामान्य शल्यतन्त्रान्तर्गत रोगों की भाँति होगी। फलतः सुश्रुत ने कर्णरोगों में जो शालाक्य के वर्ग में आते हैं इन रोगों का उल्लेख ही नहीं किया।

परन्तु इसके अतिरिक्त श्रुतिपथ में होने वाले बाह्य कर्ण के रोगों का अथवा मध्य या अन्तस्थ कर्ण विकृतियों का अपनी परिभाषा, दोषभेद और व्याधि भेद से उल्लेख किया है।

५. कर्ण शल्य (Foreign body)—ऋर्ण कृमि, धान्य प्रभृति विजातीय द्रव्यों का प्रवेश हो जाना।

६. कर्ण के भीतर (Furnculosis) फुन्सी या फोड़े का होना।

७. कर्ण के भीतर मैल (Ceruman) गूथ का इकट्ठा होना।

८. कर्ण के भीतर छोटे छोटे अर्बुद या मस्सों का निकलना।

ऊपर कहे चार प्रकार के विकार कर्ण के भीतर प्रायः होते हैं जिनका विस्तार से वर्णन आगे होगा। *मध्यकर्ण* में शोफ सम्बन्धी विकार तीव्र या जीर्ण (Acute or chronic Inflammation of the middle Ear) रूप के होते हैं इनके कारण पूयस्राव या बाधिर्य प्रभृति लक्षण हो सकते हैं। *अन्तःकर्ण* के विकारों में शोथजन्य विकृतियाँ (Labrynthitis) पाकजन्य विकृतियाँ, इन्द्रियविकार बाधिर्य (Ostosclerosis) भ्रम (Vertigo) प्रभृति होते रहते हैं।

कफासृक्क्रिमिसम्भूतः सविसर्पन्नितस्ततः।
लिहेत् सशष्कुलीं पालिं परिलेहीति स स्मृतः॥

१. गर्भेऽनिलात्संकुचिता शष्कुली कूचिकर्णकः।

संहिता ग्रन्थों में संख्या और प्रकार की दृष्टि से चरक में चार (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक एवं सान्निपातिक) भेद बतलाये गये हैं।[1] सुश्रुत संहिता ने कुल संख्या कर्णरोगों की अट्ठाइस बतलाई है। इसी मत का समर्थन प्रायः सभी परवर्त्ती ग्रन्थकार जैसे भावप्रकाश, गद-निग्रह, योगरत्नाकर और आयुर्वेदविज्ञान के रचयिता करते हैं। वाग्भट ने कुल मिलाकर पच्चीस कर्णरोग गिनाया है। क्ष्वेड, स्राव, और गूथ को इन्होंने अलग नहीं लिखा। तथा अर्श, शोथ और अर्बुद के भेदों को अलग-अलग करके नहीं लिखा। कर्णपाली के रोगों को जिन्हें अन्य आचार्यों ने अन्यत्र दिया है इसी में शामिल कर लिया है। आचार्य वाग्भट ने कर्णपिप्पली, त्रिदोषात्मक शूल और कूचिकर्णक को असाध्य तथा पालि रोगों में तन्त्रिका को याप्य माना है।

यहाँ पर सुश्रुतोक्त अट्ठाइस रोगों का वर्णन ही अभीष्ट है[2]। उनके रोगों के नाम, स्थान भेद से कान के किस भाग में होता है, यह और उनके अंग्रेजी पर्यायों का नामोल्लेख किया जा रहा है, साथ में दोष भेदों का भी वर्णन दिया जा रहा है।

---

१. कर्णशूलो कर्णनादः बाधिर्यं क्ष्वेड एव च।
कर्णस्रावः कर्णकण्डूः कर्णगूथस्तथैव च ॥
प्रतिनाहो जन्तुकर्णो विद्रधिर्विविधास्तथा।
कर्णपाकः पूतिकर्णः तथैवार्शश्चतुर्विधम् ॥
तथार्बुदः सप्तविधः शोफश्चापि चतुर्विधः।
एते कर्णगता रोगाः अष्टाविंशतिरीरिताः।

२. नादोतिरुक् कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात्।
शोथः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात्।
वैश्रुत्यकण्डुस्थिरशोफशुक्लस्निग्धस्रुतिः स्वल्परुजः कफाच्च।
सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः। च. चि.

रोग	अधिष्ठान भेद	दोष प्राबल्य	अंग्रेजी पर्याय
कर्ण कण्डू	बाह्य कर्ण	वात कफ	Itching sensation in the Ear
कर्ण गूथ	,,	पित्त कफ	Wax in the Ear
कृमि कर्ण	,,	त्रिदोषज	Worms in the Ear
कर्ण विद्रधि	,,	वा.पि.श्ले.सन्नि.क्ष.अ.	Furnculosis in the Ear or Herpes in Ext. Ear
कर्णार्श	,,	वा. पि. श्ले. त्रि.	Polypus in the Ear
कर्णार्बुद	,,	वा. पि. श्ले. त्रि. र.	Hard tumour in Auditory Meatus
कर्ण स्राव	मध्य कर्ण		Otorrhoea
प्रतिनाह	,,	त्रिदोषज	Obstruction of Eustrachian Tube
कर्ण पाक	,,	पित्त	Suppuration in the Ear
पूति कर्ण	,,	,,	Foetid discharge from the Ear
प्रणाद या कर्णनाद	मध्य तथा अन्तःकर्ण	वात	Tinitus
कर्णक्ष्वेड	अन्तः कर्ण	वात एवं पित्त	Labrynthitis
बाधिर्य	मध्य तथा अन्तःकर्ण	वात	Deafness
कर्ण शोथ	बाह्य मध्य तथा अतः-कर्ण	वा. पि. श्ले. आगन्तुक	Inflammatory Condition of the Ear
कर्ण शूल	बाह्य तथा मध्य	सुश्रुतानुसार केवल वायु अन्यों के अनुसार. वा. पि. श्ले. त्रि. र.	Earache
कुल चरक ने ४	सुश्रुत ने २८	वाग्भट ने २५	कर्ण रोग बतलाया है।

३

कर्णरोगों के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति

अवश्याय (ओस) का अधिक सेवन, जल में क्रीड़ा करना, कान के खुजलाने प्रभृति कारणों से कर्णगत वायु कुपित होती है। इसी प्रकार शस्त्र के मिथ्या या अन्यथा प्रयोग होने से (कर्णशलाका का ठीक प्रयोग न कर पाने से) वायु कुपित होकर कान की शिराओं को प्राप्त कर कर्णस्रोत (श्रुतिपथ) में वेग के साथ शूल पैदा करता है। वे ही कर्णगत रोग कहलाते हैं और उनकी कुल संख्या अट्ठाइस होती है।[1]

प्राचीन दृष्टि से यह एक सामान्य हेतु और सम्प्राप्ति कर्णगत रोगों की है। कान में अनेक प्रकार के रोग होते हैं उनमें प्रत्येक के अपने विशिष्ट हेतु बतलाये जाते हैं फिर भी कुछ ऐसे साधारण कारण जरूर हैं जिनसे कर्णरोगों को उत्तेजना मिलती है। प्रत्येक रोग के सम्बन्ध में निदान या आदि कारण दो प्रकार के होते हैं–विप्रकृष्ट (Predisposing) तथा सन्निकृष्ट (Direct), विप्रकृष्ट कारणों में प्रायः सभी विकारों में सामान्यता होती है जैसे—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध, एवं काल की संप्राप्ति। दूसरे वर्ग या सन्निकृष्ट हेतुओं के वर्ग में कर्णरोगोक्त हेतु, अवश्यायसेवन, जल-क्रीडा, कर्णकण्डु, शस्त्र का मिथ्या प्रयोग प्रभृति कारण आते हैं। इन कारणों की व्याख्या इस प्रकार की हो सकती है—१. अवश्याय या ओस में अधिक रहने से प्रतिश्याय का होना सम्भव है जिससे नासाग्रसनिका, कण्ठशालूक प्रभृति रोगों का

---

१. अवश्यायजलक्रीडाकर्णकण्डूयनैर्मरुत्।
मिथ्यायोगेन शस्त्रस्य कुपितोऽन्यैश्च कोपनैः॥
प्राप्य श्रोत्रशिराः कुर्यात् शूलं स्रोतसि वेगवान्।
ते वै कर्णगता रोगाः अष्टाविंशतिरीरिताः॥

शोथ हो जाना सम्भव है। नासाग्रसनिका (Nasopharynx) से उपसर्ग का प्रसार मध्य कर्ण तक श्रुति सुरङ्गा (Eustrachian tube) के द्वारा पहुँच जाता है। वहाँ पर उपसर्ग के पहुँचते ही मध्यकर्णशोथ प्रारम्भ हो जाता है, जिसके द्वारा कर्ण के नाना प्रकार के रोग (कर्णस्राव, पूतिकर्ण) हो सकते हैं। अस्तु, अवश्यायसेवन कर्णरोगों के उत्पादन में एक महत्त्व का कारण हुआ। Inflammation of middle ear is extremely common and due in practically all cases to extension of injection from the Nasopharynx through the Eustrachian tube. अर्थात् मध्यकर्णशोथ अधिकतर नासाग्रसनिका शोथ के उपसर्ग से जो श्रुति सुरङ्गा के द्वारा फैलता है, पाया जाता है।

२. जल क्रीडा—लापरवाही से स्नान करते हुए कई बार कान के छिद्र से पानी श्रुतिपथ (बाह्य) में चला जाता है और वहाँ पड़े हुए मैल (Wax) को तरकर फुला देता है जिससे बाह्य छिद्र बन्द हो जाता है जिससे चक्कर आना, छर्दि, कर्णनाद, शूल प्रभृति कई प्रकार के कर्णरोग हो जाया करते हैं। अस्तु, कर्णरोगों के सामान्य हेतु में जलक्रीडा का कथन भी युक्तियुक्त है। जलक्रीडा का एक और दोष है—बार-बार डुबकी लगाने से अचानक कान के पर्दे पर वायु का भार पड़ता है जिससे पर्दा फटने का भय रहता है। Plugs of Wax often collect in the ear causing deafness which may be become worse after bathing as the result of the moistened wax swelling up and occluding the meatus. Gddiness Vomiting and noises in the ear are symptoms resulting from pressure of wax on the Tympanic membrane. अर्थात् कान में मैल इकट्ठी होकर बहरापन पैदा करती है। जब आदमी पानी में डुबकी लगाकर नहाता है तो इसकी हालत और बदतर हो जाती है। वह मैल पानी खींचकर फूलती है एवं बाह्य स्रोत को भर देती है। कान के पर्दे पर इस मैल का दबाव पड़ने से चक्कर, कै और कान में आवाज का होना ऐसे लक्षण रोगी में उत्पन्न हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त जल के दूषित होने से भी जीवाणुओं का संवहन होकर कान तक उपसर्ग पहुँच कर शोथ, कण्डु प्रभृति लक्षण हो सकते हैं। लकड़ी, सींक, तृण से कान खुजलाने में क्षत हो जाता है एवं उनके दूषित होने से पूय जनक जीवाणुओं का उपसर्ग कान में पहुँच कर कान में विकार पैदा होते हैं।

३. कर्णकण्डूयन (कान खुजलाने की आदत) या शस्त्र के मिथ्या प्रयोग (मैल निकालते हुए शलाका या तालयन्त्र का प्रयोग करते हुए) अथवा शस्त्र के अभिघात से भी कई प्रकार के कर्णरोग हो सकते हैं। इनमें सर्व प्रथम विकृति का हेतु अविशोधित यन्त्र (Un sterilized) का प्रयोग, ऐसे यन्त्रों के (Un sterilized) प्रयोग से कई प्रकार के पूयजनक जीवाणुओं का श्रुतिपथ में प्रवेश हो जाता है। द्वितीय कारण अभिघात (Violence) है। ये अभिघात भी दो प्रकार के हो सकते हैं प्रत्यक्ष—सीधे (Direct) तथा अप्रत्यक्ष (Indirect)। पहले में विजातीय द्रव्यों का कर्णकुहर में प्रवेश अथवा उनको हटाने निकालने के लिये गल्ती ढंग से कोशिशें (Unskillfull attempt at their removal is responsible) जबाबदेह होती हैं। अप्रत्यक्ष अभिघात का फल हठात् वायु का श्रुतिपथ में दबाव बढ़ जाना होता है। जैसे—कान पर तेज चोट का लगना, बन्दूक या तोप का उच्चशब्द या विस्फोट सुनाई पड़ना अथवा जलक्रीडा करते डुबकी मारना—इन कारणों से कर्णपटह का विदीर्ण होना सम्भव है। ऐसी दशा में (कान के पर्दे के फटने में) कर्ण में पीडा, बाधिर्य, कर्ण से रुधिर का स्राव होना सम्भव है। कर्णपटह का विदारण कपालास्थियों के अभिघात में होता है। अस्तु, कणकण्डूयन, अभिघात, शस्त्र का मिथ्या प्रयोग प्रभृति कारण निम्न प्रकार से विभिन्न प्रकार के कर्ण रोगों के उत्पादन में सहायभूत होते हैं—

Rupture of Tympanic membrne may be due to direct or indirect violence. In the former case, introduction of foreign bodies or unskillfull attempts at their removal is responsible. Indirect violence acts by sudden

Compression of air in the meatus e. q. from a blow on the ear heavy gun explosion or in diving. Fracture of the middle fossa of the skull are frequently associated with rupture of the Tympanic membrane.

कर्णरोगों में सामान्य चिकित्साक्रम—सामान्यतया सभी कर्णरोगों में घृतपान अव्यायाम (कसरत न करना) अशिरस्क स्नान और अधिक न बोलना तथा ब्रह्मचर्य से रहना रसायन है[1] ।

(१) *घृतपान*—प्रायः सभी प्रकार के कर्णरोगों में घृतपान रसायन माना जाता है । घृत में गोघृत हो तो श्रेष्ठ है । घृत को गर्म दूध में डाल कर पीना चाहिये । मात्रा-गोघृत २ तोला गाय का दूध १ पाव ।

कर्णरोग नाशक घृत—केमुक कन्द, अङ्कोल (ढेरे का फल), अदरख का रस, जटामांसी, सहिजन, इन्द्रजौ, देवदारु, बाँस की छाल, लहसुन, हींग, सैन्धव, सोंठ, मिर्च, पीपल प्रत्येक का एक-एक तोला लेकर पीस कर पाव भर पानी में कल्क बना कर तीन पाव तेल या घृत लेकर कल्क डाल कर गोमूत्र, बकरी का मूत्रादि आठ प्रकार के मूत्रों का डेढ़ डेढ़ पाव लेकर तैल या घृतसिद्ध करे । इससे तैल या घृत सिद्ध करे । इस तैल या घृत को कुनकुना कान में डाला करे, इससे समस्त कर्ण रोग नष्ट होते हैं । इसका पिलाने में उपयोग हो सकता है ।

(२) *सिर में तैल का अभ्यंग*—अधिकतर बला तैल का सिंचन, तेल में रुई को भिगो कर सिर पर रखना अथवा अभ्यंग करना प्रशस्त है ।

(३) स्वेदन *तथा कर्ण पूरण*[2] (Eardrops or Injection)—

१. सामान्यं कर्णरोगेषु घृतपानं रसायनम् ।
अव्यायामोऽशिरःस्नानं ब्रह्मचर्यमकत्थनम् (भाषणम्) । (सु. चि.)

२. स्वेदयेत्कर्णदेशं तु किंचिन्नु पार्श्वशायिनः ।
मूत्रैः स्नेहैः रसैः कोष्णैस्तैश्च श्रोत्रं प्रपूरयेत् ॥
कर्णं च पूरितं रक्षेच्छतं पञ्च शतानि च ।
सहस्रं वापि मात्राणां श्रोत्रकण्ठशिरोगदे ॥

गोमूत्र, औषधसिद्ध घृत या तैल का कोष्ण (गुना गुना) कान में डालना पूरण कहलाता है। इन तैलों के पूरण के अनन्तर स्वेदन भी किया जाता है। यह पूरण या स्वेदन की क्रिया रोगी को किसी एक पार्श्व पर लेटा कर की जाती है। कितनी देर तक कान में डाली हुई द्रवौषधियों को रखना चाहिये उसका विधान इस प्रकार का है कि कान में दवा को छोड़कर सौ या पाँच सौ मात्रा तक रखना चाहिये। यदि कान का रोग बड़ा प्रबल हो अथवा कण्ठ एवं सिर में भी रोग हो तो सहस्र मात्रा तक भी धारण किया जा सकता है। मात्रा की परिभाषा यह है कि अपनी जानु (घुटने) के चारों ओर हाथ को घुमा कर चुटकी बजाने में जितना समय लगे, वह एक मात्रा हुई। उसी के हिसाब से पाँच सौ मात्रा या हजार मात्रा तक तैल को पूरण करके धारण करता रहे। एक मात्रा का समय घड़ी के हिसाब से सम्भवतः १० मिनट का होना चाहिये। इस हिसाब से ५०० से १००० की मात्रा में सवा घंटे से ढाई घंटे का समय होता है।

कान में स्वरसादि का पूरण करना हो तो भोजन के पहले ही करे। तैल इत्यादि से पूरण करना हो तो सूर्यास्त के पश्चात् अर्थात् रात्रि में करना चाहिये।

कर्ण पूरण में प्रयुक्त होने वाले पाश्चात्य चिकित्सा में बहुत से योग हैं उनकी कुछ बूँदे कान में डाल कर रूई से बाह्यछिद्र को बन्द कर देते हैं। पूरण के पूर्व कान की शुद्धि कर ली जाती है और कान को साफ कर लेने के पश्चात् दवा डालते हैं। ये योग अधिकतर रासायनिक द्रव्यों 'स्प्रिट' या परिस्रुत सलिल में बनाये घोल रहते हैं। इनका पाठ विविध रोगों के प्रसंग में दिया जायगा।

कर्णरोगों में सामान्य व्यवहृत होने वाले योग—तैल १. हिंग्वादिक्षार

स्वजानुनः करावर्त्तं कुर्यात् त्रोटिकया युतम्।
एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवं विनिश्चयः॥
रसाद्यैः पूरणं कर्णे भोजनात्प्राक् प्रशस्यते।
तैलाद्यैः पूरणं कर्णे भास्करेऽस्तमुपागते॥ (यो. र.)

तैलहींग, देवदारु, मिसि, मूलक भस्म, भूर्जपत्रत्वक्, क्षार, सेंधा नमक, रुचक लवण, उद्भिद लवण, सहिजन, सोंठ, सज्जीखार, विड्लवण, वच, अंजन (रसोंत), बिजौरा नीबू, केले का रस और मधुसूक्त से विपक्व प्रसिद्ध हिंग्वादिक्षार तैल होता है। यह सभी प्रकार के कर्णरोगों को दूर करने वाला है विशेषतः मनुष्यों के कर्णनाद तथा बाधिर्य में हितकर होता है। वातिक शूलों में कर्णशूल, भ्रूशूल, मस्तकशूल, शष्कुल्यन्तरालशूल में शूल को दूर करने वाला माना जाकर चरक तथा सुश्रुत दोनों के द्वारा प्रशंसित है।

इसमें मधुसूक्त जो बनता है उसके बनाने का विधान इस प्रकार है। जम्बीरी (बिजौरा नीबू) का रस एक प्रस्थ, माक्षिक (मधु) एक कुडव, और पिप्पली एक पल की मात्रा में लेकर घी के वर्तन में एकत्र मिलाकर धान्यराशि (नाज की ढेरी) में रख देते हैं। एक मास तक संधान करके पड़े रहने देते हैं। इस रस को मधुसूक्त कहते हैं। इसी का प्रक्षेप तैलपाक के प्रयोग में आता है।

कुष्ठादि तैल—कडुवा कूट, सोंठ, बच, हींग, सौंफ, सहिजन के बीज अथवा छाल और सेंधा नमक एक-एक तोला लेकर कल्क बना डेढ़ पाव तेल में कल्क के साथ डेढ़ पाव पानी और साढ़े चार पाव बकरे का मूत्र डालकर तैल सिद्ध करे। इस तैल के उपयोग से समस्त कर्ण रोग नष्ट होते हैं।

दार्व्यादि तैल—एक सेर तिल के तेल में एक सेर दारुहल्दी का काढ़ा, एक सेर दशमूल का काढ़ा, एक सेर मुलेठी का काढ़ा, एक सेर कदली कन्द का स्वरस डाले और कूट, बच, सहिजन की छाल, सौंफ, रसवत, देवदारु, यवक्षार, सज्जीखार, बिड् नमक और सेंधा नमक, सब दो-दो तोले लेकर पीसकर कल्क बना उसी में छोड़ कर तेल सिद्ध करे। इस तेल को कान में डालने से कर्णशूल, कर्णनाद, बधिरता, पूतिकर्ण, कर्णक्ष्वेड, जन्तुकर्ण, कर्णपाक, कर्णकण्डू, प्रतीनाह, कर्णस्राव, कर्णशोथ, आदि सम्पूर्ण कर्णरोग कितने ही भयङ्कर हों अवश्य नष्ट होते हैं।

मूलिका तैल—यदि कान के भीतर फुंसी हो जावे तो सफेद फिटकरी और समुद्रफेन पीसकर कान में डाले। उसके ऊपर से कागजी नींबू का रस डाल दे। इस प्रयोग के कई बार करने से कान की पीड़ा बन्द होगी और मवाद का आना भी बन्द होगा। इसके बाद तिल के तेल में मूली के पत्ते डालकर तेल को आग पर चढ़ा दे। जब पत्ते तेल में जल जावें तब वर्तन उतार कर तेल छान ले। इसके डालने से कान के भीतर के शेष सब विकार आराम होंगे।

(४) *शोधन*—वमन, विरेचन, नस्य, धूम, सिरावेध प्रभृति कर्मों से कर्णरोगियों का यथायोग्य शोधन करना चाहिये।

योग (आभ्यन्तर प्रयोग)—

इन्दुवटी—शिलाजीत, अभ्रकभस्म, लौहभस्म सब एक-एक तोला, स्वर्णभस्म तीन माशे लेकर मकोय, शतावर, आँवला और कमल के रस से अलग-अलग भावना दे, दो-दो रत्ती की गोली बनाकर रखे। इसकी एक गोली नित्य सवेरे आँवले के रस में मिलाकर लिया करे। इसके सेवन से कर्णनाद आदि समस्त कर्णरोग वातप्रकोप से उत्पन्न रोग, बीस प्रकार के प्रमेह नष्ट होते हैं।

सारिवादिवटी—सारिवा-अनन्तमूल, मुलेठी, कूट, तेजपात, दालचीनी,बड़ी इलायची, नागकेसर, प्रियंगु (अभाव में मालकांगनी), नील कमल (अभाव में गुलनीलोफर), गुर्च, लौंग, आँवला, हर्रा, बहेड़ा, अभ्रक भस्म और लौहभस्म सब बराबर-बराबर लेकर भांगरा, अर्जुन, इन्द्रजव, मकोय और घुँघची की जड़ के स्वरस या क्वाथ से एक-एक भावना दे। इसके बाद चार-चार रत्ती की गोली बना रखे। नित्य एक गोली धारोष्ण दूध से या शतावरी के स्वरस से अथवा घिसे हुए चन्दन के साथ लिया करे। इससे सब प्रकार के कर्णरोग, बीसों प्रकार के प्रमेह, रक्तपित्त, क्षय, श्वास, नपुंसकता, जीर्ण-ज्वर, अपस्मार, अर्श, हृद्रोग, मदात्यय और सम्पूर्ण स्त्रीरोग नष्ट होते हैं।

कर्णरोगहर रस—हीरे की भस्म, वैक्रान्त भस्म, विमलभस्म, तूतिया की भस्म, नागभस्म, शुद्ध सींगिया, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक और

स्वर्णमाक्षिकभस्म समान भाग लेकर पहले पारद और गन्धक की कज्जली बनावे। फिर सब ओषधियों को एक-एक कर घोटता हुआ मिलाता जावे। इसके बाद लहसुन के रस की सात भावना दे, तत्पश्चात्, अदरख, सहिजन की छाल का काढ़ा, इन्द्रवारुणी की जड़ का काढ़ा और कदलीकन्द के स्वरस की क्रमशः सात-सात भावना दे। इसके बाद तीन-तीन रत्ती की गोली बनाकर रखे या यों ही भावना देने पर पिसी हुई दवा बोतल में भर तीन-तीन रत्ती की खुराक से दिया करे। इससे समस्त कर्णरोग ठीक होते हैं।

रास्नादिगुग्गुल—(१) रास्ना, गुडूची, एरण्डमूल, देवदारु और सोंठ समान भाग लेकर सब की तौल के बराबर शुद्ध गुग्गुल लेकर थोड़ा-थोड़ा घी डाल कर खरल में सब को खूब कूटे। जब सब एक जीव हो जायँ तो एक-एक माशे की गोलियाँ बनाकर रखे। इस रास्नादि गुग्गुल के सेवन से सम्पूर्ण कर्णरोग, वातरोग, शिरोरोग, नाड़ीव्रण और भगन्दर रोग नष्ट होते हैं।

(२) सब प्रकार के कर्णरोगों में अपामार्गक्षार तैल, लहसुनादि तैल, बिल्व तैल, स्वर्जिकाद्य तैल, दशमूली तैल, कुष्ठाद्य तैल, क्षार तैल, जाम्ब्वादि तैल तथा निशादि तैल का उपयोग हितकारी होता है।

(३) कान में कृमि पड़कर दुर्गन्धि होती हो तो गोमूत्र में हरताल घिसकर कान में डाले और कान में गुग्गुल की धूनी दिया करे। इसी प्रकार बायविडङ्ग का चूर्ण और हरताल पीसकर गोमूत्र में मिला कर कान में डाला करे।

महारस—व्योष, इज्जलबीज, शंखभस्म, वत्सनाभ और काली मरीच समान भाग में लेकर मिला ले। ४ रत्ती की मात्रा में कर्ण रोग में सेवन हितकर होता है।[1]

कर्णरोग पर पथ्यापथ्य—कर्णरोग पर स्वेदन, रेचन, वमन, नस्य,

१. व्योषमिज्जलबीजञ्च शंखभस्म विषान्वितम्।
मरिचं सदृशं खादेत् कर्णरोगे महारसम्॥

अवधूलन (Dusting) शिरावेध आदि हितकारी हैं। गेहूँ, चावल, मूँग, जव, पुराना घी, लवापक्षी, मोर, हरिण, तीतर, बनमूर्गा का मांस, परवल, सहिजन, बैंगन, चौपतिया और करैले की तरकारियाँ आहार में लेना हित है। च्यवनप्राश आदि रसायन प्रयोग, रात में त्रिफला और मधु, घृत का सेवन, ब्रह्मचर्य का पालन, अधिक भाषण न करना हितकारी है। दोषविकृति देखकर उचित यत्नविधान करना चाहिये। कर्ण रोगी को खाने की दवा सबेरे और कान में डालने की दवा भोजन के पश्चात् रात में डालनी चाहिये।[1]

दातून करना, शिर पर पानी डालकर या पानी में डुबकी लगाकर स्नान करना, अधिक व्यायाम, कफवर्धक और भारी पदार्थों का सेवन कान को खुजलाते रहना या खोदते रहना, सर्दी-तुषार और तेज हवा में रहना हानिकारक है।[2] इस प्रकार इन सब बातों को ध्यान में रख कर व्यवहार करे तो कर्णरोग से छुटकारा ही न मिले, बल्कि कर्णों का आरोग्य सम्पादित हो और श्रवणशक्ति सम्पन्न रहे।

४

कर्ण-शूल

(Otalgia or Earache)

व्याख्या—कान में दर्द या पीड़ा होने को कर्णशूल कहते हैं अंग्रेजी में इसका पर्याय नाम 'ओटैल्जिया' है। इसमें मुख्य विकृति वायु की होती है। जब आहार-विहार के द्वारा वायु के प्रकुपित करने वाले कारण उपस्थित होते हैं तब श्रोतगत वायु संचित होता है। संचय के

१. स्वेदो विरेको वमनं नस्यं धूमं शिराव्यधः ।
गोधूमः शालयो मुद्गाः यवाश्च प्रतनं हविः ।।

२. दन्तकाष्ठं शिरःस्नानं व्यायामं श्लेष्मलं गुरु ।
कण्डूयनं तुषारं च कर्णरोगी परित्यजेत् ।।

बाद उसका प्रसर, प्रसर के बाद स्थान-संश्रय, स्थान-संश्रय से व्यक्ति और तदनन्तर भेद होता है। इसके पश्चात् वह वायु, पित्त, कफ या रक्त के द्वारा आवृत होकर विपरीत गमन करता हुआ शूल का लक्षण उत्पन्न करता है। वायु के अतिरिक्त यदि उस पित्त, कफ या रक्त का भी संसर्ग हो जाता है तो रोग अधिक तीव्र एवं कृच्छ्रसाध्य हो जाता है।

'अपने-अपने निदानों से प्रकुपित दोषों से आवृत प्रतिलोमचारी वायु श्रोत्र (कर्ण) में जाकर चारों ओर तीव्र शूल पैदा कर देता है। इस व्याधि को कर्णशूल कहा जाता है। यह कर्णशूल दुश्चिकित्स्य होता है।'[1] अर्थात् इसकी चिकित्सा में कठिनाई होती है।

पाश्चात्य वैद्यक की दृष्टि से विचार किया जाय तो कर्णशूल एक उपलक्षण मात्र है जो कर्णेन्द्रिय के विविध भागों में होने वाली विविध विकृतियों के कारण हो सकता है जैसे—

बाह्यकर्णगत विकृतियों में—कान के अन्दर फोड़ा या पनसिका (Furunculosis) में तीव्र पीड़ा हो सकती है। कई बार यह पीडा इतनी तीव्र होती है कि तीव्र चौचुकशोथ (Acute Mastoiditis) से भेद करना कठिन हो जाता है। इस प्रकार शंखास्थिका शोथ, मस्तिष्कावरण शोथ, करोटि की अस्थियों के मध्य में किसी प्रकार का शोथ या पाक हो जाने से भी कर्णशूल होता है। ऐसी पीड़ा अपने स्थान से होती हुई शिर के एक भाग में पहुँचकर गर्दन तक फैल जाती है। कई बार कान के भीतर पानी जाने से कान की मैल (Wax) फूलकर श्रुतिपथ छिद्र को बन्द कर पीड़ा पैदा करती है। कर्णपटह का विदीर्ण होना (Rupture of Tympanic membrane) बड़ा कठिन रोग है, इसमें बधिरता और कान से रक्तस्राव होने के साथ ही साथ तीव्र शूल भी होता है। इसमें प्रधान विकृति वायु के भार की विगुणता के कारण होती है, (Sudden compression of air in the meatus) प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अभिघात से ही तीव्र पीड़ा कान में होती है।

१. समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यतश्चरन् समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः ।
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतं स कर्णशूलः कथितो दुराचरः । (सु. २।१६)

कर्णशूल से यद्यपि एक साधारण कान की पीड़ा का ग्रहण होता है परन्तु संभवतः दुश्चिकित्स्य कर्णशूल कहने का तात्पर्य कर्णपटह का विदीर्ण होना ही है।

मध्यकर्णगत विकृतियाँ—मध्यकर्णशोथ (Otitis Media) के सभी प्रकारों में तीव्रावस्था (Acute condition) में अनवरत तीव्र शूल कान में होता है। जब वही पाक या शोथ पुराना पड़ जाता है अर्थात् रोग की जीर्णावस्था (Chronic stage) में पीड़ा नहीं या अल्प रहती है तथापि यदि ऊपर वाले जबड़े के किसी दाँत में कृमिदन्त हो जाय या खोंखले में पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग पहुँच जाय या दन्तमूल शोथ हो जाय; तो पीड़ा नाड़ी द्वारा संवाहित होकर कान में होने लगती है। इसी प्रकार गले की विकृतियाँ (Laringitis or Pharyngitis or tumours of these organs) पैदा हो जावें तो पीड़ा का प्रभाव कान में होगा। तीव्र प्रतिश्याय में गले की खराबी से श्रुतिसुरङ्गा (Eustrachian tube) में शोथ का प्रसार होता हुआ मध्यकर्ण तक पहुँच कर कर्ण में पीड़ा उत्पन्न कर सकता है। कई बार श्रुतिमूल शोथ (Parotiditis) भी कर्णशूल पैदा करता है।

अन्तःकर्णगत विकृतियों में—कान में अन्तःकर्ण भाग की विकृति में कान्तारक में शोथ या पाकोत्पत्ति होने के कारण तीव्र पीड़ा हो सकती है। इसमें कान्तारक शोथ (Labrynthitis) के कारण अधिकतर शूल होता है। तीव्र शोथ में यह पीड़ा नाड़ीशूल (Neuralgia) के समान असह्य हो जाती है। इसी प्रकार श्रुति नाड़ी शोथ या श्रवण केन्द्र शोफ (मस्तिष्कगत भाग) में भी कर्णशूल संभव है। कान्तारक शोफजन्य अथवा चौचुकशोथ जन्य शूल सोपद्रव होने से घातक भी होते हैं।

जब पीड़ा कान के ऊपरी और पिछले भाग में हो तो समझना चाहिये कि पीड़ा का कारण करोटि में है। वायु के कारण कभी-कभी प्रौढ़ (४० वर्ष से ऊपर की आयु वाले) व्यक्तियों में कर्णशूल होता है; परन्तु प्रत्यक्ष देखने पर कोई पीड़ा का कारण या स्थानिक चिह्न नहीं

दिखलाई पड़ता। ऐसी दशा में कर्णपाली के नीचे मूलभाग में शंखास्थि और अधोहन्वस्थि की संधि में शोथ होने से प्रायः ऐसा कष्ट होता है।

कई बार बच्चों में कर्णशूल का निदान करना कठिन हो जाता है क्योंकि बच्चे अपनी व्यथा को कह तो पाते नहीं। काश्यप संहिता में बच्चों के कर्णशूल के ज्ञान के लिये निम्नलिखित लक्षण तथा चिह्न दिये गये हैं :—

'बालक बार-बार हाथों से कान का स्पर्श करता है, बार-बार जोर जोर से सिर हिलाता है, कान धोने या छूने से बेचैन होकर रोता है। उसे दूध पीने में इच्छा का न होना (अरति) तथा अरुचि हो जाती है निद्रा का अभाव हो जाता है अथवा नींद में भी चैन नहीं पड़ता। इन लक्षणों से युक्त यदि बच्चा मिले तो कर्ण में शूल हो रहा है ऐसा समझना चाहिये।'[1] तीव्र प्रतिश्याय ब्रांकोन्यूमोनिया अथवा अन्य प्रकार के संतत ज्वरों से पीड़ित बच्चों में कर्णशूल प्रायः होता है।

आचार्य वाग्भट ने दोषों के बल की अंशांश कल्पना के द्वारा कर्णशूल के पाँच भेद बतलाये हैं। वातज, पित्तज, कफज, रक्तज और त्रिदोषज। जैसा कि शिरःशूल के सम्बन्ध में होता है; परन्तु सुश्रुताचार्य को कर्णशूल के इतने प्रभेद मान्य नहीं, उन्होंने कर्णशूल को एक प्रधान रोग मानते हुए वायुदोष की ही प्रबलता बतलाई है एवं चिकित्सा में भी केवल वातघ्नोपचारों का ही निर्देश किया है। अस्तु, इस निबंध में कर्णशूल को एक ही मानते हुए उसकी चिकित्सा के उपक्रमों का लिखना ही ध्येय है।

कर्णशूल का *सापेक्षनिदान*—इसी प्रकार के विचार आधुनिक शालाक्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं, जिसे कर्णशूल का सापेक्ष निदान

१. कर्णौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रमयते भृशम्।
अरत्यरोचकास्वप्नैर्जानीयात्कर्णवेदनाम्।
मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासो हृल्लासो वमथुस्तथा।
उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः।

(विदेह का वचन मधुकोष से उद्धृत)

कहा जाता है । मध्य कर्णशोथ या चौचुकशोथ के कारण जो कान में पीड़ा हो वह निश्चित रूप से उस पीड़ा से जो बाह्यकर्ण को विद्रधि (Furunculosis) के कारण होती है; भिन्न प्रकार ही होगी। कर्णविद्रधि या बाह्यकर्ण शोथ की पीड़ा मंदस्वरूप की होती है जब कि चौचुक शोथ और मध्य कर्णशोथ में अत्यन्त तीव्र वेधनवत् पीड़ा होती है। पीड़ा का स्थान भी भिन्न हो सकता है। बाह्य विकृति में पीड़ा किसी स्थान विशेष में सीमित रहती है जैसे कान के नीचे या सामने की ओर। चौचुक शोथ अथवा मध्यकर्ण शोथ में पीड़ा को कान में दाहिनी ओर और कान के पीछे की ओर को बतलाते हुए रोगी मिलते हैं। कई बार कर्णशूल कर्णशल्य (Foreign bodies) के कर्णस्रोत (Meatus) के अस्थिमय भाग में अँटक जाने से होने लगता है और बड़ा तीव्र (Excruciating pain) होता है। इस अवस्था में कर्णस्रोत की परीक्षा करके और शल्य को निकालने से ही पीड़ा शान्त होती है।

साध्यासाध्यता—'जब रोगी को (कर्णरोग में) मूर्च्छा आने लगे, अत्यन्त दाह हो, ज्वर होने लगे, खाँसी आवे, श्वास बढ़ जाय, वमन हो तब वह कर्णशूल उपद्रवयुक्त हो जाता है। उपद्रवयुक्त कर्णशूल में रोगी को आराम नहीं मिलता और वह रोगी प्रायः मर जाता है।' इसी प्रकार त्रिदोषात्मक शिरःशूल को भी वाग्भट ने असाध्य माना है। जब तक उपरोक्त उपद्रव कम रहते हैं तब तक साध्यता की आशा रहती है, जैसे-जैसे उपद्रवों की संख्या अधिक होगी वैसे ही रोग की प्रबलता अधिक होती जायगी। उसी के अनुसार असाध्यता भी बढ़ती जायगी।

आधुनिक ढंग से विचार करने पर ऊपर लिखी बातें अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। कान में दर्द होना तो एक उपलक्षण मात्र है। इसके मूल में कर्ण के विविध भागों की विकृतियाँ हेतुभूत होती हैं। अब यह देखना है कि इतने उपद्रवों का कर्णशूल के साथ होना किन-किन अवस्थाओं में संभव है। बाह्यकर्ण में होनेवाली विकृतियों में इन उपद्रुत लक्षणों का मिलना संभव नहीं होता मध्यकर्ण शोथ में भी सामान्यतया श्वास, वमन, मूर्च्छा, भ्रम प्रभृति लक्षण प्रायः नहीं मिलते। तथापि

मध्यकर्ण पाक तीव्र (Acute suppurative otitis media) हो और उसका उपसर्ग यदि अंतःकर्ण की तरफ बढ़े तो शिरोगुहा के अंगों में भी तीव्र शोथ होकर (Intracranial Complication) कई प्रकार के शिरोगुहा के उपद्रव होने लगते हैं। जैसे कान्तारक शोथ (Labrynthitis) बाह्यमस्तिष्कावरणविद्रधि (Extra dural Abscess) पार्श्ववर्ती शिराजाल (Sinus) में रक्त का जमना और मस्तिष्कावरण शोथ । जब इन विकृतियों में उपर्युक्त लक्षण (सोपद्रव कर्णशूल के) होने लगते हैं, तो रोग की साध्यता घट जाती है एवं रोग असाध्य हो जाता है।

मध्यकर्ण शोथ के रास्ते शंखकूट या प्रवर्द्धन में भी पूयजनक जीवाणुओं का (Mastoiditis Acute or Abscess) उपसर्ग पहुँच कर तीव्र शोथ या विद्रधि होने का भय रहता है। इस अवस्था में शंखकूट के वायु कोषों में शोथ होकर कई प्रकार के स्थानिक तथा सार्वदैहिक लक्षण पैदा होते हैं। कान की पीड़ा अधिक तीव्र हो जाती है पीड़ा का क्षेत्र कर्ण के पश्चाद्भाग में शंखकूट प्रदेश तक हो जाता है। इस प्रदेश में (Mastoid region) सूजन, लालिमा, स्पर्शनाक्षमता आ जाती है। कुछ रोगियों में जिनके कान से स्राव भी होता रहता है स्राव बन्द हो जाता है, परन्तु साधारण स्वास्थ्य गिरता जाता है, शीत के साथ ज्वर (Rigor) चिड़चिड़ापन, क्षोभ, तन्द्रा प्रभृति लक्षण प्रबल हो जाते हैं। यही उपसर्ग यदि मस्तिष्क तक पहुँचे; तो फिर बहिर्मस्तिष्कावरणविद्रधि, मस्तिष्कावरणशोथ, बृहन्मस्तिष्कविद्रधि, लघु मस्तिष्कविद्रधि, प्रभृति, शिरोगुहान्तर्गत विकार होकर मस्तिष्क क्षोभ के लक्षण होने लगते हैं। मूर्छा, दाह, ज्वर, कास, हृल्लास, वमन प्रभृति लक्षण होकर मृत्यु भी हो सकती है।

कान्तारक शोथ (Labrynthitis)—उपसर्ग का प्रसार होकर अंतःकर्ण का शोथ हो जाता है। यह उपसर्ग या तो अण्डाकार छिद्र के द्वारा या 'रोटंडम' के छिद्र के द्वारा अथवा बाह्य अर्द्ध चन्द्राकार नलिकाओं की दीवालों के जरिये पहुँचता है। भ्रम, तन्द्रा, मूर्छा तथा वमन प्रभृति लक्षण और चिह्न यदि अर्द्ध चन्द्रनलिकायें विकृत हो जायँ तो

होने लगते हैं और श्रुति शम्बूक (Cochlea) की खराबी से बाधिर्य तथा कर्ण क्ष्वेड (Deafness & tinitus) होने लगते हैं।

चिकित्सा—कर्णशूल में वायुदोष की प्रधानता होती है। फलतः चिकित्सा में वायुशामक या वातघ्न उपक्रमों का बरता जाना आवश्यक है। ओषधियों से सिद्ध स्नेह का पूरण तथा स्वेदन लाभप्रद होता है।

कर्णपूरण—(१) सहिजन की गोंद को तिल तैल में गर्म करके कान में छोड़ना या सैंधव लवण मिलाकर आर्द्रकस्वरस का (२) समुद्रफेन, वच, सोंठ, सैन्धव समान भाग में लेकर इस परिमाण से चतुर्गुण तिलतैल एवं तैल के बराबर आर्द्रकस्वरस डाल कर तैल सिद्ध करके पूरण करना। (३) लहसुन, अदरख, सहिजन, मूली तथा केले के रसों का पृथक्-पृथक् या मिश्र कदुष्णपूरण। (४) तिलपर्णीपत्रस्वरस अथवा अर्कपत्रस्वरस सिद्ध तैल। (५) आर्द्रक, सूर्यावर्त (सूर्यमुखी) हुरहुर, सहिजन और मूली का रस पृथक्-पृथक् मधु, तेल और सेंधा नमक मिलाकर पूरण करना। (६) कान में सर्षपतैल डाल कर ऊपर से समुद्रफेन का चूर्ण का अवघूलन करके भीतर में प्रक्षिप्त करे। (७) गाय, भैंस, बकरी, गदही, घोड़ी, ऊँटनी, हथिनी और भेड़ी में से किसी एक के मूत्र को गर्म करके कान में डालने से कर्णपीडा शान्त होती है। (८) बहुत से पीपल के पत्तों को लेकर तेल में चुपड़ कर एक के ऊपर एक रखकर द्रोण के आकार का गड्ढा बना ले उसी गड्ढे में एक चिनगारी रख दे। अंगार की गर्मी से पिघल कर तैल और स्वरस कान में पहुँचेगा, इसके पूरण से कर्णशूल शान्त हो जाता है। (९) मदार के पत्ते जो अपने आप पक गये हों, उनमें एक दो को लेकर घी में चुपड़कर अग्नि पर तपा कर स्वरस निकाल कर गर्म गुनगुना कर कान में डाले। इससे पीडा शान्त होती है[1]। (१०) स्योनाक (सोनापाठा) मूल से सिद्ध तैल पूरण।

१. अर्कस्य पत्रं परिणामपीतमाज्येन लिप्तं शिखिनावतप्तम्।
आपीड्य तोयं श्रवणे निषिक्तं निहन्ति शूलं बहुवेदनञ्च॥ (यो. र.)

(११) केवल सरसों के तेल को गर्म करके डालना। अथवा (१२) हिङ्गु, शुण्ठी, सैंधव से सिद्ध सर्षपतैल पूरण के द्वारा कर्णशूल को शमन करता है। (१३) कर्णशूल के साथ यदि[1] कर्ण में नाद और क्लिन्नता हो तो वस्तमूत्र (बकरे के मूत्र) को गर्म करके सैंधव नमक डालकर कान का पूरण करे। (१४) दीपिका तैल का पूरण।

दीपिका तैल निर्माण विधि—बृहत् पंचमूल के किसी एक वृक्ष की लम्बी लकड़ी लेकर उसको आगे की ओर से आठ अंगुल तक किसी क्षौम (रेशमी) वस्त्र से लपेट कर तिल तैल में अच्छी तरह से आप्लुत करे। फिर उसे जला दे। लकड़ी से टपकते हुए तेल का संग्रह करे और उसका कान में गुनगुना पूरण करे तो कर्णशूल तत्काल शान्त हो जाता है। (१५) मातृस्तन्य का पूरण। सोपद्रव कर्णशूल में यदि इन उपक्रमों से लाभ न हो तो शस्त्रक्रिया करनी चाहिये। उसके द्वारा शोधन होकर रोग में कुछ लाभ हो सकता है।

आधुनिक ग्रन्थों में कर्णशूल के कारणों के अनुसार चिकित्सा करने का विधान है फिर भी कई प्रकार के संशामक तथा पीडाशामक प्रयोग सामान्यतया व्यवहार में आते हैं।

दोषभेद से विचार करने पर सुश्रुताचार्य के अनुसार कर्णशूल, कर्णनाद, क्ष्वेड और बाधिर्य सभी में वायु की विकृति होती है। अस्तु वायु की विकृति को ठीक करने के लिये चिकित्सा में एक ही उपक्रम बरते जाते हैं।[2]

कर्णशूलहर योग—

कर्णबिन्दु तैल—तिल तैल १ सेर, धतूर के फल आधा सेर, अहिफेन १ तोला, तैलपाक विधि से सिद्ध तैल का पूरण कर्णशूल में लाभप्रद होता है।

---

१. व्रणे शूलोत्तरे कर्णे सशब्दे क्लेदवाहिनि ।
बस्तमूत्रं क्षिपेत्कोष्णं सैन्धवेनावचूर्णितम् ॥

२. कर्णशूले कर्णनादे बाधिर्ये क्ष्वेड एव च ।
चतुर्ष्वपि च रोगेषु सामान्यं भेषजं स्मृतम् ॥

कर्णशूल में कान में निम्नलिखित बूँदों का पूरण भी सद्यः लाभप्रद होता है। कर्ण विन्दुद्रव-प्रोकेन हाइड्रोक्लोर १ ग्रेन, मेन्थाल ५ ग्रेन, कैम्फर ७ ग्रेन, परिस्रुतजल आधा आउंस।

—००:००—

कर्णनाद या प्रणाद

(Noises in the Ear)

व्याख्या—'जब शब्द को वहन करने वाली शिरा में वायु जाकर स्थित हो जाता है तब उस वायु के आघात से कान में अकस्मात् बारम्बार अनेक प्रकार के शब्द सुने जाते हैं उसे कर्णनाद' कहते हैं।'[1]

'कर्णस्रोत (विवर) में वायु के स्थित होने से विविध प्रकार के स्वर सुनाई पड़ते हैं जैसे भेरी (शहनाई) मृदङ्ग और शंख की ध्वनि के समान। उस व्याधि को कर्णनाद कहते हैं।'[2]

'कानों में जब सिरागत वायु प्राप्त होती है तब नाना प्रकार के शब्दों को कानों में पैदा करता है, भौरों के गुञ्जार के समान, क्रौञ्च (कुररी) की करकराहट सदृश, दादुर ध्वनि के सदृश, कौवे के काँव-काँव सा, सितार (तंत्री) या मृदंग जैसे, वेद पाठ ध्वनि सदृश, वंशी सदृश, गाने के समान, पढ़ने जैसे, बाँसों के कूजन के समान (वेणु वादन) तुरही के शब्द सदृश, नदी के प्रपात के समान, गाड़ी के चलने के समान और साँप के फुफकार के सदृश शब्द सुनाई पड़ते हैं।[3]

१. शब्दवाहिसिरासंस्थे शृणोति पवने मुहुः।
नादानकस्माद्विविधान् कर्णनादं वदन्ति तम्। (वा०)

२. कर्णस्रोतस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान्।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां कर्णनादः स उच्यते। (सु०)

३. सिरागतो यदा वायुः स्रोतसोः प्रतिपद्यते।
तदा तु विविधान् शब्दान् समीरयति कर्णयोः।

कर्णक्ष्वेड (Tinitus)

व्याख्या—कर्णनाद से मिलता-जुलता एक दूसरे रोग का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है वह है कर्णक्ष्वेड। इसे कर्णनाद का ही एक भेद समझना चाहिये। अंतर यह है कि जहाँ कर्णनाद में नाना प्रकार शब्द होते हुए कान में सुन पड़ते हैं वहाँ इस रोग में एक विशेष प्रकार ध्वनि क्ष्वेड (वंशीरव) वंशी बजने के समान ध्वनि सुनाई पड़ती है।

'वायु पित्तादि के साथ संयुक्त होकर वेणुघोष (वंशी की आवाज) के समान कान में शब्द पैदा करता है उसे कर्णक्ष्वेड कहते हैं।' 'वायु कफ पित्त और शोणित के साथ संयुक्त हो वंशी ध्वनि जैसी आवाज कान में पैदा करता है, उसे कर्णक्ष्वेड कहते हैं।"[1]

आधुनिक प्रविचार—कर्णनाद या कर्णक्ष्वेड (कान में आवाज) होने की तकलीफ बतलाते हुए प्रायः रोगी मिलते हैं। वास्तव में रोगी के लिये यह होता भी बड़ा कष्टकर है। इस लक्षण की तीव्रता में बहुत विषमता देखने को मिलती है। यह मामूली तकलीफ से लेकर इतना बढ़ा हुआ भी मिल सकता है कि रोगी बेचैन हो जाय, उसे प्रत्येक प्रकार के उचित विश्राम से हाथ धो देना पड़े अथवा बहुत बढ़े हुए रूप में उसकी अवस्था पागलपन की आ जाय या पागल हो जाय। यह एक उपलक्षण मात्र है जो विभिन्न रोगों से तथा विषों के प्रयोग

भृङ्गारक्रौञ्चनादं वा मण्डूककाकयोस्तथा।
तन्त्रीमृदङ्गशब्दं वा सामतूर्यस्वनं तथा।
गीताध्ययनवंशानां निर्घोषं क्ष्वेडनं तथा।
अपामिव पतन्तीनां शकटस्येव गच्छतः।
श्वसतामिव सर्पाणां सदृशः श्रूयते स्वनः। (विदेह)

१. वायुपित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते। (सु०)
मारुतः कफपित्ताभ्यां संसृष्टः शोणितेन च।
कर्णक्ष्वेडं स जनयेत् क्ष्वेडनं वेणुघोषवत्। (विदेह)

से उत्पन्न होता है। यदि एक वाक्य में इस लक्षण के उत्पन्न करने वाले कारणों को कहा जाय तो कहना होगा 'कोई भी परिस्थिति जो कान के अवयवों के ऊपर अथवा मस्तिष्क की आठवीं नाड़ी मार्ग के ऊपर प्रत्यक्ष (direct) या विष प्रभाव के द्वारा अपना असर दिखलावे' उसके कारण कान में आवाज होने की तकलीफ होने लगती है।

कर्णनाद को अंग्रेजी में 'टिनिटस आरियम्' कहा जाता है। आधुनिक वैद्यक में 'काकलिया' नामक अंग की विकृति में जो अंतःकर्ण में स्थित है उसकी खराबी होने से बताई जाती है। इस अवस्था में रोगी को बराबर भनभनाहट, गर्जन, हथौड़ा पीटने की सी आवाज सुनाई पड़ती है। 'अस्थित्रय सम्मिलन' (Osteosclerosis) मध्य-कर्णगत अस्थियों के स्तम्भ में भी इस प्रकार का कान में शब्द होना पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कर्ण के विकारों के सिवाय अन्य सार्वदैहिक रोगों में भी कान में शब्द होने का (कर्णनाद) लक्षण पाया जाता है। उदाहरणार्थ—वृक्क की खराबी, हृदय के रोग, रक्तभाराधिक्य (High blood Pressure), रक्ताल्पता या पाण्डु तथा कीनीन प्रभृति कुछ तीव्र औषधियों का निरन्तर सेवन। इस रोग की चिकित्सा कर्णशूलवत् की जाती है तथा कारणों को दूर करने के लिये सार्वदैहिक उपचारों का भी उपयोग करना चाहिये।

यहाँ पर प्रसंगवश कान्तारक शोथ (Labyrinthitis) का अति संक्षेप से वर्णन कर दिया जाता है।

यह रोग मध्यकर्णशोथ का एक आम उपद्रव है। यह मध्यकर्णशोथ के प्रारंभ में ही या बहुत बाद में भी हो सकता है। प्रधान मार्ग जिनसे कान्तारक को उपसर्ग पहुँच सकता है ये हैं :—

१. अर्द्धचंद्राकार नलिका—सम्बन्धी नाड़ी (Fistula) व्रण से।

२. रकाबास्थि के पाद-पीठ के अभिघात से बने अण्डाकार वातायन से।

३. गोल वातायन (Round window) से।

४. शंबूकालिका (Promontory) के भाग से।

प्रकार—

कान्तारकशोथ

मर्यादित (Circumscribed)

विस्तृत (Diffuse)

विस्तृत सद्रव कान्तारक शोथ (Diffuse serous labyrinthitis)

विस्तृत सपूय कान्तारकशोथ (Diffuse purulent Labyrinthitis)

कान्तारक शोथ की आधुनिक चिकित्सा—जब से रामबाण ओषधियों (Chemotherapy) का प्रयोग चिकित्सा जगत् में आया है तब से कान्तारक शोथ की चिकित्सा में आमूल परिवर्तन हो गया है। इससे तीन लाभ होते हैं—प्रधान व्याधि वश में आ जाती, उपद्रवों का परिहार हो जाता या रोक दिये जाते हैं और शस्त्र कर्म काफी आशाजनक परिस्थिति में किये जा सकते हैं। परन्तु कुछ ऐसी भी अवस्थायें है जिनमें इन ओषधियों के उपयोग की आवश्यकता नहीं है।

यदि कान्तारक में इस प्रकार के चिह्न विद्यमान हों कि वह कार्य क्षम है तब तो इन रामबाण भेषजों के प्रयोग (पेंसिलीन प्रभृति योग) से जरूर उपशम का प्रयास करना चाहिये। परन्तु कान्तारक को परिस्थिति इसके विपरीत हो तो निर्जीव कान्तारक को बचा कर रखना खतरे का घर बना रहता है यदि सम्भव हो तो उसको दूर ही कर देना चाहिये।

मर्यादित कान्तारक शोथ—रोगी को शय्याशायी करके पूर्ण विश्राम दे, शोथ को उपशमित होने दे। इससे ज्वर, भ्रम, वमन, कर्णनाद प्रभृति विषमयता शान्त हो जाती है। श्रवणशक्ति की परीक्षा बार-बार करे, यदि पूर्ण बाधिर्य हो तो शस्त्रकर्म की तैय्यारी (Labyrinth-ectomy) करे। अन्यथा कुछ दिनों की और प्रतीक्षा करके जब शोफ का पूर्ण उपशम हो जाय, चौचुक निर्मूलन नामक शल्यकर्म

(Radical mastoid) करे। विस्तृत कान्तारक शोथ में जब तक कि कान्तारक की क्रियाशक्ति विद्यमान है तब तक उसकी निगरानी रखनी चाहिये। ज्यों ही उसके कर्म का अभाव हो शस्त्र कर्म (Labyrinthectomy) करे। मध्यकर्ण के शोथ के उपद्रव रूप में होने वाले कान्तारक शोथ में शस्त्र कर्म ही अधिक हितकर होता है।

कर्ण क्ष्वेड और कर्ण नाद की चिकित्सा—जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, यह विकार विभिन्न व्याधियों के परिणाम स्वरूप होता है—चिकित्सा करने में उन-उन व्याधियों के अनुसार भेषज का प्रयोग करना चाहिये। परन्तु यदि कारण का ज्ञान न हो पावे अथवा लाक्षणिक चिकित्सा ही लक्ष्य हो तो आयुर्वेद में वर्णित निम्नलिखित सामान्यतया लाभप्रद योगों का व्यवहार करना चाहिये। ये अधिकतर संशामक (Sedative) या बल्य (Tonic) हैं।

कर्णनाद एवं कर्णशूल—बाधिर्य और कर्णक्ष्वेड में वायुदोष की विकृति रहती है। अस्तु, इनकी सभी चिकित्सा में सामान्यतया वातघ्न या वात-शामक प्रयोगों को करना चाहिये। कड़वे तैल का कान में पूरण करना लाभप्रद होता है।[१]

कर्णक्ष्वेड में पित्त का संश्रय रहता है। अस्तु, रेचन देकर कोष्ठ की शुद्धि कर लेनी चाहिये। दूध में घी डाल कर पिलाना चाहिये। कर्ण नाद में कफ का संयोग हो तो वमन करा कर कान का पूरण करे—

(१) सहिजन के छाल का रस कोष्ण छोड़े।

(२) आर्द्रक के स्वरस में सैंधव मिला कर कोष्ण छोड़े।

(३) अजामूत्र में लहसुन, आर्द्रक और अर्कपत्र का स्वरस मिला कर छोड़े।

(४) एरण्ड शिग्रु वरुण इनका मूल त्वक् और मूली के पत्र का स्वरस एक सेर लेकर पाव भर तिल तैल में पकावे उसमें दूध दो सेर,

१. कर्णशूले कर्णनादे बाधिर्ये क्ष्वेड एव च।
पूरणं कटुतैलेन हितं वातघ्नमेव च। (यो. र.)

मुलैठी तथा क्षीरकाकोलि ढाई-ढाई तोले कल्क बना कर प्रक्षिप्त कर पकावें—इस तैल का नस्य तथा कर्ण पूरण के रूप में प्रयोग करने से क्ष्वेड तथा नाद में लाभ होता है।

(५) अतीस, हींग, सौंफ, दालचीनी, सज्जीखार, कालीमिर्च प्रत्येक का एक-एक तोला, सिरका डेढ़ पाव, तिल तैल डेढ़ पाव सिद्ध कर कर्ण पूरण करें।

(६) अपामार्ग क्षार तैल। (७) हिंग्वादि तैल।
(८) दीपिका तैल। (९) निर्गुण्डी तैल।
(१०) मधुशुक्त। (११) बलातैल पूरण और नस्य।
(१२) नारायण तैल का पूरण।
(१३) सारिवादि वटी का आभ्यन्तरीय प्रयोग।

कर्णनाद की आधुनिक चिकित्सा—यथा संभव कारण को दूर करे। कारण रूप में कोई ऐसी दशा हो सकती है जिसका प्रभाव कान के ऊपर या कान की (आठवीं नाडी) वातनाडी के ऊपर पड़े। यह प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सार्वदैहिक किसी रोग की विषमयता के फलस्वरूप हो सकता है।

जहाँ पर रोग का कोई निश्चित कारण न ज्ञात हो सके संशामक या बल्य योगों को देना चाहिये। संशामक औषधियों में 'ल्युमिनाल' एक सर्वोत्तम संशामक है। अन्य कोई योग भी जो रोगी को अनुकूल पड़े दिया जा सकता है।

बहुत से शल्य कर्मों का भी रोग की चिकित्सा में उल्लेख मिलता है—जैसे नाडी छेदन (Nerve section) तथा कान्तारक का विनाशन (Destruction of labyrinth)। इन शस्त्र कर्मों का प्रयोग हुआ है; परन्तु प्रायः सफलता नहीं मिलती है साथ ही जिस कान में कर्म किया जाता है उसमें बाधिर्य भी आ जाता है। अस्तु इन शल्य कर्मों को चिकित्सा में कोई महत्त्व का स्थान नहीं दिया जा सकता है।

कर्ण नाद एवं क्ष्वेड के भेद प्रदर्शक कोष्ठक

कर्ण नाद	क्ष्वेड
१. इसमें कर्ण स्रोतःस्थित वायु शब्द पैदा करता है।	१. इसमें वायु के साथ पित्त का संश्लेष हो कर अथवा वायु पित्त या कफ या रक्त के द्वारा संसृष्ट हो कर शब्द पैदा करता है।
२. इसमें आवाज अवस्थानुसार भेरी, मृदंग जैसी मोटी और भद्दी होती है।	२. इसमें वंशी के समान सुरीली एवं पतली आवाज रोगी को प्रतीत होती है।
३. चिकित्सा में केवल वात शामक उपचारों को बरतना आवश्यक होता है।	३. इसमें पित्तघ्नोपचार की भी आवश्यकता पड़ती है।
४. यह अवस्था अधिकतर सार्वदैहिक विकारों के परिणामस्वरूप अथवा बाह्य कर्ण, मध्य कर्ण के विकारों में मिलती है।	४. यह अवस्था अधिकतर अंतःकर्ण के विकार (कान्तारक शोथ) में मिलती है।

मधुशुक्त—जम्बीरी नीबू का रस ६४ तोले, मधु १६ तोले, छोटी पीपल ४ तोला। सबको एकत्र कर घृतलिप्त भाण्ड में मुख बन्द कर एक मास तक धान्य की राशि संधानविधि से रखे। पश्चात छान कर शीशियाँ भर ले। यह मधु शुक्त कहलाता है। कर्णरोगों में लाभप्रद होता है।

६

कर्णविट्क या कर्णगूथ

(Wax in the Ext, Meatus or Cerumen)

व्याख्या—'कर्णाश्रित श्लेष्मा जब पित्त की ऊष्मा से सूख कर कान में मैल की तरह जम जाता है तब उसे कर्णगूथ कहते हैं।"[1] कर्णगूथ शब्द से कान में होने वाली मैल का अर्थ ग्रहण किया जाता है यह मैल जमे हुए मोम की तरह मालूम होता है इसी लिये अंग्रेजी में इसको 'वैक्स' कहते हैं।

सम्प्राप्ति तथा कारण—कान में गूथ या मैल का होना एक प्राकृतिक घटना है यह कान की त्वचा के नीचे अवस्थित ग्रन्थियों (Ceruminous glands) का स्राव है। यह मैल प्रकृति का एक दान है जिससे कान की नलिका की रक्षा होती रहे तथा धूल और विजातीय पदार्थ दूर किये जा सकें। इसमें एक तेज वास होती है तथा चिपचिपापन रहता है जिससे मक्खी वगैरह भीतर नहीं जा सकतीं। मैल का संग्रह व्यवसाय भिन्नता के अनुसार व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न हो सकता है। इसका सञ्चय होना अधिकतर उन आदमियों में बहुलता से पाया जाता है जो धूल वाले कार्यों में लगे रहते हैं जैसे—खदान खोदने वाले, कोयला झोंकने वाले (Fire man) तथा धूल और मिट्टी के काम करने वाले। क्योंकि ऐसे व्यक्तियों में धूल और रजःकण उड़ कर कान में जाते और मैल में बैठ जाते हैं।

लक्षण—कर्णगूथ में कई प्रकार के लक्षण मिलते हैं, प्रधान एक लक्षण बधिरता होती है। कान में क्षोभ होने की वजह से थोड़ी पीडा का भी अनुभव रोगी को होता है। कर्णपटह पर दबाव (Owing to pressure upon the drum) पड़ने से कान में शब्द होना भी पाया जाता है।

---

१. पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरुते कर्णगूथकम्।

कर्णगूथ में बाधिर्य का होना कैसे सम्भव है इसके सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं—(१) यदि मैल के इकट्ठी हो जाने की वजह से श्रुतिपथ (Ext. meatus) की नलिका बहुत संकरी हो गई हो, हठात् कान में किसी प्रकार की तेज गति हो गई और मैल ने टूट कर सँकरे मार्ग को अवरुद्ध कर दिया तो श्रवण कार्य में बाधा होने लगती है। (२) दूसरी आम घटना इस प्रकार के बधिरता का कारण प्रभूत स्नान या कान का धोना है। बाह्य श्रुति पथ में पानी जाकर मैल को फुला देता है जिससे नलिका का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और सुनाई पड़ना कठिन हो जाता है।

चिकित्सा—कर्णगूथ की चिकित्सा है—गूथ या मैल को कान से बाहर निकाल देना। इसका निकालना कोई कठिन कार्य नहीं है बशर्ते कि कुशलता और ध्यान से काम किया जाय। इसको निकालने में दो उपाय बरते जा सकते हैं (१) कर्णशलाका (Wax probe) तालयन्त्र (Ear scoope or Wax curette), कर्णस्वस्तिक (Ear-forcep), सलाई या सींक में रुई लपेट कर कान की मैल साफ की जाय अथवा (२) पिचकारी से कान का प्रक्षालन कर लिया जाय। यदि कर्णगूथ बहुत कड़ा पड़ गया हो तो कान में क्षारतैल, स्वर्जिका क्षारीय जल (Saturated solution of Soda Bicarb) लिक्विड पैराफीन या अन्य कोई तैल दो तीन दिनों तक दिन में तीन बार छोड़ कर मैल को फूल जाने दे, पश्चात् उसको निकालें।

यदि रोगी इतनी देर तक प्रतीक्षा नहीं करना चाहता हो तो कान में 'हाइड्रोजेन पेरोक्साइड' की कुछ बूँदें डालकर कुछ देर पड़े रहने दे। इससे भी कर्णगूथ के शोधन में सहायता मिलेगी। गूथ के शोधन की दूसरी प्रक्रिया कर्णवस्ति (पिचकारी) के द्वारा कर्ण का प्रक्षालन करना है।[1] इसके लिये सुरसादि गण की अथवा राजवृक्षादिगण की

१. प्रक्लिद्य धीमाँस्तैलेन प्रविलाप्य च शोधनम्।
कर्णगूथं तु मतिमान् भिषग्जह्याच्छलाकया॥

औषधियों का क्वाथ व्यवहृत किया जा सकता है।[1] कर्णप्रक्षालन की यह क्रिया इतनी सरल नहीं है, जितनी सरल जान पड़ती है। इसमें भी गलत और ठीक ऐसे दो प्रकार हैं। इसका नेत्र (Nozzle) बहुत पतला न हो इसके द्वारा द्रव की धारा जो छोड़ी जाय वह ऊपर और पीछे की ओर श्रुतिपथ (Meatus) की पश्चाद् दीवाल के साथ होकर जानी चाहिये। अन्यथा करने से यदि द्रव को पिचकारी सीधे कर्ण-पटह पर पड़े तो उसके फटने का भय रहता है। इसीलिये सुश्रुत ने स्पष्टतया धीमान् या मतिमान् भिषक् को विशोधन का अधिकारी माना है।

पश्चात्कर्म—गूथ को निकालने के बाद कर्णदर्शक यंत्र से कान की परीक्षा कर लेनी चाहिए कहीं कान की नलिका की दीवाल में कोई क्षत न हो गया हो, यदि ऐसा मिले तो कान में संशामक ओषधियों के घोलों को डालकर अथवा (Gauze Soaked in Aluminum Acetate Solution) कान में स्निग्धवर्ति डालकर बारह से चौबीस घण्टों के लिये व्रणबन्ध कर दे। कई बार कर्णगूथजन्य बधिरता में गूथ के निकल जाने के बाद एक दो दिनों तक श्रवणशक्ति पूर्णरूप से नहीं आ पाती, पश्चात् आ जाती है।

उपर्युक्त चिकित्सा उपक्रमों को यदि सूत्ररूप में लिखना हो तो इस प्रकार का होगा—

१. कर्णगूथ को द्रवों के द्वारा प्रक्लिन्न करना।
२. तैलों के पूरण द्वारा प्रविलापन करना (पिघलाना)।
३. शोधन—शलाका अथवा वस्ति के द्वारा। इन्हीं क्रियाओं का स्पष्ट रूप से आयुर्वेद के ग्रन्थों ने प्रतिपादन किया है।

१. कर्णप्रक्षालने शस्तं कवोष्णं सुरभीजलम्।
पथ्यामलकमञ्जिष्ठालोध्रतिन्दुकवाश्च वा॥
राजवृक्षादितोयेन सुरसादिजलेन वा। कर्णप्रक्षालनं शस्तम्।

कर्ण-कण्डु

(Itching sensation in the Ext. Meatus)

सामान्य व्याख्याः—'कर्णगत वायु कफ से संयुक्त होकर कान में खुजली पैदा करता है—उसे कर्ण कण्डु कहते हैं ।'[1]

अवयवानुसारः—कान की खुजली का अनुभव बाह्य कर्णगत विकृतियों में होता है। बाह्य कर्ण के दो प्रमुख भाग हैं। १. कर्णशष्कुली (Auricle) २. श्रुतिपथ (Ext. Meatus)। इन भागों में से शष्कुली के ऊपर, पामा, विचर्चिका, कक्षा (Herpes), विसर्प (Erysipelas), शोफ प्रभृति कई एक रोग हैं जिनमें खुजली होती है, परन्तु यहाँ कर्णरोग में कण्डु का पाठ करने का भाव बाह्य श्रुतिपथ के भीतर होने वाली किसी विकृति से है। क्योंकि (१) शष्कुली (Auricle) में होनेवाली विकृतियों का प्रायः वर्णन कर्णरोगाधिकार में नहीं पाया जाता है। (२) चिकित्सा में भी इसकी कोई विशिष्ट चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसमें शल्यतंत्रात्मक सामान्य उपक्रमों का ही व्यवहार है। अस्तु, कर्णकण्डु से पठित, शालाक्यतन्त्रांतर्गत कर्णरोगाधिकार में वर्णित यह रोग निश्चितरूप से बाह्य श्रुतिपथ (Ext. Meatus) की किसी विकृति का द्योतक है। यह विकार बाह्य कर्णशोथ (Otitis Externa) के कारण हो सकता है।

बाह्य कर्णशोथ—इस रोग में श्रुतिपथ की पूरी दीवाल के अपिस्तर (Epithelium) का शोफ हो जाता है। विकारी जीवाणु में 'स्ट्रेप्टोकोकस' प्रधान होता है। प्रसार होते-होते शोफ का प्रभाव कर्णपटह की झिल्ली पर भी हो जाता है। इस शोफ के दो प्रकार देखने को मिलते हैं—(१) शुष्क या खुरण्डयुक्त (Scaly) (२) सद्रव (Moist type), प्रथम में त्वचा की शुष्कता मिलती है एवं कई बार विशेष प्रकार की असह्यता (Allergic Manifestation) भी कारणभूत होती है, इस प्रकार में विशेष चिह्न कान में खुजली का होना, क्षोभ

१. मारुतः कफसंयुक्तः कर्णे कण्डुं करोति हि ।

(Irritation) तथा पतला स्राव का आना मिलता है। कई बार यह स्राव सूख जाता है और कभी पुनः होने लगता है। पश्चात् अपिस्तर घना (Thickening) हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप कान की नलिका सँकरी होती जाती है। यह अपिस्तर का घनीभवन या मोटा होना (Thickening of Epithelium) स्थायी हो जाता है। जिसमें उपचार से थोड़े दिनों तक अस्थायी लाभ हो जाता है, परन्तु लघु उपसर्ग से भी रोग के पुनः पैदा होने की संभावना रहती (Patient Continually liable to reinfection) है। कर्ण दर्शक यंत्र से बाह्य श्रुतिपथ की परीक्षा करने पर अपिस्तर सफेद दिखलाई पड़ता है और कई बार खुरण्ड (Flakes and Small crusts) दिखलाई पड़ते हैं जिनको चिमटी से निकाला जा सकता है। कई बार थोड़ी क्लिन्नता भी अल्प स्राव के कारण मिलती है। त्वचा भी कुछ मोटी हो जाती है और बाह्य छिद्र से दिखाई पड़ सकती है, जिसके कारण कर्णपटह भी दिखलाई नहीं पड़ता; जब तक कई दिनों तक उसके भीतर में 'पैकिङ्ग' करके सफाई न कर दी जाय। इसी प्रकार विशेष को संभवतः प्राचीनों ने कर्णकण्डु[1] नामक रोग से अभिहित किया है।

दूसरे प्रकार में स्राव और पीडा होती है। श्रुतिपथ लाल एवं शोथ युक्त होता है। इसमें पूयस्राव अधिक मात्रा में और बदबूदार होता है। इसमें कान के आस-पास की धातुओं में (Mandibular region, below and behind the auricle) स्पर्शनाक्षमता होती है, ग्रन्थियाँ पाई जा सकती हैं। यन्त्र का प्रवेश (Speculum) इस प्रकार के रोगी में पीडाकर होता है।

---

१. कफेन कराडुः प्रचितेन कर्णयोर्भृशं भवेत्स्रोतसि कर्णसंज्ञिते।
विशोषिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा नृणां भवेत्स्रोतसि कर्णगूथकः।
यहाँ पर कर्ण-स्रोत का अर्थ Ext. Meatus बाह्यश्रुतिपथ है।

कर्णगूथ और कर्णकण्डु की तुलना

कर्णगूथ	कर्णकण्डु
१. दोनों संसर्गज व्याधियाँ (द्विदोषज) हैं।	×
२. दोनों ही बाह्य श्रुतिपथ के रोग हैं। (Ext. Meatus)	×
३. दोनों में ही कफ दोष का संचय होता है।	×
४. पित्त के तेज से शुष्क श्लेष्मा गूथ पैदा करता है।	संचित श्लेष्मा कर्ण में कण्डु पैदा करता है।
५. वायु और कफ की विकृति होती है।	पित्त और कफ की विकृति होती है।
६. आधुनिक दृष्टि से एक प्रकार का स्राव जो धूल और रज के मेल से कड़े मैल (wax) के रूप में हो जाता है।	आधुनिक दृष्टि से शोथजन्य विकृति (Otitis externa) हो सकती है।

कर्णविद्रधि (Furuculosis)

व्याख्या तथा लक्षण—'विद्रधि दो प्रकार की होती है एक क्षत और अभिघात से होने वाली, दूसरी दोषज। यह विद्रधि लाल, पीले और अरुण स्राव वाली होती है। इसमें प्रतोद (सूई चुभाने की सी पीडा) धूमायन (कान से भाप सी निकलने के समान वेदना) और चोष (चूसने की सी पीडा) होता रहता है।'[1]

१. क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः।
सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत् प्रतोदधूमायनदाहचोषवान्। (सु. २।१६)

विद्रधि (६ प्रकार)

आगन्तुक (Traumatic)
1. क्षतज
2. अभिघातज

दोषज (Idiopathic)
3. वातिक
4. पैत्तिक
5. श्लैष्मिक
6. त्रिदोषज

इस प्रकार कर्णविद्रधि के मूलतः दो भेद आगन्तुक और दोषज होते हैं। फिर इन दोनों के उपभेदों को मिलाकर छः भेद हो जाते हैं।

वक्तव्य—कर्णविद्रधि जैसा नाम से ही स्पष्ट है, बाह्यकर्णस्रोत (Ext. Meatus) में होने वाला एक फोड़ा (Boil) है। इस प्रकार की दशा कर्णस्रोत के उस भाग में हो सकती है, जहाँ पर केशाङ्कुर (Hair follicles) हैं, क्योंकि इस अवस्था में भी अन्य विद्रधियों के सदृश ही केशाङ्कुरों के मूल में पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग पहुँचकर रोग पैदा होता है। कर्णगत विद्रधि एक या अनेक भी हो सकती है।

लक्षण—कर्णविद्रधि में तीव्र पीड़ा का होना एक प्रधान लक्षण है—यह पीड़ा फैलकर सिर के एक पार्श्व में, जबड़े तक, अथवा गले के नीचे तक या कंधे तक जा सकती है। यह इतनी तीव्र हो सकती है कि रोगी को आराम की आशा भी नजर नहीं आती। कान के इर्द-गिर्द सूजन, कान की नलिका के भीतर चारों ओर शोफ, शंखप्रदेश, चौचुक (Mastoid) में भी सूजन मिल सकती है। स्पर्शनाक्षम स्थान कान के सामने या नीचे अधिक मिलता है। कान के शष्कुली के भाग, पुत्रिका (Cartilaginous portion) को जरा सा हिलाने में भी पीड़ा बढ़ जाती है। कई बार विद्रधि के बड़े होने से जब स्रोतस का अवरोध हो जाय तो बाधिर्य भी हो सकता है। यदि विद्रधि का अवस्थान बहुत गहराई में हो तो दर्शन परीक्षा से निदान कठिन हो जाता है।

पनसिका और कर्णविद्रधि में अंतर—क्षुद्ररोगाधिकार में पनसिका नामक एक विद्रधि का वर्णन आता है। 'कान के आभ्यंतर भाग में उग्र वेदनावाली पिडिका जिसका पाक भीतर ही होता है, पनसिका कहलाती है।' यद्यपि यह पिडिका भी कान के भीतर के भाग में ही होने वाली बतलाई गई है; परन्तु यह कर्णस्रोत के भीतर नहीं होती जैसा कि इसके चिकित्सा-विधानों से ज्ञात होता है—इसमें स्वेदन तथा लेप लगाने का विधान है—जिसका लगाना बाह्य दृष्ट पिडिका में ही संभव है।[1] अस्तु, पनसिका नामक पिडिका कर्ण के बाह्य स्रोत (Auricle) के भीतर में होनेवाली विद्रधि (Furunculosis of the Auricle) है। यह (स्थिरा) एक विशेष स्थान पर सीमित रहती है—यद्यपि इसका भी प्रसार होकर कर्णस्रोत की भी विकृति हो सकती है। परन्तु कर्ण विद्रधि से इस अधिकार में आने वाली विकृति निश्चित रूप से कर्ण स्रोत में पाई जाने वाली पिडिका (Furunculosis of the Ext. Meatus) ही है।

कर्णकण्डु में शास्त्रीय चिकित्सा—१. स्नेहन, २. स्वेदन, ३. वमन, ४. धूम, ५. ऊर्ध्व विरेचन (शिरोविरेचन) प्रभृति कफघ्न उपचारों को बरतना चाहिये।[2]

विद्रधि में—[3] विद्रधि के अधिकार में प्रोक्त चिकित्सा के उपक्रमों को रखना चाहिये। विद्रधि जब तक पकी नहीं उसको बैठाने के लिये संशामक उपचारों में अन्तर्विद्रधि के अधिकार में पठित योगों का

१. कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडिकामुग्रवेदनाम् ।
स्थिरां पनसिकां तां तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम् ॥ (चि०)
भिषक् पनसिकां पूर्वं स्वेदनैरपतर्पणैः ।
जयेद्विदारिवल्लेपैः शिग्रुदेवद्रुमोद्भवैः ॥

२. स्नेहः स्वेदोऽथ वमनं धूमं मूर्ध्नि विरेचनम् ।
विधिश्च कफहा सर्वः कर्णे कण्डूमतीष्यते ॥ (यो. र.)

३. विद्रधौ च प्रकुर्वन्ति विद्रध्युक्तं चिकित्सितम् ।
विशेष वर्णन के लिये लेखक की सौश्रुती का विद्रधिचिकित्सीयाध्याय देखें।

व्यवहार करे जैसे—शिग्रुमूल क्काथ मधु के अनुपान से देना। यदि पाकोन्मुख हो और पकाना आवश्यक हो तो दारक योगों से या शस्त्र-क्रिया से विदारण करे पश्चात् शोधन और रोपण की व्यवस्था करनी चाहिये। कर्णशूल के लिये कर्णशूल में प्रयुक्त होनेवाले पूरण द्रव्यों से पूरण करे या आभ्यन्तरीय पीडा शामक योगों को दे।

इसी भाव का द्योतन निम्नलिखित अंग्रेजी गद्यांश में मिलता है—

'The general treatment of Furunculosis does not differ from the treatment of boils elsewhere in the body so it need not be discussed here.'

कान पनसिका की सामान्य चिकित्सा, अन्य स्थानों पर पाये जाने वाले फोड़ों से भिन्न नहीं होती अस्तु यहाँ पर इसकी चिकित्सा की विस्तृत विवेचना अपेक्षित नहीं है।

आधुनिक चिकित्सा—(Treatment of Otitis Externa & Furunculosis) इन दोनों रोगों की चिकित्सा में बहुत कुछ साम्य है। अस्तु, दोनों का एक ही साथ वर्णन किया जा रहा है—प्रारम्भिक अवस्था में कान को संशामक घोल से 'पैक' कर देते हैं तथा बाहर से स्वेदन करते हैं। कान में भरने के लिये दो द्रवों का (Ictheol in glycerine 10% तथा Aluminum Acetate 8%) व्यवहार होता है। इसके लिये तीन इञ्च लम्बा कपड़े का टुकड़ा (Gauze) जो आधी इञ्च चौड़ाई का हो लेकर उसे घोल में भिगोकर विशेष प्रकार के सन्दंश (Politzer Angled forcep) के जरिये कान में काफी गहराई तक पहुँचा कर भर देते हैं। यदि विद्रधि बढ़ी हुई या पाकोन्मुख है तो उसका शस्त्र के द्वारा भेदन भी करते हैं; परन्तु विद्रधि छोटी हुई तो भेदन अवांछनीय है क्योंकि इससे पूय का प्रसार होकर नये-नये केशाङ्कुर (Follicles) दूषित होकर रोग के अधिक फैलने की आशंका रहती है।

बाह्य कर्णशोथ में भी प्रारम्भिक अवस्था में इन्हीं घोलों की विकेशिका से कान को भरना चाहिये। 'एल्युमिनम् एसिटेट' का घोल कर्ण-

स्रोत गत स्राव सुखाने में बड़ा अच्छा काम करता है। दो तीन दिनों के भीतर ही पर्याप्त लाभ रोग में पाया जाता है। कर्णस्रोत का खुल जाना, शोफ का नष्ट हो जाना, रोगी का कष्ट (पीड़ा) से निवारण, कर्ण पटह का दिखाई पड़ना प्रभृति परिणाम औषध के प्रयोग से देखने को मिलते हैं। इन अच्छे लक्षणों के बाद भी कुछ दिनों तक कर्णस्रोत की दीवाल में 'एल्कोहोलिक जेनेशियनवायलेट' द्रव का लेप कर देना चाहिये, इससे अवशिष्ट दोष भी दूर हो जाते हैं।

पानी का प्रयोग किसी भी प्रकार इस चिकित्सा में नहीं करना चाहिये। क्योंकि पानी के घोल या 'हाइड्रोजेन पेरोक्साइड' प्रभृति प्रक्षालन में व्यवहृत होने वाले जल की बूँदें रोग की अवधि को बढ़ा देती हैं। यदि स्राव बहुत अधिक हो तथा प्रक्षालन अत्यावश्यक हो तो प्रयोग के बाद कान को खूब सुखा लेना चाहिये।

बाह्यकर्ण शोथ में बहुत प्रकार के मल्हम और क्रीम जो अधिकतर 'अमोनियेटेडमर्करी' या 'रीसार्सिन' के यौगिक हैं, प्रयोग में लाये जाते हैं। इसी प्रकार 'सल्फोनैमाइड' और 'पेन्सीलीन' भी चिकित्सा में व्यवहृत होते हैं जिनसे अधिकतर लाभ और बहुत-सी असफलतायें पाई गई हैं। अनेक ओषधियों के बावजूद भी अभी तक कोई रामबाण (Specific) योग नहीं है।

पथ्यापथ्य—क्षोभक कारणों को दूर करना, कान का खुजलाना, खुरचना, कुरेदना छोड़ देना चाहिये। चावल, कुलथी की दाल, लहसुन, करैला, घी, तेल, मूँग, परवल, पकाकर ठण्डा किया जल पथ्य है। शुष्क शाक, गुड़, दधि, मिठाई, खटाई और दाहकारक वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिये।

७

कर्णार्बुद

(Out growths in connection with the External Ear)

व्याख्या—प्राचीन वैद्यक में ग्रन्थि, अर्बुद, अलजी और विद्रधि प्रायः एक ही जाति की व्याधियाँ मानी गई हैं—क्योंकि सभी में शोफ (उभार) समान रूप से होता है। इसी 'शोफसमुत्थान' के कारण सबों की समानता है। परन्तु भेद प्रधान यह है कि विद्रधि में पाक होता है और ग्रन्थि और अर्बुद में प्रायः पाक नहीं होता। कर्णार्बुद की चिकित्सा भी सामान्य शल्यान्तर्गत अर्बुद की भाँति ही होती है। अस्तु माधवनिदानकारने कर्णार्बुद की स्वतन्त्र व्याख्या नहीं करते हुए 'कर्णशोथ, कर्णार्बुद और कर्णार्श को पूर्वोक्त शोथ अर्बुद और अर्श के लक्षणों से जानना चाहिये' इतना ही लिखा है।[1]

प्रकार—अर्बुद के सामान्य प्रकार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, मेदोर्बुद, मांसार्बुद और रक्तार्बुद नाम से शल्यतन्त्र के भीतर बतलाये गये हैं। यहाँ पर कर्णार्बुद में कुछ विशेषता दिखलाते हुए शालाक्यतन्त्र में एक स्वतन्त्र सिराज अर्बुद भी माना है। यहाँ पर आचार्य कार्तिक का मन्तव्य है कि यद्यपि सिरानिमित्तज अर्बुद वातजार्बुद में अंतर्गत हो जाता है, किन्तु फिर भी इसका पृथक् उल्लेख शालाक्य सिद्धान्त के अनुसार किया गया है। जैसा कि आचार्य सुश्रुत ने ही कर्ण रोगों के निर्देशानन्तर 'तीनों दोषों से तीन और सन्निपात से एक इस तरह चार प्रकार के अर्श तथा शोफ होते हैं'—इसी प्रकार शालाक्यतन्त्र के सिद्धान्त को देखकर सर्वात्मक सातवाँ अर्बुद है'[2] ऐसा कथन नासा-

---

१. कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः। (मा. नि.)

२. दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च ब्रूयात्तथार्शांसि तथैव शोथान्।
शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य चापि सर्वात्मकं सप्तममर्बुदन्तु। (सु. उ. २२)

रोगाधिकार में किया है। इस वर्णन में सातवाँ अर्बुद सान्निपातिक होता है, फिर ऐसी दशा में सिराज अर्बुद को रक्तार्बुद में अन्तर्भाव करके पुनः सान्निपातिक भेद को रख लेने से अर्बुद के सात की संख्या में कोई अन्तर नहीं आयेगा। फलतः कर्णगत अर्बुद के सात प्रकार-वातज, पित्तज, श्लेष्मज, रक्तज, मांसज, मेदज सिराज या सन्निपातज होते हैं।

अर्बुद को सामान्यतया अंग्रेजी में 'ट्यूमर्स' कहते हैं। इनके प्रधान दो भेद होते हैं—सौम्य (Simple) तथा घातक (Malignant) यद्यपि इनके लक्षण विस्तृत रूप से कर्णार्बुद के पाठ में वर्णित नहीं मिलते फिर भी विचारना है; कि प्रत्यक्षतया इस प्रकार के दृष्ट अर्बुद कौन-कौन से हो सकते हैं। इन अर्बुदों का अवस्थान कर्ण के बाह्य भाग में जैसे कर्ण पाली, शष्कुली और पुत्रिका (Tragus) अथवा बाह्य श्रुति पथ में होता है। पाश्चात्य शालाक्य ग्रन्थों के आधार पर कुछ कर्णार्बुदों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

बाह्योत्थान—(Exostosis) यह अस्थि की वृद्धि (अस्थ्यर्बुद) है जिसका उद्भव बाह्य श्रुतिपथ की दीवाल से होता है। यह अस्थिजात (Cancellous bone या Ivory bone) का बना हो सकता है। प्रायः ऐसा अस्थ्यर्बुद एक ही होता है; परन्तु बहुत भी हो सकते हैं। यह पूर्व भाग या पश्चात् भाग में पाया जा सकता है। इस अवस्था में रोगी को रोग का कुछ भी अनुभव नहीं होता और कभी-कभी बधिरता की तकलीफ पाई जाती है, दर्शन परीक्षा से बाह्य श्रुतिपथ, इस अर्बुद के कारण पूर्णतया रुद्ध हो जाता है। इस अवस्था में कई बार बाह्य कर्णशोथ भी रहता है जिससे कर्ण स्रोत पूर्णतया रुद्ध हो जाता है। ऐसी अवस्था में बाह्यकर्ण शोथ की चिकित्सा भी दुरूह हो जाती है। इस अस्थ्यर्बुद को काट कर निकालना सरल शस्त्रकर्म नहीं है। अस्तु, जब तक उसका निकालना नितान्त आवश्यक न जान पड़े वैसे ही छोड़ देना चाहिये। यदि कहीं अर्बुद का अवस्थान दीवाल के पश्चाद् भाग में हो तो शस्त्र कर्म में कई महत्त्व के अवयवों के कटने का भय रहता है विशेषतः मुखगत नाडी (Facial Nerve)

की क्षति पहुँचने की सम्भावना रहती है। दूसरी बाधा इसके शस्त्र कर्म में यह होती है कि अर्बुद को निकालते समय कर्णस्रोत की दीवालों में चूर्णित हो जाता है जो बढ़ता हुआ काफी दूर तक चला जाता है और अन्य रचनाओं को हानि पहुँचा सकता है।[1]

शष्कुली के घातकार्बुद—मांसार्बुद तथा रक्तार्बुद नामक अर्बुद असाध्य माने गये हैं। इनका बहुत कुछ साम्य 'कार्सिनोमा' नामक आधुनिक ग्रन्थों में वर्णित रोग से है। 'कार्सिनोमा' बाह्यकर्ण और 'स्रोत' का देखने को मिलता है—कई बार ये 'रोडेण्ट अल्सर' के रूप में कई बार 'पैपीलोमैटस' वृद्धि के रूप में मिलते हैं। इस 'कार्सिनोमा' का उद्भव उत्तान अपिस्तर नामक (Squamous Epithelium) विशिष्ट अपिस्तर से होता है और इस स्तर की, प्रचुर मात्रा बाह्य कर्ण में पाई जाती है।

इसमें प्रारम्भिक चिह्न, स्राव का होना है। यह स्राव स्वतन्त्रतया 'कार्सिनोमा' से न होकर औपद्रविक होता है। जब अर्बुद में पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग होकर वह व्रणित हो जाता है तब स्राव आने लगता है। बाह्य श्रुतिपथ के भीतर इनका अवस्थान कर्ण पटह के समीप कर्णस्रोत की दीवाल के फर्श में या पश्चाद् भाग में होता है। देखने से काले भूरे वर्ण के (Dark Purplish looking) व्रूह के रूप में मिलते हैं।

प्रतिषेध—यदि कर्णशष्कुली में अवस्थान हो और अर्बुद छोटा हो तो उसका छेदन (Excision) करके छोटे 'रेडियम् प्लेक (Pleque) लगाने से लाभ हो जाता है। कर्णस्रोत में अवस्थान होने पर पूर्णरूप से कर्णस्रोत के कण्डरास्थिमय भाग को काटकर निकाल (Complete Excision of Cartilagenous portion of the Meatus) देना चाहिये। पश्चात् कर्ण ग्रन्थि वाले क्षेत्र को रेडियम् के प्रयोग से निर्वीर्य कर देना चाहिये। जहाँ पर अर्बुद कर्ण पटह की झिल्ली के निकट सम्बन्ध में हो—वहाँ पर चौचुक निर्मूलन शल्य कर्म (Radical

१. लेखक की सौश्रुती के अर्बुद का अध्याय देखें।

Mastoid operation) के द्वारा अस्थिमय भाग तथा अपिस्तर (Epithelium) का निर्मूलन करना चाहिये ।

इन अर्बुदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में कई एक कर्ण अर्बुदों का वर्णन मिलता है जैसे—'सारकोमैटा' 'लाइपोमैटा' (मेदोर्बुद), 'काण्ड्रोमैटा' (कण्डरास्थिभाग के उद्भव से) तथा अन्य भी जिसका वर्णन अनपेक्षित प्रतीत होता है क्योंकि इनकी चिकित्सा में कोई वैशिष्ट्य नहीं है । चिकित्सा शल्यतन्त्रान्तर्गत कथित अर्बुद चिकित्सा के समान ही की जाती है ।[१]

कर्णार्श

(Polypus, warts or Condylomata in the Ext. Ear)

व्याख्या—कान में अर्श के मस्सों के समान पाये जाने वाली विकृति को कर्णार्श कहते हैं । ये अंकुर सदृश होते हैं और अधिमांस विकार कहलाते हैं ।[२]

भेद—सुश्रुत के अनुसार इनके चार भेद हैं—वातज, पित्तज, श्लेष्मज और रक्तज ।

सादृश्य—कर्णार्श का सादृश्य रखते हुए कई एक विकार बाह्य कर्ण में देखने को आधुनिक (पाश्चात्य वैद्यक) ग्रन्थों में वर्णित पाये जाते हैं ।

क्षयज ग्रन्थि—(Tuberculosis of the ear or Lupus) छोटी छोटी ग्रन्थियाँ कान के बाह्य भाग में पाई जाती हैं जो अधिकतर क्षयजन्य होती हैं । इन अंकुरों को अंग्रेजी में 'ल्युपस' कहते हैं ।

फिरङ्गार्श—(Condylomata) फिरंग की द्वितीयावस्था में यह विकार हो सकता है ।

१. कर्णार्बुदानां कुर्वीत शोथार्शोर्बुदवद् भिषक् । (यो० र०)
चिकित्सा चतुर्विध औषध, शस्त्र, क्षार एवं अग्निकर्म के द्वारा ।

२. कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः ।

कर्ण वल्मीक—(Otomycosis) यह एक बाह्य कर्णस्रोत का 'फंगस' के उपसर्ग से होने वाला विकार है (The most usual Fungus is Asperigillosis.) इस विकृति में भूरे काले वर्ण की झिल्ली कर्णस्रोत में बनती है—जिसके हटाने या बाह्य कर्णशोथ की चिकित्सा के बावजूद भी पुनरावर्त्तन (Recurrence) होता रहता है।

सस्फोट पटहशोथ—(Myringitis Bullosa) यह विकार स्रावयुक्त बाह्य कर्णशोथ की प्रारंभिक अवस्था में देखने को मिलता है। प्रायः वातश्लेष्मोल्वणज्वर (Influenza) के मरक में रोगियों में पाया जाता है। इसमें रक्तस्रावजन्य छाले (Haemorrhagic Bullae) कर्णपटह के ऊपर दिखलाई पड़ते हैं जो फैलते हुए बाह्य कर्णस्रोत की दीवालों पर भी आ जाते हैं। स्रोत के पीछे और ऊपर की ओर (Postero-Superior aspect) आमतौर से दिखलाई पड़ते हैं। ये वर्ण में लाल या घने नीले (Darkblue) उभार के रूप में एवं परिमाण में मटर की दाल के बराबर होते हैं। इनके लक्षणों में कुछ बाधिर्य और पीड़ा का अनुभव रोगी को होता है। यदि इनका उपशम हुआ तो काले खुरण्ड बनकर छिल्के निकल जाते और स्थान स्वस्थ हो जाता है अन्यथा कर्णस्राव पैदा करके मध्य कर्णशोथ पैदा कर देते हैं—उस अवस्था में चिकित्सा में तत्परता दिखलाना आवश्यक हो जाता है।

कई बार मध्यकर्ण की विकृतियों के कारण भी इस प्रकार के कर्णार्श दिखाई पड़ते हैं जैसा कि निम्नलिखित वर्णन से ज्ञात होता है—

कर्णार्श का निर्माण—जीर्ण मध्यकर्ण शोथ में पूयोत्पत्ति होने के परिणाम स्वरूप मध्यकर्ण की श्लेष्मल कला से रोहणाङ्कुरों के परिवर्त्तित रूप में इन उभारों की उत्पत्ति होती है।

रोहणाङ्कुरों को देखने से वे चमकते हुए लाल रंग के दिखाई पड़ते हैं, उनके छूने से उनसे रक्त स्राव होता है—उनका एषणी या संदंश (चिमटी) से स्पर्श किया जा सकता है या पकड़ा जा सकता है। इनमें छूने से वेदना नहीं होती है।

कर्णार्श ऊपर के वर्णन सदृश ही होते हैं, क्योंकि रोहणाङ्कुरों से ही इनकी उत्पत्ति मानी जाती है। कई बार कर्णार्श रोहणाङ्कुरों से अधिक मृदु एवं अधिक गुलाबी रंग के होते हैं; परन्तु अंतर यह होता है कि इनके छूने से रक्तस्राव नहीं होता है। इनका सर्वाधिक परिचय देनेवाला चिह्न यह है कि ये कर्णपटह (Drum) को छिद्रित करके बाहर को निकले हुए दिखलाई पड़ते हैं। इनका परिमाण विविध हो सकता है और ये बाह्य-कर्ण-स्रोत में बाहर को निकले हुए दिखाई पड़ते हैं।

(२) कर्णार्बुद तथा कर्णार्श से मिलता जुलता एक और अर्बुद का वर्णन मिलता है इसका भी उद्भव मध्यकर्ण से होता है और पटह के फटे हुए छिद्र से बाहर के स्रोत में दिखाई पड़ता है—इसको अंग्रेजी में 'कालोस्टीटोमा' कहते हैं। इन अर्बुदों को शलाका या एषणी से छूने पर वेदना नहीं होती, स्पर्श में मृदु होते हैं एवं आसानी से टूट जाते हैं। ये अपिस्तरके टुकड़े एवं 'कोलीस्टरीन' के कणों से बने होते हैं।

८

कृमिकर्ण[1] या जन्तुकर्ण

(Secondary infection of magates or eggs of flies or living insects in the Ext. Ear)

व्याख्या हेतु—'जब अधिक मल या क्लेद के कारण कान के भीतर का कोई भाग सड़ने लगता है, तब उसमें कृमियों की उत्पत्ति हो जाती

---

१. यदा तु मूर्च्छन्त्यथवापि जन्तवः सृजन्त्यपत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः ।
(मूर्च्छन्ति उच्छ्रिता भवन्ति)
तद्व्यञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते भिषग्वराद्यैः कृमिकर्णको गदः ।
(सु० ३।१६)

श्लेष्मपित्तजलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसजे ।
मूर्च्छन्ति जन्तवस्तत्र कृष्णताम्रसितारुणाः ।

है। अथवा मक्खियाँ कान के भीतर जाकर बैठती और अंडे देती हैं, उससे घाव पर साई पड़ जाती है, तब वहाँ अधिक कृमियों की उत्पत्ति होती है। अथवा सड़ने के कारण उत्पन्न हुए कीड़े अपनी वंश-वृद्धि कर कीड़े बढ़ा देते हैं, ऐसी व्याधि को भिषग्वर कृमिकर्णक कहते हैं।"[1]

यह व्याधि त्रिदोषज मानी गई है—इसमें क्लेद या क्लिन्नता कफ के कारण, कोथ या सड़न, ऊष्मा (पित्त) के द्वारा और वेदना वायु की वजह से होती है। आचार्य निमि ने इसी रोग का वर्णन और स्पष्ट करते हुए लिखा है—'रक्त और मांस में होने वाले कोथ के साथ कफ, पित्त और जल (लसीका) के मिल जाने पर कृमियाँ पैदा होती हैं जो अनेक प्रकार की (वात, पित्त और कफ की तोद, दाह एवं कण्डु) पीड़ाओं को करते हुए कान को खाती रहती हैं। ये कृमियाँ कई वर्णों की, जैसे—कृष्ण, ताम्र, श्वेत और अरुण वर्ण की होती हैं। इस रोग को कृमिकर्ण कहते हैं और यह त्रिदोषज होता है।'

प्रविचार—अब यह देखना है कि यह अवस्था कैसे पैदा होती है। इस प्रकार की कोथ या सड़न कान की सफाई ठीक न करने से ही संभव है। यदि बाह्यकर्ण शोथ हुआ, उससे स्राव होने लगा अथवा कर्ण विद्रधि हुई उससे मवाद बहने लगा—अब उस मवाद की सफाई न की जाय अथवा दवादारू के द्वारा उसकी हिफाजत न की जाय तो गंदगी से उस पर मक्खियाँ बैठतीं और जन्तुओं का उपसर्ग उस स्थान पर पहुँचा देती हैं। फिर भी यदि सफाई न हो पाई तो जन्तुओं की संख्या बढ़ती चली जाती है। बहुत मात्रा में कृमियाँ पैदा होकर गिरने लगती हैं। जब कीड़े पड़ जाते हैं तो कान में खुजली होती है, कीड़ों के चलने से कान में सुरसुराहट और उनके काटने से तीव्र वेदना

भक्षयन्तीव ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः ।
कृमिकर्णं तु तं विद्यात् सन्निपातप्रकोपजम् । (मधुकोष निमि)
वातादिदूषितं श्रोत्रं मांसासृक्क्लेदजां रुजम् ।
खादन्तो जन्तवः कुर्युस्तीव्रां स कृमिकर्णकः । (वाग्भट)

होती है वहाँ पर स्थानिक धातुओं (कान के भीतर के मांस और रक्त) का बड़ा नाश होता है ।

वास्तव में यह एक कर्णस्राव, विद्रधि, प्रभृति रोगों का औपद्रविक स्वरूप (Secondary infection) है जो मक्षिकाओं से, अस्वास्थ्यकर वातावरण में, सफाई की कमी से लापरवाह रोगियों में हो सकता है।

बाह्यकृमि प्रवेश—कृमिकर्ण रोग का एक और भी प्रकार हो सकता है 'कीड़े, पतङ्गे, मधुमक्खी, गोजर या कानखजूरा कान के छिद्र से भीतर की ओर कर्णस्रोत में प्रविष्ट हो जाते हैं। वहाँ पर पहुँच कर जब कीड़ा चलने लगता है तो कान में फरफराहट तथा अत्यन्त पीड़ा होती है; किन्तु जब वह कीड़ा चलना बन्द करके शान्त हो जाता है, तो वेदना मंद पड़ जाती है। यह एक ऐसी अवस्था है जो रोगी को तीव्र वेदना के कारण अशान्त एवं अत्यन्त व्याकुल कर देती है।'[१] कई प्रकार की गोमक्षिका, चींटी, कनसरैया प्रभृति पहुँचकर ऐसी ही वेदना करते हैं।

इस अवस्था को प्रथम वर्णन से बिल्कुल स्वतंत्र मानना चाहिये। आधुनिक पाश्चात्य शालाक्य ग्रन्थों में इस दूसरे प्रकार को जिसमें कीड़े, पतंगे कर्णस्रोत में प्रविष्ट हो जाते हैं कर्णशल्य (Foreign body in the External Meatus) के अंतर्गत माना जाता है, जिसका आगे वर्णन किया जायगा। प्रथम वर्णन में जहाँ पर कान में गन्दगी के कारण कीड़े पड़ जाते हैं—वह अस्वास्थ्यकर वातावरण और अशोधन में संभव है। मक्खियाँ गंदगी से बैठती और अण्डे देकर या अण्डों का उपसर्ग कराके कीटकों को पैदा करती हैं। शोधनाभाव के कारण होने वाले कीड़ों को 'मैगेट्स' (Magates) कहा जाता है।

१. पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि ।
अरतिं व्याकुलत्वञ्च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ।
कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा फरफरायते ।
कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना । (मा० नि०)

चिकित्सा—कान के कृमियों की चिकित्सा तुरन्त और सावधानी से करनी चाहिये क्योंकि यदि वे संख्या में अधिक बढ़ें और स्थानिक धातुओं का भक्षण करने लगे तो पहुँचकर कान के पर्दे (Drum) को भी खाते जाते हैं और उसको झर्झर करके या नष्ट करके रोगी को जीवन भर के लिये बधिर कर देते हैं।

१. *कृमिघ्न क्रिया प्रारंभ करना*—

(अ) वार्त्ताकु धूम—बैंगन का धुँवा कान में देना[1]।

(आ) भटकटैया के फल का धुवाँ कान में डालना।

(इ) सर्षप तैल का पूरण।

(ई) हरताल मिलाकर गोमूत्र का पूरण।

(उ) गुग्गुलु का धूपन।

(ऊ) सिरके में पापड़ाखार, मुसब्बर, अजमोदा और इन्द्रायण का गूदा मिलाकर पूरण।

(ए) सीताफल का स्वरस कान में डाले, सिंदुवार स्वरस, सूर्यावर्त्त का स्वरस, इन्द्रायण मूल या लाङ्गली मूलस्वरस का कान में प्रक्षेप करे।

(ऐ) हल्दी की गाँठ, १, नीम की पत्ती का रस १ तोला डालकर सर्षप तैल को पकाकर पूरण करे।

२. *प्रक्षालन*—जब कृमि मर जायँ तो पिचकारी के द्वारा पानी से साफ कर कृमियों को निकाल देना चाहिये।

---

१. कृमिकर्णविनाशाय कृमिघ्नीं कारयेत्क्रियाम्।
वार्त्ताकुधूमश्च हितः सार्षपः स्नेह एव च।
पूरितं हरितालेन गव्यमूत्रेण संयुतम्।
धूपने कर्णदौर्गन्ध्ये गुग्गुलुः श्रेष्ठ उच्यते।
सूर्यावर्त्तरसं वापि रसं वा सिन्दुवारजम्।
लाङ्गलीमूलतोयं वा त्र्यूषणं वापि चूर्णितम्।
एते योगास्तु चत्वारः पूरणात्कृमिकर्णके।
कृमीन्निर्मूलयन्त्याशु शतपद्यस्त्रपादिकान् (वृ० मा०)

(क) कान में कड़वे बादाम का तेल डालकर पिचकारी से कान को साफ करना।

३. *नस्यकर्म*—कई बार नकछिकनी का नस्य देने से भी कृमि छींक के कारण बाहर आ जाते हैं। कट्फल के महीन चूर्ण का नस्य भी उत्तम कार्य करता है।

४. *निष्कासन के अन्य उपाय*—(१) यदि मक्खी या कानखजूरा कान में गया हो तो एक बत्ती में मांस का टुकड़ा लगाकर कान के भीतर डाले—मांस की लोलुपतावश उसमें वे चिपक जायँगे और उसके साथ निकल आने में सरलता होगी। (२) कान के स्रोत के भीतर 'क्लोरोफार्म' की पिचकारी दे उससे कीट मूर्छित हो जायगा या मर जायगा। पश्चात् पिचकारी के पानी से धोकर अथवा चिमटी से पकड़ कर कीट को बाहर कर ले[१]। (३) स्रोत में त्रिकटु चूर्ण छोड़े इससे कीट उद्विग्न होकर बाहर आ जाता है। (४) जामुन के पत्तों का रस या जामुन के फल का रस कान में पूरा भर दे। इसके द्वारा स्रोत में प्रविष्ट कीट, पतंग या भीतर पैदा हुए कृमि बाहर आ जाते हैं और वेदना शान्त होती है। (५) कान में शराब डालने से भी यही लाभ होता है। (६) पशुओं में पाई जाने वाली मक्खी यदि कान में प्रविष्ट हो तो कान में प्याज का रस भरे या मकरा के पत्तों का रस निचोड़ कर कान में भरे इससे मक्खी निकल जायगी। (७) गोमक्षिका के निकालने के लिये एक और प्रयोग वृन्दमाधव ने दिया है। नन्द्यावर्त्त और पलाश के मूलों को लेकर दाँत से खूब चबाये उससे जो लाला (लार) निकले उसको कान में भर दे इससे मक्षिका निकल आती है।[२] (८) कलिहारी, भृंगराज, त्रिकटु को एक में मिलाकर पानी के साथ पीसकर एक कपड़े की पोट्टली में बाँधे और कान में उसी का रस टपका कर भरे इसके द्वारा, कर्णजलौका, कृमि, कीट, चींटी, गोजर

१. कर्णच्छिद्रे वर्त्तमानं कीटं क्लेदमलादि वा।
शृङ्गेणापहरेद्धीमानथवापि शलाकया॥ (सु. ३. २१)

२. दन्तेन चर्वयेन्मूलं नन्द्यावर्त्तपलाशयोः।
तल्लालापूरणं कर्णे ध्रुवं गोमक्षिकां जयेत्॥

तथा अन्य जीव यदि काफी गहराई तक भी पहुँच गये हों अथवा उनका शिरोभाग शेष हो, तो भी निश्चित निकल जाते हैं।[1]

अन्य कर्णशल्य (Foreign body in the Ear)—इनके अतिरिक्त भी कर्णशल्य हो सकते हैं। अधिकतर ऐसे कर्णशल्य बालकों में देखने को मिलते हैं। कर्णशल्य के दो प्रधान भेद हो सकते हैं (१) वानस्पतिक (Vegetable origin) (२) अवानस्पतिक। इस विभेद का महत्त्व चिकित्सा के उपक्रमों से है, यदि विजातीय द्रव्य अवानस्पतिक (Non Vegetable form) का हुआ तो उसके लिये सर्वोत्तम कर्णवस्ति है एक पिचकारी के द्वारा प्रक्षालन करके निकालना। परन्तु यदि वानस्पतिक पदार्थ हुआ तो उसके निकालने में पिचकारी का प्रयोग खतरनाक हो सकता है। उदाहरण के लिये मटर के दाने को लीजिये, यह एक आम चीज है जिसको बच्चे कान में डाल लिया करते हैं। यदि पिचकारी का प्रयोग किया तो वह फूल जायगा और संभव है कर्णस्रोत के अस्थिमय भाग में जाकर अँटक जाय जिससे कर्ण में तीव्र पीडा शुरू हो जायगी। शल्य का आहरण भी दुरूह हो जाता है, ऐसी अवस्था में उसके टुकड़े-टुकड़े काटकर निकालना होता है।

ऐसी शल्यभूत चीजें 'बीड' (काँच का मोती) रबर के टुकड़े, कंकड़ प्रभृति द्रव्य आसानी से वस्ति (Syringing) के द्वारा बारीक चिमटी के द्वारा निकाले जा सकते हैं। छोटे बच्चों में, यदि वे चंचल हों तो संज्ञाहर द्रव्यों का भी सहारा लिया जा सकता है। क्योंकि चिल्लाते और रगड़ते बच्चों के कान में से शल्य का आहरण उनके कान के अवयवों को सुरक्षित रखते हुए निकालना असंभव है। संज्ञाहर द्रव्यों के संबन्ध में भी एक बात को पहले ही ध्यान में रख

१. हलिरविभक्तिव्योषान्येकीकृत्य प्रकल्पयेद्वद्ध्वा ।
वसनान्तरे रसेन श्रवणे पूरयेद्युक्त्या ॥
कर्णजलौकानियतं कृमिकीटपिपीलिकास्तथान्येऽपि ।
निपतन्ति निरवशेषाः कारण्डाश्चापि मुण्डस्थाः ॥ (वृन्द)

लेना आवश्यक है, वह यह कि अचानक भयभीत बच्चे को बहिरङ्ग विभाग से ले जाकर संज्ञाहर द्रव्य का प्रयोग करके शल्य का आहरण नहीं शुरू कर देना चाहिये। उसके पहले उसको विधिवत् पूर्वकर्म (Proper Preparation) कर लेना चाहिये अन्यथा हानि की संभावना रहती है।

इस प्रकार बच्चों के कर्ण शल्याहरण में यदि संज्ञाहर द्रव्य का प्रयोग आवश्यक हो तो उसकी विधिवत् तैयारी कर ले पश्चात् उपयुक्त शस्त्रास्त्रों से सुसज्ज होने पर ही आहरण कर्म प्रारम्भ करना चाहिये। उपयुक्त यन्त्रों के अभाव में किसी अन्य सुसज्ज चिकित्सालय में भेज देना चाहिये। क्योंकि थोड़ी-सी असावधानी से जैसे मोटी चिमटी के प्रयोग से या मिथ्या प्रयोग से वह शल्य आगे की ओर बढ़ता चला जायेगा और कर्णपटह को छेद कर मध्य कर्ण में चला जायगा उस समय उसका निर्मूलन शंखकूट शस्त्रकर्म (Radical Mastoid operation) के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह जायेगा।

९

कर्ण-प्रतीनाह

(Perforation of the drum and catarrh of Eustachian tube)

व्याख्या हेतु संप्राप्ति—'वही कर्णगूथ जब पिघल जाता है विलीन हो कर नासा तथा मुख द्वारा आने लगता है तब उस विकार को कर्ण प्रतीनाह कहते हैं, और उसमें आधे शिर में दर्द होने लगता है यह विकार त्रिदोषज है।'[१]

१. स कर्णगूथो द्रवतां यदा गतो विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते ।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो भवेद्विकारः शिरसोऽर्द्धभेदकृत् ॥ (सु. ३.१६)
कफाद्वा मारुताद्वापि संनिपातेन वा पुनः । (विदेह—मधु.)

वक्तव्य—भाव यह है कि श्लेष्मा कानों में संचित हो पूर्वोक्त कर्ण-कण्डू रोग उपजाता है तदनु पित्त की ऊष्मा से शोषित होकर कर्णगूथक रोग बन जाता है। कर्णगूथ की अवस्था में आया हुआ वही श्लेष्मा जब पुनः पिघल कर विलीन हो नासा और मुख के रास्ते निकलने लगता है तो उसको कर्णप्रतीनाह की संज्ञा दी जाती है जिसमें आधे सिर में पीड़ा भी होने लगती है। यहाँ शंका उठती है कि यदि कर्णकण्डु, कर्णगूथ, कर्णप्रतीनाह एक ही रोग की अवस्था विशेष हैं तो उन्हें एक वृन्द और वृन्द की तरह एक ही क्यों नहीं मान लिया गया। इसका समाधान इस प्रकार है जैसे अभिष्यन्द, अधिमन्थ और हताधिमन्थों को उत्तरोत्तर अवस्था विशेष होने पर भी धर्मान्तर के साथ योग होने से नामभेद, अधिक गणना और पृथक्-पृथक् रोग स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार इस स्थल पर भी लक्षण विशेष तथा धर्मान्तर के योग होने से नाम भेद एवं अधिक गणना तथा पृथक् रोग स्वीकृति है। दूसरी बात यह है कि यहाँ एक रोग से दूसरे रोग की उत्पत्ति है। जैसे, कर्णकण्डु से कर्णगूथ और कर्णगूथ से कर्णप्रतीनाह की। यहाँ पूर्व पूर्व रोग उत्तर उत्तर रोग के प्रति कारण हैं, रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति तथा पूर्व रोग की शान्ति शास्त्र सम्मत है।[1] अस्तु ये रोग पृथक्-पृथक् हैं और इनका कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। तीसरी बात इनके पृथक् मानने में यह भी है कि कई बार पूर्वावस्था अत्यल्प होने के कारण लक्षित नहीं होती एवं उत्तर अवस्था स्फुट होती है। अर्थात् कभी-कभी कर्णकण्डु अलक्षित रहता है परन्तु कर्णगूथ स्पष्ट लक्षित होने लगता है। इसीलिये इनका स्वतन्त्र प्रतिपादन किया गया है। चौथी बात दोष-भेद से इनमें विभिन्नता होती है अस्तु स्वतन्त्र रोग माने गये हैं, जैसे कर्णकण्डु में वायु युक्त कफ, कर्णगूथ में पित्तोष्मशोषित कफ और कर्णप्रतीनाह में वात, पित्त, कफ तीनों दूषित होते हैं। पाँचवाँ भेद इनमें अंगविकृति की दृष्टि से कर सकते

१. ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः।
कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥ (च. ३.)

हैं। कर्णकण्डु एक लक्षण मात्र है जो कर्णगूथ में भी हो सकता है परन्तु प्रधानतया बाह्यकर्ण स्रोत शोथ (Otitis Externa) में होता है, कर्णगूथ में कोई विकृति नहीं होती (No pathological Change but a mere physiological disease or Mechanical disease) है और प्रतीनाह में पुनः वैकृतिक परिवर्त्तन (Pathological Changes) होते हैं और वह द्रवीभूत होकर बाह्यश्रुति पथ को पार कर कर्ण के बाह्य छिद्रसे न स्रवित होकर घ्राण या नासा से स्रवित होता है।

आधुनिक प्रविचार—अब यहाँ विचारणीय है कि कर्णगूथ तो बाह्य कर्ण का विकार है। नासा ग्रसनिका का सम्बन्ध तो केवल मध्य कर्ण से है मध्य कर्ण में श्रुति सुरंगा (Eustachian tube) नलिका के द्वारा गले से मध्य कर्ण का सम्बन्ध सम्भव है। मध्य कर्ण और बाह्य-कर्ण के बीच कान का पर्दा (कर्ण पटह) रहता है—जब तक उसका विदारित होना सम्भव नहीं है तब तक स्राव का मध्य कर्ण तक आना या मध्यकर्ण से गले तक और गले से नासा तक आना सम्भव नहीं। अस्तु यह तभी हो सकता है जब कि कर्ण पटह सछिद्र हो जाय। अस्तु इस विकार में (Rupture of the Tympanic membrane) हो जाना आवश्यक है तदनन्तर बाह्य कर्ण का स्राव श्रुति सुरंगा के जरिये नासाग्रसनिका तक पहुँचकर मुख या नासिका के द्वार से आ सकता है।

कुछ विद्वानों ने इस विकार (कर्णप्रतीनाह) को श्रुतिसुरंगा का तीव्र अवरोध (Acute obstruction of Eustachian tube) माना है—यह भी बहुत कुछ ठीक है जैसा कि वाग्भट के वर्णन से ज्ञात होता है 'कर्णगत श्लेष्मा वायु के द्वारा सूख जाता है अतएव वह स्रोतसों में लिपट जाता है जिससे पीड़ा, गुरुता और अवरोध का अनुभव होता है उसे कर्ण प्रतीनाह कहते हैं।'[1] यह विकार निश्चित रूप से श्रुति-सुरंगावरोध ही भासता है। परन्तु सुश्रुताचार्य के वर्णन में कर्णपटह विदरण (Ruptre) और श्रुतिसुरंगा का खुला होना

१. वातेन शोषितः श्लेष्मा स्रोतो लिम्पेत्ततो भवेत् ।
रुग्गौरवपिधानञ्च स प्रतीनाहसंज्ञितः ॥

आवश्यक है जिससे स्राव बाहर आवे। साथ ही अर्धावभेदक जैसे तीव्र शिरःशूल का होना जो बतलाया गया है वह निश्चित रूप से कर्णपटह का विदार द्योतित करता है। अर्थात् सुश्रुत के अनुसार विकृति को कर्णपटह का सच्छिद्र होना (Perforation of the Tympanic membrane) और वाग्भट के अनुसार श्रुतिसुरंगा का तीव्रावरोध (Acute obstruction of Eustachian tube) कहना चाहिये।

चिकित्सा—आयुर्वेद की दृष्टि से १. स्नेहन २. स्वेदन ३. शिरोविरेचन तथा ४. अन्य कर्णशूलोक्त तैलों का पूरण, यही चिकित्सा है।[1] क्योंकि कर्णपटह यदि छिद्र युक्त है तो बाह्य कर्ण का उपसर्ग मध्य कर्ण में पहुँच कर कर्णस्राव प्रभृति रोगों को पैदा कर देगा। फिर चिकित्सा सामान्य कर्णस्राव की ही करनी होगी; परन्तु यदि छिद्र छोटा हुआ और उसमें पूयोत्पादक जीवाणुओं का उपसर्ग नहीं पहुँचा तो रोहणाङ्कुर उत्पन्न होकर पुनः कर्णपटह भर कर स्वस्थ हो जाता है।

कर्णपटह के फटने के हेतु तथा प्रकार—कर्णपटह पर आघात बाह्य तथा भीतरी दोनों कारणों से हो सकता है जिससे उसमें छेद हो जाता है—बाह्य कारणों में १. बहुत प्रकार के कर्ण के शल्य जैसे 'हेयर पिन' 'हैट पिन' या ऐसे यंत्र जिनका बलपूर्वक शल्यों के निकालने में प्रयोग हुआ है। कई बार निकालते हुए वह शल्य ही प्रयास में आगे जाकर पर्दे को फोड़कर मध्य कर्ण में पहुँच जाता है। कई बार दन्त निर्लेखन, दियासलाई की बत्ती, सींक आदि के कान में खुजलाने के लिये डालते हुए हठात् हाथ की कर्पूर संधि में धक्का लग जाने से भी कर्णपटह सच्छिद्र हो जाता है। कानपर लगा जोर का आघात थप्पड़ या मुष्टि भी कर्णस्रोत में हठात् वायु का दबाव पैदा कर (Compression of Ear in the Ext. Ear) के कर्णपटह को फोड़ने में कारणभूत होता है। बन्दूक की आवाज से भी यह दोष हो सकता है। भीतरी

१. अथ कर्णप्रतीनाहे स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्।
ततो विरिक्तशिरसः क्रियां प्रोक्तां समाचरेत्॥

कारणों में अश्मास्थि (Petrous bone) का जिससे मध्यकर्ण की छत बनी हुई है, भग्न होकर अभिघात पहुँचाकर कर्णपटह के ऊपरी भाग में छेद कर सकता है। तीन प्रकार के छिद्र पटह के प्रत्यक्षतया देखने को मिलते हैं। (१) केंद्रीय (Central perforation) (२) परिसरीय (Marginal) और (३) पटहान्तिक (Attic Perforation) छिद्रता। इनमें पटहान्तिक सबसे उपरितन भाग में, मध्यकर्ण के पूयस्राव (Suppuration) के परिणामस्वरूप होता है।

चिकित्सा—में सभी प्रकारों में समानता है-(१) कान को ऊन की वर्ति से बन्द कर (२) रोगी को पूर्ण विश्राम देना। (३) पिचकारी का प्रयोग कान में नहीं करना चाहिये। (४) यदि बहुत ही आवश्यक हो तो कान को पूरे जीवाणु हीनता के विधान (Aseptic precautions) रखते हुए करना चाहिये। (५) यदि छिद्र के फलस्वरूप मध्यकर्ण शोथ हो जाय जिसकी सम्भावना रहती है तो तदनुकूल चिकित्सा करनी चाहिये (६) शुल्वाधिकार (Sulpohnamide group) की ओषधियों का अनागतबाधाप्रतिषेध की दृष्टि से प्रयोग किया जा सकता है।

इस अवस्था में लक्षण रूप में पीडा, बाधिर्य, रक्तस्राव प्रभृति लक्षण मिल सकते हैं।

श्रुतिसुरंगा के विकार शोथ तथा अवरोध—श्रुतिसुरंगा का मध्यकर्ण के क्रिया-विज्ञान में एक महत्त्व का स्थान है। कर्णरोगों में प्रायः इसका महत्त्व की रचनाओं में प्रथम स्थान है।

श्रुतिसुरंगा का श्लैष्मिक शोथ (Catarrh)—बाधिर्य का प्रायः यह कारण होता है। मध्य कर्ण शोथ का पूर्व कारण और नव प्रतिश्याय का सहगामी होता है। इस शोथ में बच्चों में और कभी कभी वयस्कों में भी थोड़ी पीडा बनी रहती है। यदि यह शोथ जीर्ण हो जाय तो बार-बार मध्यकर्णशोथजन्य बाधिर्य हो जाया करता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा (१) 'पोलिट्ज़र' की विधि से प्रधमन के द्वारा (२) नियमित समय पर कुछ दिनों का अन्तर दे कर बार बार

श्रुतिसुरंगा नाडी का प्रवेश (Catheterization) करना (३) 'वेबरलील' की नलिका द्वारा बीच बीच में उड़नशील तैलों तथा अन्य ओषधियों का पूरण (Injection) करना हितकर होता है। (४) कभी कभी स्वयमाध्मापन (Self Inflation) प्राणायाम विधि से करना भी हितकर होता है। नाक के दोनों छिद्रों को अंगुली और अंगूठे से दबा कर मुँह से हवा को भर कर गाल को फुला कर साँस का रोकना। इसे अंग्रेजी में 'वाल्सल्वा' (Valsalva's Method) की विधि कहते हैं।[1] इस रोग की चिकित्सा में कोई सफल प्रयोग ज्ञात नहीं है फिर भी उपर्युक्त विधियों से लाभ होता है।

यदि नासाग्रसनिका में कोई रोग हो तो यह विधि हितकर नहीं होती क्यों कि उससे ग्रसनिका का उपसर्ग नलिका से हो कर मध्य कर्ण तक पहुँच कर शोथ पैदा कर देता है।

इस मार्ग के द्वारा बाह्य कर्ण का स्राव, यदि पटह छिद्रयुक्त हो तो मध्य कर्ण में होता हुआ नासाग्रसनिका तक पहुँच सकता है और फिर वहाँ से नासा मार्ग से होता हुआ नासा-छिद्र से या मुख के द्वारा बाहर जा सकता है। और कर्णप्रतीनाह की अवस्था उपस्थित हो जाती है।

श्रुतिसुरंगावरोध—यह अवस्था कण्ठशालूक (Adenoids), मध्यकर्ण श्लैष्मिक स्राव, पूयकर्ण (Suppuration in the Ear) के कारण हो सकती है। इसमें रोगी को बधिरता का अनुभव होता है। श्रुतिसुरंगा नाडीप्रवेश (Catheterization) से लाभ होता और बधिरता दूर हो जाती है। परन्तु जब नलिका में सौत्रिक तन्तुओं की उत्पत्ति से नलिका स्थिर रूप से चिपक जाती (Adhesive) है तो केवल वायु के पूरण से लाभ नहीं होता है। उस दशा में नलिका में श्रुतिसुरंगा नाड़ी से सुरंगा के जरिये श्रुति शलाका (Bougies) प्रवेश करके मार्ग को खोलने की आवश्यकता होती है। यह चिकित्सा ऐसी है कि इसमें अनुभव, और विशेषज्ञता तथा कुशलता की आवश्यकता

१. इस विधि का नामकरण प्राणायाम विधि भी हो सकता है क्यों कि इस क्रिया में प्राण वायु का आयमन किया जाता है। अस्तु शास्त्रीय नाम सार्थक है।

पड़ती है। यदि अवरोध बहुत दिनों का हो तो सभी उपाय असफल भी हो सकते हैं।

एक और उपाय 'रेडियम्' चिकित्सा का है—कई बार इससे अच्छी सफलता मिलती है।

१०

कर्ण-शोथ

(Inflammation of the Ear)

शल्यतन्त्रोक्त शोथ निदान में वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक शोथ के लक्षण कह दिये गये हैं। अतः कर्ण में होने वाले वातादि जन्य चतुर्विध शोफों का भी लक्षण उन्हीं लक्षणों के आधार पर जानना चाहिये। भेद केवल इतना होगा कि स्थानिक लक्षण यहां पर इस अवयव विशेष के अनुसार होंगे–वहाँ पर शोथ के लक्षण उन उन स्थानों के अनुसार होते हैं किन्तु जो स्थानिक लक्षण उभयत्र हो सकते हैं उभयत्र मिलेंगे। यह त्रिविध हो सकता है १. बाह्य कर्णशोथ २. मध्य कर्णशोथ और ३. अन्तः कर्णशोथ।

कर्ण-पाक (Suppuration in the Ear)

'कर्णपाक पित्त से कर्णविद्रधि के पकने से, कर्ण के जल-पूर्ण होने से, कोथ (सड़ान्त) और क्लिन्नता को करने वाला कर्ण पाक होता है।' तन्त्रान्तर में एक और वाक्य भी मिलता है 'पित्त के कोप से प्रपाक होता है जिसके कारण कान में स्थानिक कोथ और क्लिन्नता हो जाती है।"[1]

---

१. कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथविक्लेदकृत् भवेत्।
कर्णविद्रधिपाकाद्वा जायते चाम्बुपूरणात्।
भवेत् प्रपाकः खलु पित्तकोपतो विकोथविक्लेदकरश्च कर्णयोः।

'यहाँ शंका होती है कि पित्तदोष के कारण कर्णगूथ में सूखना बतलाया है यहाँ पर उसी के कारण क्लिन्नता कैसे हो सकती है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए श्रीकण्ठदत्त जी कहते हैं कि जब पित्त इस प्रकार के विकार को उत्पन्न करने वाले सहकारी कारण वाला तथा बढ़े हुए द्रव भाग वाला होता है तो आर्द्रता (क्लिन्नता) आती है तब पित्त उस विकार को उत्पन्न करने वाले सहकारी कारण वाला तथा बढ़े हुए तेज भाग वाला होता है तो शुष्कता करता है। फलतः कर्णगूथ में कर्ण-गूथोत्पादक सहकारी कारण तथा तेज भाग वाले पित्त से कर्णगूथक होता है तथा कर्णपाक में कर्णपाकोत्पादक सहकारी कारण तथा द्रवांश बहुलता वाले पित्त से कर्णपाक रोग होता है जिसमें कि आर्द्रता रहती है।'[1]

कर्ण-संस्राव (Otorrhoea)

'सिरमें चोट लगने के कारण, जल में गोते लगाने के कारण, अथवा कर्णविद्रधि के पक जाने के कारण, वायुदोष से प्रपीडित अर्थात् तोदादि वातिक वेदनाओं वाला कान, पूय को स्रवित करता है। यह रोग कर्णस्राव कहलाता है।'[2]

इस सूत्र में पूय का स्रवण उपलक्षण मात्र है–इसमें रक्त और जल का भी स्राव हो सकता है, ऐसा मानना चाहिये। क्यों कि सिर पर चोट लगने से या जल में डुबकी लगाने से पूय का स्राव नहीं हो सकता बल्कि चोट से रक्त, जल निमज्जन से जल और विद्रधि से पूय का स्रवण होना चाहिये। अथवा प्रपाक का सभी के साथ सम्बन्ध जोड़ कर भाव-ग्रहण हो सकता है जैसे 'सिर में चोट लगने से प्रपाक (पूय जनक जीवाणु का उपसर्ग) होने पर, जल में डुबकी लगाने से प्रपाक होने पर वायु से पीडित कर्ण, पूय का स्राव करता है। इस प्रकार मानने से स्राव पाक से पृथक् नहीं कहा जा सकता क्योंकि पाक का सम्बन्ध

१. एवं विकारजनककर्मसहकारिणा द्रवांशोद्रिक्तेन पित्तेनार्द्रता तत्र तु एतद्वि-परीतत्वेन शोषः। (मधुकोष)

२. शिरोभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपाकादथवाऽपि विद्रधेः।
स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः।

सर्वत्र स्वीकृत हो चुका है। ऐसा आचार्य कार्तिक का मत है। इस व्याधि को अनिलार्दित कहने का तात्पर्य है कि अधिक स्राव होने के कारण वायु का ही कोप होता है।

पूतिकर्ण (Foulsmell discharge from the Ear)

'जिस कर्ण-रोग में पूयस्राव, दुर्गंधित स्राव या घना (निविड) स्राव हो उसको पूतिकर्ण कहते हैं।'[1] यह एक प्रकार का कर्णस्राव ही है जिसमें विशेषता घन स्राव (गाढ़ा स्राव) तथा दुर्गन्धयुक्त स्राव की होती है। इसकी व्याख्या में आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि 'पैत्तिक तेजोंश द्वारा कर्ण-स्रोत में स्थित श्लेष्मा के सन्तप्त एवं विलीन होने पर वेदनारहित वा वेदनासहित घने एवं दुर्गन्धित स्राव स्रवित करने वाला कर्णगत रोग पूतिकर्ण।'[2] पूतिकर्ण शब्द का शाब्दिक अर्थ ही होता है पूतिमान् कर्ण (बदबूदार कान)।

वक्तव्य—कर्णशोथ, कर्णपाक, कर्णस्राव, पूतिकर्ण तथा कृमिकर्ण ये रोग क्रमशः कर्णशोथ (Inflammatory condition of Ear) के ही द्योतक हैं। शोथ का परिणाम पाक में (विद्रधि में), कर्णपाक (Suppuration) का परिणाम कर्णसंस्राव (Otorrhoea) में, फिर उसका विपरिणमन कोथ का उपद्रव हो कर पूतिकर्ण में होता है फिर उसमें उपद्रव रूप में कृमि पैदा होकर कृमिकर्ण का रूप ले लेते हैं।

दूसरा विचारणीय कान के अवयवों के सम्बन्ध में है कि कान के तीन भागों में से किस अवयव का यह विकार है—उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर उसकी भी स्थिर मर्यादा नहीं बाँध सकते; फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जब तक मृदुरूप का स्राव हो उसे बाह्य कर्णस्रोत-शोथजन्य, अधिक उपद्रुत रूप स्राव को मध्यकर्ण-शोथजन्य या अन्तःकर्ण-शोथजन्य मान सकते हैं। इसमें मध्यकर्णशोथ

१. पूयं स्रवति पूतिर्वा स ज्ञेयः पूतिकर्णकः। (मा. नि.)

२. स्रोतः स्थिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा विलीयमाने भृशसम्प्रतापिते।
अवेदनो वाथ सवेदनो वा घनं स्रवेत् पूति च पूतिकर्णकः॥ (सु. उ. २०)

का ही महत्त्व का भाग है। अस्तु, यहाँ उसी का विस्तृत वर्णन करना प्रासंगिक ज्ञात होता है। बाह्यकर्णशोथका वर्णन कर्णकण्डु प्रभृति रोगों में किया जा चुका है।

मध्यकर्णशोथ (Otitis media)

व्याख्या—उस विकृति को कहते हैं जिसमें मध्य कर्ण के भीतर की दीवाल की श्लैष्मिककला (Lining Membrane) शोथयुक्त हो जाती है। इस दशा में सभी उपसर्ग की अवस्थाओं का समावेश हो जाता है अर्थात् मामूली शोथ से लेकर, कर्णपाक, कर्णस्राव, पूतिकर्ण एवं श्लैष्मिककला का परिवर्तन तक इसी एक विकार के भीतर आ सकते हैं। मध्य कर्ण एक ऐसे महत्त्व का अंग है कि इसके शोफ का प्रसार पूरे अन्तःकर्ण तथा शङ्खकूट तथा उसके वायुविवरों (Mastoid-air sinuses) तक पहुँच सकता है। क्यों कि मध्य-कर्ण की भीतर की ओर मढ़ी हुई श्लैष्मिककला अविच्छिन्न वायुकोषों (Mastoid antrum) तथा शङ्खकूट कोटर (Mastoid cells) तक चली जाती है। जैसे नासाशोथ का उपसर्ग अविच्छिन्न भाव से ऊपर तक बढ़ता हुआ नासा-कोटरों तक पहुँच जाता है उसी प्रकार मध्य कर्ण की श्लैष्मलकला शोफ भी शंख प्रवर्द्धन के अन्त भाग तक पहुँच जाता है। कई बार शोथ का प्रसार कान तक ही मर्यादित रहता है अथवा गोस्तन शोथ (Mastoiditis) शोथ करके स्थिर रहता है—तथापि इन परस्पर सम्बन्धित विविध अवयवों के शोफों को एक ही रोग समझना चाहिये और यह नहीं समझना चाहिये कि यह रोग इस प्रकार का है कि पहले मध्य-कर्ण की विकृति करता है पश्चात् दूसरे अवयवों अथवा रचनाओं पर अपना प्रभाव दिखलाता है। और फिर इसके कई प्रकार के उपभेद अल्पस्रावी (Catarrhal), अनौपसर्गिक (Non-Infective) तथा औपसर्गिक (Infective) करना भी कुछ अर्थ नहीं रखता क्योंकि इसका निर्णय बड़ा कठिन होता है क्योंकि कई बार प्रथम जो अल्पस्रावी मालूम होता है, पूतिकर्ण (Purulent) का रूप ले लेता है एवं कहीं पर अत्यन्त अल्प शोथ प्रकार में पूययुक्त स्राव का रूप होने लगता है।

मध्य कर्णशोथ का उद्भव—१. श्रुतिसुरङ्गा (Eustachian tube) मध्य कर्णशोथ को पैदा करने वाला बहुत महत्त्व का मार्ग है। उपसर्ग का कारण प्रायः नासाग्रसनिका (Nasopharynx) के रोग होते हैं। नासाग्रसनिका शोथ, कोटरशोथ, कण्ठशालूक, (Adenoids) अर्बुद या अन्य रोग में श्रुतिसुरंगा से होकर ऊपर की ओर उपसर्ग की विस्तृति हो जाती है। श्रुतिसुरंगा का उपसर्ग किसी भी क्षण, मध्य कर्ण को शोथयुक्त कर सकता है। मामूली प्रतिश्याय में श्रुतिसुरंगा का अधोभाग शोफयुक्त हो जाता है, परन्तु ऊपर वाले भाग में शोफ का लक्षण नहीं हो पाता फलतः मध्य कर्णशोथ भी नहीं होता। ऐसा (मध्य कर्णशोथ) तभी होता है जब कि उपसर्ग पहुँचते हुए मध्य कर्ण की श्लेष्मलकला तक पहुँच जाय। इस अवस्था में तीव्र मध्य कर्णशोथ हो जाता है। इससे भी सीधा उपसर्ग उपसर्गयुक्त स्राव के हठात् श्रुतिसुरंगा से होते हुए मध्य कर्ण की श्लेष्मलकला तक पहुँचने से हो सकता है—ऐसा तीव्र प्रतिश्याय के रोगियों में जोर-जोर से अधिक बार नाक साफ करते हुए (Blowing of the nose) हो जाता है।

२. जल निमज्जन—पानी में अधिक डुबकी लगाने यानी पानी में डूब कर तैरने से नासाग्रसनिका की विकृति होने पर उसका द्रव या स्राव जबर्दस्ती श्रुतिसुरंगा के द्वारा मध्यकर्ण तक पहुँच जाता है और पहुँच कर शोफ पैदा कर देता है। इसकी उत्पत्ति के लिये दो बातों की आवश्यकता रहती है प्रथम तो यह कि (१) पहले से नासाग्रसनिका की विकृति हो (२) किसी कारणवश साधारण से अधिक वायु भार गले के भीतर (Exposed to pressure above normal) हो जावे। पनडुब्बी जहाजों के नाविकों में जिनको प्राणवायु यन्त्र (Oxygen apparatus) लेकर चलना पड़ता है यदि उनमें नाक या गले का रोग पहले से विद्यमान रहा हो तो उनमें मध्यकर्णशोथ की घटनायें बहुत देखने को मिलती हैं।

३. सामूहिक स्नानागारों में जहाँ पर पानी के शोधन का ('क्लोरिन' के द्वारा शोधन का) अति योग किया गया रहता है वहाँ पर रासायनिक द्रव्य का क्षोभजन्य मध्यकर्ण शोथ उपर्युक्त विधि से ही हो जाता है।

४. बच्चों में अधिकतर मध्य कर्णशोथ, कण्ठशालूक (Adenoid) नामक ग्रन्थि के विकार में होता है। श्रुतिसुरंगा का छोटा होना, खुला होना और उसकी स्थिति (Position) की विशेषता होने से बच्चों में नासाग्रसनिका का उपसर्ग बड़ी आसानी से मध्य-कर्ण में पहुँच जाता है। तीव्र नासा-शोथ (Rhinitis), नासाग्रसनिका में पूय का संचय होना साथ ही बच्चे की क्षीणता के कारण नासा के द्वारा संचय हुए कफ को साफ करने में असमर्थता बहुधा उपसर्ग को मध्य-कर्ण तक पहुँचा देती है।

५. नासा या नासानलिका को साफ करने के लिये पिचकारी का मिथ्या योग (Unwise use) उपसर्गयुक्त स्राव को बलात् मध्यकर्ण तक भेज देता है।

६. कई बार नासागत रक्त रक्तस्राव को रोकने के लिये नासाग्रसनिका भर दिया जाता है अथवा नासाग्रसनिका में अर्बुद की उत्पत्ति हो कर स्वयं भर जाता है। ऐसी अवस्था में (Proper aeration) उचित वायु-सम्बन्ध अवरुद्ध हो जाता है। फलतः मध्य-कर्णशोथ हो जाना सम्भव रहता है।

७. मध्यकर्णशोथ, रक्तवाहिनियों के द्वारा भी उपसर्ग पहुँचने पर (Blood stream infection) भी हो सकता है।

८. विपर्यय से भी मध्यकर्ण शोथ होने का प्रमाण मिला है जैसे मस्तिष्कावरणशोथ या अंतःकर्णशोथ का उपसर्ग मध्य-कर्ण में पहुँच कर सूजन पैदा करे।

९. बाह्यकर्ण से भी मध्यकर्ण तक उपसर्ग पहुँच सकता है, परन्तु यह बहुत कम होता है जब करोटि के आधार का भग्न हो जाय या कर्णपटह का आघात के कारण विदार हो जाय। यदि कहीं पटह में छिद्र हो तो स्राव या द्रव मध्य भाग तक पहुँच जाता है और सूजन पैदा कर सकता है। इसलिये कर्णगूथ को पिचकारी से साफ करते हुए इन बातों को ध्यान में रखना चाहिये।

लक्षण तथा चिह्न—१. पीडा—यह सर्वाधिक व्यक्त लक्षण है। पीडा का भाव या अभाव द्रव या स्राव के संचय के ऊपर निर्भर करता है

यदि स्रावाधिक्य हो और उसके कारण मध्यकर्ण में तनाव (Tension) अधिक हो जाय तो पीडा अधिक महसूस होगी और तनाव कम होने पर कम। इस रोग में पीडा तीव्र (Sharp) वेधनवत् (Lancinating) होती है, और कान में ही मर्यादित रहती है।

२. बधिरता–मध्यकर्ण में स्राव का संचय अधिक हो तो उसमें यह चिह्न व्यक्त मिलता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में मध्यकर्णशोथ में यह चिह्न अनुपस्थित रहता है। यह एक ऐसी शोफ की अवस्थाविशेष है जिसमें स्राव के बाहर निकलने का साधन नहीं होता। जब स्रावसंचय होना शुरू हो जाता है, श्रवण संवेदन क्रमशः कम होने लगता है और अधिक मात्रा में स्राव का संचय हो जाता है, तब कर्णास्थियों की गति उनके बन्धनों की गति, एवं बन्धनों के ढकनेवाले श्लैष्मिक कला की गति में बाधा पड़ती है, परिणामस्वरूप सुनने की क्रिया में कमी पड़ जाती है। बधिरता का विचार मध्यकर्ण के शोथ की अवस्था के ज्ञान में बहुत सहायक होता है, मध्यकर्ण शोथ कहाँ तक बढ़ चुका है इसका ज्ञान हो जाता है। यदि रोगी को सुनने की शक्ति है तो मध्य कर्णशोथ में खतरा कम रहता है और शोथ का संशमन भी हो जाता है।

३. कर्णनाद या क्ष्वेड—कई बार कर्णशूल के साथ कान में आवाज होती है, कई बार शूल नहीं भी होता और आवाज होती रहती है।

४. प्रतिध्वनि—(Vocal resonance) रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि वह किसी पीपे (Barrel) में बातें कर रहा है।

५. भ्रम (चक्कर)—यह बहुत कम पाया जाता है जब शोथजन्य क्षोभ अन्तः कर्ण में भी होने लगे।

६. सार्वदैहिक लक्षणों में मध्य कर्ण शोथ में ज्वर, नाडी की गति तीव्र, जिह्वा दरारयुक्त शुष्क, अग्निमांद्य, क्षुधाभाव, प्रतिश्याय प्रभृति लक्षण मिल सकते हैं।

मध्यकर्णशोथ का निदान—कर्णपटह के दर्शन से प्रारम्भ में मध्य-कर्णशोथ का ज्ञान कर्णपटह की प्रत्यक्ष अवस्था देखकर होता है। अस्तु, यदि कर्णपटह की कला साफ न दिखाई पड़े, जैसा कि परीक्षक

की कुशलता की कमी से अथवा बाह्य कर्ण स्रोत में त्रिट्क या विद्रधि होने की वजह से संभव है तो कर्णशोथ का निदान अनुमान से ही करना संभव है, परन्तु इसके ऊपर पूर्णरूप से विश्वास भी नहीं किया जा सकता। अस्तु, सभी रोगियों में जहाँ प्रारम्भिक अवस्था में मध्य-कर्णशोथ का निश्चित निदान करना होता है; वहाँ कर्णपटह की परीक्षा आवश्यक हो जाती है। इसके लिये बाह्य कर्ण स्रोतगत गूथ, विद्रधि आदि को शलाका, चिमटी या पिचकारी से दूर करके पटह की श्लैष्मिककला की यथोचित परीक्षा करनी चाहिये।

मध्यकर्ण शोथ की अवस्था में पटह की चमक (Lustre) जाती रहती है उसका वर्ण भूरे से भूरे गुलाबी (Greyish pink) और गुलाबी से बिल्कुल चमकता हुआ लाल (Bright red) हो जाता है। जब स्राव काफी इकट्ठा हो जाता है तब पटह की कला अपनी पीछे की दीवाल की ओर उभरी हुई (Bulging) दीख पड़ती है, सूजन बढ़ती चलती है और कला के सम्मुख की ओर भी आ जाती है। फिर अन्त में कला दुहरी (Doubled roll) के समान दीखने लगती है एवं केन्द्र में गर्त (Dimple) हो जाता है। जहाँ पर मुद्गरक का वृन्त पटह से लगा रहता है वहाँ पर इस कला तक पहुँचते पहुँचते पटह-कला का वर्ण गाढ़ा लाल हो जाता है। जब पाक की दशा बहुत बढ़ी रहती है तब उस काल में कला की लालिमा में पीलापन भी झलकता है। कई बार एक रेखा सी भासती है जो मध्य कर्ण में भरे हुए द्रव की ऊँचाई सूचित करती है। यदि फटने की स्थिति में पटह का निरीक्षण किया जाय तो उभार में एक पीला चूचुक-सा (Yellow nipple) दिखाई पड़ता है। जो मवाद (Sloughing) बनने की प्रक्रिया का द्योतक है।

स्वरद्विशूल परीक्षा (Tuning fork test)—यह परीक्षा मध्यकर्ण की विकृति का ज्ञान कराने में महत्त्व का भाग लेती है। इस परीक्षा के प्रारम्भ करने के पूर्व इस बात का निश्चय हो जाना चाहिये कि कर्णस्रोत का अवरोध नहीं है। कर्णस्रोत में यदि मैल हो तो साफ कर लेना चाहिये। शोथ की प्रारम्भिक अवस्थाओं में 'राइनेने' की परीक्षा अस्त्यात्मक हो सकती है, परन्तु यदि विकार बहुत बढ़ा हुआ है तो

परीक्षा प्रायः नास्त्यात्मक होती है। यदि दोनों पार्श्वों में शोफ हो तो 'वेवर' की परीक्षा दोनों कानों के विभेद के लिए की जाती है, जिस में कि स्वर अच्छा सुनाई पड़ता है उसमें उपसर्ग का बढ़ा हुआ रूप (उग्र) समझना चाहिये।

अस्थि की स्पर्शासह्यता—जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मध्यकर्ण की आवृत करने वाली झिल्ली का अविच्छिन्न सम्बन्ध चौचुक प्रवर्द्धन तथा उसके वायुविवरों (Mastoid Antrum & Mastoid cells) से है। यदि इन अंगों में शोफ हो जाय तो इस अस्थि के ऊपर तीव्र स्पर्शनाक्षमता आ जायगी। अस्तु, कान के पीछे की हड्डी पर दबाने से कुछ पीड़ा होगी। यदि मध्यकर्ण शोथ में उपशम हुआ, तो मध्यकर्ण का स्राव शोषित हो जाता है एवं धीरे धीरे हड्डी के ऊपर की स्पर्शनाक्षमता गायब हो जाती है। परन्तु यदि उपशम नहीं हुआ और विकृति का आगे की ओर बढ़ना जारी रहा तो शंखकूट में शोथ स्थायी होकर 'मास्टायडाइटिस' का रूप ले लेता है। इस रोग के पूर्वरूप की अवस्था को 'मास्टायडिस्म' कहते हैं।

बच्चों में मध्यकर्णशोथ—बच्चों के निदान में बड़ी कठिनाई पड़ती है और अधिकतर निरीक्षण के अनुभवों पर निदान करना होता है। छोटे बच्चों में बेचैनी, चिल्लाना, रोना, चौंकना, चीखना (Screaming) विशेषतः रात्रि में, हाथ को ऊपर उठा कर सिर पर या कान पर रखना, शिर को तकिये पर रगड़ना, शिरोभ्रमण ये चिह्न मिलते हैं। जिसमें कान की परीक्षा आवश्यक हो जाती है।[1] कई बार कर्णस्राव जिससे वेदना की कमी हो जाय यह भी एक लक्षण मिलता है।

छोटे बच्चों के कान की परीक्षा करने के लिये उनकी संज्ञाहर द्रव्यों से संज्ञाहरण करके कान की परीक्षा कर लेनी चाहिये। जहाँ पर ठीक निदान न हो पाता हो वहाँ पर यह विधि निदान में महत्त्व की सहायता पहुँचाती है।

१. कर्णौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रामयते भृशम्।
अरत्यरोचकास्वप्नैर्जानीयात्कर्णवेदनाम् ॥ (काश्यपसंहिता)

कर्णपटह में छिद्र हो जाने के बाद—निदान अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। रोगी इस प्रकार का कथन करते मिलते हैं कि कर्ण के शूल की तीव्रता कान बहने के बाद कम हो गई। पश्चात् देखने पर कर्ण ...त स्राव से भरा हुआ दीखता है। जो पतला या गाढ़ा (Sero-sanguineous fluid) या पीले पूय के रूप में रहता है। जब इसको रुई से साफ कर लिया जाता है तो स्राव एक पतले छिद्र से आता ज्ञात होने लगता है। उस छिद्र का स्थान निश्चित करना कठिन होता है क्योंकि पटह शोथयुक्त रहता है और स्राव अनवरत बहता रहता है। बाधिर्य भी स्राव की अवस्था में पहले की अपेक्षा कम हो जाता है। यदि कम न हो तो किसी अन्य उपद्रव की आशंका करनी चाहिये अथवा यह समझना चाहिये कि कर्णशोथ सुधर नहीं रहा है। स्वर-द्विशूल की परीक्षा से मध्य कर्ण की बधिरता मालूम होती है और क्ष्वेड का अनुभव रोगी को कर्णपटह के छिद्रयुक्त होने पर होता है जो काफी समय तक रहता है। सार्वदैहिक लक्षणों से ज्वर शान्त हो जाता है नाडीगति प्रकृत पर आ जाती है। परन्तु पटह के छेद होने पर भी यदि ज्वर बना रहे या नाडीगति तीव्र रहे तो समझना चाहिये कि उपसर्ग आगे की ओर बढ़ रहा है।

तीव्र मध्यकर्णशोथ का सुधार (Recovery from Acute otitis Media)—यह विकृति निम्नलिखित तीन प्रकारों में से किसी एक क्रम के अनुसार ठीक हो जाती है।

(१) अपने आप या स्वाभाविक क्रम से बिना छिद्र के सुधार हो जाना।
(२) अपने आप या स्वाभाविक क्रम से छिद्र हो जाने के बाद (After perforation) सुधरना।
(३) पटहभेदन (Myringotomy) के पश्चात् विकार का ठीक हो जाना।

तीव्र मध्यकर्णशोथ की चिकित्सा—तीव्र मध्यकर्णशोथ की चिकित्सा का मुख्य ध्येय श्रवण क्रिया को सुरक्षित रखना है।

पटह में छेद होने के पूर्व (१) रोग की तीव्रावस्था में शूल का होना सब से उत्कट लक्षण मिलता है, जो पटहकला के नाड्यग्रों (Nerve endings) के क्षोभ के कारण होता है। अस्तु इसके लिये वायुशामक (Soothing) ओषधियों का जैसे 'एस्प्रिन' एवं 'कोडीन' आदि का प्रयोग करना चाहिये। ऐसी ओषधियाँ जिनका स्थानिक संज्ञाहरण का प्रभाव हो इस अवस्था में बड़ी मूल्यवान् होती हैं। 'ग्लिसरीन' जिसमें 'कार्वोलिक एसिड' १०% का मिला हो अथवा ऐसी ही अन्य ओषधियें जैसे 'संशामक पूरण (Sedative drops) का प्रयोग हितकर होता है। (२) दूसरी आवश्यकता श्रुतिसुरंगा के प्रवाह का पुनः स्थापन करने की रहती है। इसके लिसे वाष्पध्मापन (Inhalation) जिसमें 'फायर का बालसम' या बहुत ही अल्प मात्रा में पिपरमेण्ट (Menthol) मिली हो दे—अथवा लवणविलयन में सोम डाल कर बनाया 'ड्राप' (Ephebrine in saline drop) यदि आवश्यक हो तो एक नाड़ी (Eustachian catheter) के द्वारा सीधे श्रुतिसुरंगा में सोम घोल (Ephedrine) बना कर डाले। इस क्रिया से श्रुतिसुरंगा का संकोच दूर हो कर प्रवाह शुरू हो जायेगा।

सामान्य चिकित्सा—१. सहायक कारणों को दूर करना २. अनुचित ढङ्ग से नाक की सफाई (नेटा निकालने की क्रिया Improper bl- wig of the nose) को छोड़ना ३. जल निमज्जन अथवा स्नान करते समय कान में पानी के प्रवेश को बचना ४. नासाकोटरों में कोई दोष हो तो ठीक करना ५. रोगी को प्रारम्भिक अवस्था में शय्या पर लेटा कर गर्म तथा हवादार कमरे में रखना। ६. उष्ण स्वेद, सूखा, गीला व विद्युत्स्वेद करना। ७. प्रारम्भिक अवस्थाओं में 'शुल्वाधिकार (Sulpha drugs) या 'पेन्सिलीन' का व्यवहार करना। इन उपक्रमों के अनुसार रोगी को रखने से प्रारम्भिक अवस्था में उपशम हो जाता है।

यदि प्रारम्भिक उपायों से रोग की प्रगति न रोकी जा सके और पटह की कला भरी मालूम हो और पीछे के द्रव के भार से उभरी हुई जान पड़े, रोगी की सामान्य दशा में भी कोई प्रशस्तता न मालूम पड़े बल्कि दिनानुदिन खराब होती जाय तो कर्णपटह वेधनकर्म (Myrin-

(...tomy) नामक शस्त्र-कर्म करने का विचार आवश्यक हो जाता है ताकि संचित हुए द्रव का निर्बाध निर्हरण हो जाय।

कर्णपटहवेधन या भेदनकर्म का निर्देश–निम्नलिखित अवस्थाओं में है–

१. अत्यधिक शूल जिसमें वेदना को तत्काल कम करने की आवश्यकता हो।

२. मध्यकर्ण में पूय के सञ्चयजन्य उच्च तापक्रम या तीव्र ज्वर प्रभृति विषमयता के चिह्न की उपस्थिति।

३. मध्य कर्ण में अधिक द्रव के सञ्चय होने के कारण बढ़ते हुए श्रवण कार्य के दोष की विद्यमानता। (अर्थात् भार के कारण यदि बधिरता बढ़ती ही चली जाय)।

इस शस्त्र कर्म से लाभ—तीव्र लक्षण तथा उपद्रवों की शान्ति हो जाती है—उपसर्ग का आगे की ओर प्रसार रुक जाता है–सब से बड़ा लाभ यह होता है—कि विशोधित कुशल चिकित्सक-कृत भेदन के द्वारा दोष का निर्हरण हो कर व्रण का रोपण ठीक हो जाता और कला के निर्माण हो जाने से सुनने की क्रिया में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ने पाती है। ये विशेषतायें अपने आप कला के कारण विदीर्ण हो जाने में नहीं आतीं और न रोपण ही आशु होता है, एवं न श्रवणक्रिया के ही प्रकृत रूप में आने की आशा रहती है।

विधि—(Technique) १. *संज्ञाहरण*—'गैस आक्सीजन' या 'पेण्टोथाल' के द्वारा संज्ञाहरण अनुभवी शालाक्यविदों के लिये पर्याप्त होता है; परन्तु यदि अनुभव की कमी हो तो ऐसे संज्ञाहर द्रव्य का प्रयोग करे जिसमें पर्याप्त समय शस्त्रकर्म करने के लिये मिल जाय। कई बार जहाँ पर पटह की कला द्रव के भार से पर्याप्त फैली हुई हो 'ब्लेगवाद' की बूंदों (Blegvad's drop) द्वारा भी स्थानिक संज्ञा हरण का कार्य हो सकता है।

२. *बाह्यश्रुतिपथ का विशोधन*—'स्पिरिट' की पिचु से पोंछने या जीवाणु नाशक घोल में भिगाये प्लोत (Gauze) से कान को कुछ मिनट के लिये भर देने से कार्य हो जाता है। जब रोगी संज्ञाहीन हो

जाय तो कर्णवीक्षण यन्त्र (Speculum) को कान की बाहरी नलिका में डाल कर पटह की स्थिति का पूर्ण निरीक्षण कर लेना चाहिये। यदि कोई मैल, गूथ, नष्ट हुई किट्ट (Debris) के कारण अवरोध हो तो उनको साफ कर पटह का दर्शन ठीक हो सके ऐसा कर लेना चाहिये।

३. भेदन कर्म—अब उस स्थान का चयन करना चाहिये जहाँ पर पटह में भेदन कर सके-इस अवस्था में एक विशेष प्रकार के वृद्धिपत्र का जिसका वृन्त कोणदार (Angled) हो, प्रयोग में लाना चाहिये जिससे शस्त्रकर्म के समय में स्थान स्पष्ट देखा जा सके। इस क्रिया में भेदन (J) अंग्रेजी के 'जे' अक्षर के आकार का किया जाता है-भेदन का स्थान पटह के पश्चात् भाग में उस सतह की रेखा में करना चाहिये जो कि पटह को ऊपर और मध्य तृतीयांश में बाँट दे। फिर भेदन कुछ दूर तक खड़े (Vertically) ले आकर घुमाते हुए नीचे की ओर मुद्गरास्थि के वृन्ताग्र के नीचे तक ले आना चाहिये।[1] वृद्धिपत्र की नोक भीतर में उतनी ही गहराई तक जानी चाहिये जितने में पटह की कला कट जाये अन्यथा भीतर रचनाओं की क्षति का भय रहता है। भेदन के साथ ही पूय, रक्त प्रभृति स्राव निकलने लगते हैं, उन को पिचु के जरिये साफ करना चाहिये। शस्त्रकर्म के पश्चात् ही रोगी का तापक्रम दूर हो जाता है और साधारण दशा अच्छी हो जाती है। यदि रोगी में कर्म के बावजूद भी लाभ नहीं नजर आवे तो उपद्रवों का विचार करना चाहिये अधिकतर शंखकूट उपसर्ग का भय रहता है। (Advancing mastoid infection).

४. *श्रुति सुरंगानिरीक्षण*—शस्त्रकर्म के पश्चात् इस अंग का निरीक्षण करके आवश्यकता के अनुसार निर्ध्मापन (Inflation) भी किया जा

1. Thd icision is J shaped and should commence in the posterior part of the drum about the level of the line dividing the drum horizontaly into upper and middle thirds. The icision is then brought down vertically and curved round well below the tip of the handle of the malleolus.

सकता है—यह क्रिया भी इस चिकित्सा में सहायभूत होती है—इसको कभी नहीं छोड़ना चाहिये। इसके अभाव में कई बार रोगी को ईषत् बाधिर्य का आजीवन शिकार बना रहना पड़ता है।

५. *चिकित्सा में*—सुविधा प्राप्त करने के लिये स्राव की तृणाणु विषयक परीक्षा (Bacteriological examination) की भी आवश्यकता पड़ती है।

मध्यकर्णशोथ की कर्णपटह भेदन या छेद हो जाने के बाद की चिकित्सा—

१. प्रथम आवश्यकता स्राव या मवाद को अच्छी तरह साफ हो जाने की रहती है (Adeqate drainage) २. दूसरी आवश्यकता स्राव को सुखाने की (Drying up the discharge) ३. पीड़ा की चिकित्सा—इस अवस्था में उसका अभाव रहने से कोई आवश्यक नहीं रहती; यदि कहीं इस दशा में भी पीड़ा बनी रहे तो उपसर्ग का प्रसार हो रहा है ऐसा समझना चाहिये, उस अवस्था में विकृति के अनुसार चिकित्सा करे। कई बार स्राव के बाह्यकर्णस्रोत में भर जाने या पटह के छिद्र या मुख के रुद्ध हो जाने पर भी पीड़ा बढ़ जाती है उस अवस्था में कर्णशोधन कर देने से पीड़ा शान्त हो जाती है। ४. यदि स्राव जारी रहे तो उसको शुष्क करे या आर्द्रपद्धति से चिकित्सा करे।

शुष्क पद्धति—कर्णस्रोत की वस्त्रावेष्टित एषणी (Dressed probe) से या रुई की पिचु से खूब सफाई कर लेना होता है। इसके लिए अच्छा प्रकाश, कुछ कुशलता और कुछ प्रारंभिक अभ्यास की जरूरत होती है। कान की नलिका को साफ कर लेने के बाद उसमें ऊन की वर्त्ति (Wick of worsted) भर के छोड़ देते हैं—इस वर्त्ति के द्वारा मध्य कर्णगत स्राव बाहर निकलता रहता है।

आर्द्र पद्धति—"हाइड्रोजेन पेराक्साइड' की बूँदें कर्णस्रोत में डाल कर आधे से एक मिनट तक छोड़ दें, इससे संग्रह पिघल कर बाहर आ जाता है—स्राव की सफाई के लिये बोरिक एसिड का लोशन (टंकण घोल) बनाकर पिचकारी के जरिये मुलायम हाथ से धोकर कान को साफ कर लें—पश्चात् कान को रुई से पोंछ कर पूर्ण शुष्क कर

लें यह चिकित्सा दिन में एक बार या स्रावाधिक्य होने पर दो बार की जा सकती है।

स्राव को सुखाने के लिये टंकण (बोरिक एसिड) को रेक्टीफाइड स्प्रिट (१५ ग्रेन बोरिक एसिड एक औंस स्प्रिट) में घोलकर प्रातः और रात में छः बूंद कान में डालने का प्रयोग करना चाहिये।

बोरिक ऐण्ड आयोडायड चूर्ण—(७५ प्रतिशत आयोडीन के अनुपात से बोरिक एसिड में मिला लेना चाहिये) यह सबसे नया प्रचलित योग है। उद्देश्य स्राव को सुखाना ही रहता है—बोरिक कान के स्राव में घुल कर आयोडीन को मुक्त करता है—जो स्थानिक जीवाणु नाशन की क्रिया करता है—इस चूर्ण को निध्मापक (Insufflator) के द्वारा कान में ध्मापित किया जाता है।

शुल्वाधिकार के योग—"सल्फामेज़ाथीन" का भी उपयोग इसी कार्य में होता है; परन्तु प्रयोग बहुत आशाजनक नहीं रहता, क्योंकि कई बार चूर्ण के उपयोग से बने खुरण्ड कर्णस्रोत को रुद्ध करके बाधिर्य पैदा कर सकते हैं।

पेन्सिलीन—इसके घोल या चूर्ण का व्यवहार भी होता है; परन्तु बहुमूल्य नहीं, हाँ, कोटरों में जैसे शंखकूट खात में इसका प्रयोग बहुमूल्य सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य 'एण्टीबायटिकों' से बने कर्णबूंदों का जैसे 'क्लोरेमायसेटिन' 'सिन्थोमायसेटिन' से या 'टेरामाइसिन' आदिकड्राप इस काम में उत्तम लाभ दिखलाते हैं।

उपसर्ग के अन्य कारणों का दूर करना जैसे नासाग्रसनिका के रोग, कोटरशोथ या वायुविवरशोथ (Sinusitis) इन रोगों की भी चिकित्सा करनी चाहिये।

—o—

११

जीर्ण मध्यकर्णशोथ

व्याख्या—यदि मध्यकर्णशोथ का उपशम न हो तो उसका परिणाम जीर्ण मध्यकर्णशोथ में होता है 'अधिक दिनों से कान का स्राव जिसमें तीव्र शोथ का कोई भी चिह्न न हो।' संभवतः 'कर्णस्राव' नामक विशेष रोग इसी जीर्ण मध्यकर्णशोथ की अवस्था विशेष का ही नाम है।

लक्षण—स्राव सबसे प्रधान लक्षण है। यह स्राव पतले (Muco-purulent) से लेकर गाढ़े तक कई प्रकार का हो सकता है—कई बार बदबूदार भी हो सकता है इस अवस्था में इसकी प्राचीनों द्वारा स्वीकृत "पूतिकर्ण" की संज्ञा दी जा सकती है। कई बार यह स्राव इतना गाढ़ा होता है कि कर्णस्रोत के बाहर नहीं आता और स्रोत में मैल या मोम जैसे जमा रहता है।

बाधिर्य—प्रायः कुछ न कुछ रहता है। इसकी उपस्थिति अत्यन्त अल्प बधिरता से लेकर पूर्ण बाधिर्य तक कई रूपों में मिल सकती है। इसके अतिरिक्त भी भ्रम, ज्वर, प्रभृति कई लक्षण मिल सकते हैं; परन्तु ये उपद्रवरूप में मिलते हैं जब कि उपसर्ग का प्रसार नजदीक की रचनाओं में भी हो जाता है।

जीर्ण कर्णस्राव के सम्बन्ध में विचारणीय

जीर्ण कर्णस्राव के रोगियों में कई बातों के विचार या शोध कर लेने की आवश्यकता पड़ती है जैसे १. कर्णपटह की परीक्षा २. मध्यकर्ण-शोथ के कारण के अनुसार प्रकार[1] ३. कर्णार्श (या कर्णार्बुद) (Mass

1. Types of middle ear infection (1) Eustachian infection (2) Catarrhal otitis media (3) Mastoid infection (4) Attic suppuration (5) Presence of granulation Tissues or polypus.

granulaion or polypus or Cholestetome) ४. श्रवणज्ञान ५. स्वरद्विशूल यंत्रपरीक्षा ६. अन्तःकर्ण परीक्षा ७. नाड़ीव्रणचिह्न (Fistula symptom)।

चिकित्सा—यदि इस बात का निर्णय हो जाय कि व्याधि का अवस्थान बहुत गहराई में नहीं है, रोहणाङ्कुर या अर्श नहीं हैं तथा अस्थि के कोथ अथवा 'कोलीस्टीटोमा' और पटह का केन्द्रीय छेद है तो सुगम (Conservative) चिकित्सा का प्रारंभ करे। इस चिकित्सा के दो ही उद्देश्य रहते हैं; प्रथम कर्ण की पूरी सफाई, द्वितीय स्राव को शुष्क करना। सबसे सन्तोषजनक सफाई कान की पिचकारी से होती है। पहले कान में 'हाइड्रोजेपेरोक्साइड' की कुछ बूँदें डाल कर एक मिनट तक उसी में पड़े रहने देते हैं; फिर उसके बाद किंचिदुष्ण 'बोरिक लोशन' से पिचकारी के जरिये कान को धो लेते हैं। पुनः कान को रुई की पिचु से साफ करके सुखा लेते हैं और 'बोरिक एसिड इन रेक्टीफाइड स्प्रिट' (१५ ग्रेन एक औंस में) द्रव का छः बूंद कान में छोड़ते हैं। इस चिकित्सा का परिणाम यह होता है कि स्राव बिल्कुल रुद्ध नहीं हो पाता साफ हो जाता और सूख जाता है यह क्रिया दिन में एक बार अथवा स्रावाधिक्य में दो बार तक की जा सकती है।

रामाबाण ओषधियों का पूरण (Instillation of Chemotheraputical drugs)—'पेनीसीलीन' ड्राप और शुल्वाधिकार के योगों का प्रयोग जीर्ण मध्यकर्णशोथ में कम सफल रहा है। अधिक प्रयोग से हानि की भी संभावना रहती है इस दृष्टि से जीर्ण मध्यकर्णशोथ में इन ओषधियों का कोई विशिष्ट मूल्य नहीं।

चूर्णों का आध्मापन बोरिक और आयोडीन चूर्ण आज भी एक उपयोगी ओषधि है यह उस समय के लिये उचित है जब कि स्राव गाढ़ा न हो या जहाँ पर कान की सफाई करके स्राव को कम कर दिया गया हो। प्रारंभ में यह क्रिया नित्य की जाती है; परन्तु ज्यों ज्यों रोग के सुधार में प्रगति नजर आवे अवकाश या अन्तराल देकर किया जा सकता है।

अण्वायन (Ionization)—यह चिकित्सा की एक दूसरी पद्धति है। इसका भी उद्देश्य पूर्ववत् दो ही है—स्राव का विशोधन-उपसर्ग पैदा करने वाले जीवाणुओं का नाश जिससे स्राव का अभाव हो जाय या सूख जाय। यशद लवण (Zinc sulphate) का घोल भर कर इसमें कान के स्रोत में विद्युत् की धारा छोड़ी जाती है। सिद्धान्ततः इस क्रिया के द्वारा यशद के अणु मुक्त होते और उपसर्ग के सीधे सम्पर्क में आते हैं। यशद का घोल ॰% का बनाया जाता है और उसका पूरण मध्यकर्ण में ही करना होता है पश्चात् कान में भरे यशद द्रव के भीतर एक यशदशलाका (rod) रख दी जाती है और १५ से २० मिनट तक विजली की धारा चलायी जाती है। यदि अस्थि का नाश या रोहणाङ्कुर कर्ण में न हुआ हो तो यह चिकित्सा की पद्धति बहुत लाभप्रद है।

अन्यकारणों को दूर करना—यदि नासाग्रसनिका का कोई विकार हो तो उसे दूर करना आवश्यक है। यदि कर्णार्श तथा कर्णार्बुद (Granulation & Polypi) की उपस्थिति हो तो चिकित्सा के प्रारम्भ करने के पूर्व ही इनको दूर कर लेना चाहिये। इन विकारों की विद्यमानता इस बात को सूचित करती है कि पाक (Suppuration) बहुत बढ़ा हुआ है। अस्तु, इनके दूरीकरण का काम पहले कर लेना चाहिये बशर्त्ते कि उपद्रवयुक्त न हों। इनके आहरण हो जाने से कर्णस्राव में शीघ्र सुधार होता है।

कर्णार्श—(Granulaion) का लेखन एक विशेष प्रकार के लेखन यंत्र (Curette) के द्वारा जो इसी कार्य में व्यवहृत होता है—करना चाहिये। कर्णार्बुद (Polypi) यदि बहुत बड़े हों तो संदंशविशेष (A pair of tag forcep) और मृदु तार की जाली (Soft wire snare) के द्वारा निकालना चाहिये।

शस्त्रकर्म करने के पूर्व कान को १०००० के 'ए' 'ड्रेनेलीन द्रव' में भिगोकर स्रोत में भरकर रखने से रक्तस्तंभन होता रहता है। एवं रक्तस्राव अधिक नहीं होने पाता।

इन अर्शों की अस्त्रचिकित्सा में सार्वदैहिक संज्ञाहरण के बाद क्रिया की जाती है; परन्तु छोटे छोटे अंकुरों को दूर करना हो तो इतने की आश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि 'क्रोमिक एसिडबीड' से अंकुरों को छुवाकर ही लेखन के द्वारा आहरण किया जा सकता है ।

यदि रोग का अवस्थान बहुत गहराई में हो तो शस्त्रकर्म के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।[1]

मध्यकर्णशोथ के उपद्रव:—

१. तीव्रगोस्तन प्रवर्द्धन विवरशोथ (Mastoiditis.)
२. अर्दित (Facial Paralysis.)
३. परिकोटर विद्रधि (perisinsus Abscess.)
४. पार्श्व शिरा कुल्यास्तम्भ (Lateral Sinus Thrombosis.)
५. घातक परिणाम (विषमयताजन्य) (Fatal Termination.)
६. मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis.)
७. तीव्र मस्तिष्क विद्रधि (Acute Brain Abscess.) लघु मस्तिष्क तथा बृहन्मस्तिष्कगत ।
८. कान्तारक शोथ (Labrynthitis.)
९. बहिर्मस्तिष्कावृत्ति विद्रधि (Extra dural Abscess.)
१०. अश्मास्थिशोथ (Petrositis.)

शास्त्रीय चिकित्सा—कर्णशोथ में सामान्य व्रणशोथ की चिकित्सा तथा कर्णपाक में क्षत विसर्प के समान चिकित्सा करनी चाहिये । कृमिकर्ण की चिकित्सा पहले ही बतायी जा चुकी है । कर्णस्राव, पूतिकर्ण और कृमिकर्ण की चिकित्सा में समानता है ।[2] जैसा कि पहले कहा जा

१. Two operations are regarded as standard for this disease. Radical Mastoid operation & Modified radical mastoid operation.

२. चिकित्सा कर्णशोथानां तथा कर्णार्शसामपि ।
कर्णार्बुदानां कुर्वीत शोथार्शोर्बुदवद् भिषक् । (यो. र)
कर्णस्रावे पूतिकर्णे तथैव कृमिकर्णके ।
समानं कर्म कुर्वीत योगान् वैशेषिकानपि ।
शिरोविरेचनञ्चैव धूपनं पूरणं तथा ।

चुका है कि ये सभी विकृतियाँ मध्यकर्णशोथ की ही अवस्था विशेष हैं। अस्तु, इनकी चिकित्सा पूर्वोक्त पाश्चात्य वैद्यकोक्त विधानों से ही करनी चाहिये। यहाँ पर कुछ प्राचीन योगों का उल्लेख करके इस पाठ को समाप्त करने का विचार है। इन उपक्रमों का यदि अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों में भाषान्तर कर दिया जाय तो ऐसा ज्ञात होता है कि कर्णस्राव की चिकित्सा में प्राचीन तथा अर्वाचीन का कुछ भी अन्तर नहीं। हाँ, उनके योगों में या द्रव्यों में अन्तर जरूर है पर उपक्रमों के उद्देश्य और प्रक्रिया एक ही हैं। आचार्य सुश्रुत के अनुसार कर्णस्राव की चिकित्सा में अवस्थानुसार इन उपक्रमों के बरतने का उल्लेख मिलता है—

१. शिरोविरेचन (Irritants to re-establish drainage of Eustachian tube)
२. धूपन (Hot dry fomentation & antiseptic methods)
३. पूरण (Instillation or drops)
४. प्रमार्जन (Dry method of treatment, canal should be cleansed by mopping)
५. धावन (प्रक्षालन) (Syringing gently with lotions or decoctions)
६. अवचूर्णन (Powders to be introduced by means of insufflator)
७. आभ्यन्तरीय योग (Oral use of medicines to combat the increasing growth of Bacterias)

१. पूरण—सर्जिकाक्षार में नीबू का रस डाल कर कान में पूरण करे (Effervesence)। इससे बहुत कुछ कार्य हाइड्रोजेन पेरोक्साइड

प्रमार्जनं धावनं च वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत्।
राजवृक्षादितोयेन सुरसादिगणेन वा।
कर्णप्रक्षालनं कुर्याच्चूर्णैरेतैस्तु पूरणम्। (सु. उ.)

सदृश हो सकता है। इसके द्वारा कर्णस्राव, पीडा और दाह का शमन होता है।

२. सर्ज (राल) की छाल का चूर्ण और कपास के फल का रस मिला कर कान में डालने से व्रण की सान्द्रता और पूयस्राव शीघ्र दूर होता है। इस क्रिया से कार्य सल्फा चूर्णों के अवचूर्णन सदृश ही होता है।

३. जामुन, आम, कैथ, कपासफल समान भाग में आर्द्र लेकर स्वरस निकाल कर मधु के साथ कान में छोड़ने से स्राव नष्ट होता है। इसी योग में सरसों, निम्ब और करञ्ज डाल कर तैल सिद्ध कर लिया जाय तो वह भी लाभप्रद होता है। (Astringentand antiseptics)

४. आम, जामुन, महुआ, बट और चमेली के पत्ते इन से पकाया हुआ तैल पूतिकर्ण में लाभप्रद है।

५. तिन्दुक, अभया, मंजिष्ठा, लोध, आमलकी, कपित्थस्वरस मधु के साथ मिलाकर पूरण करना स्रावापह है।

६. दूर्वा, सेहुण्ड, जामुन, आम के पत्र, कर्कटशृंगी, मण्डूरपर्णी से सिद्ध तैल स्रावापह पूरण होता है।

७. स्त्री के दूध में रसाञ्जन को घिसकर मधु में मिलाकर कान में पूरण करने से चिरकालीन स्राव या पूतिकर्ण में भी लाभ होता है।

८. निर्गुण्डी या सेउडी के स्वरस, सैन्धव, गृहधूम का चूर्ण और गुड़ मिलाकर पकाया तैल मधु मिलाकर पूरण करने से पूतिकर्ण का शमन होता है।[१]

९. शंम्बूक तैल—शंबूक (घोंघे) के मांस से सर्षप तैल को पका कर पूरण करने से कर्णनाडी में लाभ होता है।

१०. कुष्ठादि तैल—तिल तैल १ सेर, छागमूत्र ४ सेर कल्कार्थ कूठ,

१. निर्गुण्डीस्वरसैस्तैलं सिन्धुधूमरजोगुडैः ।
पूरणः पूतिकर्णस्य शमनो मधुसंयुतः ॥

हींग, बच, देवदारु, सोंठ, सैन्धव कुल २० तोले। यथाविधि पका तैल का कान में पूरण स्राव में लाभप्रद होता है।

११. चमेली के पत्तों के स्वरस में शहद मिलाकर प्रतिदिन कानों में डालना पूतिकर्ण को दूर करता है।

१२. केवल गोमूत्र का कानों में प्रक्षेप स्राव को कम करता है। इसमें हरताल का २ रत्ती महीन चूर्ण मिला लिया जाय तो और उत्तम लाभ होता है।

१३. कान को रूई से साफ पोछकर उसमें शुद्ध स्फटिका का महीन चूर्ण बनाकर छोड़ने से भी उत्तम लाभ होता है। यदि कानों में चूर्ण का संचय अधिक हो जाय तो बीच बीच में सरसों का तेल डालना चाहिये।

१४. हस्ती के विष्ठा के ढेर पर उत्पन्न हुए छत्रकों को लेकर पुटपाक विधि से स्विन्न करके निकाले हुए स्वरस में आधा सरसों का तैल तथा चौथाई सैंधव लवण मिलाकर कानों में डालते रहने से कर्ण-स्राव नष्ट होता है।

१५. निशा तैल—सरसों का तैल ८ पल, हरिद्रा एवं गंधक का कल्क १-१ पल, धतूर का स्वरस १० पल लेकर यथाविधि तैल को सिद्ध कर कान में पूरण करने से कर्णनाडी तथा जीर्ण कर्णस्राव ठीक होता है।

१६. कुम्भी तैल—जलकुम्भी का कल्क १६ तोले, सरसों या तिल का तेल ६४ तोले, जलकुम्भी का स्वरस २५६ तोले। तेल को मंद आँच पर पकाकर छान कर शीशी में भर ले।

इस तैल को कान साफ करके उसमें डालने से, कानदर्द, पकना या कान से मवाद का आना बन्द होता है। यह एक सिद्ध एवं अनुभूत योग है।

अवचूर्णन—(Insufflation or Dusting) १. समुद्रफेन के

चूर्ण को कर्णस्रोत में डालने से स्राव नष्ट होता है ।[1] २. लाक्षा, रसाञ्जन और सर्जचूर्ण का ध्मापन भी लाभप्रद है ।[2]

कर्णप्रक्षालन—(Syringing) १. किंचिदुष्ण सुरभिजल (गोमूत्र) से प्रक्षालन करना । २. हर्रे, आमलकी, बिभीतक, मंजिष्ठा, लोध्र और तिन्दुक के क्वाथ से प्रक्षालन करना । ३. राजवृक्षादिगण या सुरसादि गण की ओषधियों से प्रक्षालन करना ।

आभ्यन्तर प्रयोग—रास्नाद्य गुग्गुलु या त्रिफला गुग्गुलु २, २ वटी की मात्रा में दिन में तीन बार केवल जल से या शिग्रुकषाय के साथ देना उत्तम लाभप्रद योग है ।

चित्रकहरीतकी—बालकों को जहाँ पर कर्णस्राव का हेतु नासा-ग्रसनिका (Naso Pharynx) के विकार प्रतीत हों इस योग की ६ माशे से १ तोले की मात्रा में दिन में दो बार गर्म दूध के साथ देने से अच्छा लाभ मिला है ।

१२

कर्ण-बाधिर्य

(Deaf Mutuism or Nerve deafness)

व्याख्या हेतु तथा सम्प्राप्ति—'जब केवल वायु या श्लेष्मान्वित वायु शब्दवह स्रोत को रोक लेता है तब उससे बधिरता हो जाती है। इस रोग को बाधिर्य कहते हैं ।'[3]

---

१. समुद्रफेनचूर्णन्तु न्यस्तं श्रवणसंस्रवे ।
पूयास्रावं व्रणं सान्द्रं हन्ति ध्वान्तमिवांशुमान् ॥ (योर. र.)

२. लाक्षा रसाञ्जनं सर्जश्चूर्णितं कर्णपूरणम् ।

३. यदा शब्दवहं वायुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति ।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वापि बाधिर्यं तेन जायते ॥ (मा. नि.)

'वही शुद्ध वायु कफ से संश्लिष्ट होकर शब्दवह शिरा में विविध मार्गों को आवृत करके रुक जाती है। यदि ऐसा मनुष्य चिकित्सा नहीं कराता है तो उस व्यक्ति को निश्चितरूप से बाधिर्य रोग हो जाता है।'[1]

शब्दवह सिरा का विकार कहने से (Nerve deafness of various types) वातिक नाडीजन्य विकृति ज्ञात होती है।

वार्द्धक्य नाडीबाधिर्य—यह एक स्वाभाविक व्याधि (Physiological disease) है। यह क्रमशः बढ़ने वाली बधिरता है। सामान्यतः पैंसठ या सत्तर वर्ष की आयु के बाद ऐसा अनुभव होता है। इसी को प्राचीनों ने 'वृद्धोत्थबाधिर्य' की संज्ञा दी है और चिकित्सा में असाध्य बतलाया गया है।

विषमयताजन्य नाडीबाधिर्य—कई प्रकार के रोगों में जैसे पाषाणगर्दभ में इस प्रकार की बधिरता आती है। इसका ठीक उद्भवकारण अभी तक ज्ञात नहीं है। कई बार आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका, प्रभृति रोगों में यह विकार आ जाता है।

व्यवसायजन्य नाडीबाधिर्य—कई काम-धन्धे वाले आदमियों में इस प्रकार का बाधिर्य दिखलाई पड़ता है। जैसे बायलर बनाने वालों में एवं फैक्टरी में काम करने वालों में। इनमें ऐसा होता है कि शब्दाभिघात से अन्तःकर्ण कोकिला का कुछ भाग नष्ट हो जाता है, इन में होता यह है कि शब्दों के पुनः पुनः एवं अनवरत (आघात) श्रवण एवं उनके सम्बन्धी नाडीसमुदाय की अपक्रान्ति कर देते हैं।

भेषजजन्य नाडी बाधिर्य—क्विनीन, सैलिसिलेट के प्रयोग से भी बाधिर्य होता है। प्रथम तो यह अल्पकालीन रहता है, परन्तु अधिक काल तक सेवन से उत्पन्न हुआ नाडीबाधिर्य स्थायी हो जाता है।

मानसिक नाडीबाधिर्य (Psychogenic)—यह रोग अधिकतर युद्ध के काल में फैला है, इसमें अन्तःकर्ण की रचना में कोई विकार नहीं रहता। फिर भी अभिघात और मर्माभिघात (Shock) इसकी

१. स एव शब्दानुवहा यदा सिराः कफानुयातो व्यवसृत्य तिष्ठति।
तदा नरस्याप्रतिकारसेविनो भवेत्तु बाधिर्यमसंशयं खलु ॥ (सु. ३. २०

उत्पत्ति में कारणभूत होता है। चिकित्सा भी मानस शास्त्रियों का विषय है। इस अवस्था में मानसिक या आध्यात्मिक चिकित्सा करनी चाहिये।

बालोत्थ बाधिर्य या सबाधिर्य मूकता

(Deaf-Mutuism)

जो लोग गूँगे होते हैं वे प्रायः बधिर होते हैं। शब्द का ज्ञान न हो सकने से ऐसे मनुष्य में उच्चारण की क्षमता नहीं विकसित हो पाती, इसलिये वह रोगी यथार्थ शब्दोच्चारण नहीं कर पाता। इस अवस्था को बाधिर्य समूक या सबाधिर्य मूकता कहते हैं। यह दो प्रकार की हो सकती है, १. सहज (Congenital) २. जन्मोत्तर (Acquired)।

सहज—अन्तःकर्ण के श्रवणयन्त्र (Labyrinth) का अभाव या अपूर्ण विकास या अपूर्ण बनावट (Mal development) अथवा सहज विकार पैदा करनेवाली (फिरङ्गादि) व्याधियों के कारण गर्भाशय के भीतर की विकृतिजन्य यह विकार होता है।

जन्मोत्तर—प्रारम्भिक आयु में कान के रोग जैसे मध्यकर्ण-शोथ 'एडीनायड्स' आदि या उपसर्ग-विशेष के कारण होने वाले रोग कारण हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना मस्तिष्कावरण शोथ, मस्तिष्कावरण के मार्ग से अन्तःकर्ण की विकृति हो जाने के कारण होता है। आयु के प्रारम्भिक दिनों में इसका निदान कठिन होता है क्योंकि उस आयु में सभी बच्चे बोलना सीखते रहते हैं। कई बार अन्तःकर्ण कोकिला (Cochlea) का आंशिक भाग विकृत होता है, ऐसा या तो किसी रोग के कारण या अविकास (Mal development) के कारण हो जाता है। इस अवस्था में इन व्यक्तियों में श्रवण के द्वीप (Islands of hearing) बन जाते हैं। अर्थात् श्रवणेन्द्रिय के किसी एक भाग से ये ही सुनते हैं समूचे से नहीं।

मूक बाधिर्य (Deaf-Mutuism)—की कोई सफल चिकित्सा नहीं है, ऐसे रोगियों की आवाज कर्कश, कांस्यपात्रस्वन (Metallic) और विरक्तिकर (Un-interesting) होती है। इस अवस्था की प्राचीन

संज्ञा 'बालोत्थ बाधिर्य' है। चिकित्सा में ऐसे रोगी अचिकित्स्य बतलाये गये हैं।

बाधिर्य (Deafness)—जन्मोत्तर पाये जाने वाले बाधिर्य में प्रायः वातिक नाडीजन्य बधिरता होती है। कई बार बाह्यकर्ण की विकृतियों में कर्णस्रोत का अवरोध (जैसे कर्णगूथ, कर्णविद्रधि, बाह्य-कर्ण शोथ, स्रावाधिक्य के कारण), कान के पटह के सच्छिद्र होना या विदीर्ण होना, मध्यकर्ण के विकारों में शोथ या पाकोत्पत्ति, अन्तःकर्ण के विकारों में कोकिला या कान्तारक के विविध कारण बाधिर्योत्पादन करते हैं। तीव्र प्रतिश्याय में भी बधिरता होती है।

चिकित्सा—कारणों के अनुसार की जाती है फिर भी कुछ सामान्य योग जो शास्त्रीय वर्णनों में पाये जाते हैं उनका उल्लेख नीचे किया जाता है।

सामान्यतया बाधिर्य वाले रोगियों को क्रोध, मैथुनाति सेवन, रूक्षा-हार-विहार का परिहार करना चाहिये। चिकित्सा में वातनाशक प्रयोगों को काम में लाना चाहिये। वात रोगाधिकार में पठित माषादि, नारा-यणादि तैलों को कान में भरना उत्तम है।[1]

'कर्णशूल, कर्णनाद, बाधिर्य और क्ष्वेड में एक ही चिकित्सा का उपक्रम अर्थात् वातघ्न उपक्रमों को ही रखना चाहिये। 'सभी प्रकार के कान के रोगों में विशेषतः बाधिर्य में घृतपान कराना चाहिये, घृत कर्ण रोगों में रसायन है। एवं कटु तैल का पूरण कराना चाहिये।'[2]

अपामार्गक्षार तैल—अपामार्ग पचाङ्ग को अच्छी तरह जलाकर एक सेर लेवे, छः सेर पानी में रात भर भिगो दे, फिर उस क्षार-जल

१. वातोक्तं माषतैलादि बाधिर्यादौ तु योजयेत् ।
वर्जयेद् मैथुनं क्रोधं रूक्षं बाधिर्यपीडितः ॥ (भै. र.)

२. कर्णशूले कर्णनादे बाधिर्ये क्ष्वेड एव च ।
पूरणं कटुतैलेन हितं वातघ्नमौषधम् ॥ (यो. र.)
सामान्यं कर्ण-रोगेषु घृतपानं रसायनम् । (सु.)
वातव्याधिषु यश्चोक्तो विधिः स च हितो भवेत् ॥

में अपामार्ग का ही कल्क डाल कर तिल तैल सिद्ध करे, इसके पूरण से कर्णनाद और बाधिर्य शान्त होता है।

बिल्व तैल—बिल्वमज्जा (कच्ची) एक पाव, गोमूत्र एक सेर में कल्क बनाकर, तिल तैल एक सेर, गोदुग्ध एक सेर डालकर सिद्ध किया तैल। इससे कर्णनाद और बाधिर्य शान्त होता है।

काकजंघा तैल-काकजंघा स्वरस एक सेर लेकर उसमें एक पाव तैल डालकर सिद्ध कर ले। इसी तैल के पूरण से बाधिर्य में लाभ होता है।

दशमूल तैल—दशमूल की ओषधियों के कषाय से सिद्ध तैल का पूरण करे।

नागरादि तैल—सोंठ, सेंधानमक, पीपल, नागरमोथा, हींग, घोड़वच और लहसुन प्रत्येक का एक एक तोला, मदार के पके पत्तों का रस डेढ़ सेर, पलाशपत्र का स्वरस डेढ़ सेर और तैल डेढ़ पाव विधिवत् सिद्ध किये तैल के कर्णपूरण से कर्णनाद एवं बाधिर्य में लाभ होता है।

लशुनाद्य तैल—लहसुन की गिरी, आँवला तथा हरताल प्रत्येक २ तोला लेकर कल्क बनाकर; तिल तैल २४ तोला, दुग्ध ९६ तोला, सम्यक् पाकार्थ जल चतुर्गुण मिलाकर यथाविधि सिद्ध कर तैल का निर्माण करे। इस तैल का पूरण (कान में भरना) बाधिर्य में अच्छा लाभ करता है।

आभ्यन्तर प्रयोग—१. दशमूलादि कषाय, दशमूल, त्रिफला, कट्फल, वच और भारंगी प्रत्येक का एक तोला लेकर क्वाथ बनाकर प्रक्षेप रूप में त्रिकटु और भुनी हींग डाल कर पीने से बाधिर्य ठीक होता है।

२. काली मुसली और बाकुची समान भाग में लेकर चूर्ण करे। डेढ़ से तीन माशे की मात्रा में प्रातः सायं खाने से बाधिर्य नष्ट होता है।

साध्यासाध्यता—जो बाधिर्य बालकपन से हो, बुढ़ापे के कारण हो, या बहुत पुराना हो गया हो उसकी चिकित्सा व्यर्थ है, वह असाध्य है।[1] शेष साध्य होते हैं।

---

२. बाधिर्यं बालवृद्धोत्थं चिरोत्थञ्च विवर्जयेत् ।

शालाक्य तन्त्र

नेत्ररोगाध्याय

(Diseases of the Eye or Pathological Conditions of the Eye)

द्वे पादमध्ये पृथुसन्निवेशे शिरोगते ते वहुधा च नेत्रे ।
ता म्रक्षणोद्वर्त्तनलेपनादीन् पादप्रयुक्तान्नयने नयन्ति ॥
मलौष्ण्यसंघट्टनपीडनाद्यैस्ता दूषयन्ते नयनानि दुष्टाः ।
भजेत्सदा दृष्टिहितानि तस्मादुपानदभ्यञ्जनधावनानि ॥ (अ.हृ.उ.१६)
चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यैर्यत्नः कर्त्तव्यो जीविते यावदिच्छा ।
व्यर्थो लोकोयं तुल्यरात्रिर्दिवानां पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वित्ते ॥
त्रिफलारुधिरस्रुतिविशुद्धिर्मनसो निर्वृतिरञ्जनं सनस्यम् ।
शकुनाशनता सपादपूजाघृतपानञ्च सदैव नेत्ररक्षा ॥
अहितादशनात्सदा निवृत्तिर्भृशभास्वच्चलसूक्ष्मवीक्षणाच्च ।
मुनिना निमिनोपदिष्टमेतत् परमं रक्षणमीक्षणस्य पुंसाम् ॥
(अ० हृ० उ. १३)

पैर के तलवे में दो मोटी सिरायें हैं जो ऊपर में सिर तक पहुँचती हैं और नेत्र में जाकर बहुत सी शाखाओं में बँट जाती हैं। अत एव पैर में प्रयुक्त उद्वर्त्तन और लेप का प्रभाव नेत्रों तक पहुँचता और उनकी रक्षा करता है

इसके विपरीत मल, उष्णता, रगड़ या दबाव प्रभृति का पैर में हुआ प्रभाव नेत्रों को हानि पहुँचाता है । अस्तु, दृष्टि के हित के लिये मालिश, धोना और जूते का पहनना आवश्यक है ।

यदि जीने की इच्छा हो तो नेत्र की रक्षा में मनुष्य को सदैव तत्पर रहना चाहिये, क्योंकि धन रहने पर भी अंध के लिये दिन और रात समान होती है, संसार व्यर्थ जान पड़ता है ।

त्रिफला, रक्तविस्रावण, शोधन, मानसिक निवृत्ति, अंजन, नस्य, मांसाहारी पक्षियों के मांस का सेवन, पैर की सेवा, घृतपान प्रभृति आहार-विहारों के सेवन से नेत्र की रक्षा होती है ।

अहित भोजन से परहेज करना, प्रकाशमान् चंचल या सूक्ष्म चीजों के अधिक देखने से बचना, नेत्र की रक्षा के लिये श्रेष्ठ उपाय हैं ऐसा निमिमुनि का उपदेश है ।

१

नेत्ररोगों के सामान्य विवरण तथा नेत्र शारीर

प्राच्य और पाश्चात्य शालाक्य विषयक ग्रंथों में नेत्र में होने वाले रोगों के विवरणों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है, और उनका तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किये जाने पर उनके ऊपर निर्धारित समन्वयात्मक ज्ञान गूढ़ व्याधियों को भी यथार्थ में स्पष्ट कर देता है। प्रचीन ग्रन्थों में नेत्र रोगों का बड़ा विशद वर्णन पाया जाता है। तथा इनकी विशेषता प्राचीन ऋषियों के सूक्ष्म निरीक्षण (Observation) में है। सुश्रुत के अनुसार नेत्रगत रोगों की संख्या ७६ है।[1]

---

१. षट्सप्ततिविकाराणामेषा संग्रहकीर्तना।
नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः॥
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः।
सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु॥
वाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ।
वाताद्दश तथा पित्तात्कफाच्चैव त्रयोदश॥
रक्तात् षोडश विज्ञेयाः सर्वजाः पञ्चविंशतिः।
तथा बाह्यौ पुनर्द्वे च रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः॥

अनुवाद—अर्थात्–नेत्र में होने वाले कुल विकार ७६ बतलाये गये हैं जिनमें ९ संधिगत, २१ वर्त्मगत, ११ शुक्लगत, ४ कृष्णगत, १७ सर्वाश्रय, १२ दृष्टिगत तथा वाह्य दो होते हैं जो परम दारुण होते हैं। दोषों के अनुसार गणना की जाय तो वायु से दस, पित्त से दस, कफ से तेरह, रक्त से सोलह, सान्निपातिक पचीस और वाह्य दो, कुल मिलाकर ७६ हो जाते हैं। बाह्य जो दो प्रकार के नेत्र रोग हैं वे आगन्तुक के भेद हैं इन में एक सन्निमित्त—जो अभिघातज होता है दूसरा अनिमित्त सुरर्षिगन्धर्वदर्शनादिकारणों से दृष्टिशक्ति का नष्ट हो जाना है।

आचार्य चरकने दोष प्रधानता की दृष्टि से और दोषपरक सिद्धान्तों के आधार पर नेत्ररोगों को चार माना है। वाग्भट तथा शार्ङ्गधर नेत्र रोगों की संख्या ९४ बतलाते हैं।

आधुनिक शालाक्य ग्रन्थों में रोगों की कोई विशेष संख्या निर्धारित की गई नहीं मिलती तथापि प्राचीनों के वर्णनों के भीतर सभी आधुनिक नेत्रगत विकारों (Pathological conditions of the Eyes) का अन्तर्भाव किया जा सकता है।

नेत्र रोगों के सामान्यतया हेतु, लक्षण तथा चिकित्सा आधुनिक रोगों के वर्णनों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। फलतः इनका तुलनात्मक विचार आगे पृष्ठों में रखा गया है। रोगों के आधुनिक पर्याय तथा आनुमानिक साम्य निम्नलिखित बातों के ऊपर निर्भर करता है यथाः—

१. रोग का अधिष्ठान २. रोग का लक्षण
३. पूर्वापर विषय ४. अन्यग्रन्थोक्त विषय
५. आधुनिक लक्षण ६. साध्यासाध्य विवेक
७. चिकित्सा के उपक्रम

अत एव उपर्युक्त बातों को ही ध्यान में रखते हुए प्राचीन तथा अर्वाचीन विचारों में सामञ्जस्य-स्थापना की चेष्टा की गई है।

आचार्य सुश्रुत ने उत्तरतंत्र में जहाँ उत्तमाङ्गस्थान अथवा शालाक्यतंत्र का वर्णन प्रारंभ किया है—उस स्थल पर सर्वप्रथम नेत्र रोगों का ही प्रसंग आता है। डल्हण ने इसका कारण यह बतलाया है कि 'सभी इन्द्रियों में प्रधान इन्द्रिय नेत्र है अतएव उसका प्रथम उल्लेख तथा वर्णन करने के तत्पश्चात् कर्ण, नासा और शिरोरोगों का प्रसंग दिया गया है।'

सुश्रुतानुसार नेत्र शारीर (Anatomy)—आचार्य सुश्रुतने अपनी परिभाषा के अनुसार नेत्र या नयन का अंतःप्रवेश (गहराई), आयाम और विस्तार (लम्बाई एवं चौड़ाई) के मान या माप तथा आकार का वर्णन किया है। उन्होंने आँख को नयन बुद्बुद् या नेत्र बुद्बुद बतलाया है जिसका अर्थ अक्षिगोलक या नेत्रगोलक होता है। अंग्रेजी

के आधुनिक नेत्र ग्रन्थों में भी इसका अविकल पर्याय 'आई बाल' (Eye ball) करके ही वर्णन मिलता है। इस प्रकार नेत्र की स्थूलता या अंतःप्रवेश्यस्थान या गहराई दो अङ्गुष्ठोदर के प्रमाण की मानी जाती है। यह अङ्गुष्ठोदर अपने अपने अङ्गुष्ठोदर के अर्थ में है किसी दूसरे व्यक्ति के अङ्गुष्ठोदर से मापने से यह छोटी बड़ी भी हो सकती है; परन्तु व्यक्ति भेद से उसकी गहराई स्वांगुष्ठोदर से दो ही की होती है। अर्थात् नेत्र गोलक की भीतरी लम्बाई अर्थात् कर्णिका (Cornea) से दृष्टिनाडी (Optic Nerve) तक का व्यास २ अङ्गुष्ठोदर अर्थात् दो अङ्गुल का होता है। जैसा कि डल्हण ने लिखा है :—'द्वयङ्गुल बाहुल्यमिदमन्तःप्रवेशं विद्यात्। इत्याह स्वाङ्गुष्ठोदर सम्मित्, एतेनैतदुक्तं भवति स्वाङ्गुष्ठोदर सम्मितं यदङ्गुलं तदङ्गुलद्वय प्रमाणं नेत्र बुद्बुदस्यान्तः प्रवेशं विद्यात्।'

इसी प्रकार नेत्र गोलक आयाम (लम्बाई) बाहर से लेने पर अपांग से कनीनिकातक (Antero-Posteior Diameter) ½ अङ्गुल से बढ़कर २½ अङ्गुल तथा विस्तार (Vertical Diameter) बाहर से लेने पर ढाई अङ्गुलों का ही होता है। इस तरह सब ओर से नेत्रगोलक परिमाण गोल होने से ढाई अङ्गुल का ही ठहरता है। फलतः सुश्रुत ने इसके आकार को 'सुवृत्तं गोस्तनाकारं' अर्थात् गोल एवं अण्डाकार बतलाया है, एवं इसकी उपमा गोस्तन या पक्क ताजे गाम्भारी या द्राक्षाफल से दी है। अङ्गुली का माप व्यक्ति विशेष की अंगुलि ही ठीक (Accurate) बैठता है। फिर भी एक औसत मान माना जा सकता है।[1]

नेत्र गोलक को सर्वभूत-गुणोद्भव माना जाता है अर्थात् इसकी उत्पत्ति सभी भूतों से तथा भूतों के गुणों से होती है। इसमें सभी भूतों से सिरा, स्नायु, अस्थि और अश्रुमार्ग के सहित नेत्र बुद्बुद् उत्पन्न होता है एवं भूतों के गुणों से नेत्रगत रक्त, श्वेत तथा कृष्णवर्णता उत्पन्न

१. विद्याद्द्वयङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम्।
द्वयङ्गुलं सर्वतः सार्द्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम्।
सुवृत्तं गोस्तनाकारं सर्वभूतगुणोद्भवम्।

होती है। कुछ व्याख्याकारों ने गुण शब्द से भूतगुण न मानकर भूत प्रसाद (पंचभूत प्रसाद) माना है; परन्तु यह व्याख्यान जेज्जट को रुचिकर नहीं मालूम हुआ अस्तु, डल्हण ने भी गुण का प्रसाद रूप में अर्थ ग्रहण नहीं किया है।

इसके पश्चात् जिन भूतों से (पंचमहाभूतों से) नेत्र गोलक का आरम्भ होता है अथवा जिन से आँखों में रक्तादिवर्णों या भागों की उत्पत्ति होती है उसका दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य की उक्ति है कि पल (मांस का भाग) अर्थात् ठोस भाग पृथिवीभूतसे, अग्नि से पित्तरूप रक्तवर्ण का भाग (लाल हिस्सा), जल नामक महाभूत से नेत्रगत श्वेत भाग की तथा आकाश नामक महाभूत से अश्रुमार्गों की उत्पत्ति होती है।[1]

इसके बाद आचार्य ने कृष्ण-मण्डल तथा दृष्टि का माप बतलाया है। नेत्र विशारद अर्थात् विदेह की उक्ति है कि नेत्रों के आयाम का तृतीयांश परिमाण का कृष्ण-मण्डल होता है एवं कृष्ण-मण्डल का सातवाँ भाग दृष्टि का होता है। अन्य शालाकियों का मत है कि इसका परिमाण मसूर की दाल के बराबर का होता है। जैसा कि आगे के वर्णनों से स्पष्ट होगा।[2] यहाँ पर एक शंका उठती है कि 'आतुरोपक्रमणीयाध्याय' में दृष्टि का परिमाण बतलाते हुए सुश्रुतने लिखा है 'नवमस्तारकांशो दृष्टिः' अर्थात् तारक (कृष्णमण्डल) का नवाँ भाग दृष्टि होती है और यहाँ पर सप्तमांश लिख रहे हैं, यह विरोधाभास कैसे। इसके समाधान में डल्हण ने लिखा है कि महापुरुषों तथा पूर्णायु का भोग करनेवाले व्यक्तियों की विशेषता के अनुसार भिन्नता है ऐसा समझना

---

१ पलं भुवोऽग्नितो रक्तं वातात्कृष्णं सितं जलात् ।
आकाशादश्रुमार्गाश्च जायन्ते नेत्रबुद्बुदे ॥

२. दृष्टिं चात्र तथा वक्ष्ये यथा ब्रूयाद्विशारदः ।
नेत्रायामत्रिभागं तु कृष्णमण्डलमुच्यते ।
कृष्णात्सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः ॥

चाहिये । इसके अतिरिक्त कई अन्य भी इसके समाधान पंजिका में उक्त हैं जिनका विस्तार-भय से उल्लेख नहीं किया गया है ।

सूत्र में यदि उपर्युक्त परिमाणों को लिया जाय तो सिद्धान्त इस प्रकार का ठहरता है[१]—

नेत्र का अन्तःप्रवेश्यस्थान (Vertical diameter) = २ अंगुल
" आयाम (Antero-Posterior diameter) = २$\frac{१}{२}$ अंगुल
" विस्तार (Horizontal diameter) = २$\frac{१}{२}$ अंगुल
" कृष्णमण्डल—विस्तार का तीसरा भाग = $\frac{५}{२}$ का $\frac{१}{३}$ = $\frac{५}{६}$ अंगुल
" दृष्टि—कृष्णमण्डल का सातवाँ भाग = $\frac{५}{६}$ का $\frac{१}{७}$ = $\frac{५}{४२}$ अंगुल
मसूरदाल मात्र

यह माप बिल्कुल ठीक (Accurate) है अपने-अपने अंगुष्ठोदर के परिमाण से अपने-अपने नेत्रगोलकों का माप इतना ही होगा । आज कल के वर्णनों में औसतन विचार किया जाता है जो प्राचीनों के वर्णनों से अधिकांश में मिलता-जुलता है । दृष्टि का विशेष वर्णन दृष्टिगत रोगों के अध्याय में आगे किया जायगा ।

आधुनिक ग्रन्थों में नेत्रगोलक का अनुलम्ब (पूर्व-पश्चिम) व्यास (Antero-Posterior or sagital diameter) बाह्य भाग २४·१५ मिलीमीटर (१·०२३ इञ्च) और भीतर के भाग में २२·१२ मिलीमीटर का कहा गया है । नेत्र के दोनों कोनों के बीच का अनुप्रस्थ (उत्तर दक्षिण) व्यास (Horizontal diameter) २४·१३ मिलीमीटर और उत्तान खड़ाव्यास (Vertical diameter) २३·४८ मिलीमीटर का बतलाया गया है । सामान्यतः स्थूलरूप में नेत्रगोलक-व्यास सब ओर लगभग एक इञ्च का है । सामान्यतः जन्म के समय में सबल शिशुका नेत्र का अनुलम्ब व्यास लगभग १७·५ मिलीमीटर और युवावस्था में पहुँचने पर २०·२१ मिलीमीटर होता है फिर पूर्ण वृद्धिकाल तक २४·१५ मिलीमीटर का हो जाता है । अनुलम्ब व्यास यह अनुप्रस्थ एवं उत्तान व्यास की अपेक्षा अधिक होता है । उत्तान (Vertical)

१. सर्वतः सार्द्धं द्वयङ्गुलं अर्धतृतीयाङ्गुलम् । (डल्हण)

व्यास सबसे न्यून है। पुरुषों के तीनों व्यास स्त्रियों की अपेक्षा कुछ अधिक होते हैं।

देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो नेत्रगोलक के दो भाग होते हैं। आगे के हिस्से में $\frac{1}{6}$ भाग जो अवस्थित है और जो घड़ी के काँच के समान दीखता है उसे कृष्ण मण्डल कहते हैं यह पारदर्शक है। पीछे रहा हुआ $\frac{5}{6}$ भाग जो अपारदर्शक है उसे नेत्र का वाह्य-पटल कहा जाता है। दृष्टिमण्डल का आयाम यदि कनीनिका का आयाम माना जाय तो आधुनिक ग्रंथों में यह लिखा है कि कनीनिका व्यास सब मनुष्यों में समान नहीं होता लगभग २·५ मि॰ मी. से ६ मि॰ मी॰ तक का होता है। कृष्णमण्डल का आड़ा व्यास ११·६ मि॰मी॰ का होता है।

नेत्र के *भाग*—सुश्रुत ने नेत्ररचना तथा रोगाधिष्ठान-वर्णन की इच्छा से नेत्र को तीन भागों में बाँटा है—मण्डल, सन्धि और पटल। इनमें मण्डल पाँच, सन्धियाँ छः तथा पटल भी छः होते हैं।[1] मण्डल को पाश्चात्य ग्रन्थोक्त परिभाषा के अनुसार 'सर्किल्स' (Circles) सन्धियों को जंकशन्स (Junctions) और पटलों को 'लेयर' या 'ट्यूनिक' (Layers or Tunic) कहा जाता है। नेत्र में ये मण्डल क्रमशः एक के बाद दूसरी पक्ष्म, वर्त्म, श्वेत, कृष्ण और दृष्टि नामक पाये जाते हैं।

मण्डल—इनकी संख्या पाँच होती है।

१. *पक्ष्म-मण्डल*—(Intermarginal circular area)—अंग्रेजी नामकरण में 'आई लैशेज (Eye lashes) कह सकते हैं। ऊपर और नीचे की पलकों में जो पक्ष्म (रोम या केश) होते हैं वे मिलकर एक मण्डल या गोलाकार आकृति सी बना देते हैं।

---

१. मण्डलानि च सन्धींश्च पटलानि च लोचने ।
यथाक्रमं विजानीयात्पञ्च षट् च षडेव च ॥
पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि च ।
अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम् ॥

२. *वर्त्म-मण्डल*—(Palpebral area) ऊपर और नीचे के नेत्र-च्छदों के मिलने से एक 'सर्किल' सा बन जाता है। इसी को अंग्रेजी में 'टार्सी' या (Eyelids) कहा जाता है।

वास्तव में पक्ष्म एवं वर्त्म नेत्र के अङ्ग नहीं बल्कि उपाङ्ग हैं। इनकी बनावट में दोनों पलकों के बाहर की ओर त्वचा है। उसका रङ्ग अन्य त्वचा के समान है। पलकों के भीतर श्लैष्मिक कला का आवरण है। इस त्वचा और आवरण का जहाँ संगम होता है इस स्थान को पलक का किनारा या वर्त्मान्त भाग कहा जाता है। इस किनारे में एक श्वेताभ रेखा प्रतीत होती है। उस रेखा पर बालों की एक-एक पंक्ति है। इस पंक्ति के नीचे निरीक्षण करने पर छोटे-छोटे छिद्र मालूम पड़ते हैं। यदि पलकों को दो कठोर पदार्थों के भीतर दबा दिया जाय तो उन छिद्रों से श्वेत गाढ़ा एक प्रकार का स्राव निकलता है। यह पदार्थ पलकों के भीतर स्थित जल-पिण्डों (Meibomian glands) में बनता है। इनसे दोनों पलक ऐसे स्थिर बन्द हो जाते हैं कि वायु तक का भी प्रवेश नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त बालों (बरौनी) के मूल में कई सूक्ष्म पिण्ड (Zeis glands) होते हैं। इनके स्राव से बरौनी तर या मृदु रहती और बालों या पक्ष्मों का पोषण भी होता है।

ऊपर जो श्वेताभ रेखा कही गई है उसका विशेष महत्त्व परवाल की शस्त्रक्रिया से है। जब यह कर्म किया जाता है तो इस रेखा में शस्त्र को प्रवेश कराके पलकों में इस प्रकार का चीरा दिया जाता है कि पलक के दो विभाग हो जाते हैं। ऊपर के विभाग में त्वचा, मांस, पेशी और पलक धारा के बाल तथा निम्न भाग में तरुणास्थि एवं नेत्र श्लेष्मावरण रहते हैं। पलकों के बाहर की पर्त्त त्वचा की और उसके नीचे दूसरी पर्त्त मांस पेशी की आती है।

इस वर्त्म से सम्बन्धित माँस-पेशियाँ दो हैं—नेत्रोन्मीलनी और नेत्र निमीलनी। पेशियों के नीचे का भाग तरुणास्थिच्छद पत्रक (Tragus) का है। इस कोमलास्थि के हेतु ही पलक का आकार बना रहता है।

दोनों पलकों की धारा के भीतरी सिरे पर दो छिद्र होते हैं जिन्हें अश्रुद्वार कहते हैं। यह अश्रुद्वार एक ऊपर की पलक में दूसरा नीचे की पलक में होता है।

३. *श्वेत-मण्डल* (Sclerotic circular area)—इसे 'कञ्जक्टाइवल' सैक कह सकते हैं। पलक की धारा से प्रारम्भ होकर पलक के भीतर की ओर आकर, समस्त नेत्रगोलक पर श्लैष्मिककला का जो पतला आच्छादन होता है उसे नेत्र श्लेष्मावरण निर्मित श्वेत मण्डल कहा जा सकता है। बाहर से देखने पर जो नेत्र का श्वेत भाग दिखलाई पड़ता है वह श्वेत मण्डल (Sclera) है। वास्तव में रोगों के वर्णनों के प्रसङ्ग में जो रोगों का वर्णन आगे पाया जाता है उसमें केवल नेत्रश्लेष्मावरण की व्याधियों (Diseases of the conjunctiva) का ही वर्णन मिलता है। अस्तु, श्वेत मण्डल से निश्चित रूप से 'कञ्जंक्टाइवल सैक' का ही ग्रहण करना चाहिये।

४. *कृष्ण-मण्डल* (Uveal, Iris and Corneal area)—बाहर से देखने पर जो आँख में काला भाग दिखलाई देता है उसे कृष्णमण्डल की संज्ञा प्राचीनों ने दी है। इसे आधुनिक भाषा में 'कार्नियल सर्किल' (Corneal circle) कहा जा सकता है। नेत्र गोलक के अग्र भाग में जो काला सा पारदर्शक स्थान है उसे कृष्ण मण्डल कहा जाता है।

यह भाग समस्त चक्षु के ऊपर घड़ी का काँच जैसे एक गोल गेंद पर बैठाया गया हो, उसी प्रकार का प्रतीत होता है। वह पारदर्शक और चमकीला दीखता है। कृष्णमण्डल बाह्य-गोल है और नेत्र के बाह्य पटल के साथ चपकाया सा प्रतीत होता है, आगे से देखने पर वह अण्डाकार विदित होता है। उसका आड़ा व्यास ११·६ मि० मी० तथा खड़ा व्यास (Vertical Diameter) १०·६ मि० मी० का होता है। इसके मध्य का $\frac{१}{३}$ भाग पूर्णतया बाह्य गोल शेष $\frac{२}{३}$ भाग चिपटा सा है। शेष भाग अन्तर्गोल है। मध्य भाग में वह पतला और परिधि के भाग में कुछ मोटा होता है। युवावस्था तक कृष्णमण्डल पूर्णतया पारदर्शक रहता है फिर कितने मनुष्यों में वृद्धावस्था प्रारम्भ होने पर शुक्लमण्डल की परिधि का भाग अपारदर्शक (Opaque) और श्वेत

होने लगता है । इस अवस्था को वृद्धावस्था जन्य श्वेत परिधि (Arcus senilis) कहा जाता है। यह स्थिति किसी प्रकार का रोग नहीं है; परन्तु वृद्धावस्था जनित एक स्वाभाविक विकार है। इससे दृष्टि को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती।

दृष्टि-मण्डल (Pupillary Circular area)—इसको 'सर्किल आफ दी प्युपिल' कह सकते हैं। इस मण्डल का संक्षिप्त वर्णन आधुनिक ग्रन्थों के आधार पर इस प्रकार का मिलता है। तारामण्डल (Iris) एक प्रकार का पर्दा है। यह कृष्णमण्डल (Cornea) के पीछे जो जलमय रस का खण्ड है, उसके पीछे रहता है। इसका रंग भारतवासियों में प्रायः काला और गोरे मनुष्यों में भूरा होता है। भारत में भी किसी-किसी के नेत्र में भूरे रंग का दीखता है। जो लोग जन्म से ही रंग-रहित या भूरे होते हैं उनके तारामण्डल का रंग रक्ताभ भूरा होता है। तारामण्डल, सूक्ष्म-मृदु और एक रंगदार पर्दा है।

तारामण्डल (Iris) के बीच में एक गोल छिद्र रहता है उसे कनीनिका (Pupil) कहते हैं। कनीनिका में संकोच एवं विकास का गुण रहता है। नेत्र पर जब प्रकाश गिरता है तो कनीनिका संकुचित होती है। जब प्रकाश हटा दिया जाता है तो संकोच दूर हो जाता और वह पुनः विस्तृत हो जाती है। इसी प्रकार जब मनुष्य दूर तक देखता है तब कनीनिका चौड़ी होती है और जब समीप देखता है, तब संकुचित होती है। भय, विस्मय और शारीरिक दुःख इन सब हेतुओं से कनीनिका विस्तृत होती है। निद्रा में कनीनिका संकुचित रहती है।

तारामण्डल के दो मुख्य कार्य हैं १. नेत्र में प्रवेश करनेवाले प्रकाश और दृष्टि-किरणों को केवल कनीनिका के अतिरिक्त नेत्र-गोलक के प्रदेश में प्रवेश न होने देना। २. कनीनिका के संकोच और विकास से नेत्र के समीप और दूर की वस्तुओं को स्पष्ट देखने की शक्ति देना।

कुछ विद्वानों के विचार से दृष्टि का अर्थ नेत्र काच (Lens) होता है जिसका प्रसंग आगे आयेगा।

सन्धि—दो भागों के मिलने के स्थान को संधि कहते है। अंग्रेजी में इसका पर्याय 'जंक्शन' है। नेत्र में छः संधियों का वर्णन आचार्यों ने किया है।[1]

१. *पक्ष्मवर्त्मगत सन्धि* (Ciliary Junction)—पलकों में जहाँ पर बरौनी लगी रहती है, पलकों को वर्त्म (Eyelids) और बरौनी को पक्ष्म (Eye lashes) कहा जाता है, जहाँ पर इनका संयोजनस्थल है उस संधिविशेष को पक्ष्मवर्त्मसंधि कहते हैं।

२. *वर्त्म शुक्लगत सन्धि* (Fornix)—पलक की धारा से प्रारम्भ करके पलक के भीतर की ओर आकर समस्त नेत्रगोलक पर श्लेष्मल त्वचा का जो महीन आच्छादन आ जाता है वह नेत्र श्लेष्मावरण (Conjunctiva) कहा जाता है। इसी का वर्णन 'श्वेतमण्डल' के नाम से पूर्व में हो चुका है। यथार्थ में देखने पर इस रचना का आकार एक थैली जैसा होता है और उस थैली का मुँह ऊपर की ओर नीचे के अक्षिपक्ष्म की धारा के पास मुक्त है, ऐसा जान पड़ता है। यह आवरण ऊपर की पलक की धारा के पास से प्रारम्भ होकर पूरी पलक के भीतर के भाग को आच्छादित करता है। ऊपर की पलक की धारा से कुछ भीतर की ओर एक लम्बी परिखा-सी मालूम होती है। उसमें अनेक बार क्षुद्र शल्य पहुँच कर नेत्र में व्यथा पैदा करते हैं।

यह आवरण ऊपर की पलक को आच्छादित करके नेत्रगोलक पर जाता है जिस स्थान पर पलक और नेत्र गोलक (Palpebral and Bulbur conjunctiva) के ऊपर मढ़े श्लेष्मावरण का संगम होता है उसी संगम को प्राचीनों ने वर्त्म शुक्लगत सन्धि के नाम से अभिहित किया है। इस स्थान पर पाश्चात्य उल्लेखों के आधार पर चार स्थानों में निम्न पुट बन जाते हैं।

---

१. पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः।
शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतोऽपरः॥
ततः कनीनिकागतः षष्ठश्चापाङ्गगः स्मृतः।

(क) ऊर्ध्वपुट, ऊर्ध्ववर्त्म कोण (Superior fornix)
(ख) अधःपुट, निम्नवर्त्म कोण (Inferior „)
(ग) मध्यपुट–मध्यवर्त्म कोण (Medial „)
(घ) पार्श्वपुट–पार्श्ववर्त्म कोण (Lateral fornix)

३. *शुक्ल कृष्णगत संधि* (Limbus)—श्वेत मण्डल से (Sclera) 'स्क्लेरा' का ग्रहण करके जहाँ पर उसका कृष्ण मण्डल (Cornea) के साथ संगम होता है उस स्थान को शुक्ल कृष्णगत संधि (Corneo-scleral junction) कह सकते हैं। यहीं पर 'स्लेम' का जलमार्ग (Canal of Schlemn) भी अवस्थित है।

४. *कृष्ण दृष्टिगत सन्धि* (Pupillary Margin) यह कृष्णमण्डल और दृष्टि-मण्डल के बीच का संगमस्थल है। संभवतः इस संधिविशेष से सन्धान-मण्डल (Ciliary body) का वर्णन हो। तन्तुमय समूह या सन्धान मण्डल मुख्यतः तीन भागों से बना है—

(क) तन्तुमय मण्डल या सन्धान-वलयिका (Ciliary body).
(ख) तन्तुमय पुट या सन्धान दर्शिका (Ciliary processes).
(ग) तन्तुमय पेशी या सन्धान-पेशिका (Ciliary muscles).

५. *कनीनकगत सन्धि* (Interanl Canthus)—डल्हणाचार्य ने कनीनक को नासासमीपस्थित सन्धि विशेष बतलाया है। यह भाग नासा के समीप दोनों वर्त्मों के मिलने से बनता है। अंग्रेजी में यह 'इनर कैन्थस' कहलाता है।

६. *अपाङ्ग संधि* (Outer Canthus)—सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने इस संधि की स्थिति भ्रू (भौं) के पुच्छ के अन्त भाग में स्थित माना है। यह दोनों वर्त्म के बाहर के संगमस्थल का द्योतक है। अंग्रेजी में इसे 'आउटर कैन्थस' कहते हैं।

वर्त्म (नेत्रच्छद या पलक) का प्रसंग मण्डलों के वर्णन में आ चुका है। ऊपर और नीचे के दो पलक होते हैं उन पलकों के भीतर के भाग को नेत्रद्वार, पुटान्तरीया परिखा (Palpebral fissure) कहते हैं। जब पलक बंद होते हैं तब यह द्वार केवल एक दरार के

समान सकुचित रह जाता है। जब दोनों पलक पूरे खुलते हैं; तब यह द्वार लगभग ३० मि० मी० लम्बा, १५ मि० मी० चौड़ा हो जाता है। यथार्थ में यह चौड़ाई केवल बीच के भाग में प्रतीत होती है कोने की ओर जाने पर यह चौड़ाई कम होती जाती है। इस द्वार के दोनों कोनों को नेत्रकोण कहते हैं। भीतर के कोण को नेत्रान्तःकोण (Inner canthus) और बाहर के कोण को नेत्रबहिःकोण (Outer canthus) की संज्ञा दी गई है। इन दोनों अंगों की प्राचीन संज्ञा क्रमशः कनीनक तथा अपाङ्गगत संधि है।

बाह्यनेत्रकोण (कनीनक) एक न्यून कोण जैसा और अंतःकोण अण्डाकार छोटे खण्ड सदृश जान पड़ता है। अंतःकोण में अश्रु संगृहीत होता है और वहाँ से अश्रु छिद्र द्वारा नासिका में चला जाता है। इसी कोण में नेत्रपिण्ड (Caruncle Lacrimalis) रहता है।

पटल—आचार्यों ने नेत्र में छः पटलों का अवस्थान बतलाया है। उनमें वर्त्मपटल दो तथा अन्य चार और पटल होते हैं जो सीधे अक्षिगोलक से सम्बद्ध हैं—उनमें तिमिर नामक परम दारुण व्याधि (रोग) होती है। अक्षिगोलक के पटलों में बाहरी भाग तेजोजलाश्रित होता है। तेजः शब्द से आलोचक तेज का आश्रयभूत सिरागत रक्त तथा जल त्वचागत रस धातुविशेष (Blood vessels and lymphatics) समझना चाहिये। द्वितीय पटल मांसाश्रित (Muscular), तृतीय मेदाश्रित (Made of fatty tissues) और चतुर्थ अस्थ्याश्रित होता है। इनमें अक्षिगोलकगत पटलों की स्थूलता या मोटाई दृष्टि के पंचमांश के समान अर्थात् ($\frac{5}{४२}$ का $\frac{१}{५}$) = $\frac{१}{४२}$ अंगुल की होती है[१]।

---

१. द्वे वर्त्मपटले विद्याच्चत्वार्यन्यानि चाक्षिणि ।
जायते तिमिरं तेषु व्याधिः परमदारुणः ।
तेजो जलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम् ।
मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम् (त्वक्षि चापरम्)
पञ्चमांशसमं दृष्टिस्तेषां बाहुल्यमिष्यते ।

इन पटलों में वर्त्म पटल तो अक्षिगोलक के उपाङ्ग हैं—अक्षिगोलक में पाये जाने वाले चार पटलों का विशेष वर्णन यहाँ प्रासंगिक है।

पाश्चात्य ग्रंथों में नेत्रगत तीन पटलों का वर्णन मिलता है। अंग्रेजी में पटलों को 'ट्यूनिक आफ दी आई' कहते हैं। वह क्रमशः १. बाह्य २. मध्य तथा ३. अंतःपटल कहा जाता है। जैसे—

१. सौत्रिक पटल (Fibrous Tunic), नेत्रबाह्य पटल (Sclera) तथा कृष्ण मंडल (Cornea)

२. रक्तवाहिनीमय रंजित पटल (Vascular Pigment Tunic), तारामण्डल (Iris), नेत्र मध्य पटल या कृष्ण पटल (Choroid), संधान मण्डल (Ciliary body),

३. नेत्रान्तर नाड़ी पटल (Nervous tunic), तथा दृष्टि वितान (Retina).

पटलों की विस्तृत विवेचना—आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि कुल छः पटल होते हैं—उनमें दो पटल वर्त्म में और शेष चार नेत्र गोलक की रचना में पाये जाते हैं।

वर्त्मपटल—स्थूल दृष्टि से विचार करने पर ऊर्ध्वाधः भेद से ऊपर और नीचे के दोनों वर्त्म दो पटल हो जाते हैं—एक ऊपर का पलक एवं दूसरा नीचे का। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करें तो वर्त्म पटल बाह्य तथा आभ्यंतर भेद करना अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है।

बाह्य वर्त्म (Papebral Layer or external) तथा आभ्यंतर वर्त्म (Papebral layer internal or Conjuctiva) भेद से दो वर्त्म पटलों का मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। पलक के ऊपरी स्तर चर्म एवं मांस का निर्मित रहता है, इसमें वसाग्रंथि, निमीलनापेशी, पक्ष्ममूल ग्रन्थियाँ तथा पक्ष्म (बरौनी या Eyelashes) लगे रहते हैं। आभ्यन्तर स्तर या पटल एक पतली श्लेष्मलकला से निर्मित रहता है। इसको (Conjunctiva) कहते हैं—इसमें से एक श्लेष्मलद्रव निकलकर पलकों को मृदु और सिक्त किये रहता है जिससे आँखों के खोलने और बन्द करने में आसानी रहती है।

इसमें अश्रु प्रणालियाँ एवं अश्रु ग्रन्थि रहती हैं जिनका मुख कनीनक संधि में खुलता है जिसे प्रणाली मुख या (Panctum) कहते हैं।

पलकों का प्रधान कार्य नेत्र गोलक की रक्षा करना है। बाहरी क्षत, आघात, धूल, कृमि या कीट आदि से नेत्र की रक्षा इनका कार्य है। नेत्र को यथावश्यक स्निग्ध रखना यथा समय खोलना या बन्द करना भी इनका कार्य है।

नेत्र गोलक के पटल—तेजोजलाश्रित या बाह्य पटल—प्रथम पटल है इसे श्वेत पटल भी कहते हैं। नेत्र गोलक के सम्मुख दिखाई देने वाला पलकोंके बीच का श्वेत भाग श्वेत मण्डल कहलाता है।

इस पटल के दो भाग होते हैं—शुक्लपटल (Sclera)—यह नेत्र गोलक का बाहरी सौत्र निर्मित भाग है जो गोलक के ⅚ भाग पर लगा रहता है। यह एक श्वेत वर्ण की लचकीली, घनी कला है जिससे नेत्र गोलक का आकार स्थिर रहता है। इसके आगे वाले भाग से कर्णिका (Cornea) लगी रहती है और पीछे का भाग दृष्टि नाडी (Optic Nerve) इसमें प्रविष्ट होती है। इस भाग पर नेत्र की पेशियाँ लगी रहती हैं।

कर्णिका—श्वेत पटल का आगेवाला, पारदर्शक भाग है। इसमें वात नाडी की शाखायें तो बहुत मिलती हैं, परन्तु रक्तवाहिनियों का अभाव पाया जाता है। यह शुक्ल पटल में घड़ी के कांच के सदृश लगी रहती है। यह सामने से उन्नतोदर, परन्तु पीछे से नतोदर होती है। पारदर्शक होने के कारण नीचे के कृष्ण मण्डल के भासित होने से यह कृष्ण वर्ण की दिखाई देती है—प्राचीन वैद्यक मत से इसी लिये यह कृष्ण मण्डल नाम से कथित हुई है।

आचार्य सुश्रुत ने इस बाह्य या आद्य पटल को तेजोजलाश्रित बतलाया है। आधुनिक रचना शारीर के अनुसार भी 'कार्निया' के सामने एक अवकाश पाया जाता है जिसमें तेजो जल भरा रहता है जिसे 'एक्वसह्यूमर' कहा जाता है। अस्तु शास्त्रीय संज्ञा सार्थक दी गई है। अंग्रेजी में इस पटल को (Fibrous Tunic) कहा जाता है।

पिशिताश्रित पटल—द्वितीय पटल को मांसाश्रित या पिशिताश्रित बतलाया गया है। रंग में काला होने की वजह से उसको कृष्ण पटलकी भी संज्ञा दी गई है। कृष्ण पटल की बनावट में मांसपेशी स्तरों की बहुलता पाई जाती है—इसी लिये प्राचीन आचार्यों ने इस पटल की मांस धातु के प्रसाद रूप में उत्पत्ति मान कर उसे मांसाश्रित पटल कहा है।

आधुनिक रचना शारीर के अनुसार प्राचीनों के इस पटल को रक्त वाहिनीमय या रंजित पटल (Vascular Tunic) कहा जाता है—क्योंकि यह रक्तवाहिनियों का बना हुआ और रंजक पदार्थ युक्त होता है। इस में बाहर से भीतर की ओर क्रमशः पुतली एवं तारामण्डक (Pupil & Iris), संधान मण्डल या तारानुमण्डल (Ciliary Body) तथा कृष्ण (Choroid) नामक तीन भाग पाये जाते हैं।

तारामण्डल (Iris)—नेत्र जल में गतिशील पर्दे के रूप में यह पाया जाता है—यह संधान मण्डल को मूल से संसक्त रखता है। सुश्रुत ने इसे 'तारक' या 'दृष्टि' की संज्ञा दी है। कई वैद्यक ग्रन्थकारों ने इस अवयव को कई नामों से अभिहित किया है। जैसे—कुमारिका, पत्ररूपा कुमारिका, तारका, तारिका या तारा आदि। इस तारा की बनावट में छिद्र मय भाग को व्यवहार में पुतली कहा जाता है और इसके पार्श्वीय शेष भाग को कृष्ण होने से कृष्ण मण्डल या तारानुमण्डल (Iris) कहा जाता है। तारा से समग्र 'आयरिस' के भाग को न लेकर केवल विवराकृति प्युपिल या पुतली का ही ग्रहण करना चाहिये। कृष्ण मण्डल का ⅓ दृष्टि या पुतली होती है। 'कृष्णात् सप्तमिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टि विशारदाः।'

तारानुमण्डल (आयरिस) में रंजक धातु की अधिकता होती है—इसमें रक्तवाहिनियों, नाड़ियों और मांसपेशियों का समन्वय रहता है। कर्णिका (Cernea) और तारा मण्डल (Iris) के बीच में एक अवकाश रहता है जिसे पूर्व वेश्म (Anterior Chamber) कहते हैं और इसमें तेजोजल अर्थात् 'एकसह्यूमर' भरा रहता है। तारा-मण्डल के पीछे, संधान मण्डल एवं काच (Lens) के बीच में एक अवकाश रहता है जिसे पश्चिम वेश्म (Posterior Chamber)

कहा जाता है। इसमें भी एक तेजोजल ही भरा रहता है जिसे 'विट्रियिसह्यूमर' कहते हैं। इस द्रव की अधिकता से अधिमंथ नामक रोग होता है।

तारानुमण्डल में संयोजक धातु, रक्तवाहिनियों तथा साम्वेदनिक नाडी सूत्रों की बहुलता होती है। फलतः इसमें संवेदना ग्रहण की शक्ति तीव्र होती है—नेत्र की रक्षा की दृष्टि से यह यथासमय संकोच एवं विस्तार करती हुई पुतली को छोटी बड़ी यथावश्यक करती रहती है। 'धूप में यह संकुचित हो जाती है और छाया में विस्तृत हो जाती है।' 'संकुचत्यातपेत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत्।'

संधान मण्डल या तारानुमण्डल (Ciliary Body)—यह एक कृष्णवर्ण, त्रिकोणाकार, विषमरचना है जो तारानुमण्डल (Iris) के चारों ओर पाया जाता है एवं वलयाकार अवयव है जो स्थानिक मांसपेशी सूत्रों का बना होता है। इसके दो भाग होते हैं, बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्य भाग श्वेत पटल से लगा रहता है और भीतरी पूर्व वेश्म में 'आयरिस' से लगा रहता है। इसका शीर्ष भाग कृष्णमण्डल (Choroid) से मिला रहता है।

कृष्णमण्डल (Choroid)—रक्त वाहहिनियों के संयोग से बना हुआ यह एक रक्तमय पटल है। यह पटल श्वेत पटल के नीचे चारों तरफ पाया जाता है और आगे की ओर काचमणि (Lens) तक पहुँचता है और वहाँ पर कई प्रवर्द्धनों के रूप में काच के किनारों पर लगा रहता है जो तारानुमण्डलीय प्रवर्द्धन (Ciliary processes) कहलाते हैं। भीतर में पीछे की ओर यह दृष्टि पटल से दृढ़ता के साथ संसक्त रहता है। इसमें चार स्तरें पाई जाती हैं—

१. अधिकृष्ण मण्डल (Supra-choroid)
२. रक्तवाहिनी स्तर
३. रक्तवह केशिकास्तर
४. स्थितिस्थापक आवरणस्तर

तृतीय पटल या मेदाश्रित पटल या मेदस्पटल—इस पटल में मेदोद्रव और काच की गणना जी जाती है। काच (Lens) के नीचे

एक मेदस कला (Hyaloid membrane) के द्वारा आवृत एक प्रकार मेदोद्रव जो स्वच्छ, स्फटिकोपम गाढ़ा होता है और जो नेत्र गोलक के $\frac{2}{3}$ भाग में भरा रहता है—इसे मेदाश्रित पटल कहा जा सकता है। इस मेदस द्रव के बीच एक लम्बी पतली नलिका पाई जाती है जो लसीका से पूर्ण रहती है और जो आगे काच पृष्ठ से और पीछे दृष्टि नाड़ी के प्रवेश स्थान तक होती है, इसे मेदस द्रवान्तरी प्रणाली (Canalis Hyaloidens) कहते हैं।

मेदस पटल से दृष्टि पटल को सहायता मिलती है। मेदस पटल में महत्त्व का दूसरा अवयव काच या दृष्टि मणि (lens) का होता है।

काच की सामान्य रचना—देखने की क्रिया का यह एक प्रधान घटक होता है। यह मेदस पटल के आगे उसकी दृष्टि-मण्डल-धानिका (Fossa Palellaris) में लगा रहता है इसके सामने तारा या उपतारा (Pupil or Iris) का भाग रहता है। यह काच चिपटे मोती के आकार का, किन्तु युगलोन्नतोदर (Biconvex) और पारदर्शक होता है। इसमें कई स्तर (layers) पाये जाते हैं। काच एक प्रकार की कला द्वारा (Hyalin Membrane) से पूर्णतया आवृत पाया जाता है जो सामने मोटी और पीछे की ओर पतली होती है। इसको काच कोष (Lens Capsule) कहते हैं। काच अपने स्थान पर लटकने वाले बन्धनों (Suspensary Ligaments) से स्थिर रहता है। ये बंधन संधान मण्डल (Ciliary Body) के परिवर्धित सूत्रों के समूहरूप में रहते हैं।

काच (lens) कई स्तरों का बना होता है—इसके मध्य का मण्डलाकार स्तर (Nucleuslentis) कठिन एवं दृढ़ होता है। काच के स्तर जैसे-जैसे भीतर को होते जाते हैं कठिन और पारदर्शक होते हैं। काच की रचना में शिरा-धमनी या नाडी प्रतान नहीं पाये जाते—इसका पोषण इसके चारों ओर पायें जाने वाली लसीका द्वारा होता है। काच की पारदर्शकता सदैव बनी रहती है क्योंकि इसके सभी स्तर दृढ़ होते हुए भी एक समान पारदर्शक होते हैं। आयु की वृद्धि के साथ वृद्धावस्था में या किसी रोग विशेष के कारण अल्प आयु में

भी इनकी पारदर्शकता कम होने लगती है एवं धुँधलापन आने लगता है, जिससे भविष्य में मोतियाबिन्द या लिङ्गनाश नामम रोग पैदा हो जाता है जिसमें देखने की क्रिया पूर्णतया लुप्त हो जाती है।

चतुर्थ पटल—अक्षिपटल या दृष्टिपटल—सुश्रुत ने 'चतुर्थं त्वक्षि चापरम्' अर्थात् आँख में पाया जाने वाला चौथा पटल दूसरा ही है। कहीं पर 'चतुर्थं त्वस्थि चापरम्' ऐसा भी पाठ पाया जाता है जिसका अर्थ होता है कि चौथा पटल अस्थि के आश्रित रहता है। इनमें प्रथम पाठ ही युक्तियुक्त है जिसमें अक्षिपटल या दृष्टिपटल वर्णन प्रासंगिक है।

दृष्टिपटल, कृष्णपटल के नीचे का स्तर है। यह दर्शन-व्यापार में सर्वाधिक महत्त्व का पटल है। यह वातनाडी सूत्रों का बना होता है अस्तु उसे (Nervous Tunic) कहा जाता है। दृष्टिनाडी (Optic Nerve) नेत्र गोलक के पश्चात् पृष्ठ का भेदन करके भीतर प्रवेश करती है और यहाँ पर फैलकर नाड़ियों का जाल फैला कर इसके विस्तार को बढ़ाती है। इस नाडी का सम्बन्ध नेत्र कोटर से सीधे मस्तिष्क तक होता है।

दृष्टि पटल में तीन प्रधान अवयव होते हैं—

१. दृष्टि वितान (Retina), २. पीत विन्दु (Macula lutia) तथा ३. नेत्र बिम्ब (Optic Disc or Optic Papilla)।

दृष्टि-वितान (Retina)—अणुवीक्षणात्मक अध्ययन से यह कई स्तरों का बना होता है। संक्षेप में १० स्तर बतलाये गये हैं। उन स्तरों में नाडी कोषाणुओं की अधिकता पाई जाती है। इस पटल के महत्त्वपूर्ण भाग वे हैं जिनमें दण्ड एवं शंकु (Rods & cones) पाये जाते हैं।

पीतविन्दु—दृष्टिपटल के पीछे के भाग पर एक छोटा-सा उभार है, जिसकी परिधि $\frac{2}{4}$ इंच होती है, यह वर्ण में पीला होता है। यह बीच में कुछ दबा हुआ होता है। इसके पीत रंग के उभार को पीत विन्दु कहते हैं (Yellow spot)। दबे हुए निम्न भाग के मध्य में एक

गर्त्त होता है जिसे केन्द्रीय गर्त्त (Fovia centralis) कहते हैं। यह इस पटल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सांवेदनिक भाग होता है।

सितबिम्ब या नेत्र बिम्ब (Disc)—दृष्टिपटल का वह भाग जहाँ दृष्टिनाडी, धमनी एवं शिरायें प्रविष्ट होती हैं। यह दृष्टिपटल की सतह से कुछ उभरा हुआ स्थल है। यह श्वेत विन्दु-सा दिखलाई पड़ता है। इसमें दृष्टि शक्ति का सर्वथा अभाव होने से यह अंध-बिन्दु या सित बिन्दु भी कहलाता है।

इस तरह आयुर्वेदीय मत से अक्षि में आश्रित चतुर्थ पटल दृष्टि-पटल है। दृष्टिपटल नाम से अभिहित करने का उद्देश्य यह है कि नेत्र के दर्शन व्यापार को यही पटल निश्चित करता है और दर्शन का प्रधान कार्य सम्पादन इसी उपाङ्ग के द्वारा होता है। यह समग्रतया सूक्ष्म नाडी तन्तुओं के जाल से निर्मित रहता है।

आधुनिक नेत्र चिकित्सा ग्रंथों में नेत्र शरीर का विशद वर्णन पाया जाता है। उदाहरणार्थ—

नेत्र के अंग (Organs)—

१. नयन बुद्बुद, नेत्रगोलक (Eye ball)

२. नेत्रगत धमनियाँ, शिरायें और रसवाहिनियाँ

३. नेत्रचालक पेशियाँ

४. नेत्रश्लेष्मावरण अथवा श्वेत मण्डल (Conjunctiva)

नेत्र के उपाङ्ग (Appendages)—

१. नेत्र वर्त्म या नेत्रच्छद (Eye lids)

२. भ्रू (Eye brow)

३. अश्रुजनक पिण्ड (Lachrymal glands) अश्रुवाहक प्रणालिका (Lachrymal duct) अश्रुप्रपिका (Canalicula), अश्रुद्वार (Puncta Lachrymalis), आश्र्वाश्रय या अश्रुकुम्भिका (Lachrymal sac), अश्रुवह नासा सुरंग (Nasal duct)

४. नेत्र गुहा (Orbit)

५. दृष्टि के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मस्तिष्कगत अंग

नेत्रगोलक के *मुख्यभाग*—

(अ) कृष्णमडल या कर्णिका (Cornea)

(आ) नेत्रबाह्यपटल-शुक्लवृत्ति (Sclerotic coat-sclera)

(इ) तारामण्डल (Iris)

(ई) तन्तुसमूह संधान मण्डल (Ciliary body)

(उ) नेत्र मध्य पटल या कर्बुर वृत्ति (Choroid)

(ऊ) नेत्रदर्पण या दृष्टि वितान (Retina)

(ए) अग्रिमा जलधानी या पूर्ववेश्म (Anterior chamber)

(ऐ) पश्चिमा जलधानी या पश्चाद् वेश्म। (Posterior chamber)

(ओ) दृष्टिमणि (Crystaline lens)

(औ) दृष्टिमण्डलधर कलाकोष—दृष्टिमणि आवरण (Lens Capsule)

(क) सान्द्रजल या मेदोद्रव (Vitreous Humour)

(ख) दृष्टिनाड़ी (Optic Nerve)]

(ग) बिम्बांकुरिका—सित बिम्ब (Optic disc)

अंगों और उपाङ्गों की रचना के अनन्तर उनके पृथक् पृथक् विशेष विशेष क्रियाविज्ञान का वर्णन पाया जाता है। इन क्रियाओं को संक्षेप में बतलाने के लिये उनका पाँच वर्गों में विभाजन हो सकता है।

१. *दृष्टि से संबन्ध रखनेवाले अंग*—इस वर्ग में कृष्णमण्डल, जलमय रस, तारामण्डल, तन्तुसमूह या संधानमण्डल, दृष्टिमणि के बंधन एवं आवरण (Zonnule of Zinn & lens Capsule) नेत्र मध्य पटल, दृष्टिवितान, सान्द्रद्रव तथा दर्शननाड़ी (Optic Nerve)—इन अंगों के द्वारा विभिन्न कार्य होकर परिणाम स्वरूप वस्तु दृश्य हो जाती है।

२. *नेत्र गोलक आर्द्र रखनेवाले भाग*—नेत्र गोलक को आर्द्र रखने वाले भाग अश्रुजनक पिण्ड, अश्रुवाहक नलिकायें प्रभृति रचनायें हैं। इनके द्वारा नेत्र को गीला रखने के लिये जितना द्रव चाहिये उतना अश्रुस्राव उत्पन्न होकर नेत्र की प्राकृतिक आर्द्रता बनी रहती है।

३. *नेत्र गोलक के संरक्षक अवयवों की क्रिया*—इनमें नेत्रगृह (Orbit), पलक (वर्त्म), पक्ष्म (बरौनी) 'मेई बोमियन' और 'जाइस' पिण्ड प्रभृति रचनायें हैं। इनके द्वारा नेत्र की रक्षा होती रहती है।

४. *नेत्रगोलक के चालक भाग*—नेत्रगोलक को विभिन्न भागों में चालन करनेवाली मुख्य छः पेशियाँ बाह्यस्था सरला (External Rectus), अंतस्था सरला (Internal Rectus), ऊर्ध्वस्था सरला (Superior Rectus), अधस्था सरला (Inferior Rectus), ऊर्ध्वस्था वक्रा (Superior oblique), अधस्था वक्रा (Inferior oblique) है। इनके द्वारा नेत्रगोलक नामानुसार सरल या वक्र दिशा में ऊपर या नीचे की ओर हुआ करता है। इन पेशियों के चालन में पुनः मस्तिष्कगत नाड़ियों की क्रियायें होती हैं। बाह्या सरला को छठी नाडी द्वारा, ऊर्ध्व वक्रा को चतुर्थ नाड़ी द्वारा और शेष सभी को तृतीय नाड़ी के द्वारा हलचल करने की शक्ति प्राप्त होती है।

नेत्रगत मांस पेशियाँ दो प्रकार की हैं। बाह्यस्था और अंतःस्था। बाह्यस्था तो ऊपर कही हुई छः मुख्य हैं। अंतस्था में तीन मुख्य हैं—कनीनिका संकोचक (Sphinctre Pupillae muscle), कनीनिका विस्फारक (Dilator Pupillae muscle) तथा संधान पेशिका (Ciliary muscle) नाम से ही इनके कार्यका ज्ञान प्रायः हो जाता है।

५. *नेत्रगोलक की आकृति और कठिनता के संरक्षक अंग*—नेत्रगोलक के आकार संरक्षक अवयव, नेत्र बाह्य पटल, शुक्ल मण्डल, टेनन का आवरण, नेत्रगोल की पेशियाँ, सान्द्रद्रव (V. H.), सजलद्रव (Aquous Humour) और दृष्टिमणि प्रभृति रचनायें हैं। संक्षेप में पूर्वोक्त नेत्र के तीनों पटल बाह्य, मध्य तथा अंतःनेत्र के आकार को प्रकृतावस्था में बनाये रखते हैं। नेत्रगत मध्य पटल या कर्बुरवृत्ति (Choroid) का प्रधान कार्य पोषण का होता है। इनसे पोषकस्राव उत्पन्न होता है और नेत्रगोलक में अवस्थित जो उसके समीप या संसर्ग में है उसका पोषण करता है। क्योंकि नेत्रमध्य पटल में

विशेषतः धमनी, शिरा और रंग के परमाणु रहते हैं। इन भागों में मुख्यतया दृष्टिवितान (Retina) दृष्टिमणि और सान्द्रद्रव (Vitreous Humour) आदि का अन्तर्भाव होता है। पोषण के आधिक्य से नेत्रमध्य पटल में रक्त की पूर्णता होने से वह मोटा बनता है तथा रक्त की न्यूनता होने पर पतला पड़ जाता है। ऐसे अवसर पर यह नेत्र के भीतर द्रव के दबाव को न्यूनाधिक करने में अति महत्त्व का भाग लेता है।

इस प्रकार आधुनिक शालाक्य ग्रन्थों में नेत्रगत जिन अंगों एवं उपाङ्गों का विशद वर्णन मिलता है, उसी का सूत्ररूप में आचार्य सुश्रुत ने अपने शब्दों में संग्रह किया है। नेत्र की रचना तथा क्रिया का अस्तित्व दिखलाते हुए तथा अक्षि में उन अंगों एवं उपाङ्गों की विद्यमानता दिखलाते हुए एक श्लोक में लिखा है।[1] 'सिरा से लेकर कालास्थि पर्यन्त रचनाओं का परं गुण अर्थात् यथोत्तर उत्कृष्ट प्रसाद (क्रमशः परम् उत्कृष्ट गुण) नेत्र के बन्धन में लगते हैं अर्थात् एक दूसरे को स्थिर रूप से जकड़कर गठित रूप में (संहनन) रखते हैं।

१. सिराणां कण्डराणां च मेदसः कालकस्य च ।
गुणाः कालात्परः श्लेष्मा बन्धनेऽक्ष्णोः शिरायुतः ।। (सु)
सिराणां कण्डराणां च मेदसः कृष्णबन्धने ।
गुणाः कालात्परः श्लेष्मा बन्धनेक्ष्णोः शिरायुतः ।। (पाठान्तरः)

२

संहितोक्त नेत्ररोगों की विवरणतालिका

रोग	अधिष्ठान	दोष प्राबल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	वि. चि. क्रम
संधिगतरोग ९				
पूयालस	कनीनक संधि (Inner canthus Lacrimal sack)	सन्निपातजः	Acute Dacryo cystitis	रक्त विस्रावण स्वेदन
उपनाह	"	कफज	Lacrymal cyst	छेदन
स्राव	"	त्रिदोषज	Affection of L. apparatus	असाध्य
पर्वणी	कृष्ण और शुक्ल की संधि (Sclero-corneal junction)	रक्तज	Marginal ulcers of Cornea	छेदन
अलजी	कनीनक	त्रिदोषज	"	असाध्य
कृमिग्रन्थि	वर्त्म और पक्ष्म संधि	कफज	Pediculi ciliaris	साध्य, भेदन
वर्त्मगतरोग (Diseases of Eye lids)				
उत्संगिनी	अधोवर्त्म (Lower lids)	सन्निपातज	Chalizion	भेदन
कुम्भीकपिडका	वर्त्म (Lids)	त्रिदोषज	Internal stye (H)	"
अंजननामिका	"	रक्तज	External stye (H)	"

रोग	अधिष्ठान	दोषप्रावल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	वि. चि. क्रम
लगण	वर्त्म (Lids)	कफजसाध्य	Meibomium cyst or Molluscum simplex	भेदन
वर्त्मशर्करा	वर्त्मान्तःप्रदेश	सन्नि० साध्य	Granular form of lids	लेखन
वहलवर्त्म	वर्त्म	"	Multiple stye or chalazion	"
वर्त्मबंध	"	"	Non inflammatory œdema of the Eye lids	"
क्लिष्टवर्त्म	"	"	Angio Neurotic œdema	"
वर्त्मकर्दम	"	"	Nunulcerative Blepharitis	"
श्यावयवर्त्म	"	"	Ulcerative Blepharitis	"
क्लिन्नवर्त्म	"	कफजसाध्य	Ankelo Blepharon	"
अक्लिन्नवर्त्म	"	सन्नि० साध्य	Blephaphimosis	"
वातहतवर्त्म	"	वातज असाध्य	Paralysis of the VIIC. N. Lagopthalmus or Ptosis	×
निमेष	"	"	"	×
वर्त्मार्बुद	"	रक्त और पित्त	Tumours of the lids (Angioma)	छेदन
वर्त्मार्श	"	त्रिदोष	Molluscum Contagiosm or warts	"
विसवर्त्म	"	त्रिदोषज	Xanthalasma.	भेदन
पक्ष्मकोप	वर्त्म एवं पक्ष्म	सर्वजयाप्य	Trichiasis, Districhiasis and Entropion.	आहरण, छेदन
पोथकी	वर्त्म	त्रिदोषज साध्य	Trochoma or Granular lids	लेखन
अर्शोवर्त्म	"	"	Papillary form	"
शुष्कार्श	"	"	Chronic papillary form	"

रोग	अधिष्ठान	दोष प्राबल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	वि. चि. क्रम्
शुक्लगतरोग Diseases of the Conjunctiva or sclera				
अर्म	नेत्रश्लेष्मावरण (Conjunctiva)	×	Pterigium.	छेदन
प्रस्तारि	”	त्रिदोषज	”	”
शुक्ल	”	कफज	”	”
अधिमांस	”	त्रिदोषज	”	”
स्नायु	”	”	”	”
लोहितार्म	”	रक्तज	”	”
शुक्तिका	”	पित्तज (साध्य)	Xerosis	पैत्तिक अभिष्यंदवत्
पिष्टक	”	श्लेष्मज (साध्य)	Pingulecula	श्लैष्मिक अभिष्यंदवत्
सिराजपिडिका	”	रक्तज (साध्य)	Deep scleritis	छेदन
बलासक	”	कफज (साध्य)	Perinaud's Conjunctivitis	लेखन
अर्जुन	”	रक्तज (साध्य)	Sub-Conjunctival Echymosis or Phlyctenular Conjunctivitis	औषधसाध्य
कृष्णगतरोग Diseases of the Cornea				
सव्रणशुक्र	कृष्णमण्डल (Cornea)	रक्तज	Ulcerative keretitis or Corneal ulcer	×
अव्रणशुक्र	”	”	Opacity of Cornea,	×

रोग	अधिष्ठान	दोष प्राबल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	वि. चि. क्रम्
अक्षिपाकात्यय	कृष्णमण्डल (Cornea)	त्रिदोषज	Hypopyon or Kerato malacia	असाध्य
अजकाजात	"	श्लेष्मज (साध्य)	Anterior Staphylomo	वेधन और विस्रावण
सर्वगतरोग (Diseases of the Conjunctiva, Eye bal or orbital cavity)				
अभिष्यंद	नेत्रश्लेष्मावरण	×	Conjunctivitis (Cattarrhal)	औषधसाध्य
वाताभिष्यंद	"	वा०	"	"
पित्ताभिष्यंद	"	पि०	Chronic Catarrhal Conjunctivitis	"
श्लेष्माभिष्यंद	"	श्ले०		"
रक्ताभिष्यंद	"	र०	Conjunctival Echymosis	"
			Clau com.	अभिष्यंदवत्
अधिमंथ	"	वा. पै. श्लै. र०	Atrophy of the Eye ball	असाध्य
हताधिमंथ	सर्वगत (Eye ball)	वा०	V Cranial Nerve atrophy	वातघ्नोपचार
वातपर्याय	"	वा०		
अन्यतोवात	"	वा०	"	"
शुष्काक्षिपाक	"	वा०	Opthalmoplagia	साध्य
अम्लाध्युषित	"	पै०	×	"
सिरोत्पात	"	"	Hyperaeemia of the Conjunctiva	सिरा वेध
सिराहर्ष	"	"	Orbital Cellulitis	"

रोग	अधिष्ठान	दोषप्राबल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	वि. चि. क्रम
ष्टिगतरोग (Defects of the Vision due to affections of the Tunic of the Eye. Opacity of the lens, disease of the Retina and Optic Nerve)				
तिमिर	प्रथम एवं द्वितीय पटलगत	वा., पै., श्लै., सा., रक्त., संसर्गज	Progressive Cataract	औषध साध्य
लिंगनाश	तृतीय चतुर्थ पटलस्थित दोष	दोषभेद से पूर्ववत् छ प्रकार	Opacity of the lens Cataract Matured or Immatured	शस्त्रसाध्य
पित्तविदग्धदृष्टि (दिवांध्य)	दृष्टिमण्डल	पि०	Retinitis Pigmentosa or Amblyopia or Day blindness.	औषध साध्य
श्लेष्मविदग्धदृष्टि (नक्तांध्य)	"	श्ले०	Degenerative Diseases of the Retina. Night blindness	औषध साध्य
धूमदर्शी (धूमर)	"	पि०	Glaucomatic stage	"
ह्रस्वजाड्य	"	पित्तज	Retinitis Pigmentosa or Central opacity of the lens	असाध्य
नकुलांध्य	"	सर्वज	(Retinitis Pigmentosa or Central opacity of the lens)	
गम्भीरिका	"	वातज	Paralysis of the VI Cranial Nerve.	"

रोग	अधिष्ठान	दोषप्राबल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	वि. चि. क्रम
नयनाभिघात (Injuries to the orbit)				
अतिनिर्गतनयन	×	×	Exopthalmos	शस्त्रसाध्य
अतिप्रविष्टनेत्र	×	×	Enopthalmos	"
कुकूणक	वर्त्म	कफ वात रक्त पित्त	Trachomatic lids or Follicular Conjuncti vitis.	लेखन
पिल्लरोग (वा०)	सर्वगत	१८ संख्या में	Chronic inflammatory Conditions of the Eye ball.	

दोषभेद से नेत्ररोगों की संख्या एवं साध्यासाध्यता—

१ वात से दस रोग होते हैं। उनमें से हताधिमन्थ, निमिषदृष्टि, गम्भीरिका, वातहत मर्म ये असाध्य तथा वातज काच याप्य और शुष्काक्षिपाक, अधिमंथ, वातपर्याय, अन्यतोवात और अभिष्यन्द साध्य हैं।[1]

---

१. हताधिमन्थो निमिषो दृष्टिर्गम्भीरिका च या ।
यच्च वातहतं वर्त्म न ते सिद्धयन्ति वातजाः ॥
याप्योथ तन्मयः काचः साध्याः स्युः सान्यमारुताः ।
शुष्काक्षिपाकाधीमन्थस्यन्दमारुतपर्यया: ।
असाध्यो ह्रस्वजाड्यो यो जलस्रावश्च पैत्तिकः ।
परिम्लायी च नीलश्च याप्यः काचोऽथ तन्मयः ॥
अभिष्यन्दोधिमन्थोऽम्लाध्युषितं शुक्तिका च या ।
दृष्टिः पित्तविदग्धा च धूमदर्शी च सिद्धयति ॥
असाध्यः कफजः स्रावो याप्यः काचश्च तन्मयः ।
अभिष्यन्दोधिमन्थश्च बलासग्रथितञ्च यत् ॥

२. पित्त से भी दश ही रोग होते हैं। इनमें ह्रस्व जाड्य और पैत्तिक जलस्राव साध्य हैं। परिम्लायि तथा पैत्तिक नील काच याप्य हैं। अभिष्यन्द, अधिमन्थ, शुक्तिका पित्तविदग्ध दृष्टि, पोथकी, लगण, अम्लाध्युषित ये साध्य हैं।

दृष्टिः श्लेष्मविदग्धा च पोथक्यो लगणश्च यः ।
क्रिमिग्रन्थिपरिक्लिन्नवर्त्मशुक्लार्मपिष्टकाः ॥
श्लेष्मोपनाहः साध्यास्तु कथिताः श्लेष्मजेषु तु ।
रक्तस्रावोऽजकाजातं शोणितार्शोव्रणान्वितम् ॥
शुक्रं न साध्यं काचश्च याप्यस्तज्जः प्रकीर्तितः ।
मन्थस्यन्दौ क्लिष्टवर्त्म हर्षोत्पातौ तथैव च ॥
सिराजाताऽञ्जनाख्या च सिराजालञ्च यत्स्मृतम् ।
पर्वण्यथा व्रणं शुक्रं शोणितार्मार्जुनश्च यः ॥
एते साध्या विकारेषु रक्तजेषु भवन्ति हि ।
पूयास्रावो नाकुलान्ध्यमक्षिपाकात्ययोऽलजी ॥
असाध्याः सर्वजा याप्यः काचः कोपश्च पक्ष्मणः ।
वर्त्मावबन्धो यो व्याधिः सिरासु पिडका च या ॥
प्रस्तायर्माधिमांसार्म स्नाय्वर्मोत्संगिनी च या ।
पूयालसश्चार्बुदं च श्यावकर्दमवर्त्मनी ॥
तथार्शोवर्त्म शुष्कार्शः शर्करावर्त्म यच्च वै ।
सशोफश्चाप्यशोफश्च पाको बहलवर्त्म च ॥
अक्लिन्नवर्त्म कुम्भीका विसवर्त्म च सिद्धयति ।
सनिमित्तोऽनिमित्तश्च द्वावसाध्यौ तु बाह्यजौ ॥ सु उ. २

उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाद्दूरेक्षणात्स्वप्नविपर्ययाच्च ।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोकक्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ॥
शुक्तारनालाम्लकुलत्थमाषनिषेवणाद्वेगविनिग्रहाच्च ।
स्वेदादथो धूमनिषेवणाच्च छर्दैर्विघाताद्वमनातियोगात् ॥
बाष्पग्रहात्सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकाराञ्जनयन्ति दोषाः । सु.
अवाक्शिरोत्युच्छ्रितशायितस्य ज्वरोऽतापदनुपर्ययाच्च ।

(डल्हण)

३. कफ से तेरह रोग होते हैं इनमें से कफज जलस्राव असाध्य, कफज काच याप्य होता है और अभिष्यन्द अधिमंथ, बलासग्रन्थि, श्लेष्मविदग्ध दृष्टि, पोथकी, लगण, कृमिग्रन्थि, परिक्लिन्नवर्त्म, शुक्लार्म, पिष्टक और श्लेष्मोपनाह साध्य होते हैं।

४. रक्त से सोलह रोग होते हैं, जिनमें से रक्तस्राव, अजकाजात, शोणितार्श, सव्रण शुक्र असाध्य, रक्तजकाच याप्य, अभिष्यन्द, अधिमंथ, क्लिष्टवर्त्म, शिराहर्ष, शिरोत्पात, अञ्जननामिका, शिराजाल, पर्वणी, अव्रण शुक्ल, शोणितार्श और अर्जुन ये साध्य हैं।

५. सन्निपात से पच्चीस रोग होते हैं—इनमें पूय स्राव, नकुलांध्य, अक्षिपाकात्यय और अलजी ये असाध्य हैं सन्निपातज काच तथा पक्ष्म कोप ये याप्य हैं। वर्त्मावबन्ध—शिरापिडिका, प्रस्तार्यर्म, अधिमांसार्म, स्नाय्वर्म, उत्संगिनी पूयालस, अर्बुद, श्याववर्त्म, कर्दम वर्त्म, अर्शोवर्त्म, शर्करावर्त्म, शुष्कार्श, सशोफ अक्षिपाक, अशोफ अक्षिपाक, बहलवर्त्म, अक्लिन्नवर्त्म, कुम्भिका और विसवर्त्म ये उन्नीस रोग औषध साध्य हैं।

६. आगन्तुक रोग दो हैं सन्निमित्त और अनिमित्त ये दोनों ही असाध्य माने गये हैं।

३

नेत्ररोगों का सामान्य निदान

(A General Etiology of Eye Diseases)

प्राच्य चिकित्सा प्रणाली में आचार्यों ने प्रत्येक रोग के हेतु रूप में दोष एवं धातु में विषमता पैदा होना माना है। नेत्र रोग के अध्याय में बहुत से रोग पठित हैं फलतः उनके उत्पादक हेतु और सम्प्राप्ति भिन्न भिन्न हो सकती है तथापि कुछ कारण ऐसे हैं जिनका सामान्य नेत्ररोगों के उत्पादन में हाथ रहता है। उन हेतुओं का संग्रह करते हुए सुश्रुत ने लिखा है—

१. उष्णता में रहे हुए व्यक्ति का हठात् शीतल जल में प्रवेश करके अवगाहन या स्नान करना।

२. दूरेक्षण—बल लगा कर (आँखों पर जोर लगा कर) दूर तक देखना।

३. सूक्ष्म निरीक्षण—बहुत छोटी आकार की चीजों का देखना।

४. स्वप्न विपर्यय—नियमित समय पर पूर्ण निद्रा का सेवन न करना।

५. वाष्पग्रह—आँसुओं का वेग रोकना।

६. प्रसक्त संरोदन—आँसुओं का वेग रोकते हुए रुदन या अनवरत रुदन करना।

७. कोप—क्रोध करना।

८. शोक—शोक करना।

९. क्लेश—दैहिक तथा मानसिक क्लेश का होना।

१०. अभिघात—(Mechanicalor Chemical injuries) यांत्रिक या रासायनिक द्रव्यों के कारण अभिघात होना।

११. स्वेद का सेवन करना। अधिक स्वेदन वाष्पादि के द्वारा आँखों पर होना।

१२. धूमनिषेवण—अधिक धुएँ में रहना।

१३. वेग निग्रह—वेगों का रोकना।

१४. छर्दि विघात—कै के वेगों का रोकना।

१५. वमन का अतियोग होना या अधिक कै का होना।

१६. अतिमैथुन—इसके कारण शरीर (क्षेत्र) हीनबल हो जाता है जिससे अल्प कारणों से नेत्र के रोग हो जाते हैं।

१७. शुक्त, आरनाल, अम्ल (खटाई) कुलथी, उड़द प्रभृति द्रव्यों का अधिक सेवन करना।

उपर्युक्त कारणों से दोष विकृत होकर नेत्रों में विकार पैदा करते हैं। इन कारणों में पाठान्तर में आये हुए कारणों का समावेश हो

सकता है जैसे—(१८) अवाक् शिर शयन (नीचे सिर करके सोना) (१६) उच्छ्रित शिर शयन (ऊँचा उठाकर सिर को या अधिक ऊँचा करके सोना) (२०) ज्वर तथा (२१) ऋतुपरिवर्त्तन ।

आधुनिक युग के नेत्ररोग विज्ञान के पाश्चात्य ग्रन्थों में नेत्ररोग निदान का वर्णन ठीक इसी प्रकार का मिलता है। इनके सात विभाग किये जा सकते हैं।[1]

१. (क) आदि बल प्रवृत्त (कुलज वंशज or Heriditary defects) ।

(ख) जन्मबल प्रवृत्त (Congenital defects)—जन्म लब्ध या सहज विकार ।

संघातबल प्रवृत्त

२. दैहिक अभिघातज (Physical injuries)
३. यांत्रिक अभिघातज (Mechanical injuries)
४. रासायनिक अभिघातज (Chemical injuries)

इन तीनों अवस्थाओं को प्राचीन दृष्टि से एकवर्ग के भीतर 'संघातबल प्रवृत्त' कारणों में रखा जा सकता है।

---

१. आचार्य सुश्रुत ने व्याधिसमुद्देशीयाध्याय में सामान्यतया रोगों को सात भागों में विभक्त किया है। यहाँ पर नेत्र रोग का पाठ होने से सभी का विशेष वर्णन संभव नहीं। केवल तुलनात्मक-विवेचना के विचार से चार का ही उल्लेख किया गया है—वैसे सात भेद होते हैं जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट होता है।

ते पुनः सप्तविधा व्याधयः । आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, संघातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, दैवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ताः इति । सु० सू० २४.

५. कीटाणुजन्य अभिघात से (Parasitic injuries)
६. अपक्रान्तिजन्य विकृति (Degenerative Changes) स्वभाव बल प्रवृत्त नेत्ररोग ।

इसको प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार 'दोषबल प्रवृत्त' के अंदर ग्रहण किया जायगा । यद्यपि प्राचीन दृष्टि से ये कारण नहीं कार्य हैं ।

४. अर्बुदजन्य विकार (Newgrowths)—दोषबल प्रवृत्त नेत्ररोग ।

प्राचीनों ने सामान्य रोगों के उत्पादक कारणों में दो और वर्गों का वर्णन किया है जिन्हें नेत्र रोगों के सम्बन्ध में भी लागू किया जा सकता है। कालबल प्रवृत्त—ऋतुजन्यरोग जैसे वसन्त में 'स्प्रिङ्ग कैटार्ह' ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतुओं में विभिन्न प्रकार के नेत्राभिष्यंद आदि । दूसरा वर्ग दैवबल प्रवृत्त रोगों का है जिसमें दैवकोप, बिजली (Lightning) इन्द्रवज्रप्रभृति आघात आदि आकस्मिक (Accidental) अथवा संसर्गज या उपसर्गज (Infective or Parsitic injuries) व्याधियाँ आ जाती हैं ।

जन्मबल प्रवृत्त (Congenital defect)—नेत्रगोलक या उसके किसी अवयव का विकास ही न होना या किसी प्रतिबन्धन के कारण विकास का रुक जाना अथवा नैसर्गिक रूप में प्रसव के पहले जिन-जिन भागों का शनैः शनैः शोषण हो जाना चाहिये वैसा न होकर कुछ अंशों में शेष रह जाना ऐसे ही विकार इस वर्ग में आते हैं । जैसे पलक के उठाने की अशक्ति (Ptosis), तारामण्डल का अभाव, दृष्टि मण्डल का स्थान भ्रंश, जन्मबल प्रवृत्त काच (मोतियाबिन्द), गोलक का अभाव अथवा कृष्णमण्डल के आवरण का अवशिष्ट रह जाना ।

आदिबल प्रवृत्त (Heriditary)—माता या पिता की ओर से अथवा वंशपरम्परा से प्राप्त रोग—जैसे नेत्र शुक्लता (Albinism) नक्तान्ध्य, तिर्यक्पन एवं ह्रस्व दृष्टि प्रभृतिरोग ।

भौतिक या दैहिक अभिघात (Physical injuries)-इस प्रकार से नेत्र को हानि पहुँचानेवाला विशेषतः प्रकाश है—सूर्य, अग्नि या विद्युत् से पैदा हुआ किसी भी प्रकार के प्रकाश का अतियोग, अयोग या

मिथ्यायोग दृष्टि के लिये अहितकर होता है। काँच के कारखानों में जो लोग काँच को गलाने का काम करते हैं उन्हें एक प्रकार का मोतियाबिन्द (Glass blowers Cataract) हो जाया करता है।

भारत और अफ्रिका आदि देशों में जो उष्ण कटिबंध में पाये जाते हैं, सूर्य का ताप (धूप) अत्यन्त प्रचण्ड होता है। वहाँ के रहने वालों को शीत प्रधान देशवासियों की अपेक्षा मोतियाबिंद अधिक होता है। इसका कारण सूर्यताप की उग्रता है। धूप में फिरने से आँख का दुखना और प्रकाश की असहिष्णुता होना एक नित्य का अनुभव है। यदि धूप में तापितव्यक्ति अचानक शीतल जल में प्रवेश करे तो तत्काल नेत्र विकार होने की संभावना रहती है।

अत्यन्त शीत भी नेत्र रोगोत्पादक होता है। पाश्चात्य ग्रंथों में एक प्रकार के आंध्य (Snow blindness) का वर्णन मिलता है—जिसमें अग्नि और बिजली की भाँति वरफ पर चलने वाले व्यक्तियों को भी उसकी चकमकाहट आँखों में चकाचौंध पैदा कर देती है जिस वजह नेत्र दर्पण या दृष्टि वितान को हानि पहुँचती है और भविष्य में अंधता भी आ जाती है।

इसी वर्ग के भीतर सुश्रुतोक्त उन कारणों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये जिनके द्वारा आँखों पर जोर पड़े (Eye strain) अथवा जिनकी वजह से प्रकाश परावर्त्तन क्रियायें विपरीत होती हों। नेत्र के स्वस्थ रखने में इन बातों का परिहार आवश्यक होता है उदाहरणार्थ—दूरेक्षण, सूक्ष्मेक्षण (इनमें 'मायोपिया' और 'मेट्रोपिया' का भय रहता है) स्वप्न विपर्यय प्रभृति कारण अथवा ऐसे कारण जिनसे परावर्त्तन क्रिया (Reflection) के द्वारा आँखों पर बल (Strain) पड़ता हो जैसे—वाष्प ग्रह, प्रसक्त संरोदन, कोप, शोक, क्लेश, छर्दि विघात और वमनातियोग आदि।

यांत्रिक अभिघात—(Mechanical injury) बाह्याभिघातजन्य नेत्र में आगन्तुक विकार का उत्पन्न होना। ये अभिघात दो प्रकार के हो सकते हैं एक सच्छिद्र (With perforation) दूसरा अच्छिद्र

(Without Perforaton)। इनमें प्रथम प्रकार में आँख से रक्त-स्राव होता तथा अक्षिपाक होकर नेत्रगोलक का नाश हो जाता है।

दूसरे प्रकार में नेत्र की व्यथा कई बार बिल्कुल मामूली होती है। शुक्लमण्डल के खुरच जाने से या नेत्र के बाह्य पटल पर मामूली घाव हो जाने से नेत्र को हानि नहीं पहुँचती। परंतु रोगी की जीवनीय शक्ति दुर्बल हो, वृद्धावस्था हो अथवा कोई शारीरिक रोग हो तो मामूली चोट भी नेत्रपाक पैदा कर देती है।

कई बार नेत्र गोलक के ऊपर बल पूर्वक धक्का (Concussion) लग जाता या नेत्र पर दबाव (Compression) पड़ जाता है—ऐसी अवस्था में भी वह अच्छिद्र नेत्राभिघात या नयनाभिघात के ही वर्ग में आएगा। यदि आघात प्रबल रहे और उसका प्रभाव नेत्र के भीतरी अवयवों पर पड़े, उसकी वजह से तारामण्डल या तन्तु समूह को हानि पहुँचे, तो रक्त स्राव होकर जलमय रस के पूर्वखण्ड के भीतर रक्त संचित हो जाता है। यदि दृष्टिमणि (Lens) के स्तरों को हानि पहुँचे तो (Traumatic Cataract) प्रभृति रोग हो सकते हैं। कई बार दृष्टि मणि के स्थानान्तरित हो जाने पर रक्तस्राव पश्चिम खण्ड में संगृहीत हो जाता है—और दबाव वहाँ का बढ़ जाने से रक्ताभिसरण में बाधा होती एवं दृष्टि का नाश हो जाता है। इसी वर्ग के विकारों की प्राचीन संज्ञा संघात बल प्रवृत्त या अभिघातज रोग है।

रासायनिक द्रव्य जनित (Chemical injuries)—इनसे दो तरह से हानि पहुँच सकती है। क—नेत्र में जाकर स्थानिक क्षोभ के कारण, ख—मुख द्वारा सेवन किये जाने से उनका सार्वदैहिक प्रभाव होता हुआ (रक्त परिभ्रमण के साथ) विशेषतः नेत्र को हानि पहुँचाने वाले द्रव्यों के कारण। इनमें प्रथम—बाष्परूप, वायुरूप या धूमरूप, द्रव या ठोस रूप में क्षोभक रासायिनिपदार्थों या आग की चिनगारी प्रभृति द्रव्यों का पहुंचना। विविध प्रकार के क्षार, अम्ल, कास्टिक सोडा, अमोनिया, साबुन, चूने का कण, अग्नि को बुझाते हुए उसकी भाप, आग की लपट, 'एट्रोपीन' 'गोवा पाउडर', 'नेप थैलीन' (इनसे

नेत्र में मोतियाविन्द हो जाता है) प्रभृति द्रव आँख के भीतर प्रविष्ट, कृष्ण मण्डल और नेत्र श्लेष्मावरण शोथ पैदा कर देते हैं। इसी प्रकार का संक्षेप में आचार्यों ने स्वेद और धूम निषेवण करके वर्णन किया है।

दूसरे वर्ग में विविध प्रकार के शुक्त, कांजी, कुलथी, मसूर प्रभृति द्रव्यों का सेवन किये जाने पर ये कुछ प्रकार के दोष (Toxins) पैदा करते हैं जिनसे नेत्र को हानि पहुँचती है। आधुनिक ग्रन्थों में ऐसे अपथ्यों के प्रकरण में 'क्विनीन', 'मेथिलेटेडस्प्रिट', 'सेण्टोनीन' और सोमल युक्त ओषधियाँ बतलाई जाती हैं।

कीटाणु जन्य व्यथा—(Parasitic injuries) नेत्र रोगों के उत्पादन में पाश्चात्य विज्ञान के मतानुसार कीटाणुओं का बहुत बड़ा स्थान है। कीटाणुओं का उपसर्ग दो प्रकार से हो सकता है। १. नेत्र एवं नेत्राङ्गों में सीधे सम्पर्क से उपसर्ग पहुँच कर इसे बाह्य या (Ectogenous) तथा २. रक्त में प्रवेश करके नेत्र पर असर पहुँचानेवाले रोगों के परिणाम स्वरूप।

प्राचीन संहिता ग्रन्थों में नेत्र रोगों के उत्पादन में कीटाणुओं की जनकता स्वीकार नहीं की गई है। यत्र तत्र व्रणों में उपसर्ग पहुँचाने वाले 'राक्षसों' या पिशाचों का वर्णन जरूर मिलता है तथा उनके नाशक राक्षसघ्न उपचार जो विशेषतः 'एण्टीसेप्टिक धूपन' के द्रव्य हैं उनका भी वर्णन मिलता है। तथापि दोनों सिद्धान्तों में मूलतः बड़ा भेद है प्राचीन संहिता की चिकित्सा क्षेत्र प्रधान है। उसमें क्षेत्र को प्रबल बनाना प्रधान कर्त्तव्य माना गया है। जब शत्रु से लड़ने वाला योद्धा अथवा उसका क्षेत्र (शरीर) प्रबल हो तो शत्रुओं का वश नहीं चलता और क्षेत्र (शरीर के प्रबल होने पर शत्रुरूप में आये हुए आक्रामक कीटाणु वीर्यहीन हो जाते हैं और रोगोत्पादन में समर्थ नहीं होते। इस क्षेत्र (शरीर) में जब दोषों की साम्यावस्था रहती है तब तक व्यक्ति स्वस्थ रहता है। जब दोषों की विषमता उत्पन्न हो जाती है तो रोग उत्पन्न होता है। नेत्र के रोगोत्पादन के सम्बन्ध में भी यही

कल्पना काम करती है। फलतः केवल कार्य की दृष्टि से 'पैरासाइटिक-थियोरी' पर विचार किया जाय तो प्राचीनों के 'दोषबल प्रवृत्त' व्याधि के इस हेतु में ही इस थियोरीका समावेश किया जा सकता है।

दोषों से होने वाले विकार तीन प्रकार से होते हैं 'क्षय स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः।' दोषों के क्षय होने से (Defficiency of Nutrition or Vitamins deficiency) स्थानान्तर गमन (Endocrine disturbances) होने से तथा दोषों की वृद्धि (Parasitic injuries) होने से जितने भी नेत्र रोग होते हैं सभी का ग्रहण इस एक शब्द 'दोषबल प्रवृत्त' के द्वारा ही हो जाता है। ऐसा समझना चाहिये। एक दूसरा समाधान भी इसका यह है कि यहाँ पर प्राचीन वर्णनों के अनुसार दैवबल प्रवृत्त व्याधि के समुदाय में भी 'पैरासाइटिक' या 'कीटाणु जन्य' आघातों का ग्रहण हो सकता है क्योंकि दैवबल प्रवृत्त व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं संसर्गज (Infective) और आकस्मिक (Accidental)। फलतः 'पैरासाइटिक थियोरी' का ग्रहण दैवबल प्रवृत्त रोगों में भी हो जाता है। फिर आयुर्वेद का मूलभूत सिद्धान्त योग्य उपचार और पथ्यादि आहार विहारों की व्यवस्था से शरीर के भीतर की रोग निरोधक शक्ति की प्रबलता पैदा करना अथवा संरक्षक तत्त्वों का बल बढ़ाना रहता है जिससे रोग का अपुनर्भव होता है।

अपक्रान्तिजन्य विकृति—(Degenerative Processes)—इस वर्गीकरण के भीतर उन रोगों का समावेश होता है, जो जरावस्था में नेत्रों में विकार पैदा करते हैं। सुश्रुत की परिभाषा के अनुसार इसे स्वभाव बल प्रवृत्त नेत्र रोग कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—कृष्णमण्डल परिधि की अपारदर्शकता (Arcus Senilis), नेत्र श्लेष्मावरण (श्वेतमण्डल) में पीले दाग (Pinguecula), नेत्र बाह्य पटल का वर्ण परिवर्त्तन प्रभृति रोग एक प्रकार से रोग नहीं बल्कि जराजन्य रूपान्तर मात्र हैं। नेत्र के अन्य अंगों में भी इस प्रकार के जराजन्य रोग होते हैं जैसे दृष्टिमणि की अपक्रान्ति से प्रौढ़ दृष्टि (Presbyopia), दृष्टि वितान (Retina) के परिवर्तनों में एक प्रकार

का नक्तान्ध्य (Retenitis Pigmentosa), जराजन्य पीतिविन्दु क्षय (Central Senile Choroiditis) रक्तवाहिनियों में परिवर्तन तथा अन्य रूपान्तर, इन सबका कारण जराजन्य विपरिणाम है। काच (Cataract) का होना भी एक प्रकार से वृद्धावस्था जन्य ही दृष्टि-मणि का परिवर्त्तन है।

ग्रन्थि या अर्बुदजन्य नेत्र विकार—(Tumours)—नेत्र वर्त्म, श्वेत-मण्डल, नेत्रमध्य पटल, तारामण्डल, दृष्टि वितान तथा दृष्टि नाडी इनमें विभिन्न प्रकार की ग्रन्थि या अर्बुद (सौम्य तथा घातक) होते रहते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकों में इनकी उत्पत्ति का ठीक कारण अभी तक अज्ञात है। प्राचीन सिद्धान्तों के आधार पर इन्हें भी दोष बल प्रवृत्त नेत्र रोगों के वर्ग में ही रखा जा सकता है।

नेत्र रोगों की सामान्य सम्प्राप्ति

सम्प्राप्ति—(Pathology of the Eye diseases) 'उपर्युक्त कारणों से विगुण हुए दोष सिराओं का अनुसरण करते हुए (रक्तवाहिनियों के द्वारा) ऊपर में आकर नेत्र के अवयवों में परम दारुण रोगों को उत्पन्न करते हैं।[1] अर्थात् नेत्र में जब विविध रोग होते हैं, तब उन रोगों के कारण नेत्र के अवयवों में विविध परिवर्त्तनों की प्राप्ति होती है। उसे नेत्र रोग की सम्प्राप्ति कहते हैं।

पाश्चात्य मत—नेत्र में कीटाणु, विष या दोष का वैगुण्य दो प्रकार से होता है, बाह्य (बाहर से) और अंतः (भीतर से)।

बाह्य विगुणता—बाहर से रोगोत्पादक कीटाणुओं का प्रवेश कभी-कभी हो जाता है, इसके परिणाम स्वरूप नेत्र गोलक के अवयवों का व्रण शोथ हो जाता है। वहाँ पर रक्ताधिक्य का होना, रक्त वाहिनियों का फूलना तथा लसीका स्रवण होने लगता है। पश्चात् पाकोत्पत्ति होकर पूयस्राव भी होने लगता है इस हेतु नेत्र का बहुत भाग सड़ कर

१. सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमागतैः ।
जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदरुणाः ॥

नष्ट हो जाता है। यदि योग्य उपचार और रोगनिरोधक शक्ति की प्रबलता से संरक्षक तत्त्वों का बल बढ़ा तो शोफ का उपशम होने लगता है और रोहणाङ्कुर एवं पश्चात् सौत्रिक तन्तु बनकर रोग की विनाशकारी क्रिया को बन्द कर देता है। सड़न की क्रिया बन्द हो जाती है। यदि यह पदार्थ कृष्ण मण्डल जैसे पारदर्शक भाग में उत्पन्न हुआ, तो उस स्थान को अपारदर्शक बना देता है। यदि रक्त वाहिनियों से पूर्ण तारामण्डल जैसे प्रदेश में निर्मित हुआ तो वह भाग चारों ओर के अवयवों के साथ संलग्न हो जाता है। यदि वह नेत्र मध्यपटल या दृष्टि वितान में बना तो वहाँ श्वेतचिह्न बना कर दृष्टि के उस भाग का नाश कर देता है।

रक्ताभिसरण द्वारा प्रवेश—देह के किसी भी भाग में पूयोत्पत्ति या कीटाणुजन्य शोथ हो तब कभी-कभी उसका अंश या कीटाणु रक्त में प्रवेश कर सिराओं के द्वारा नेत्र में पहुँच जाता है। इससे नेत्र गोलक का शोथ हो जाता है। फिर नेत्र गोलक एक बड़े विद्रधि का रूप ले लेता है। जिस प्रकार कीटाणु जन्य शोथ होता है उसी प्रकार कीटाणु जनित विष से भी शोथ उपस्थित होता है। इसी भाव का द्योतन सुश्रुतोक्त सम्प्राप्ति में 'सिरानुसारिभिः' श्लोकादि से किया गया है।

नेत्र रोगों में सामान्य पूर्वरूप—नेत्र आविल या आकुल (अश्रुपूर्ण या आँसू से भरा होना), ससंरम्भ (ईषत् शोफयुक्त) आँसू का निकलना, खुजली का होना, उपदेह (मैल या कीचड़ का होना), गुरुता (भारीपन श्लैष्मिक लक्षण), ओष, चोषा (पैत्तिक लक्षण), तोद (सूई चुभोने जैसी वेदना वातिक लक्षण) राग या लालिमा (रक्तज लक्षण) प्रभृति अव्यक्त लक्षणों से युक्त नेत्र, पूर्वरूप की अवस्था में होता है। क्योंकि दोष विशेष के अव्यक्त लक्षण ही पूर्वरूप कहलाते हैं। फलतः गुरुता से लेकर राग पर्यन्त सभी लक्षण पूर्ण व्यक्त नहीं होते।

वर्त्म कोषों (Palpebral sulcus) में अल्प वेदना तथा शूक पूर्णाभ (किरकिरी पड़ी हो ऐसा अनुभव होना अथवा जौ का शूक पड़ा हो इस प्रकार का अनुभव होना) सा मालूम होता है तथा जिस प्रकार

आँख की क्रिया शक्ति पहले रही उसमें विघात पैदा होता है। इन पूर्वरूपों को देख कर बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये कि वह नेत्र को दोषाधिष्ठित समझे। एवं जैसा सम्भव हो दोषानुसार चिकित्सा की व्यवस्था करें अन्यथा बढ़ कर रोग बलवान् हो सकता है।[1]

४

नेत्र रोगोक्त लक्षणों की विवेचना

पूर्वरूप अधिक व्यक्त हो कर रूप या लक्षण बनते हैं। सामान्य पूर्वरूपों के अनन्तर रूपों का आख्यान किया जा रहा है। नेत्र रोगों में सामान्यतया निम्नलिखित लक्षण एवं चिह्न पाये जाते हैं। जैसे—

आविलता, संरंभ, अश्रुपूर्णता, उपदेह (कीचड़का होना) गुरुता, ओष, चोष, लालिमा, वर्त्म में शूकपूर्णाभ प्रतीति (आँख में किरकिरी की सी अनुभूति)। वर्त्म कोषों में वेदना, देखने या रूपदर्शन में कमी आदि।

इन लक्षणों के अतिरिक्त शोथ, ज्वर, भारीपन, शिरःशूल, छर्दि एवं भ्रम प्रभृति सार्व दैहिक लक्षण तथा द्विधादृष्टि, बहुदृष्टि, नेत्र के सामने मशक, मक्षिका या जाला का दिखाई पड़ना, दृष्टि का धुँधलापन, दृष्टि का क्षीण होना, अक्षि-भ्रू एवं शिरोवेदना प्रभृति स्थानिक लक्षण भी मिल सकते हैं।

सुश्रुत ने लिखा है 'प्रायेण सर्वेनयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यंद निमित्त मूलाः।' कि प्रायः सभी नेत्र रोग अभिष्यंदमूलक ही होते हैं। अस्तु अभिष्यंद में पाये जाने वाले कुछ प्रमुख लक्षण सामान्यतया सभी नेत्र रोगों में पाये जाते हैं। जैसे—

---

१. तत्राविलं ससंरम्भमश्रुकण्डूपदेहवत्। गुरूषातोदरागाद्यैर्जुष्टं चाव्यक्तलक्षणैः॥
सशूलं वर्त्मकोषेषु शूकपूर्णाभमेव च। विहन्यमानं रूपेषु क्रियास्वक्षि यथा पुरा॥
दृष्ट्वैव धीमान् बुध्येत दोषेणाधिष्ठितं तु तत्।
तत्र सम्भवमासाद्य यथादोषं भिषग्जितम्। विदध्यान्नेत्रजा रोगा बलवन्तः स्युरन्यथा॥

१. लालिमा (Conjestion)
२. स्राव (Lacrimation)
३. नेत्र पीडा (Pain)
४. प्रकाश संत्रास या प्रकाशासह्यता (Photophobia) ।

अब शंका होती है कि अभिष्यंदमूलक ही सभी नेत्र रोग प्रायः कैसे होते हैं । इसका स्पष्टीकरण टीकाकारों ने इस तरह किया है—

नेत्राभिष्यंद को Cojunctivitis कहते हैं। अभिष्यंद से प्रायः अन्य नेत्र रोग उपद्रव स्वरूप हो जाते हैं किन्तु अभिष्यंद के बाद किसी रोग की उत्पत्ति सदैव नहीं होती। सभी नेत्र रोग प्रायः अभिष्यंदपूर्वक ही होते हैं किन्तु बिना अभिष्यंद हुए भी स्वतंत्रतया हो सकते हैं। डल्हण का वचन है 'अभिष्यंदाश्च तन्निमित्तानि च तान्येव मूलं येषां ते तथा। निमित्तशब्दाद्दुष्टा दोषाः दोषकोपनानि च संगृह्यन्ते।' अर्थात् नेत्र रोगों में कभी अभिष्यंद अथवा कभी अभिष्यंदकारक दोष या दोषप्रकोपक अन्य पदार्थ कारण होते हैं। इसमें निज एवं आगन्तुक सभी कारणों का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार 'अभिष्यंद-निमित्तमूल' होने से नेत्र रोगों में प्राप्त होने वाले प्रमुख लक्षण भी सामान्य रूप से सभी में मिलते हैं।

लालिमा (Redness)—नेत्र कला के व्रण शोफ युक्त होने से रक्ताधिक्य के कारण नेत्रों में लालिमा आती है। सामान्य व्रण शोफ के अन्य लक्षण ताप (Heat), सूजन (Oedema) वेदना (Pain), क्रिया-हानि (loss of Function) भी पाई जाती है।

स्राव (Lacrimation)—नेत्र में पाये जाने वाली अश्रुग्रन्थियों से अश्रुस्राव स्वाभाविक अवस्था में भी होता है और उससे नेत्र आर्द्र रहते हैं। नेत्र रोगों में अश्रु ग्रंथियों की क्रिया बढ़ जाती है, स्राव अधिक होने लगता है। कभी-कभी नेत्र पाक में अश्रु के साथ पूय, रक्त, श्लेष्म, पित्त आदि द्रव भी निकल सकते हैं। सौम्य प्रकार के नेत्र रोगों में यह स्राव (Secretion) श्लेष्मल स्वरूप का होता है; परन्तु तीव्र प्रकार में पूय भी मिश्रित रहता है। रात्रि में सोते समय

जो गाढ़ा स्राव निकलता है वह सूख कर पलकों के किनारों पर चिपक जाता है। इस स्राव से दूसरे स्वस्थ व्यक्तियों पर भी रोग का उपसर्ग पहुँचता है।

वेदना या रुजा (Pain)—पीडा रोगी की अवस्था पर निर्भर करती है। प्रारंभ में यह कम होती है किन्तु रोग के बढ़ने पर यह भी बढ़ जाती है और आँखों में बालू के कण भरे हुए है ऐसी प्रतीति होती है। आँखों में वेदना कई स्वरूप की मृदु से तीव्र तक हो सकती है। नेत्र के अतिरिक्त सिर में भी पीड़ा होती है।

नेत्र के पूर्व खण्ड में संज्ञावह नाड़ियों की बहुलता होती है अतः इस खण्ड के अवयवों में शोथ या पाक होने से पीड़ा तीव्र स्वरूप की होती है। नेत्र के पीछे वाले खण्ड में सांवेदनिक नाडी सूत्र कम होते फलतः इस खण्ड के व्याधित होने पर वेदना कम होती है। वर्त्म में बहुत से संस्थानों पर सांवेदनिक नाडी सूत्रों का अभाव रहता है अस्तु उन स्थानों में पाक होने पर रोगी को पीड़ा का अनुभव नहीं होता बल्कि एक भारीपन मात्र का अनुभव होता है। पांशु पूर्णता (बालू या कंकड़ भरे के समान) वर्त्म शोफों में रोगी को अनुभव होता है।

शुक्ल पटल या कर्णिका (Scera & Cornea) के पाक में पीड़ा तेज होती है; परन्तु नेत्रों तक ही सीमित रहती है। पुतली, तारामण्डल एवं संधान मण्डल (Iris & Ciliary Body) के शोथ युक्त होने पर वेदना नेत्र गोलक तक सीमित न रह कर ललाट, कर्ण ऊर्ध्वहनु एवं दंतादि में विस्तृत एवं तीव्र होती है। कभी-कभी बिना पाक के नेत्र-भार की वृद्धि से भी रुजा हो जाती है अधिमंथ (Glaucoma) में।

नेत्र रोगों में शिरोवेदना—नेत्र के कारण सिर में दर्द का होना दो तरह का मिलेगा। १. परावर्त्तन के दोष २. नेत्र के रोग।

परावर्त्तन के दोष जन्य वेदना प्रायः मंद स्वरूप की एक स्थान पर सीमित और लगातार लिखने, पढ़ने या बारीक चीजों के देखने से उत्पन्न

होती है। जैसे मनुष्य को व्यायाम से थकावट का अनुभव होता है उसी प्रकार नेत्र की थकावट से भी शिरोवेदना का होना स्वाभाविक है। कई निकट दृष्टि, दूर दृष्टि या विषम दृष्टि दोषयुक्त व्यक्तियों में शिरोवेदना परावर्त्तन क्रिया के दोष से पाई जाती है। दृष्टि को ठीक बिन्दुपर केन्द्रित करने के लिये तारा एवं संधान मण्डलीय पेशियों को नेत्रगोलक को अनुकूल करने के लिये उसे ऊपर नीचे या तिरछे करने में जो परिश्रम होता है उससे यह वेदना होती है।

नेत्र की रुग्णावस्था में—आयरिस, सिलियरीपेशी, कर्णिका (Cornea) के शोथों में या अधिमंथ में भी तीव्र शिरःशूल पाया जाता है। इन रोगों में नेत्रगत लालिमा, स्रावाधिक्य तथा प्रकाशासह्यता प्रभृति नेत्र लक्षणों के साथ यदि शिरःशूल हो तो शिरोवेदना का निदान सरल रहता है, अन्यथा बड़ा कठिन हो जाता है।

प्रकाश संत्रास (Photophobia)—रोगी अंधकार में रहना पसन्द करता है—प्रकाश से उसको भय होता है, प्रकाश में उसकी आँखें नहीं खुलतीं। 'शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न नेत्रोन्मीलनक्षमः।'

प्रकाशासह्यता का मूल कारण वर्त्मकला (Conjunctiva) रुग्ण होता है। इसकी तीव्रता सव्रण शुक्र या कर्णिका पाक(Corneal ulcer) में पाई जाती है। आयरिस या सिलियरी पेशियों के शोफ में भी प्रकाश संत्रास तीव्र स्वरूप का ही होता है। वस्तुतः नेत्र में पाई जाने वाली नाड्यग्रों की उत्तेजना से प्रकाश की सहन शक्ति नेत्र की कम हो जाती है।

५

नेत्र रोगों की सामान्यचिकित्सा

इस प्रकरण में सब प्रकार के नेत्ररोगों में उपयोगी हो, ऐसी सामान्य चिकित्सा का वर्णन प्रस्तुत है। नेत्ररोग में किस प्रकार की चिकित्सा का आश्रय प्राचीन ग्रन्थकारों ने किया है और उन विधानों के साथ आधुनिक वैज्ञानिक कहाँ तक सहमत हैं इस प्रकरण में दर्शाया जायगा।

भिन्न-भिन्न रोगों की विशेष विशेष चिकित्सा पृथक्-पृथक् उन रोगों के साथ यथाक्रम आगे लिखा जायगा । नेत्ररोगों की चिकित्सा में मुख्यतया दो उपक्रम बरते जाते हैं औषध तथा शस्त्र । पुनः उनके दो भेद हो जाते हैं—१. स्थानिक तथा २. सार्वदैहिक ।

साध्य रोगों में

औषधोपचार से ठीक होने वाले (Mcdieal cure)	शस्त्रोपचार से ठीक होने वाले (Surgical cure)	
'दृष्टौ न शस्त्रपतनं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः'	अर्शोवर्त्म, वर्त्मार्श, शुष्कार्श	छेद्य
(इनरोगों में विशेषज्ञ शस्त्रकर्म का निर्देश नहीं करते।)	वर्त्मार्बुद, सिराजपिडिका	
	सिराजाल, पञ्चविध अर्म	
	पर्वणिका	
शुष्काक्षिपाक	उत्संगिनी, बहलवर्त्म	
कफ विदग्ध दृष्टि	कर्दमवर्त्म, श्याववर्त्म	लेख्य
पित्त विदग्ध दृष्टि	बद्धवर्त्म, क्लिष्टवर्त्म	
अम्लाध्युषित	पोथकी युक्त वर्त्म	
शुक्र	कुम्भीक पिडिका, शर्करा	भेद्य
अर्जुन	श्लेष्मोपनाह, विसवर्त्म	
पिष्टक	ग्रन्थिवर्त्म, क्रिमिवर्त्म	
अक्लिन्नवर्त्म	अंजननामिका	
धूम्र दर्शी	सिरोत्पात, सिराहर्ष	वेध्य या सिरावेध
शुक्तिका	अक्षिपाक (सशोफ या अशोफ)	
प्रक्लिन्नवर्त्म		
बलास	अन्यतोवात, पूयालस	
आगन्तुक दोनों नेत्र रोग	वातविपर्यय	
	अधिमन्थ (चारों)	
	अभिष्यन्द (चारों)	

सार्वदैहिक उपचार—

१. पथ्यापथ्य (Diet) तथा आहाराचार ।

२. विश्राम (Rest to the Eye) ।

३. मुँह से देने योग्य औषधियों का सेवन (Drugs administered oraly).

४. प्रधान का प्रशमन—नेत्ररोग का कोई उत्पादक कारण शरीर में ज्ञात हो सके जिसके उपद्रव रूप में नेत्ररोग हुआ हो तो उसका दूरीकरण । (Treating focal Infection).

५. सिरावेध (Venesection) ।

६. लंघन और विरेचन

उपर्युक्त विधानों का प्राचीन ग्रंथों में वर्णन मिलता है । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उपचार भी पाश्चात्य विशेषज्ञ नेत्ररोगों में उपयोग में लाते हैं—जैसे १. सूचीवेध के द्वारा औषधियों का अन्तःक्षेपण २. बहुत प्रकार के रक्त रस, (serum and Vaccines) तथा ३. कृत्रिमज्वर (Artifcial fever)

स्थानिक उपचार—

१. शीतोष्ण प्रयोग (Fomentation and stupes) स्वेदन ।

२. औषधोपचार (विविध प्रकार की नेत्र में डालने वाली औषधियाँ (Collirium).

३. शस्त्रकर्म (Operation therapy).

४. स्थानिक रक्त-विस्रावण ।

उपर्युक्त उपक्रमों का प्राचीन ग्रंथों में विशद वर्णन है । सुश्रुत ने 'क्रिया कल्प' नामक एक स्वतंत्र अध्याय ही नेत्ररोगों में प्रयुक्त होने वाली ओषधियों के स्थानिक उपचार में व्यवहृत करने के लिये औषध कल्पना तथा उपयोग विधान का उल्लेख किया है । इन उपचारों के अतिरिक्त कई एक स्थानिक उपचार पाश्चात्य पद्धति के नेत्रवैद्य बरतते हैं जैसे १. नेत्रश्लेष्मावरण और नेत्र के पीछे के हिस्से में सूचीवेध के द्वारा ओषधियों का अन्तःक्षेपण (Sub. Conjunctival

or Retrobulbar injection) २. विद्युत् चिकित्सा ३. नेत्रगोलक मर्दन (Massage) ४. प्रकाश चिकित्सा (Photo therapy) तथा ५. किरण और रेडियम् चिकित्सा (X, Ray and Radium therapy)

१. *पथ्यापथ्य*—योगरत्नाकर के निम्नलिखित श्लोकों में नेत्ररोग में पथ्यकर द्रव्यों के नाम गिनाये गये हैं[1]—इन श्लोकों के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि नेत्रोपयोगी पदार्थों के चयन करने में आचार्यों ने अटकल से काम नहीं लिया है; अपितु बहुत विचार पूर्वक सिद्धान्त स्थिर करते हुए द्रव्यों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है।

नेत्र या चक्षु एक इन्द्रिय का अधिष्ठान है। वह इन्द्रिय समनस्क होने पर वस्तु का दर्शन कराती है अन्यथा नहीं। पदार्थ के दर्शन में नेत्रस्थ आलोचक पित्त हेतु होता है। वह आलोचक पित्त भी नेत्रस्थ वात और नेत्रान्तर्गत श्लेष्मा से युक्त होने के कारण त्रिदोषात्मक है। उसी प्रकार नेत्र का कृष्ण भाग वातिक, लाल भाग पैत्तिक, और श्वेत भाग श्लैष्मिक होने की स्थूल रूपेण इसी बात की साक्षी देता है। अतः सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों दृष्टियों से नेत्र भी उतना ही त्रिदोषात्मक है जितना कि शरीर का अन्य भाग। अतः शरीर के जिस भाग में जो भी दोष बढ़ेगा उसका प्रभाव नेत्र पर भी हुए बिना नहीं रहेगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण धतूर है, इसके गुणों का वर्णन करते हुए भावमिश्र ने लिखा है 'धतूर मद, वर्ण, अग्नि और वायु का

---

१. वार्ताकुकर्कोटकारवेल्लं नवीनमोचं नवमूलकञ्च ।
पुनर्नवामार्कवकाकमाचीपत्तूरशाकानि कुमारिका च ।
द्राक्षा च कुस्तुम्बुरुमाणिमन्थरोध्रं वरा क्षौद्रमथोपनाहनम् ।
नारीपयश्चन्दनमिन्दुखण्डं तिक्तानि सर्वाणि लघूनि चापि ।
लावो मयूरो वनकुक्कुटश्च कूर्मः कुलिङ्गोऽथ कपिञ्जलश्च ।
विजानता पथ्यमिदं प्रयुक्तं यथामलं नेत्रगदं निहन्ति ।
शालितण्डुलगोधूममुद्गसैन्धवगोघृतम् । गोपयश्च सिता क्षौद्रं पथ्यं नेत्रगदे स्मृतम् ॥
सर्वं शाकमचुष्यं चक्षुष्यं शाकपञ्चकम् । जीवन्ती वास्तु मत्स्याक्षी मेघनादः पुनर्नवा ॥

उत्तेजन करने वाला ज्वरघ्न एवं कुष्ठघ्न होता है।" इसमें वातकृत (वात कारक) शब्द का महत्त्व है। वात के प्रभाव से त्वचा पर असर हो त्वचा में रुक्षता का आना, नेत्र के ऊपर प्रभाव होने से विस्फार नेत्रतारक की विस्तृति, कृष्णभाग की विस्तृति प्रभृति लक्षण धतूर विष में मिलते हैं। ठीक इसी प्रकार का असर अत्यधिक मद्यपान से भी होता है।[२]

भावमिश्र ने सभी घृतों को चक्षुष्य माना है।[३] पुनः जब पृथक्-पृथक् घृत के गुणों का वर्णन आता है तो केवल गोघृत, अजाघृत, आविघृत, स्त्रीघृत और मक्खन को चक्षुष्य मानते हैं। हरी घास और सूर्य की धूप में उगने वाली विटैमीन 'ए' युक्त वनस्पतियों को चरने वाले पशुओं के घृत में मेद-विद्रावण नेत्ररोगनाशक तत्त्व अवश्य ही मिलेंगे अतः सभी घृतों से नेत्र को लाभ हो सकता है फिर अधिक विचार करने पर ऐसा भी मालूम होता है कि माहिष घृत और पुराण घृत में यह चक्षुष्य गुण नहीं रहता या अत्यल्प रहता है।

राजनिघंटुकार की दृष्टि से विचार किया जाय तो उनके मत से नवोद्घृत नवनीत ही चक्षुष्य है। भावमिश्र की भाँति गोघृत को पूर्णतया चक्षुष्य नहीं मानते। माहिषघृत, अजाघृत और नारीघृत में ही नेत्रोपकारक गुण देखते हैं। इनके विचार से सभी घृत चक्षुष्य नहीं होते, आविघृत भी चक्षुष्य नहीं होता।

गोमूत्र चक्षुष्य है ऐसा भावमिश्र का कथन है, परन्तु राजनिघण्टु में माहिष मूत्र को चक्षुष्य कहा गया है, गोमूत्र को नहीं।[४]

---

१. धत्तूरो मदवर्णाग्निवातकृज्ज्वरकुष्ठनुत् ।

२. लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च ।
रूक्षं विकासि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ।

३. घृतं रसायनं स्वादु चक्षुष्यं वह्निदीपनम् ।
शीतवीर्यं विषालक्ष्मीकफपित्तानिलापहम् ।

४. गोमूत्रं—शूलगुल्मोदरानाहकण्ड्वक्षिमुखरोगजित् । (भावप्रकाश)
माहिषमूत्र—माहिषं मूत्रमानाहशोफगुल्माक्षिदोषनुत् । (राजनिघण्टु)

सार्षप तैल को उष्णवीर्य एवं पित्त को दूषित करनेवाला मानते हुए भी राजनिघण्टु में उसे चक्षुष्य बतलाया गया है, परन्तु भावमिश्र ने ऐसा नहीं लिखा है। उन्होंने धान्यज तैलों पर शोध करके गोधूम तैल को चक्षुष्य माना है। इस गेहूँ के तेल से आधुनिक वैज्ञानिकों ने एक विशेष प्रकार की जीवतिक्ति (Vitamine E) का पुंस्त्व पोषक या वंध्यात्वनिवारक गुण बतलाते और चिकित्सा में प्रयोग में लाते हैं। इस तैल में जीवतिक्ति 'बी' के भी कुछ अवयव रहते हैं जो चक्षुष्य माने गये हैं। जीवतिक्ति 'ई' की नेत्रोपयोगी क्षमता का अभी तक ज्ञान नहीं है। संभव है भविष्य में शोध होकर इस सिद्धान्त का भी समर्थन होने लगे; परन्तु भावमिश्र ने गोधूम तैल को चक्षुष्य माना है।

करञ्ज तैल तथा सार्षप तैल नेत्र के लिये लाभप्रद हैं; कुसुम्भ एवं अतसी के तैल हानिकर हैं। क्योंकि एक अत्यधिक अश्रुस्रावक एवं दूसरा कफ एवं पित्त का वर्द्धक है। वैसे कटु तैल का सामान्यतया नेत्र रोगों में निषेध है मूत्रों के गुणों और दोषों का जो विवेचन हमारे प्राचीन ऋषियों ने किया है वैसा अभी तक नहीं हो पाया है। सभी प्रकार के जीवों के मूत्रों में पृथक्-पृथक् गुणों की विवेचना करते हुए चिकित्सा के लिये प्रयोग करने की क्षमता केवल अनुमानतः नहीं हो सकती। इसके पीछे गवेषणाओं का अलिखित इतिहास निहित है, जिसके मसि और कागज को कोई सुरक्षित नहीं रख सका उसके कुछ सूत्र शेष हैं जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के लिये अपूर्व देन हैं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि गाय एवं भैंस का दही चक्षुष्य नहीं होता। यह कह सकते हैं कि इनके दूध में जब चक्षुष्य गुण रहता है, फिर रूपान्तर में दधि में वह कैसे नहीं रह जाता। इसका उत्तर यही है कि वह तत्त्व दही के अभिष्यंदी (स्रोतसनिरोधी) होने की वजह वह गुण मंद पड़ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि यह अचक्षुष्य तो नहीं हो पाते; परन्तु नेत्रविकारहर नहीं होते। स्त्री, घोड़ी और बकरी के दूध में ये नेत्रपोषक तत्त्व इतने प्रबल होते हैं कि वे

दधि के अभिष्यंदी गुणों पर भी विजय प्राप्त करके चक्षुष्य होकर अपनी सत्ता स्थिर रखते हैं ।[1]

क्षीरों में—गो और माहिष दोनों ही क्षीर इनके घृतों के समान ही कोई विशेष लाभ नेत्रों को नहीं पहुँचाते । अजा और आवी (भेड़) का क्षीर भी इस दृष्टि से लाभप्रद नहीं होता; परन्तु हस्तिनी क्षीर और मानुषी क्षीर ये दो ही नेत्र्य और चक्षुष्य कहे[2] गये हैं ।

मधु को साधारणतया चक्षुष्य माना गया है परन्तु विशेष रूप से देखने पर मधु की आठ जातियों में से केवल क्षौद्रमधु में विशेषतः नेत्रोपकारक गुण है । यह मधु छोटी देशी शहद की मक्खी से बनता है। अतः नेत्र रोगी के लिये पहाड़ी शहद न लेकर देशी शहद का प्रयोग हितकर है ।[3]

मधु शर्करा जिसे ग्लुकोज कहा जा सकता है वह चक्षुष्य है ।[4]

रत्नों में हीरकभस्म, मणिक्यभस्म, मुक्ता तथा विद्रुम (प्रवाल) भस्म नेत्रोपयोगी हैं ।[5]

---

१. दध्याजं कफवातघ्नं लघूष्णं नेत्रदोषनुत् । अश्वीदधि स्यान्मधुरं कषायं···· वातालपदं दीपनकारि नेत्रदोषापहं तत्कथितं पृथिव्याम् । चक्षुष्यं ग्रहदोषघ्नं दधि स्त्रीस्तन्यसंभवम् ।

२. मधुरं हस्तिनीक्षीरं वृष्यं गुरुकषायकम् । स्निग्धं स्थैर्यकरं शीतं चक्षुष्यं बलवर्द्धनम्। मधुरं मानुषीक्षीरं कषायञ्च हिमं लघु । चक्षुष्यं दीपनं पथ्यं पाचनं रोचनञ्च तत्।

३. चक्षुष्यं दीपनं स्वर्य्यं व्रणशोधनरोपणम् ।
क्षौद्रं तु शीतं चक्षुष्यं पिच्छिलं पित्तवातहृत् ।

४. माक्षीकशर्करा प्रोक्ता सिता खण्डश्च खण्डवः ।
सिताखण्डोऽतिमधुरश्चक्षुष्यः छर्दिनाशनः । (भा० प्र०)

५. वृष्यं महायुष्यमतीव नेत्र्यं बल्यं त्रिदोषघ्नमतीव वर्ण्यम् ।
मेध्यं विशेषाद्विविधामयघ्नं सुधोपमं स्यात्सुमृतं तु हीरम् । (र० त०)
माणिक्यं लेखनं शीतं कषायं मधुरं सरम् ।
चक्षुष्यं मङ्गलं दाहदुष्टग्रहविषापहम् ।

जहाँ अत्यन्त शीतवीर्य उपर्युक्त रत्नोपरत्न नेत्रोपयोगी हैं वहाँ उष्ण वीर्य वत्सनाभ भी कम उपयोगी नहीं है ।[1]

चूने के विभिन्न यौगिकों में कपर्दक को 'नेत्रदोष निकृन्तन' कहा गया है। इसी प्रकार खटी (खड़िया) के सम्बन्ध में भी उसे 'नेत्ररोग निकृन्तनी' बतलाया गया है। ध्यान देने योग्य बात है कि कपर्द उष्ण है (कपर्दः कटु तिक्तोष्णः) और खटी शीतल है। (खटिनी मधुरा तिक्ता शीतला······) फिर भी दोनों नेत्र्य हैं। परन्तु शंख और शुक्ति नेत्र्य हों ऐसा वर्णन नहीं मिलता। मुक्ता और मुक्ता-शुक्ति में कोई भेद है या नहीं इसका प्रमाण 'कैल्शियम कार्बोनेट' की उपस्थिति मात्र बतलाने वाला आधुनिक विज्ञान तथा उसके अनुसरणकर्ता भले ही न दे पावें क्योंकि उनका ज्ञान एक स्थूल 'एनालिटिकल' प्रायोगिक परीक्षण तक ही सीमित रहता है; परन्तु जिनके प्रयोगों की सूक्ष्म विवेचना इनसे कहीं आगे बढ़ी हुई थी वही प्राच्य विद्वान् इन दोनों के गुणों का अन्तर बतलाते हुए आज भी कहते हैं कि मुक्ता में चक्षुष्य गुण है मुक्ता शुक्ति में नहीं। यदि नेत्र की दृष्टि से चयन करना है तो मुक्ता के अभाव में खटी लेना चाहिये मुक्ता शुक्ति नहीं। परन्तु जहाँ अन्य रोगों (हृद्रोगादि) का विचार हो वहाँ पर मुक्ता के स्थान पर मुक्ता शुक्ति का प्रयोग रस, गुण, विपाक, वीर्य, कर्म प्रभावात्मक सादृश्य से किया जा सकता है।[2]

मौक्तिकञ्च मधुरं सुशीतलं दृष्टिरोगशमनं विषापहम् ।
विद्रुमं सुमृतं क्षारं मधुरं लघु शीतलम् ।
दीपनं पाचनं चैव दृष्टिदोषनिषूदनम् । (रा० नि०)

१. विनिहन्ति विशेषेण तिमिरञ्च निशान्धताम् ।
अभिष्यन्दं कर्णशोथं नेत्रशोथं च दारुणम् । (र० त०)

२. कपर्दक (कौड़ी) गुल्मशूलामयघ्नश्च नेत्रदोषनिकृन्तनः ।
खटी (खड़िया) व्रणदोषकफास्रघ्नी नेत्ररोगनिकृन्तनी ।

विभिन्न धातुओं के भस्मों की ओर ध्यान देने पर निम्न लिखित धातुओं को चक्षुष्य माना है।[1]

नाग, मण्डूर तथा रौप्यमाक्षिक के अतिरिक्त प्रायः सभी धातु भस्मों की क्रिया नेत्ररोगों पर होती है। किसी भस्म का क्या गुण है इसका ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि जो भस्म नेत्र्य है वह नयनामयघ्न भी है या इसका विलोम है यह कहना संभव नहीं। स्वर्ण, स्वर्णगैरिक, स्वर्णमाक्षिक, वंग, कांस्य, लौह और खर्पर जहाँ नेत्रोपयोगी हैं वहाँ ताम्र, तुत्थ, यशद और अंजन नेत्ररोगहर हैं। इनका बाह्य प्रयोग अधिकतर नेत्ररोगों में होता है। संभवतः इन धातुओं का अल्प मात्रा में अन्तःप्रयोग नेत्रोपयोगी तथा बाह्यप्रयोग नेत्ररोगहर है। नेत्र्य या नेत्रोपयोगी कहने से 'प्रोफिलैक्सिस' के लिये तथा नेत्रामयहर कहने से 'क्यूरैटिभ' मूल्य के लिये उनका व्यवहार करना चाहिये।

अभ्रकभस्म विशेषकर मधु और त्रिफलाचूर्ण के साथ अन्तःप्रयोग के द्वारा नेत्रों के लिये अतीव हितकर है।[2]

---

१. स्वर्ण—शीतं स्वादु रसायनञ्च रुचिकृच्चक्षुष्यमायुष्प्रदम् ।
कांस्य—कांस्यन्तु तिक्तमुष्णं चक्षुष्यं वातकफविकारघ्नम् ।
ताम्र—दुर्नामग्रहणीगदप्रशमनं नेत्रामयेषूत्तमम् ।
वङ्ग—चक्षुष्यं सुमतिप्रदं क्षयहरं शुक्रैकसंवर्द्धनम् ।
यशद—यशदं तुवरं शिशिरं कटुकं परमं नयनामयनाशकरम् ।
लौह—वीर्ये शीतं गुरु च तुवरं लेखनञ्चातिनेत्र्यम् ।
स्वर्णमाक्षिक—तिक्तं स्वर्यं च चक्षुष्यं त्रिदोषघ्नं परं मतम् ।
तुत्थ—कफघ्नमथ चक्षुष्यं व्रणदोषनिषूदनम् ।
खर्पर—चक्षुष्यः सर्वमेहघ्नो रक्तप्रदरनाशनः ।
कासीस—श्वित्रघ्नं नेत्र्यमतुलं विषघ्नं कचरञ्जनम् ।
स्रोतोञ्जन—रक्तपित्तक्षयकरं नेत्रामयनिषूदनम् ।
सौवीराञ्जन—रक्तपित्तप्रशमनं नेत्रामयहरं परम् ।
स्वर्णगैरिक—विषापहं तथा बल्यं मतं लोचनयोर्हितम् ।

२. सक्षौद्रं सवरं व्योमदृष्टिकरं परम् ।

मल्ल, ताल या मनःशिला या अन्य उनके द्वारा निर्मित योग या 'इंजेक्शन' नेत्रों के लिये लाभप्रद नहीं होता। अतः इनका प्रयोग करते समय नेत्र रक्षक उपचार आवश्यक है। सहज फिरंगी के 'केरेटाइटिस' (कृष्णमण्डल शोथ) सेन्द्रियमल्ल के इंजेक्सन का जो प्रभाव होता है वह फिरंग के चक्राणु के कारण है साधारण नेत्ररक्षा की दृष्टि से नहीं।

स्फटिका नेत्ररोगों में बाह्य प्रयोग के लिये चलती है, क्योंकि उसका कषायगुण नेत्र की श्लेष्मलकला पर संकोच प्रभाव डालता है; परन्तु स्फटिक भस्म का अन्तःप्रयोग चक्षुष्य है।

राजनिघण्टु के चंदनादि नामक वर्ग के प्रकरण में ३७ औषध द्रव्यों का वर्णन आया है। जिनमें चन्दन, कुंकुम, कस्तूरी, कर्पूर, जातीफल, लवङ्ग, मांसी, गुग्गुलु, सारिवा, पद्मक, पुण्डरीक और उशीर मुख्य हैं। इनमें से केवल कर्पूर, लाल चन्दन, कस्तूरी, लवङ्ग और प्रपौण्डरीक को चक्षुष्य गिनाया है। शेष द्रव्य चक्षुष्य नहीं माने जाते। महत्त्व की बात तो यह है कि अत्युष्ण कस्तूरी और अति शीतल लवङ्ग और पुण्डरीक तीनों चक्षुष्य हैं।[१]

भावप्रकाश का फलवर्ग तथा राजनिघण्टु का आम्रादिवर्ग देखने से अनेक लाभ की बातें चक्षु के सम्बन्ध में ज्ञात होती हैं जैसे[२]—

१. आम्रातियोग आम्र का अधिक सेवन नेत्ररोगकर है।

२. लकुच का प्रयोग नेत्रों के लिये अहितकर है।

३. केला साधारणतया नेत्र्य नहीं तथापि नेत्ररोगों में प्रयोग किया जा सकता है।

---

१. कर्पूरः शीतलो वृष्यः चक्षुष्यो लेखनो लघुः। कस्तूरी सुरभिस्तिक्ता चक्षुष्या मुखरोगजित्। लवङ्गं शीतलं तिक्तं चक्षुष्यं भक्तरोचनम्। प्रपौण्डरीकं चक्षुष्यं मधुरं तिक्तशीतलम्।

२. आम्रातियोगे नयनामयञ्च। (लकुच) शुक्राग्निनाशनं वापि नेत्रयोरहितं स्मृतम्। (कतकर फल)—चक्षुष्यं वातकृच्छीतं रक्तपित्तं तृषां वमिम्। कतकस्य बीजन्तु चक्षुष्यं तुवरं गुरुम्॥ द्राक्षा पक्वा सरा शीता चक्षुष्या बृंहणी गुरुः।

४. नारियल, ताड़फल, खजूर, छुहारा नेत्र में लाभप्रद नहीं बतलाये गये हैं ।

५. खर्बूजा, तर्बूज और खीरा नेत्र्य नहीं है ।

६. अनार, फालसा, और नारङ्गी नेत्ररोगों में प्रयुक्त नहीं होते ।

७. निर्मलीफल या बीज (बाह्य प्रयोग), द्राक्षा और निम्बूक (अन्तःप्रयोग) नेत्रोपकारक है ।[1]

८. चिरौंजी, फिन्दक, चिलगोजा, अखरोट, मखाना और बादाम चक्षुष्य नहीं हैं ।

९. विभीतकी, आमलकी और हरीतकी ये तीनों नेत्र के लिये हितकर हैं ।[2] अतएव त्रिफलाघृत की प्रशंसा करते हुए शार्ङ्गधर ने लिखा है कि इस घृत का सेवन, नस्य तथा अंजनादि में प्रयोग करने से विभिन्न दारुण नेत्ररोग अच्छे हो जाते हैं ।[3]

राजनिघण्टु के करवीरादि वर्ग में मल्लिका, वल्लिका, त्रिविध तुलसी और नागर को ही चक्षुष्य बतलाया है । अशोक, चम्पा, केवड़ा, जपा आदि के नेत्रों पर कार्य करने का कोई विशेष उल्लेख नहीं ।

अन्य वनस्पतियों में निम्न नेत्रों पर प्रभाव डालतीं तथा हितकारी कही गई हैं—मुद्गपर्णी, स्वर्ण जीवन्ती, गिरीकर्णी, इन्दीवरा, श्वेत बृहती, श्वेत कण्टकारिका, द्रवन्ती, कुलत्थ, कृष्ण जीरक, हिंगु, सैन्धव, मधुयष्टी, मञ्जिष्ठा, दारुहरिद्रा, लोध्र, समुद्रफेन, सभी क्षार, शिग्रु, श्वेत

---

१. निम्बूफलं प्रथितमम्लरसं कटूष्णं गुल्मामवातहरमग्निविवृद्धकारि ।
चक्षुष्यमेतदथ कासकफार्तिकण्ठविच्छर्दिहारि परिपक्वमतीव रुच्यम् ॥

२. (विभीतक)—चक्षुष्यः पलितघ्नश्च विपाके मधुरो लघुः ।
(आमलकी)—धातुवृद्धिकरं नेत्र्यं लेपनात्कान्तिकारकम् ।
(हरीतकी)—चक्षुष्या लघुरायुष्या बृंहणी चानुलोमिनी ।

३. नक्तान्ध्यं नकुलान्ध्यञ्च कण्डूं पिल्लं तथैव च ।
नेत्रस्रावञ्च पटलं तिमिरं काचकं जयेत् ॥
अन्येऽपि प्रशमं यान्ति नेत्ररोगाः सुदारुणाः ।
त्रैफलं घृतमेतद्धि पाने नस्यादिषूचितम् ॥

रसोन, कौसुम्भ शाक, पाकड़ (पक्काण्ड) वृश्चिकाली (पुनर्नवा) तथा पुत्रजीव। ये द्रव्य किस प्रकार किन-किन अवस्थाओं में प्रयुक्त होते हैं, आगे का विषय है।

नेत्र-स्वास्थ्य-संरक्षण की दृष्टि से नासा से जल पीना नेत्र के लिये परम उपकारक है। यह क्रिया रात्रि के बीत जाने पर प्रभात काल (प्रत्यूषे) करनी चाहिये। घ्राणरन्ध्र से पानी पीने की विधि को प्रातःकाल और मुख द्वारा जल पीने का रात्रि में विधान है।[1]

लंघन—नेत्र रोगों में लंघन (उपवास) करना एक बड़ी उत्तम चिकित्सा है। नेत्र रोगों की आमावस्था (Acute codition) में चार दिनों तक उपवास रोगी को कराना चाहिये। साथ ही पाचन के लिये स्वादु और तिक्त द्रव्यों का सेवन कराना चाहिये। आँख और कुक्षिगत रोग, प्रतिश्याय, व्रण, ज्वर ये पाँच रोग पाँच रात्रि के उपवास से ही ठीक हो जाते हैं।[2] उपवास का अर्थ यहाँ पर लघु एवं सुपाच्य भोजन लेना चाहिये। 'लङ्घनं लघु भोजनम्।'

अपथ्य—नेत्ररोगों में सामान्यतया निम्न आहार और विहार अहितकर है।

क्रोध, शोक, मैथुन, वेगविधारण (अश्रु, वायु, मल, मूत्र, निद्रा, वमन, आदि का) सूक्ष्म वस्तुओं का देखना, दन्तघर्षण, स्नान।[3] अधिक रात बीतने पर भोजन करने का अभ्यास, धूप का सेवन, बहुत बोलना (प्रजल्पन), वमन, अधिक जल पीना, महुए का फूल, दधि, पत्र शाकों का सेवन, कालिङ्ग (तर्बूज), पिण्याक (खली), विरूढक

१. यः पानीयं पिबति शिशिरं स्वादु नित्यं निशीथे
प्रत्यूषे वा पिबति यदि वा घ्राणरन्ध्रेण नीरम्।
सोऽयं सद्यः पतगपतिना स्पर्द्धते नेत्रशक्त्या
स्वर्गाचार्यं प्रहसति धिया द्वेष्टि दस्रौ च तन्वा ॥ (यो. र.)

२. अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः।
पञ्चैते पञ्चरात्रेण रोगा नश्यन्ति लङ्घनात् (यो. र.)

३. नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानं च परिवर्जयेत्।

(अंकुरित धान्य), मत्स्य, सुरा (मद्य), अजाङ्गलमांस, ताम्बूल, अम्ल पदार्थों का सेवन, लवण ज्यादा खाना, विदाही पदार्थों का अधिक सेवन, तीक्ष्ण, कटु उष्ण एवं गरिष्ठ अन्न या पान का सेवन इन पदार्थों को नेत्ररोगी को छोड़ देना चाहिये।[1]

उड़द, कांजी, कटु तैल, जलावगाहन (जल में डुबकी मार कर स्नान करना), छोटे या महीन अक्षरों का पढ़ना या सूक्ष्म चीजों का अत्यधिक निरीक्षण, मैथुन, रात्रि जागरण, शाक, अम्ल, मत्स्य, दधि-फाणित, वेसवार तथा सूर्यावलोकन (सूर्य की तरफ) देखने से चक्षु का नाश होता है।[2]

पाश्चात्त्य नेत्ररोग के ग्रन्थों में पथ्यापथ्य का इतना विशद विवेचन नहीं पाया जाता तथापि इसकी विचारणा दो दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए करना चाहिये। १. नेत्र की विविध व्याधियों में पथ्यापथ्य का निर्णय, २. भोजन के पोषक तत्त्वों (Vitamins etc;) की न्यूनता से उत्पन्न व्याधियों में उन-उन तत्त्वों की प्रधानता वाला आहार देना चाहिये।

प्रत्येक नेत्ररोगी में शोफ की अवस्था में अति उत्तेजक आहार नहीं देना चाहिये। मसाले वाले, चरपरे, गर्म पदार्थों का विशेषतः मद्यपियों में मद्य-सेवन का परिहार एवं तम्बाकू पीनेवालों में तम्बाकू का वर्जन कराना चाहिये।

---

१. क्रोधं शुचं मैथुनमश्रुवायुविरामूत्रनिद्रावमिवेगरोधम् ।
सूक्ष्मेक्षणं दन्तविघर्षणञ्च स्नानं निशाभोजनमातपञ्च ॥
प्रजल्पनं छर्दनमम्बुपानं मधूकपुष्पं दधिपत्रशाकम् ।
कालिङ्गपिण्याकविरूढकानि मत्स्यं सुरामांसमजाङ्गलञ्च ॥
ताम्बूलमम्लं लवणं विदाहि तीक्ष्णं कटूष्णं गुरु चान्नपानम् ।
नरो न सेवेत हिताभिलाषी सर्वेषु रोगेषु दृगाश्रयेषु ॥

२. माषारनालकटुतैलजलावगाहक्षुद्राक्षरैश्च सुरतैर्निशि जागरैश्च ।
शाकाम्लमत्स्यदधिफाणितवेसवारैश्चक्षुः क्षयं व्रजति सूर्यविलोकनाच्च ॥
(यो र.)

कई प्रकार के रोग न्यूनताजन्य होते हैं। जैसे नक्तांध्य, कृष्णमण्डल का शुष्क शोथ जीवतिक्ति 'ए' की न्यूनता से, शुक्तिका (Phlyctenules) जीवतिक्ति 'बी' की कमी से, नेत्रगत रक्तस्राव, जीवतिक्ति 'सी' एवं 'के' के अभाव से होता है।

एक सांघातिक व्याधि शिशुओं में होती है जिसमें कृष्णमण्डल का कोथ (Necrosis of cornea) होती है। यह व्याधि प्रायः उन शिशुओं में होती है जो अति कृश हों, पुराने अतिसार से क्षीण हों, जिनको माता का दूध नहीं मिल पाता या अत्यल्प मिलता हो या कम पोषकतत्त्व युक्त हो, यह रोग अधिकतर जीवतिक्ति 'ए' और 'डी' की कमी से होता है। अतः रोग के निवारणार्थ जीवतिक्ति 'ए' और 'डी' युक्त दूध की योजना करनी चाहिये। ऐसे रोगियों में काड, हैलिबट, शार्क प्रभृति मछली का तैल, ताज़ा मक्खन, ताजा दूध आदि आहार दिया जाय तो शीघ्र लाभ होता है। इन दृष्टियों के अनुसार आधुनिक ग्रन्थों में पथ्य की व्यवस्था की जाती है।

२. *विश्राम*—नैसर्गिक नियम है कि शोथ युक्त अङ्ग को विश्राम देने से शोफ का उपशम शीघ्रता से होता है—इसके विपरीत अङ्ग को क्रियाशील रखने से शोफ का शमन जल्दी नहीं हो पाता। जिस प्रकार यह नियम शरीर के अन्य भागों पर लागू होता है उसी प्रकार नेत्रों की रुग्णावस्था में समझना चाहिये। रोगी की आँख को वायु, जल और प्रकाश से रक्षा करने तथा पूर्ण आराम के खयाल से दोनों आँखों पर चीनपट्ट (आँख पर पट्टी बाँधकर) रखा जा सकता है।

३. *व्यायाम*—जैसे शरीर को स्वस्थ रखने के लिये व्यायाम एक आवश्यक स्वास्थ्यप्रद अंग माना गया है वैसे ही शीर्षासन, सूर्यनमस्कार प्रभृति व्यायाम नेत्र के लिये हितकर माने गये हैं।

४. *नेत्ररोगोत्पादक कारणभूत देहगत उपसर्गस्थल को दूर करना*—नियम है 'प्रधान प्रशमात्प्रशमः' प्रधान व्याधि के शमन से उपद्रवों का भी शमन हो जाता है। यदि नेत्ररोग औपद्रविक है और कारणभूत शरीर के किसी भाग में यदि कोई विकार केन्द्र या विकारयुक्त स्थान

हो तो उसको दूर करना चाहिये जैसे—दन्तवेष्ट, कण्ठशालूक, नासा कोटर शोथ, गोस्तन प्रवर्द्धन शोथ, अपची क्षय आदि ।

५. *अन्तःप्रयोज्य औषधियाँ*—रोगानुसार आमवात, क्षय या फिरंगादि का उपसर्ग नेत्ररोगी में जान पड़े उसके प्रत्यनीक चिकित्सा का अवलम्बन करना चाहिये । यदि नेत्र में पीड़ा अधिक हो तो पीडाशामक औषधियों का उपयोग करना चाहिये । शोफशामक ओषधियों में अविशेष प्रोभूजिन (Non specific Protien Therapy) का अन्तःक्षेपण तथा शुल्वयोग (Sulphadrugs) और 'पेन्सिलीन' तथा अन्य एण्टीबायटिक्स का व्यवहार भी करना चाहिये । कई प्रकार के रक्त प्रणाली प्रसारक (Vrsodilators) तथा ग्राही (Coagulents) औषधों का प्रयोग भी रोगानुसार करना होता है ।

६. *शिरावेध*—यदि रोगी का रक्त भार अधिक (२०० मि. मी.) हो तो शिरावेध करके पचास सी. सी. तक रक्त को निकाल कर (शिरावेध के द्वारा) रक्तभार को कम करना चाहिये अन्यथा मस्तिष्क अन्तःरक्तस्राव का भय रहता है ।

कृत्रिमज्वर—(Artificial fever) आधुनिक ग्रन्थों में एक कृत्रिमज्वर पैदा करके नेत्ररोग को दूर करने का पाठ मिलता है । कृष्ण मण्डल का गम्भीर शोथ यदि किसी उपचार से शान्त न हो तो तृतीयक ज्वर से पीडित रोगी की शिरा से १० सी. सी. रक्त निकाल कर नेत्ररोगी की शिरा में प्रविष्ट करके ज्वर पैदा किया जाता है । ऐसा करने से उसे ज्वर आता है कुछ बारीतक आ जाने के बाद पुनः किनीन दे कर ज्वर को उतार लेना चाहिये इस विधि से नेत्ररोग में लाभ होता है ।

लंघन तथा शोधन—प्राचीन ग्रंथों में नवीन नेत्ररोगी को लंघन कराने का विधान है साथ ही दोषानुसार उसे वमन तथा विरेचन वस्ति एवं शिरोरेचन कोयथावश्यक देकर शोधन करने का भी उपदेश है ।

६

नेत्ररोगों के स्थानिक उपचार

शीतोष्ण प्रयोग[1]

शीतल प्रयोग—जब नेत्र लाल हो जाते हैं और उनमें शोथ आ जाता है तो अनेक बार शीतल जल से धोने या शीतल गुलाब जल के फोये, बकरी के दूध की पट्टी, अथवा बर्फ के टुकड़े को कपड़े में लपेट कर नेत्र पर शीतल सेंक करने से बड़ा लाभ होता है। इस प्रयोग से नेत्रगत प्रदाह शान्त होता है और रोगी को शान्ति का अनुभव होता है। शीतल प्रयोग से रक्तवाहिनियों का आकुंचन होता है जिससे शोथ की प्रथमावस्था हो, तो शोथ और वेदना का निवारण हो जाता है। अस्तु, शीतल उपचार प्रारम्भ में ही लाभप्रद होता है परन्तु पश्चात् में उष्णोपचार करना चाहिये।

उष्ण प्रयोग—इस उपचार के अनेक प्रकार हैं जिनमें मुख्य दो हैं १. शुष्क या रूक्ष स्वेद (Dry fomentation) २. आर्द्र या स्निग्ध स्वेद (Wet fomentation)

(१) रुई या कपड़े को स्वच्छ कपड़े में लपेट कर एक पोटली बना उसे अंगीठी की आँच पर गर्म कर, जो आँख को सह्य हो, सेंक करना चाहिए। ऐसी दो पोटलियाँ होनी चाहिये एक गर्म होती रहे तथा एक के ठण्डे होने पर दूसरी से सेंकता रहे।

(२) आर्द्र सेंक (उष्णाम्बुकचैलिक स्वेद) की सरल रीति यह है कि एक बर्तन में पानी डालकर अंगीठी पर चढ़ा कर जब पानी खौलने लगे तो उसमें यथावश्यक नमक, फिटकिरी, अफीम की खाली ठोठी, त्रिफला चूर्ण या बोरिक एसिड (टङ्कण–५ ग्रेन १ औंस) मिला दें।

---

१. तत्रोष्मणो निग्रहार्थं तथा दाहप्रपाकयोः।
शीतमालेपनं कार्यं परिषेकश्च शीतलः॥ (सु. चि. २)

फिर बर्तन को उतार कर उसमें लिण्ट या रुई (जमाई हुई) के चार चार इञ्च के दो तीन टुकड़े डाल दे फिर उसको जब सह्य हो पानी निचोड़ कर आँख पर सेंक करे। एक टुकड़ा शीतल होने पर उसे बर्तन में डाल दे, दूसरे टुकड़े को निचोड़ कर नेत्र पर रखे। इस प्रकार १०-१५ मिनट तक दिन में दो तीन बार सेंक करना चाहिये। इसी का वर्णन सूत्र में नेत्र रोगों में सुश्रुत ने 'गर्म पानी और वस्त्र के स्वेद' से किया है।[1]

स्वेद करने पर सब प्रकार के शोथ में लाभ होता है—यह शोफ शामक सामान्य उपक्रम है आयुर्वेद के चिकित्सा ग्रंथों में स्वेदन का विशद वर्णन मिलता है। उसका स्थानिक तथा सार्वदैहिक उपक्रमों का वर्णन एवं विभिन्न प्रकार के रूक्ष-स्निग्ध स्वेदनों का विधान मिलता है।[2] यहाँ पर एक नेत्र के स्थानिक स्वेदन मात्र का उल्लेख ही प्रासंगिक है। चरक ने हृदय, वृषण और दृष्टि में स्वेदन करने का निषेध किया है तथापि यदि आवश्यक हो तो आँख को बन्द करके मृदु (Mild) या मध्यम (Moderate) स्वेद किया जा सकता है। सामान्यतया वायु एवं कफ के विकारों में स्वेदन की क्रिया की जाती है।[3]

औषधोपचार (Collirium)—नेत्र रोगों के चिकित्सा विधान में स्थान-स्थान पर तर्पण, आश्च्योतन, सेक, पुटपाक, तथा अञ्जनादि का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर संक्षेप में इन्हीं विषयों पर शास्त्रोक्त विवेचन किया जा रहा ।[4]

---

१. आद्यन्तयोश्चाप्यनयोः स्वेद उष्णाम्बुचैलिकः ।
उष्णाम्बुसिक्तेन कर्पटेन (कपड़ा) स्वेद इत्यर्थः (सु. उ. १८)
सुखोदकं प्रतप्तेन वाससा सुसमाहितः । (सु. उ. १५.)

२. वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते ।
स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पितः ।

३. वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदुनैव वा । मध्यमं वंक्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः ।
सुशुद्धैर्नक्तकैः पिण्ड्या गोधूमानामथापि वा । पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी ।

४. तर्पणं पुटपाकश्च सेक आश्च्योतनाञ्जने ।
तत्र तत्रोपदिष्टानि तेषां व्यासं निबोध मे ॥ (चरकः चि. १४)

तर्पण या सन्तर्पण विषयाविषय (Indicaton and contra indication)—नेत्रों के म्लान, दृष्टि स्तब्ध, शुष्क, रूक्ष, अभिहत, वात पित्त से पीडित, कुटिल, शीर्ण पटल, कठिन वर्त्म, कृच्छ्रोन्मीलन, शिराहर्ष, शिरोत्पात, तम, अर्जुन, अभिष्यन्द, मन्थ, अन्यतोवात, वातविपर्यय, शुक्र रोग से पीडित होने पर अथवा अश्रुस्राव, रक्तिमा एवं रोग का वेग कम होने पर अक्षि का तर्पण करने से नेत्र का बल बढ़ता है।[1]

तर्पण कर्म के उपयुक्त अवस्था या काल—अत्युष्ण या अतिशीत ऋतु, दुर्दिन, चिन्ता, परिश्रम, भ्रम से थके रोगी में तथा, जब-जब नेत्र गत रोग के लक्षण हल्के या शान्त न हो जायँ तर्पण की क्रिया नहीं करनी चाहिये।[2]

तर्पण विधान—पूर्वकर्म—वमन एवं विरेचन के द्वारा देह की शुद्धि तथा शिरोरेचन के द्वारा सिर का शोधन हो जाने के पश्चात् जब भोजन जीर्ण हो गया हो शुभ दिन को (शुभकाल में भोजन के पूर्व अथवा भोजन के पच जाने पर) पूर्वाह्न (प्रातः) या अपराह्न (सायं) में नेत्रों का तर्पण करना चाहिये।[3]

कर्म—इसकी विधि यह है कि रोगी को एक ऐसे घर में जिसमें वायु, धूप और धूलि का प्रवेश न हो सकता हो, उत्तान (सीधा) लिटा कर उसके नेत्रों के चारों ओर उड़द के आटे की दृढ़ मण्डलाकार बाँध (मेड़) इस प्रकार की बना दी जाती है कि उसमें कोई छिद्र न रहे। पश्चात् घृत मण्ड (घृत के ऊपर का स्वच्छ भाग) को सुखोष्ण

१. ताम्यत्यतिविशुष्कञ्च यद्रूक्षं यच्च दारुणम् । शीर्णपक्ष्माविलं जिह्मं रोगक्लिष्टं च यद् भृशम् । तदक्षि तर्पणादेव लभेतोर्जामसंशयम् । (सु. उ. १८)

२. दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिन्तायासभ्रमेषु च ।
अशान्तोपद्रवे चाक्ष्णि तर्पणं न प्रशस्यते ॥

३. संशुद्धदेहशिरसो जीर्णान्नस्य शुभे दिने ।
पूर्वाह्णे वापराह्णे वा कार्यमक्ष्णोस्तु तर्पणम् ॥

जल में मिला कर उससे नेत्र गोलक को पक्ष्म (बरौनी) तक भर देते हैं।[1]

अवधि—इस क्रिया में काल का परिमाण इस प्रकार का होता है—

स्वस्थ नेत्र में ५०० मात्रा के उच्चारण तक।
कफज व्याधि में ६०० ,, ,,
पित्तज ,, ८०० ,, ,,
वातज ,, १००० ,, ,,

इसके अतिरिक्त अधिष्ठानभेद से कालभेद का परिमाण इस प्रकार का है—

वर्त्मगत रोगों में १०० मात्रा के उच्चारण तक।
संधिगत ,, ३०० ,, ,,
शुक्लगत ,, ५०० ,, ,,
कृष्णगत ,, ७०० ,, ,,
दृष्टिगत ,, ८०० ,, ,,
सर्वगत ,, १००० ,, ,,

नेत्र के स्वाभाविक मूंदने और खोलने में जितना काल लगता अथवा जानु के चारों ओर हाथ घुमाकर चुटकी बजाने में एक बार में

---

१ वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिनः।
आधारौ माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिमण्डलौ।
समौ दृढावसंबाधौ कर्त्तव्यौ नेत्रकोषयोः।
पूरयेद्घृतमण्डस्य विलीनस्य सुखोदके।
आपक्ष्माग्रात्ततः स्थाप्यं पञ्च तद्वाक्छतानि तु।
स्वस्थे कफे षट् पित्तेऽष्टौ दश वाते तदुत्तमम्।
रोगस्थानविशेषेण केचित् कालं प्रचक्षते।
यथाक्रमोर्मदिष्टेषु त्रीण्येकं पञ्च सप्त वा।
दश दृष्ट्यामथाष्टौ च वाक्छतानि विभावयेत्।

जितना समय लगता अथवा गुरु वर्ण के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने की एक मात्रा होती है ।[1]

कितने दिनों तक तर्पण का प्रयोग होता रहे, इसके सम्बन्ध में सुश्रुत ने न्यून दोष में एक दिन, मध्यम दोष में तीन दिन तथा प्रबल दोष में पाँच दिनों तक तर्पण की विधि बतलायी है। परन्तु जेज्जटाचार्य का कथन है कि वातिक रोगों में एक दिन, पैत्तिक में तीन दिन और श्लैष्मिक नेत्र रोगों में पाँच दिनों तक यह क्रम रखना चाहिये। यह तर्पण का परं प्रमाण है; इसके बाद तर्पण नहीं करना चाहिये।[2] आचार्य विदेह के मतानुसार वही तर्पण निरन्तर, दिनान्तर (Alternate days), द्व्यन्तर (दो दो दिनों के अंतर से) त्र्यन्तर (तीन २ दिनों के अन्तर से) किया जा सकता है ।[3]

पश्चात् कर्म—नियत काल के समाप्त होने पर अपाङ्ग की ओर शलाका से द्वार बनाकर घृतमण्ड को निकाल देना चाहिये और आँख का शोधन करना चाहिये। इसके लिये स्वेदित जौ के आटे में स्नेह का यथाबल योग करके प्रयोग करना चाहिये। पश्चात् कफघ्न धूमपान कराना चाहिये। सूर्य, आतप आदि तेज चमक वाले पदार्थों से आँखों की रक्षा करनी चाहिये ।[4]

सम्यक् तर्पित लक्षण—सुखपूर्वक निद्रा का आना, समय पर जग उठना, नेत्रों में लघुता की प्रतीति, वर्ण की निर्मलता, विशदता, व्याधि

---

१. निमेषोन्मेषणं पुंसामङ्गुल्योश्छोटिकाथ वा ।
गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृता बुधैः ॥
२. एकाहं वा त्र्यहं वापि पञ्चाहं चेष्यते परम् ।
३. स्वस्थवृत्ते विधातव्यं द्व्यन्तरं तर्पणं भवेत् ।
अहन्यहनि वातोत्थे, रक्तपित्ते दिनान्तरम् ॥
तर्पणं सन्निपातोत्थे द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं कफे ।
४. ततश्चापाङ्गतः स्नेहं स्रावयित्वाक्षि शोधयेत् ।
स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्येरितं ततः ॥
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विशोधयेत् ।

का नाश होना तथा निमीलन और उन्मीलन में कष्ट का न होना सम्यक् तर्पित नेत्र का चिह्न है।[1]

अत्यर्थतर्पित लक्षण—नेत्र की गुरुता, आविलता, अतिस्निग्धता, नेत्र में कीचड़ का अधिक पैदा होना, अश्रु का अधिक निकलना, नेत्र का विशेषरूपेण दोष व्याप्त हो जाना ये अतितर्पित के चिह्न हैं।

हीन तर्पित लक्षण—नेत्र की रूक्षता, आविलता, अश्रुबहुलता (आँसू का अधिक आना), रूपदर्शन की असह्यता (देखने में असमर्थता) तथा रोग का बढ़ जाना प्रभृति लक्षण प्रबल हो जाते हैं।

अति तर्पित या हीन तर्पित नेत्ररोगियों में दोष की बहुलता हो जाती है। अस्तु, चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है उसके लिये दोषानुसार स्निग्ध तथा रूक्ष (वायु एवं पित्त में स्निग्ध तथा कफ में रूक्ष) धूम, नस्य, अञ्जन और सेक क्रियाओं के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।[2]

पुटपाक के *विषयाविषय* (Indication and contra-indication)—पुटपाक की क्रिया उन्हीं रोगियों में करनी चाहिये जिनमें तर्पण की क्रिया की जाती है। अर्थात् तर्पण के योग्य जो नेत्र की अवस्थायें मानी गई हैं उन्हीं में पुटपाक भी किया जाता है। जिनमें नस्य कर्म वर्जित है उनमें पुटपाक भी वर्जित है। जो तर्पण के योग्य नहीं वे पुटपाक के भी योग्य नहीं हैं। जो स्नेहपान के अक्षम (दुर्बलता एवं अरुचि से पीडित) रोगी हैं वे पुटपाक के क्षम भी नहीं हैं अर्थात् उनमें भी पुटपाक का निषेध है। संक्षेप में जिन रोगियों में तर्पण, नस्य और स्नेहपान किया जा सकता है वही पुटपाक के योग्य हैं। अतएव पुटपाक के योग्य रोगियों के दोषों के शान्त हो जाने पर पुटपाक का प्रयोग नेत्र में करना चाहिये।[3]

---

१. सुखस्वप्नावबोधत्वं वैशद्यं वर्णपाटवम्।
निर्वृतिर्व्याधिविध्वंसः क्रियालाघवमेव च॥

२. अनयोर्दोषबाहुल्यात्प्रयतेत चिकित्सते।
धूमनस्याञ्जनैः सेकैः रूक्षैः स्निग्धैश्च योगवित्॥ (सु. उ. १८)

३. पुटपाकस्तथैतेषु, नस्यं येषु च गर्हितम्।
तर्पणार्हा न ये प्रोक्ताः स्नेहपानक्षमाश्च ये। ततः प्रशान्तदोषेषु पुटपाकक्षमेषु च॥

भेद[1]

स्नेहन	लेखन	रोपण
१. अति रूक्ष नेत्र में ।	१. अतिस्निग्ध में ।	१. दृष्टि में बल लाने के लिये या पित्त रक्त वात और व्रण युक्त नेत्रों में ।
२. स्निग्ध मांस (आनूपदेशज प्राणियों के) मेद, वसा, मज्जा तथा मधुर द्रव्य (काकोल्यादि गण की ओषधियाँ) से सिद्ध (संस्कृत) पुटपाक स्नेहन होता है ।	२. जाङ्गल (हरिण प्रभृति) प्राणियों के यकृत्, मांस तथा अन्य लेखन द्रव्यों से संस्कृत जैसे कान्तलौह भस्म, ताम्र, शंख, प्रवाल, सैन्धव समुद्रफेन, कासीस, स्रोतोञ्जन, दधि, मट्ठा से बना पुटपाक लेखन होता है ।	२. स्त्री स्तन्य (माता का दूध) जाङ्गल पशु पक्षियों के मांस मधु, गोघृत तथा तिक्त द्रव्यों से संस्कारित पुटपाक रोपण होता है ।
३. इसका धारण २०० मात्रा के उच्चारण कालतक करना चाहिये ।	३. इसका सौ मात्रा के उच्चारण काल तक धारण करना होता है ।	३. इसका धारणकाल लेखन की त्रिगुण अर्थात् तीन सौ मात्राके उच्चारण काल तक करना चाहिये ।
४. दो दिनों तक स्नेहन पुटपाक का प्रयोग करना चाहिये ।	४. एक दिन पर्याप्त होता है ।	४. रोपण का तीन दिन तक प्रयोग करना चाहिये ।

१. पुटपाकः प्रयोक्तव्यो नेत्रेषु भिषजा भवेत् । स्नेहनो लेखनीयश्च रोपणीयश्च स त्रिधा। हितः स्निग्धोऽतिरूक्षस्य स्निग्धस्यापि च लेखनः। दृष्टेर्बलार्थमपरः पित्तासृग्व्रणवातनुत् । स्नेहमांसवसामज्जमेदःस्वाद्वौषधैः कृतः । स्नेहनः पुटपाकस्तु धार्यो द्वे वाक्छते तु सः । जाङ्गलानां रसैर्मांसैर्लेखनद्रव्यसंभृतैः ।

पुटपाक का काल—पुटपाक काल के सम्बन्ध में सुश्रुत ने एक, दो दिन या तीन दिन तक करने का विधान सूत्ररूप में दिया है। डल्हण ने उसकी टीका करते हुए (स्पष्ट करते हुए) दो प्रकार का अर्थ ग्रहण इस सूत्र से किया है। पहला सामान्य पुटपाक के सम्बन्ध में—पुटपाक की अवचारणा श्लैष्मिक नेत्र रोग में एक दिन तक, पैत्तिक में दो दिनों तक और वातिक में तीन दिनों तक करनी चाहिये। दूसरा विशिष्ट पुटपाक के सम्बन्ध में यह है कि लेखन पुटपाक का एक दिन, स्नेहन का दो दिन तथा रोपण का तीन दिनों तक प्रयोग होना चाहिये। यहाँ पर यह काल मर्यादा विशुद्ध क्रिया काल से मानी गई है स्नेहन स्वेदन प्रभृति पूर्व कर्मों से आरम्भ करके नहीं, क्योंकि यदि पूर्व कर्मों से शुरू किया जाय; तो फिर द्विगुण काल समझना चाहिये। कुछ लोग तर्पण-काल की मर्यादा से द्विगुण मानते हैं वह भी ठीक नहीं है।

पुटपाक का पूर्वकर्म—प्रायः उन सभी पूर्वकर्मों को जो नेत्रों के तर्पण के प्रसंग में आचुके हैं, प्रयोग में ला सकते हैं, परन्तु कुछ विशेषतायें रखनी चाहिये। जैसे रोपण, पुटपाक को छोड़कर शेष लेखन और स्नेहन पुटपाकों में धूम का प्रयोग तथा स्नेहन और स्वेदन करना चाहिये। अर्थात् रोपण पुटपाक में स्नेह, स्वेद तथा धूम का निषेध है शेष दोनों में इन पूर्वकर्मों का विधान है।[1]

पुटपाक के सम्यक् योग के चिह्न—यदि ठीक प्रकार से नेत्रों में पुटपाक की क्रिया हुई है, तो नेत्र का वर्ण स्वच्छ रहता है, नेत्र उज्ज्वल हो

कृष्णलोहरजस्ताम्रशंखविद्रुमसिन्धुजैः ।
समुद्रफेनकासीसस्रोतोजदधिमस्तुभिः ।
लेखनो वाक्छतं तस्य परं धारणमुच्यते ।
स्तन्यजाङ्गलमध्वाज्यतिक्तद्रव्यविपाचितः ।
लेखनात्रिगुणं धार्यः पुटपाकस्तु रोपणः ।
एकाहं वा द्व्यहं वापि त्र्यहं वाप्यवचारणम् ।
यन्त्रणा तु क्रियाकालाद्द्विगुणं कालमिष्यते ।

१. वितरेत्तर्पणोक्तं तु धूमं हित्वा तु रोपणम् । स्नेहस्वेदौ द्वयोः कार्यौ कार्यो नैव च रोपणे।

जाते हैं, वायु और धूप को बर्दाश्त करने की शक्ति आ जाती है (वाता-तपसह), नेत्र में लघुता का अनुभव, सुखपूर्वक निद्रा का आना और जागरण का होना चलने लगता है।[1]

अतियोग के चिह्न—अतियोग होने से नेत्रों में पीडा, शोफ, पिडिकाओं का निकलना और तिमिर रोग का उद्भव हो जाता है।[2]

असम्यक् योग या मिथ्या योग के चिह्न—नेत्र में पाक, अश्रुस्राव, हर्षण (एक विशेष प्रकार की वेदना जिसमें रोगी को अन्तः शीत का अनुभव होता है) तथा अन्य दोषों का उद्भव होने लगता है।[3]

मिथ्योपचार जन्य उपद्रवों की चिकित्सा—पुटपाक के मिथ्योपचार से जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं उनमें अञ्जन, आश्च्योतन एवं स्वेदन के द्वारा प्रतीकार करना चाहिये।[4] अथवा नस्य, धूम तथा अञ्जन से पुटपाक जन्य व्यापद् को जीतना चाहिये।[5]

पश्चात्कर्म—तर्पण किये जाने पर तथा पुटपाक का उपयोग होने पर रोगी को चाहिये कि नेत्रों के स्वास्थ्य रक्षा के लिये तेजवान् पदार्थ (दीप, प्रकाश, ज्वाला प्रभृति), सामने की वायु, चमकने वाली चीजें (आकाश, दर्पण आदि) तथा भास्वर पदार्थ (जैसे सूर्य) को न देखे।[6]

पुटपाक तथा तर्पण क्रिया में सामान्य पूर्व तथा पश्चात्कर्म—दोनों ही क्रियाओं के आदि और अंत में गर्म पानी में कपड़ा भिगोकर उसे निचोड़कर स्वेदन (Wet Fomentation) करना चाहिये तथा पश्चात् कर्म में यदि कफ का निर्हरण उचित न हुआ हो तो धूम का प्रयोग करना चाहिये।[7]

---

१. प्रसन्नवर्णं विशदं वातातपसहं लघु। सुखस्वप्नावबोध्यक्षिपुटपाकगुणान्वितम्।
२. अतियोगाद्रुजः शोफः पिडिकातिमिरोद्गमः।
३. पाकोऽश्रुहर्षणं चापि हीने दोषोद्गमस्तथा।
४. मिथ्योपचारादनयोर्यो व्याधिरुपजायते। अञ्जनाश्च्योतनस्वेदैर्यथास्वं तमुपाचरेत्।
५. व्यापदश्च यथादोषं नस्यधूमाञ्जनैर्जयेत्।
६. तेजांस्यनिलमाकाशमादर्शं भास्वराणि च। नेक्षेत तर्पिते नेत्रे पुटपाककृते तथा।
७. आद्यन्तयोश्चाप्यनयोःस्वेद उष्णाम्बुचैलिकः। तथा हितोऽवसाने च धूमश्लेष्मसमुच्छ्रितौ।

पुटपाक की कल्पना—चिकने मांस के दो टुकड़े जिनमें प्रत्येक का प्रमाण एक-एक पल (४ तोले का) हो और द्रव्यों का दोष भेद से अथवा स्नेहन, लेखन और रोपण भेद से एक-एक पल ग्रहण करे। इनमें यथाक्रम निम्नलिखित द्रव्य रहेंगे—

स्नेहन पुटपाक में मधुरौषध कषाय क्षीर।

लेखन पुटपाक में मधु, मस्तु, त्रिफलाकषाय।

रोपण पुटपाक में तिक्त द्रव्यों के कषाय।

इनमें द्रव (कषाय या क्षीर या जल) की मात्रा एक कुडव (आठ पल या ३२ तोले) लेकर एक में मिलाकर पीस कर पिट्ठी बना ले।

इस पिट्ठी को गम्भारी, कुमुद, एरण्ड पत्र, पद्मिनी या केले के पत्ते में लपेट कर चारों ओर मिट्टी लगाकर या कपड़ मिट्टी कर कुछ सुखाकर इस गोलक को खदिराङ्गार में पकावे। अथवा कतक, अश्मन्त, एरण्ड, पाटला, वासा, बेर अथवा दूध वाले वृक्षों की लकड़ियों की आग पर या उपले की आग पर युक्ति पूर्वक पाक कर लेना चाहिये। यह ध्यान में रखे कि कच्चा न रहे और जले भी नहीं। ठीक प्रकार से पक जाने पर उसे आग से निकाल कर, मिट्टी, पत्ते आदि को हटाकर निचोड़ कर उसका रस निकाले। इस निकाले हुए रस का तर्पण में कही हुई विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। रोगी को नित्य उत्तान (सीधा) लिटा कर कनीनिका में निषेचन (Drop) करे। यदि व्याधि में रक्त और पित्त दोष की विकृति हो; तो इस पुटपाक स्वरस का ठण्डा प्रयोग करे और यदि वायु और कफ की विकृति हो, तो किंचिदुष्ण प्रयोग करे।

अति उष्ण और तीक्ष्ण पुटपाक का प्रयोग नहीं करना चाहिये, उस से निरन्तर दाह और पाक होता है तथा अति शीतल करके नेत्रों में छोड़ने पर अश्रु, वेदना, स्तम्भ और हर्ष प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते हैं। अति मात्रा में उपयुक्त होकर ये कषाय (Astringent) गुण होने के कारण त्वक् संकोच (सिकुड़न), स्फुरण पैदा करता है। और यदि हीन प्रमाण में प्रयुक्त हुआ तो दोषों का उत्क्लेश कारक होता है। जिससे दोष पुनः जागृत हो जाते हैं। उचित मात्रा में प्रयुक्त होने पर दाह, शोफ, पीडा, हर्ष, स्राव, कण्डु, उपदेह (मल), नेत्र दूषिका

(नेत्र मल) और रक्तराजियों प्रभृति का विनाश करता है अतः दोषों को बचाते हुए पुटपाक का सम्यक् प्रयोग करना चाहिये ।

इनकी व्यापत्तियों को दूर करने के लिये नस्य, धूम और अञ्जन का प्रयोग करना चाहिये ।

आश्च्योतन और सेक—जो रोग अति प्रबल नहीं हुआ हो उस रोग को दोषों के अनुसार किया हुआ आश्च्योतन कर्म नष्ट करता है और यदि बढ़कर बलवत्तर हो गया हो तो उसे सेक या सेचन कर्म दूर करता है ।[1] विदेह ने भी लिखा है कि नेत्र में रोग उत्पन्न होने के पूर्व ही तीन रात तक लघु भोजन करे या तीन दिनों तक उपवास करे या केवल रात्रि में भोजन करे पुनः चतुर्थ दिन यदि व्याधि नहीं रुके और आ ही जाय तो उत्पन्न लक्षणों के आधार पर दोष प्राबल्य का ज्ञान करके यथोचित आश्च्योतन या सेक की क्रिया से चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये ।[2]

पुटपाक के सदृश आश्च्योतन के स्नेहन, लेखन और रोपण नामक तीन प्रकार होते हैं ।[3] सेक के भी यही तीन प्रकार माने गये हैं ।

आश्च्योतन भेद

स्नेहन	लेखन	रोपण
१० बिन्दु (बूंद)	७-८ बिन्दु	१२ बिन्दु

विधि—आश्च्योतन की विधि इस प्रकार है कि रोगी को वातरहित स्थान में बैठाकर बायें हाथ से नेत्र को खोलकर रुई के फाहे से ओषधि

१. यथादोषोपयुक्तं तु नातिप्रबलमोजसा ।
रोगमाश्च्योतनं हन्ति सेकस्तु बलवत्तरम् ॥ (सु.)

२. प्रागवेक्ष्यामये कार्यं त्रिरात्रं लघुभोजनम् । उपवासस्त्र्यहं वा स्यान्नक्तं वाप्यशनं त्र्यहम् ततश्चतुर्थदिवसे व्याधिं संजातलक्षणम् । समीक्ष्याश्च्योतनैः सेकैः यथास्वमुपपादयेत् ॥ विदेह

३. तौ त्रिविधौ उपयुज्येते रोगेषु पुटपाकवत् ।

को लेकर दो तीन अंगुल की ऊँचाई से नेत्र के कृष्ण भाग के ऊपर १०, १२ बिन्दु का निक्षेप (Drop) करे। तदनन्तर कोमल वस्त्र से आँख को पोंछकर, कोष्ण जल में वस्त्र भिगोकर धीरे-धीरे आँखों का स्वेदन करे। यह आश्च्योतन कर्म वात और कफजन्य विकारों में लाभप्रद है, रक्तपित्त जन्य रोगों में नहीं।

अत्यन्त तीक्ष्ण या उष्ण आश्च्योतन से वेदना, रक्तिमा तथा दृष्टि का नाश आदि लक्षण होते हैं। अत्यन्त शीतल प्रयोग करने से नेत्र में सुई चुभने की सी पीडा, स्तब्धता और शूल होता है। अति मात्रा से वर्त्म आपस में चिपक जाते हैं। कठिनता से खुलते एवं लाल हो जाते हैं। अत्यल्प आश्च्योतन से रोग की वृद्धि होती है और अपरिस्रुत अक्षिसेचन से नेत्र का क्षोभ होता है। अतः वातज विकारों में उष्ण, कफज में कोष्ण और रक्तपित्त में शीतल किया जाता है।

सेक—परिषेक एवं आश्च्योतन दोनों का उपयोग पुटपाक सदृश नेत्र गत वेदना, कण्डु, हर्षण, अश्रुस्राव, दाह और रक्तिमा में होता है। सेक का धारण काल पुटपाक से द्विगुण है जैसे—[1]

लेखन सेक—२०० मात्रोच्चारण तक।
स्नेहन ,, —४०० ,, ,, ।
रोपण ,, —६०० ,, ,, ।

सेक और आश्च्योतन का कर्म कार्य की निवृत्ति (व्याधि के शान्त हो जाने अथवा प्रकृत वर्ण में आ जाने तक) उपयोग करना चाहिये। दोनों के करने का समय पूर्वाह्ण, मध्याह्न अथवा सायाह्न जानना चाहिये। कफज व्याधि में लेखन सायाह्न में, वातज में स्नेहन अपराह्ण में और पित्त रक्तज नेत्र रोगों में रोपण का प्रयोग मध्याह्न में करना चाहिये अथवा जिस समय वेदना हो वही उसका उचित समय समझना चाहिये।

१. सेकस्य द्विगुणः कालः पुटपाकात्परो मतः।
अथवा कार्यनिर्वृत्तेरुपयोगो यथाक्रमम्।
पूर्वापराह्णे मध्याह्ने रुजाकालेषु चोभयोः।
योगायोगान्स्नेहकाले तर्पणोक्तान् प्रचक्षते।

सेकविधि—रोगी को लिटाकर, आँखों को बन्द कराकर, चार अंगुल की ऊँचाई से द्रव ओषधियों (कषाय, शीतल जल आदि) को पूरे नेत्र पर छोड़ें।[1]

शिरोवस्ति—यह उपक्रम नेत्र रोगों के कारण सिर में होने वाले अति प्रबल शिरोभिताप (शिरःशूल) प्रभृति रोगों को नष्ट कर, मूर्धा में तैल रखने वाले (मूर्ध तैलिक) अन्यान्य गुणों को करता है। मूर्धा (सिर या मस्तिष्क) में चार प्रकार से तैल देने का विधान शास्त्रों में मिलता है—अभ्यंग, परिषेक, पिचु और वस्ति। ये उत्तरोत्तर अधिकाधिक गुण वाले होते हैं।

१. अभ्यंग का प्रयोग सिर की रूक्षता, कण्डु तथा मलादि में।

२. परिषेक का प्रयोग पिडिका, शिरस्तोद, दाह, पाक और व्रण में।

३. पिचुका का प्रयोग केशपात, सिर का फटना, नेत्र स्तम्भ तथा वेदना में।

४. वस्ति का प्रयोग प्रसुप्ति, अर्दित, निद्रानाश, नासिका शोष, तिमिर और दारुणक और शिरोरोगों में (तीव्र शिरःशूलों में) करना चाहिये।

विधि—दिन के अन्त में वमन विरेचनादि के द्वारा शोधित या नस्यादि के द्वारा विशुद्ध मस्तिष्क करके, तैलादि के द्वारा अभ्यक्त, स्वेद के द्वारा स्वेदित यथा रोग भोजन किये व्यक्ति को जानु तक ऊँचे आसन में सीधा बैठा दे। फिर रोगी के सिर पर गो या भैंस के चर्म से निर्मित कोष या वस्तिकोष को सिर के ऊपर बाँध दे। इसको दृढ़ करने के लिये उड़द की पिट्ठी कपड़े की सहायता से बाँधना चाहिये। पुनः व्याधि के दोष दूष्य के अनुसार जो हितकर द्रव्य हों उनसे सिद्ध स्नेह से वस्ति कोष को भर दे। इस शिरोवस्ति को धारण

१. सेकस्तु सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः ।
मीलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलः ॥ (यो. र.)

करने के लिये अवधि तर्पण क्रिया में उक्तकाल प्रमाण से दस गुने समय तक, दोषानुसार, बतलाई गई है।[1] अर्थात्—

श्लैष्मिक विकारों में ६००० मात्रोच्चारण तक।
पैत्तिक ,, ,, ८००८ ,, ,,।
वातिक ,, ,, १०००० ,, ,,।

इस प्रकार का सुश्रुत ने शिरोवस्ति का वर्णन किया है—शिरोरोगाध्याय में भी शिरोवस्ति का प्रसंग आया है वहाँ पर शार्ङ्गधरोक्त शिरोवस्ति का उल्लेख किया गया है। उन्होंने स्पष्टतया बारह अङ्गुल ऊँची चर्म की पट्टी बनाकर कोषाकार करके तैल पूरण का विधान दिया है परन्तु सुश्रुत ने वस्तिकोष (Bladder) को बाँध कर उसमें तैल भरने का विधान किया है। वास्तव में रचना, कार्य, गुण, विषयाविषय की दृष्टि से दोनों एक ही हैं कोई भेद उनमें नहीं।

अंजन—एक नेत्ररोगों के स्थानिक उपचारों में व्यवहृत होने वाले योगों की एक सामान्य संज्ञा है। गुटिका, रस, चूर्ण त्रिविध कल्पनाओं से बने हुए लेखन, रोपण और प्रसादन गुणों वाले अनेक प्रकार के अञ्जन होते हैं। इनमें गुटिकादि भेद से जो तीन प्रकार की कल्पनायें हैं उनमें रोग अति प्रबल हो तो गुटिका का प्रयोग, मध्यम बल हो तो रसक्रिया अंजन का प्रयोग और यदि हीन बल हो तो चूर्णाञ्जन का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् गुटिका, रस और चूर्णाञ्जन में यथाक्रम पूर्व कहे गये उपचार श्रेष्ठ हैं फलतः गुटिका सर्वश्रेष्ठ अञ्जन प्रकार है।[2]

---

१ रोगाञ्छिरसि संभूतान् हत्वातिप्रबलान् गुणान्।
करोति शिरसो वस्तिरुक्ता ये मूर्धतैलिकाः॥
शुद्धदेहस्य सायाह्ने यथाव्याध्यशितस्य च।
ऋज्वासीनस्य बध्नीयाद्वस्तिकोशं ततो दृढम्॥
यथाव्याधि श्रृतस्नेहपूर्णं संयम्य धारयेत्।
तर्पणोक्तं दशगुणं यथादोषं विधानवित्॥

२. गुटिका रसचूर्णानि विविधान्यञ्जनानि तु।
यथापूर्वं बलं तेषां श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः॥
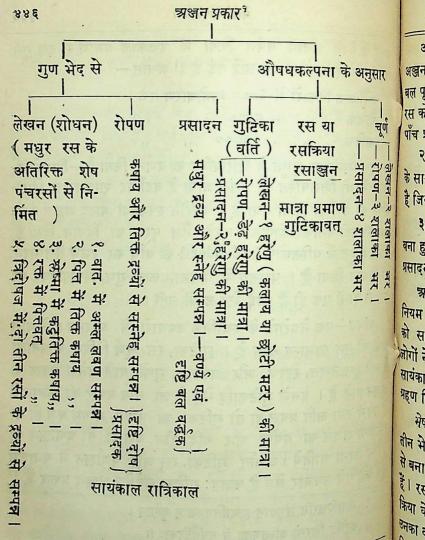
मुखनासाक्षि के द्वारा दोषों को निकालता है। प्रातःकाल

१. लेखनं रोपणञ्चापि प्रसादनमथापि वा।
तत्र पञ्चरसान् व्यस्तानाद्यैकरसवर्जितान्॥
पञ्चधा लेखनं युञ्ज्याद्यथादोषमतन्द्रितः।
नेत्रवर्त्मसिराकोशस्रोतःशृङ्गाटकाश्रितम्॥
मुखनासाक्षिभिर्दोषमोजसा स्रावयेत्तु तत्।

अञ्जन तीन प्रकार के होते हैं १. *लेखन*—यह एक प्रकार का शोधन अञ्जन है, जो नेत्र, वर्त्म, शिराकोष, स्रोत और शृङ्गाटकाश्रित दोषों को बल पूर्वक मुख, नासा और आँख के रास्ते निकाल देता है। यह मधुर रस को छोड़कर शेष सभी रसभूयिष्ठ द्रव्यों के योग से बनता है–इसके पाँच प्रकार हो जाते हैं जिनका दोषानुसार प्रयोग होता है।

२. *रोपण*—कषाय और तिक्त रस भूयिष्ठ द्रव्यों के संयोग से स्नेह के साथ मिलाकर प्रयुक्त होता है। यह स्निग्ध और शीत गुण युक्त होता है जिससे दृष्टि का बल बढ़ता है।

३. *प्रसादन*—मधुर रस भूयिष्ठ द्रव्यों से तथा स्नेह के संयोग से बना हुआ यह प्रसाद गुण वाला अञ्जन है इसके प्रयोग से दृष्टिदोषों का प्रसादन होता है।

अञ्जनों के लगाने का काल—इन अञ्जनों के लगाने में सामान्य नियम यह है कि लेखन (शोधन) अञ्जन को प्रातःकाल रोपण अञ्जन को सायंकाल तथा प्रसादन अञ्जन को रात्रि में लगाना चाहिये। कुछ लोगों ने दोषानुसार श्लैष्मिक रोगों में प्रातःकाल, वातिक रोगों में सायंकाल तथा पैत्तिक रोगों में रात्रि में लगाना चाहिये, ऐसा अर्थ ग्रहण किया है।

भेषजकल्पनानुसार भेद—गुटिकाञ्जन, रसाञ्जन और चूर्णाञ्जन नाम से तीन भेदों का वर्णन आता है। गुटिकायें या वर्तियाँ औषधद्रव्यों के योग से बनायी जाती हैं, इनकी गोलियाँ या पतली वर्तियाँ बना ली जाती हैं। रसाञ्जन में ओषधियों का क्वाथ करके पुनः उसको गाढ़ा कर (रस क्रिया के द्वारा) रख लिया जाता है पुनः मात्रानुसार घिस कर नेत्रों में उनका व्यवहार किया जाता है। चूर्णाञ्जन—नाम से ही ज्ञात होता है कि चूर्णों (Powders) का नेत्र में प्रयोग करने का विधान है।

कषायं तिक्तकं वापि सस्नेहं रोपणं मतम् ॥
तत्स्नेहशैत्याद्वर्ण्यं स्याद् दृष्टेश्च बलवर्द्धनम्।
मधुरं स्नेहसम्पन्नमञ्जनं तु प्रसादनम् ॥
दृष्टिदोषप्रसादार्थं स्नेहनार्थं च तद्धितम् ।

इन सभी कल्पनाओं के कार्य या गुण की दृष्टि से प्रत्येक के तीन तीन भेद हो जाते हैं एवं तदनुरूप मात्रा का निर्धारण किया जाता है। जैसे गुटिका तथा रसांजन में प्रसादन कार्यों में दो हरेणु (कलाय) रोपण में डेढ़ हरेणु तथा लेखन में एक हरेणु की मात्रा काम में लानी चाहिये। चूर्णांजन का प्रयोग शलाका (Rod) के द्वारा किया जाता है। अस्तु, प्रसादनकार्यों में ४ शलाका चूर्ण का, रोपण की क्रिया में ३ शलाका चूर्ण का और लेखन में २ शलाका भर चूर्ण का नेत्रों में प्रक्षेप करना चाहिये।[1]

यहाँ पर तीन कल्पनायें मौलिक या बीजभूत हैं—इनसे पुनः सहस्रों प्रकार की नई नई कल्पनायें की जा सकती है।[2]

अञ्जनों के लगाने की नेत्रावस्था—आश्च्योतन के पश्चात् अञ्जन का प्रयोग करना चाहिये। सिराव्यध, विरेचन, निरूहण और शिरोविरेचन के द्वारा शोधन होकर जिस व्यक्ति का मल दूर कर दिया गया हो, तथा आमावस्था के दूर हो जाने के पश्चात् जब नेत्रगत व्याधि अपने रूप को प्राप्त कर चुकी हो, अर्थात् लक्षण दोषानुसार स्पष्ट हो गये हों, और जब एक ही दोष हो उसमें अन्य दोषों की संसृष्टि न हो तो ऐसी अवस्था प्राप्त हुए नेत्र में अञ्जन प्रयोग करने का विधान है।[3]

अञ्जन शलाका तथा पात्र—मल्लिका पुष्प के मुकुल सदृश मुखवाली एवं अन्त में कलाय के समान मण्डलाग्र (तीक्ष्णाग्रवाली नहीं) आठ अङ्गुल लम्बी, बीच में पतली, कर्कशादिदोष से रहित एवं अच्छी प्रकार

१. हरेणुमात्रा वर्त्तिः स्याल्लेखनस्य प्रमाणतः ।
प्रसादनस्य चाध्यर्धा द्विगुणा रोपणस्य च ॥
रसाञ्जनस्य मात्रा तु यथावर्तिमिता मता ।
द्वित्रिचतुःशलाकासु चूर्णस्याप्यनुपूर्वशः ॥

२. पुटपाकक्रियाद्यासु क्रियास्वेषैव कल्पना ।
सहस्रश्चाञ्जनेचेष्टाः बीजेनोक्तेन पूजिताः ॥

३. व्यक्तरूपेषु दोषेषु शुद्धकायस्य केवले ।
नेत्र एव स्थिते दोषे प्राप्तमञ्जनमाचरेत् ॥

से पकड़ में आ सके (साधुनिग्रहा) इस प्रकार की अञ्जन लगाने की शलाका (सलाई) बनी होनी चाहिये।[1] यह शलाका सुवर्ण, रजत, शृङ्ग, ताम्र, वैदूर्य, कांस्य, लौह प्रभृति, द्रव्यों में से किसी एक की बनी होनी चाहिये।[2] अथवा विविध कार्यों में आने वाली विविध प्रकार की होनी चाहिये। जैसे—लौही शलाका—रोपणांजन के लिये, ताम्र शलाका—लेखन के लिये और सोने की शलाका प्रसादन के लिये बनी रहनी चाहिये।

शलाकाओं के साथ-साथ अञ्जनों के रखने के लिये पात्र भी विविध पदार्थों के अञ्जनों के तुल्य गुण वाले होने चाहिये। जैसे—सोने के पात्रों में मधुर अञ्जन, चाँदी के पात्रों में अम्ल, मेषशृङ्गमय पात्र में लवण, ताम्र या लौह पात्र में कषाय, वैदूर्य के बने वर्त्तन में कटु, कांस्यपात्र में तिक्त और नलादि के बने पात्र में शीत गुण वाले अञ्जनों को रखना चाहिये।[3]

अंजन लगाने की विधि—बायें हाथ से आँख को खोलकर शलाका पर अंजन को लेकर दाहिने हाथ से शलाका के द्वारा आँख में लगावे। शलाका के द्वारा अंजन प्रयोग की विधि यह है कि शलाका को कनीनिका (Inner Canthus) से अपाङ्ग (Outer Canthus) की ओर निकाल कर लगावे। अथवा अपाङ्ग की ओर से कनीनिका को लगा कर शलाका को निकाले।[4] अथवा यदि वर्त्म के ऊपर लगाना

---

१. वक्त्रयोर्मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला ।
अष्टांगुला तनुर्मध्ये सुकृता साधुनिग्रहा ॥

२. औदुम्बर्यश्मजा वापि शारीरी वा हिता भवेत् ।

३. तेषां तुल्यगुणान्येव विदध्याद् भाजनान्यपि ।
सौवर्णं राजतं शार्ङ्गं ताम्रं वैदूर्यकांस्यजम् ।
आयसानि च योज्यानि शलाकाश्च यथाक्रमम् ॥

४. वामेनाक्षि विनिर्भुज्य हस्तेन सुसमाहितः । शलाकया दक्षिणेन क्षिपेत् कानीनमञ्जनम् । आपाङ्ग्यं वा यथायोगं कुर्याच्चापि गतागतम् । वर्त्मोपलेपि वा यत्तदङ्गुल्यैव प्रयोजयेत् ।

हो या वर्त्मों में चिपकने वाला हो, तो उंगली से लगावे। चिकित्सक को चाहिये कि नेत्र में अंजन का अतियोग न करे क्योंकि उससे क्षत होने की संभावना रहती है।

अक्षिधावन (Eyewash)—जब तक आँख के दोष (अश्रुदूषकादि रूप मल कीचड़ वगैरह) अच्छी तरह से निकल न जायँ तब तक प्रक्षालन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से दोष का पुनरावर्त्तन (Re-infection) होकर नेत्र को अधिक विकारयुक्त कर देते हैं। अस्तु, जब नेत्रगत दोष दूर हो जायँ, अश्रुस्राव बहुत कम हो जाय तब सम्यक् रीति से जल से आँख के भीतर का प्रक्षालन करके अंजनों का प्रयोग करना चाहिये। भावार्थ यह है कि तीव्रावस्था में आँख का प्रक्षालन न करके जीर्णावस्था में प्रक्षालन करे।

अंजन का निषेध (Contraindication of Collirium)—थकावट, उदावर्त्त, रुदन, मद्यपान, क्रोध, भय, ज्वर, वेगावरोध, शिरोरोग से पीड़ित व्यक्तियों में अंजन का प्रयोग नहीं करना चाहिये। इन अवस्थाओं में अंजन का प्रयोग करने से नेत्रगत ललिमा, पीड़ा, तिमिर, आस्राव, शूल और संरम्भ (शोथ) बढ़ जाता है।[1]

अकाल में अञ्जन करने से व्यापद्—निद्राक्षय (जागरण) में करने से क्रियाशक्ति का नाश, प्रवात (हवा के झोंके) में करने से दृष्टि का बलक्षय, धूलि और धुआँ से अभिहत नेत्र में करने से राग, स्राव और अधिमंथ होने का भय रहता है। नस्य के अन्त में अंजन-प्रयोग से नेत्र में शोथ और शूल तथा शिरःशूल में प्रयोग करने से अधिक शिरःशूल होता है एवं सिर से स्नान किये अथवा अति शीत खाये व्यक्ति में अथवा सूर्य के उदय के पूर्व अंजन करना दोष की स्थिरता के कारण निरर्थक होता है क्योंकि अंजन दोष का निर्हरण नहीं कर पाता प्रत्युत दोष का उत्क्लेश अधिक बढ़ जाता है। अजीर्ण में भी स्रोतोमार्ग के

१. श्रमोदावर्त्तरुदितमद्यक्रोधभयज्वरैः ।
वेगाघातशिरोदोषैश्चार्त्तानां नेष्यतेऽञ्जनम् ।
रागरुक्तिमिरास्रावशूलसंरम्भसंभवात् ।

निरोध के कारण भी इसी प्रकार हानिप्रद होता है। इसी प्रकार प्रारंभिक अवस्था में जब दोष के वेगों का उदय होता रहता है अंजन-प्रयोग विभिन्न उपद्रवों को पैदा करता है। अत एव इन सभी दोषों का परिहार करते हुए देश, काल एवं अवस्था का विचार करते हुए अंजन का प्रयोग करना चाहिये। इन नियमों का विशेष करके लेखनाञ्जन के सम्बन्ध में विचार परमावश्यक है।

लेखनाञ्जन या अन्य अञ्जनों के सम्यक् योग के लक्षण—नेत्रों का विशद, लघु, स्रावहीन, निर्मल, क्रियापटु (Active) हो जाना तथा नेत्र के सभी उपद्रवों का शान्त हो जाना ये लक्षण सम्यक् विरिक्ति के हैं।[1]

अतियोग के चिह्न—नेत्र वक्र, कठिन, दुर्वर्ण, स्रस्त (ढीला), अतीव रूक्ष तथा अति मात्रा में स्राव का होना ये लक्षण अंजन के अति योग में मिलते हैं। इसके प्रतीकार में संतर्पण तथा अन्य वात-शामक विधानों को करना चाहिये।

अंजन के हीन योग के चिह्न—हीन विरिक्त नेत्र उग्रतर दोष-युक्त हो जाता है—इस के प्रतिकार के लिये धूम, नस्य तथा अंजन के प्रयोग से दोषों का अवसेचन करना चाहिये।

प्रसादन तथा रोपण अंजनों के सम्यक् योग के चिह्न—नेत्र स्निग्ध, बल एवं वर्ण से युक्त, दोष से हीन और प्रसन्न हो जाता है, सभी उपद्रव शान्त होकर नेत्र क्रिया-क्षम हो जाते हैं।[2]

हीन या अति योग के चिह्न—कुछ विकार अवशिष्ट हो जाते हैं। प्रतीकार में रूक्ष ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

सामान्य अंजन व्यापद् चिकित्सा—अंजनदोष से सामान्यतया जो

१. विशदं लघ्वनास्रावि क्रियापटु सुनिर्मलम् ।
सशान्तोपद्रवं नेत्रं विरिक्तं सम्यगादिशेत् ।

२. स्नेहवर्णतलोपेतं प्रसन्नं दोषवर्जितम् ।
ज्ञेयं प्रसादने सम्यगुपयुक्तेऽक्षिनिर्वृतम् ।

उपद्रव नेत्रों में हो जाते हैं उनकी चिकित्सा दोषानुसार सेक, आश्च्योतन, धूम और कवल के द्वारा करनी चाहिये ।[१]

उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि अंजन के हीन-योग या अतियोग व्यापद् पैदा करते हैं । अस्तु, देश-काल-अवस्था का ध्यान रखते हुए सिद्धि चाहने वाले चिकित्सक को मात्रा से ही अंजन का प्रयोग करना चाहिये ।[२]

कुछ राजा के योग्य या श्रेष्ठ अंजनों के योग—रोगनाशक अंजनों के योगों के उल्लेख के बाद कुछ ऐसे अंजन के योगों का आचार्य ने वर्णन किया है—जो स्वस्थ तथा आतुर दोनों के लिए लाभप्रद हों । ओषधियों में जो सार्वदैहिक चिकित्सा में प्रयुक्त होती हैं, बहुत सी ऐसी हैं जिनका उपयोग अनागत बाधा प्रतिषेध (Profilaxis) में या स्वस्थ को ऊर्जस्कर बनाने में (रसायनादि) होता है और कुछ ऐसी होती हैं, जो केवल रोगी के रोग के दूरीकरण के लिये ही दी जाती (Curative) हैं । वैसे ही निम्न लिखित अंजन विशेषतः नेत्र-स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये ही हैं तथापि इनका रोग की अवस्था में भी व्यवहार किया जा सकता है । इसी लिये आचार्य ने लिखा है-"दृष्टि के बल के बढ़ाने के लिये, याप्य रोगों के नष्ट करने के लिये राजयोग्य कुछ श्रेष्ठ अंजन-योग आगे बतलाये जायँगे ।"[३]

श्रेष्ठ चूर्णांजन—नीलोत्पल के सदृश आभावाले अंजन (स्रोतोञ्जन या सौवीरांजन) का आठ भाग; ताम्र, सुवर्ण, चाँदी प्रत्येक का एक-एक भाग कुल मिलाकर ग्यारह भाग द्रव्य को लेकर मूषा में रखे और उसके मुख को आवृत कर मूषा को खैर, अश्मन्तक की लकड़ी के अंगारे या गाय के उपले की तेज आँच पर ध्मापित करे । पुनः ध्मापित

१. व्यापदश्च जयेदेतां सेकाश्च्योतनलेपनैः ।
यथास्वं धूमकवलैर्नस्यैश्चापि समुत्थिताः ।

२. कर्त्तव्यं मात्रया तस्मादञ्जनं सिद्धिमिच्छता ।

३. दृष्टेर्बलविवृद्धचर्थं याप्यरोगक्षयाय च ।
राजार्हाण्यञ्जनाग्र्याणि निबोधेमान्यतः परम् ।

करके उसे गोबर के रस, गोमूत्र, दधि, घृत, मधु, तैल, मद्य, वसा, मज्जा, सर्व गंधोदक, शीत द्राक्षारस, इक्षु-रस, त्रिफला स्वरस, सारिवादि कषाय, उत्पलादि कषाय में पृथक्-पृथक् बार बार ध्मापित करके बुझाते चले। पुनः इस बुझाये योग को कपड़े की पोटली में बाँध कर एक सप्ताह तक खुले आकाश में पानी में भिगो कर छोड़ दे। (कुछ लोगों के विचार से सिकहरे (शिक्य) पर पानी में पोटली को रखकर टाँगने का विधान है।) फिर उसको सुखाकर चूर्ण करे एवं उसमें मुक्ता, स्फटिक, विद्रुम और तगरमूल का स्वच्छ चूर्ण डालकर योग को पूरा कर दे। इन द्रव्यों की मात्रा, अंजन की चतुर्थांश रहेगी। यह एक श्रेष्ठ चूर्णांजन है जिसको पवित्र पात्र में संग्रह करके रखना चाहिये। रखने के लिये हस्तीदन्त, स्फटिक, वैदूर्य, शंख, शैल, असन (बीजक), सुवर्ण, चाँदी, मेषश्रृंग के बने बर्तनों का भी प्रबंध चाहिये।

राजा को चाहिये कि सहस्रपाकवत् (शंख, दुन्दुभि-घोष आदि के द्वारा) पूजा करके प्रयोग में ले आवे। इसका अंजन करने से राजा सर्व प्रजा का प्रिय हो जाता है और सर्व भूतों (देवासुर-गंधर्व-यक्ष-राक्षस पितृ-पिशाच आठों) के लिये अगम्य हो जाता है और कोई भी नेत्ररोग (दृष्टिदोष) नहीं होता।[1]

भद्रोदय अञ्जन—कूठ, चंदन, इलायची, मुलैठी, स्रोतोञ्जन, मेढाश्रृंगी के फूल, तगर, पद्मराग, मरकत, नीलम, वैदूर्य, मुक्ता, प्रवाल, सुवर्ण, उत्पल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, पद्मकेसर, नागपुष्प, खस, पिप्पली, उत्तम तुत्थ, मुर्गे के अण्डे के छिल्के, दार्वी, हरीतकी, हल्दी, मरिच, विभीतक मज्जा (मींगी), गृहगोपिका (गृहगोधिका संभवतः छिपकली य बिसकुतिया) समान मात्रा में लेकर चूर्ण बनाकर शुभ पात्र में रख लेना चाहिये। पुनः शंख, दुन्दुभिनिर्घोषादि के द्वारा पूजन कर के उस चूर्ण का अंजन रूप में प्रयोग करना चाहिये। यह भद्रोदय नामक अंजन राजाओं के योग्य है।

१. तेनाञ्जिताक्षो नृपतिर्भवेत्सर्वजनप्रियः।
अधृष्यः सर्वभूतानां दृष्टिरोगविवर्जितः।

वक्राञ्जन—तगर, मरिच, जटामांसी, शैलेय इन द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर सब के बराबर मनःशिला डाले। पत्र (तेजपात) का चार भाग और सबका द्विगुण अंजन (स्रोतोञ्जन), उतनी ही मुलेठी डालकर अञ्जन का निर्माण करे पुनः पूर्ववत् पूजन करके नेत्रों को स्वस्थ रखने के लिए व्यवहार में लावे।

मनःशिलादि गुटिका—मैनशिल, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला, मरिच, लाक्षा, हरताल, चमेली का फूल, मजीठ, सैंधव, इलायची, मधु, रोध्र, सावरक (सौवीरक अंजन), लौहभस्म, ताम्रभस्म, तगर, कुक्कुटाण्डत्वक्-सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर दूध में या जल में पीस कर गुटिका बनाकर रख ले। इसका प्रयोग नेत्रगत-कण्डु, तिमिर, शुक्ल, अर्म और रक्तराजि रोगों में लाभप्रद होता है। किसी साफ चिकने पत्थर पर गुटिका को घिसकर नेत्र में लगाना चाहिये।

कांस्यापमार्जनीवर्ति—कांस्य पात्र के रगड़ से उत्पन्न होने वाली कज्जली, मुलैठी, सेंधानमक, एरण्डमूल इनको समान भाग में लेकर उसमें बड़ी कटेरी का फल और मूल कज्जली की दुगुनी मात्रा में डाले। फिर बकरी के दूध में पीस कर ताम्र पात्र (ताम्बे के बर्तन) के ऊपर लेप करके छाया में सुखा ले। इस तरह बकरी के दूध की सात भावना देकर सात बार शुष्क करके वर्ति बनाकर रख लेना चाहिये। यह वर्ति सामान्य नेत्र-रोग हर है।

पथ्यादि वर्ति—हर्रे, तुत्थ, मुलैठी सभी का समान भाग, मरिच का सोलह भाग लेकर पानी से पीस कर वर्ति बना लेना चाहिये। यह नेत्र के प्रायः सभी विकारों में लाभप्रद है।

पिण्डिका विधि—नेत्र के बन्धन में प्रयुक्त होने वाली कवलिका (Pad) या ओषधियों के कल्क की पिट्ठी को पिण्डी कहते हैं। इसमें नेत्र के ऊपर रखकर व्रण का बन्धन (पट्टी बाँधना) करना होता है।[1]

विडालक—नेत्र के बाहर से ओषधियों के लेप करने को विडालक

१. पिण्डी कवलिका प्रोक्ता बध्यते वस्त्रपट्टकैः।
नेत्राभिष्यन्दयोग्या सा व्रणेष्वपि निगद्यते॥

कहते हैं। इसमें पक्ष्मों में लेप नहीं किया जाता। इसकी मात्रा मुखलेप के समान ही होती है। इसके लगाने से नेत्र बिल्ली के नेत्र जैसे दीखते हैं; अस्तु, विडालक कहा जाता है। चक्रपाणि ने चरक की टीका में विडालक को 'बहिर्लेप' (नेत्र के बाहर से पलकों पर लेप) बतलाया है। चरक ने इसका प्रयोग प्रारम्भ में ही अभिष्यन्द प्रभृति नेत्र-रोगों में बतलाया है। दोषानुसार विविध प्रकार के ये विडालक हो सकते हैं।[1]

अधुना प्रचलित विडालकों में निम्न प्रकार का एक विडालक बनता है—रसौंत १ भाग, मुसब्बर १ भाग, फिटकरी १ भाग, हरीतकी १ भाग, लोध्र १ भाग, अहिफेन १ भाग, सब एकत्र जल या बकरी के दूध में पीसकर या चन्दन बनाकर नेत्रों के बाहर के भाग पर लेप किया जाता है।

शार्ङ्गधरोक्त अञ्जनों के योग

करञ्जवर्ति—करञ्जबीज के चूर्ण को, पलाश-पुष्प के स्वरस से अनेक बार भावित करके, बनाई हुई वर्त्ति का अंजन नेत्रपुष्प को नष्ट करता है।

समुद्र फेनादिवर्ति—समुद्रफेन, सेंधानमक, शंख, मुर्गी के अण्डों का त्वक्, सहिजन के बीज, इन द्रव्यों से निर्मित वर्तियों का प्रयोग अव्रण शुक्र आदि का शस्त्रवत् लेखन करता है।

दन्तवर्ति—हाथी, सूअर, ऊँट, गाय, घोड़ा, बकरा और गदहे के दाँत तथा शंख, मुक्ता, समुद्रफेन इन द्रव्यों का चूर्ण करके बनाई हुई चिकनी वर्ति का अंजन शुक्रों का श्रेष्ठ नाशक है।

अतिनिद्रानाशिनीवर्त्ति—नीलोत्पल, सहिजन बीज, नाग-केशर इन द्रव्यों से कृत वर्ति का अंजन अतिनिद्रा को दूर करता है।

१. विडालको बहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्मविवर्जिते।
तस्य मात्रा प्रकर्त्तव्या मुखलेपविधानवत् ॥ (यो. र.)
उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे विडालकः !
कार्यो दाहोपदेहाश्रुशोफरागनिवारणः । (च.)

पुष्पवर्त्ति—तिल पुष्प ८०, पिप्पली बीज ६०, चमेली के फूल ५०, मरीच १६, इन द्रव्यों को इसी परिमाण में लेकर जल से पीसकर बनाई हुई वर्ति की कुसुमवर्ति या पुष्पवर्त्ति संज्ञा है।

इस अंजन का प्रयोग सामान्य रूप से तिमिर, अर्जुन, शुक्र, मांस वृद्धि आदि को नष्ट करता है। इसकी मात्रा डेढ़ मटर की शास्त्र में बतलाई गयी है।

नक्तांध्यनाशिनी वर्त्ति—रसांजन, हल्दी, दारुहल्दी, चमेली और नीम की पत्ती इन द्रव्यों को गोबर के रस में भावित करके बनाई वर्ति का अंजन नक्तांध्य को नष्ट करता है।

नेत्रस्रावहरी वर्त्ति—आँवले का बीज १, बहेरे का बीज २, हर्रे का बीज ३, इस अनुपात में चूर्णित द्रव्यों को जल में पीस कर बने अंजन का दो मटर की मात्रा में किया गया प्रयोग नेत्रगत तथा वातरुज पीड़ा को शान्त करता है।

तुत्थादिरसक्रिया—तुत्थ, स्वर्णमाक्षिक, सेंधा नमक, शंख, मैन्शिल, चीनी, गेरू, समुद्रफेन, मरिच इन द्रव्यों के चूर्ण मिश्रित करके मधु में मिलाकर रख लेना चाहिये। इस अञ्जन से वर्त्मगत रोग, तिमिर, काच, शुक्र प्रभृति रोग नष्ट होते हैं।

कर्पूराञ्जन—श्रेष्ठ कर्पूर के चूर्ण को वट के दूध में मिलाकर अञ्जन करने से दो मास की अवधि का पुष्प (Corneal opacity) नष्ट हो जाता है।[1]

अतिनिद्राघ्न अंजन—घोड़े के लालास्राव और मधु में भावित काली मरिच के चूर्ण का अंजन सन्निपात की अतिनिद्रा में पड़े रोगी को चैतन्य कर देता है।

तन्द्राघ्न अंजन—चमेली के फूल और पत्ते, काली मरिच, कुटकी, वच, सेंधानमक, इन द्रव्यों को वस्त (बकरे) के मूत्र में पीसकर अंजन करने से सन्निपात की तन्द्रा दूर होती है।

---

१. वटक्षीरेण संयुक्तो मुख्यः कर्पूरजः कणः।
क्षिप्रमंजनतो हन्ति कुसुमं तु द्विमासिकम् ॥ (शा. उ. १३)

प्रबोधकांजन—लहसुन, मैनशिल, वच, सिरीष के बीज, पिप्पली, काली मिर्च, सेंधा नमक इन द्रव्यों को पीसकर गोमूत्र में पिष्ट अंजन का प्रयोग सन्निपात ज्वर में निद्रित व्यक्ति का बोधक होता है।

दार्व्यादिरसाञ्जन—दारुहल्दी, पटोल, मुलैठी, नीम, पदुमकाठ, नील कमल, प्रपौण्डरीक, इन द्रव्यों को चतुर्गुण जल में पकावे, चतुर्थांश शेष रहने पर उसको छानकर पुनः दूसरे वर्त्तन में लेकर आग पर चढ़ा कर गाढ़ा करे, उसके ठंडे हो जाने पर उसमें मधु और चीनी का चतुर्थांश प्रक्षेप डाले। इस रस क्रिया का अंजन नेत्रगत दाह, अश्रु स्राव, लालिमा, रक्ताधिक्य और पीडा को दूर करता है।

रसाञ्जनादि रसक्रिया—रसौंत, सर्जरस (राल), चमेली के फूल, मैनशिल, समुद्रफेन, सेंधानमक, गैरिक, काली मिर्च इन द्रव्यों को सम भाग में लेकर मधु में मिलाकर पीसकर रख दे। इसके अंजन से प्रक्लिन्न वर्त्म नामक रोग में बड़ा लाभ होता है। वर्त्मगत क्लेद, कण्डू, नष्ट होता है तथा नष्ट हुए पक्ष्मों का पुनः प्ररोहण हो जाता है।

गुडूची रसक्रिया—गुडूचीस्वरस १ कर्ष, मधु १ माशा, सेंधानमक १ माशा, सभी द्रव्यों को एकत्र कर मिलावे। इसके द्वारा नेत्रों का अञ्जन करने से पिल्ल, अर्म, तिमिर, काच, कण्डु, लिङ्गनाश तथा अन्य शुक्ल और कृष्णगत रोग नष्ट हो जाते हैं।

पुनर्नवा रसाञ्जन—एक मात्र पुनर्नवा को दूध में पीस कर अंजन करने से नेत्रगत कण्डू, मधु के साथ अञ्जन से नेत्रस्राव, घृत के साथ अंजन से पुष्प, तैल के साथ अंजन से तिमिर तथा कांजी के साथ अंजन करने से नक्तांध्य दूर होता है।[1]

बबूलरस क्रिया—बबूल की पत्तियों का क्वाथ बनाकर पुनः उसको गाढ़ा करके उसमें मधु मिलाकर अंजन करने से निःसन्देह नेत्रस्राव दूर होता है।

---

१. दुग्धेन कराडूं क्षौद्रेण नेत्रस्रावं च सर्पिषा।
पुष्पं तैलेन तिमिरं कांजिकेन निशान्धताम् ॥
पुनर्नवा जयेदाशु भास्करस्तिमिरं यथा। (शा. उ. १३)

हिज्जल रसक्रिया—हिज्जल के फल को पानी में घिसकर अञ्जन करना चक्षुः स्राव में लाभप्रद है। इसका नित्य अंजन करना चाहिये। यह महौषध है।

सिरोत्पातांजन—सिरोत्पात रोग की शान्ति के लिये घृत और मधु का अञ्जन श्रेष्ठ है।

कृष्णसर्पवसा रसक्रिया—कृष्ण सर्प की वसा शंख, निर्मली, इन द्रव्यों से कृत रसक्रिया का अञ्जन अल्प काल में ही अन्धों को आँख देने वाला होता है।

चूर्णाञ्जन—काली मिर्च आधा भाग, पिप्पली और समुद्रफेन एक भाग, सेंधानमक आधा भाग, नया सौवीराञ्जन १ भाग, इस अनुपात में इन द्रव्यों को लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके रख लेना चाहिये। इसका प्रयोग नेत्रगत कण्डू, काच आदि को दूर कर नेत्र के दोषों को दूर करता है।

रसक चूर्णाञ्जन—रसक (खर्पर) को शिला पर पीसकर जल में उसको भली भाँति प्लावित कर फिर ऊपर के जल को निथार ले, नीचे के चूर्ण को वैसे ही छोड़ दे। फिर निथारे जल को सुखावे। सुखाने पर नीचे की पपड़ी (पर्पटी सन्निभ) बैठ जायगी। इस पपड़ी को तीन बार त्रिफला कषाय में भावना दे। फिर इस चूर्ण में दसवाँ भाग कपूर मिलाकर रख ले। इस प्रकार के बने चूर्ण का अंजन नेत्रों के सर्व रोग एवं दोषों को हरण करता और सुख पहुँचाता है।

सौवीर चूर्णाञ्जन—सौवीर को आग में तपा कर सात बार त्रिफला कषाय में और सात ही बार नारी स्तन्य (अभाव में गाय का दूध या घृत) में बुझाकर पश्चात् चूर्ण करके रख ले। इसका प्रतिदिन प्रयोग करने से सर्व नेत्रगत रोग नष्ट होते हैं।

नाग शलाका—नाग को तपाकर क्रमशः त्रिफला, भृङ्गराज और सोंठ के क्वाथ में तथा घृत, गोमूत्र, मधु एवं बकरी के दूध में कई बार बुझा रखे। इसकी शलाका बनाकर रख ले। इस शलाका का नेत्र में प्रयोग करने से सभी नेत्र में होने वाले रोग दूर हो जाते हैं।

नेत्र-प्रसादक आचार—

१. भोजनोपरान्त दोनों हाथ के तलवों को रगड़ कर नेत्रों पर रखने से नेत्र में उत्पन्न व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।[1]

२. मुँह में ठंडे जल की कुल्ली भर कर जो व्यक्ति अपने दोनों नेत्रों को शीतल जल से आसिंचित करता है (इस प्रकार की क्रिया प्रातः मध्याह्न एवं सायं तीनों काल में करता है) उसको आँख की बीमारी नहीं होती।[2]

७

नेत्ररोगों में व्यवहृत होनेवाले स्थानिक उपचारों के विवेचन

आधुनिक प्रविचार—ऊपर नेत्ररोगों में प्रयुक्त होने वाले प्राचीन उपक्रमों का उल्लेख हो चुका है। आधुनिक नेत्ररोगों के ग्रन्थों में प्रायः इसी प्रकार के नेत्र में प्रयुक्त होने वाले औषधोपचारों (Collirium) का वर्णन पाया जाता है। नेत्र में डालने की ओषधियाँ अलग अलग स्वरूप में व्यवहृत होती हैं—इनका मुख्यतः चार प्रकारों से उपयोग होता है।

१. *जलमिश्रित बिन्दु*—(आश्च्योतन जलीय) औषध द्रव्य को परिस्रुत सलिल में घोलकर उबाल कर कीटाणु विरहित करके रख

---

१. भुक्त्वा पाणितलं घृष्टा चक्षुषोर्दीयते यदि।
जाता रोगा विनश्यन्ति तिमिराणि तथैव च॥

२. शीताम्बुपूरितमुखः प्रतिवासरं यः
कालत्रयेण नयनद्वितयं जलेन।
आसिञ्चति ध्रुवमसौ न कदाचिदक्षि-
रोगव्यथाविधुरतां भजते मनुष्यः॥ (शा. उ. १३)

लिया जाता है। इस द्रव्य का आँखों में बूँद बूँद कर निक्षेप किया जाता है। इनमें मुख्य मुख्य आर्जिराल, एड्रेनेलीन, सिल्वरनाइट्रेट, प्रोटार्गल और मर्क्युरोक्रोम प्रभृति हैं। ये द्रव विभिन्न शक्ति (Strength) से बनाये जा सकते हैं। नवीन आविष्कारों में 'पेन्सिलीन' बिन्दु का प्रयोग बहुतायत से हो रहा है। 'पेन्सिलीन' के अलावे दूसरे (Broad antibiotic solution) विशेषतः नेत्र में छोड़ने के लिये व्यवहृत होने लगे हैं।

२. *तैलमिश्रित बिन्दु*—(आश्च्योतन तैलीय या स्निग्ध) इन बूँदों के निर्माण में जैतून का तेल या एरण्ड तैल का व्यवहार किया-जाता है। जिस तैल में घोल बनाना हो उसे खूब गर्म करके कीटाणु रहित कर लिया जाता है। फिर जिस औषध द्रव्य को मिलाना हो काँच की खरल में घोंटकर मिलाकर खूब हिलाकर रख दिया जाता है। आवश्यकतानुसार इनकी बूंदों का निक्षेप आँखों में किया जाता है। ऐसी ओषधियों में मुख्य एट्रोपीन, होमोट्रोपीन, इसरिन और पिलोकारपीन हैं।

३. *मलहर या मल्हम* (Ointment)—(प्रसादन या रोपणाञ्जन या रसक्रिया) नेत्रों में लगाने के मल्हम प्रायः वेसलीन, लेनोलीन और जैतून के तेल के मिश्रण से बनाये जाते हैं। शरीर के इतर भागों की अपेक्षा नेत्र के लिये मलहर अधिक नरम और प्रवाही होना चाहिये। इसी लिये ऐसे मल्हमों में जैतून का तेल अधिक प्रयुक्त होता है। ये मल्हम दो प्रकार के होते हैं, एक वे जिनका नेत्र के अन्तः भाग पर लगाने के लिये निर्माण होता है, जैसे—येलो आक्साइड आफ मर्करी, कैलोमल एट्रोपीन, पिलोकापाइन, इसेरिन और आयडोफार्म मिश्रित मल्हम तथा दूसरे वे जिनका बहिःप्रयोग, विडालक रूप में पलक और उसकी धारा पर लगाने के लिये हो जैसे एमोनियेटेडमर्करी, इक्थियाल, जिंक आक्साइड मिश्रित मल्हम आदि।

वर्त्तमान युग में नेत्र में बूँद डालने के लिये जो जो ओषधियाँ व्यवहृत होती हैं प्रायः उन सबका प्रयोग नेत्र के मल्हम बनाने में होता है। आजकल सबसे अधिक नवीन और लाभप्रद नेत्र के प्रयोग

में आनेवाले 'इरगाफेन' 'सिबेजाल' और 'पेनीसिलीन' टेरामायसिन प्रभृति मल्हम मिलते हैं।

अंजन चूर्ण—(Powders) (चूर्णाञ्जन) इस प्रकार की और व्यवहृत होने वाली ओषधियों में निम्न मुख्य हैं—एरीस्टोल, आयडोफार्म, कैलोमल जिंक आक्साइड, एण्टीपाइरीन, एसिडबोरिक (टंकण) क्विनीन, सैलिसिलेट जिरोफार्म, नोवीफार्म तथा शुल्वादिगण (Sulpha drugs) की औषधियाँ।

समन्वय—अब यदि उपरोक्त प्राचीन एवं अर्वाचीन वर्णनों की तुलना की जाय तो स्पष्टतया ऐसा ज्ञात होता है कि प्राच्य तथा पाश्चात्य नेत्र की स्थानिक चिकित्सा विधानों में कोई विशेष अंतर नहीं है। प्राच्यों के आश्च्योतन कर्म के भीतर ही (जलीय या तैलीय या स्निग्ध आश्च्योतन में) जलीय या तैलीय बिन्दुओं (Aquous or oily drops) का ग्रहण हो जायगा। मल्हमों का स्निग्ध (घृत या तैल में बने) अंजनों के भीतर जिसे प्रसादन या रोपण अंजन (क्रिया भेद से) बतलाया गया है समावेश हो जायगा तथा आधुनिक चूर्णों को जो चिकित्सा में व्यवहृत होते हैं चूर्णांजन नामक प्राचीन परिभाषा के भीतर समाविष्ट किया जा सकता है—फलतः पर्याय कथन इस प्रकार का हो सकता है—

(क) जलीय आश्च्योतन बिन्दु (Aquous drops)
(ख) स्निग्ध या तैलीय आश्च्योतन बिन्दु (Oily drops)
(ग) प्रसादन या रोपणांजन या रसक्रिया (Ointments) इनकी कल्पना में प्राचीन मतानुसार घृत या तैल का होना आवश्यक है।
(घ) चूर्णांजन (Powders)

आधुनिक ग्रंथों में बिन्दु या निक्षेप (Drops) तथा अंजनों की क्रिया की दृष्टि से वर्गीकरण प्राप्त होता है। जैसे—
(क) जीवाणु विरोधी (Antiseptic)
(ख) ग्राही (Astringents)

(ग) चेतनाहर (Anesthetics)
(घ) तारक प्रसारक (Mydriatics)
(ङ) तारक संकोचक (Miotics)
(च) शोषक (Absorbents) या लेखन।
(छ) वेदनाहर (Anodynes)
(ज) शोफघ्न (Antiplaugistics)
(झ) रक्तवाहिनी प्रसारक (Masodilartors)
(ञ) रक्तवाहिनी संकोचक (Vaso Constrictor)
(ट) नेत्रान्तर्गत भार-शामक (Lowering intraoccular pressure)

यद्यपि प्राचीन ग्रंथों में नेत्र में प्रयुक्त होने वाली ओषधियों का इस प्रकार का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता तथापि उनकी क्रिया, प्रयोग और गुणों को देखते हुए प्राचीन ग्रंथोक्त ओषधियों का भी उपरोक्त सूत्रानुसार वर्णन संभव है। ऊपर लिखे हुए ग्यारह कार्यों में छः को छोड़कर शेष पाँच अर्थात् जीवाणु-विरोधी, ग्राही, शोषक या लेखन, वेदनाहर तथा शोफघ्न ओषधियों का तो यत्र तत्र स्पष्टतया उल्लेख भी मिलता है। जिसका विशेष वर्णन चिकित्सा के प्रसङ्ग में किया जायगा।

३. *शस्त्रकर्म*—बहुत से नेत्ररोगों में औषधोपचार विफल होने पर शस्त्र क्रिया से लाभ होता है। विभिन्न शस्त्रकर्मों का वर्णन चिकित्सा के प्रसंग में मिलेगा।

४. *रक्तविस्रावण*—रक्तविस्रावण नेत्र रोगों में चिकित्सा का साधन एक महत्त्व का है। जलौका के द्वारा रक्त विस्रावण करने से रक्ताधिक्य कम होकर शोफ का शमन हो जाता है। इसकी क्रिया शोफघ्न (Anti Phlaugistic) होती है। इसीलिये जोंक के द्वारा जो परम सुकुमार रक्तविस्रावण की विधि मानी गयी है; उसे आचार्यों ने नेत्र रोगों में निर्देश किया है। आधुनिक युग के नेत्रवैद्य भी चिकित्सा में इसको एक महत्त्व का साधन मानते हैं।

८

संधिगत रोग

(Diseases of the lacrimol apparatus Junction of the Lids and Lashes and of Sclero-Corneal junction)

आचार्य सुश्रुत ने नेत्ररोगों का वर्णन अधिष्ठान-भेद से किया है—आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में भी रोगों का वर्णन अधिष्टान-भेद से ही किया गया मिलता है; अतएव बहुत कुछ समानता रोगों के वर्णनों में मिलती है। सन्धि में होने वाले नौ रोगों का वर्णन आता है।[1]

पूयालस—इसमें मुख्य लक्षण कनीनिक संधि में शोथ, पाक, वेदना और पूयास्राव आदि होते हैं। आधुनिक मतानुसार अश्रुकोष-शोथ (Acute or chronic Dacryocystitis) कहा जाता है। अथवा बहुत कुछ समता अश्रुकोष विद्रधि (Lacrymal Abscess) से भी हो सकती है।

तीव्रावस्था—इस रोग में नेत्र के भीतर वाले कोण (Inner Canthus) और उसके चारों ओर के भाग की त्वचा लाल हो जाती और उभड़ आती है। नैसर्गिक सिलवटें अदृश्य होकर त्वचा चिकनी हो जाती है और वहाँ पर एक गाँठ हो जाती है। रोगी को असह्य वेदना होती है। पश्चात् गाँठ में पूयोत्पत्ति होकर वह नरम पड़ जाती है। पश्चात् पूय का निर्हरण होकर शोथ बैठ जाता है। यह सुखमय परिणाम सर्वदा नहीं होता। अनेक बार फोड़े का घाव नहीं भरता और नाडीव्रण का रूप ले लेता है। इससे उस स्थान पर छिद्र हो जाता है जिससे वहाँ से पूय या जल सदृश स्राव आता रहता है। योग्य उपचार

---

१. पूयालसः सोपनाहः स्रावः पर्वणिकालजी। क्रिमिग्रंथिश्च विज्ञेया रोगाः सन्धिगता नव। पक्वः शोफः संधिजः संस्रवेद्यः सान्द्रं पूयं पूति पूयालसः सः।

नहीं किया जाय तो वह छिद्र वर्षों पर्यन्त चलता रहता है। कितनी बार नासास्थि कोथ हो जाता है। उपचार में प्रारम्भ में शोफघ्न चिकित्सा स्वेद प्रभृति करे खाने में शुल्वादि योग का प्रयोग करे। यदि शोफ का उपशम न हो और पूयोत्पत्ति ज्ञात हो तो शस्त्रकर्म करे।

जीर्णावस्था—इस अवस्था में नेत्र के भीतर के कोण और नाक के बीच में रहे हुए अश्रुाशय में पूय या उससे सम्बन्ध रखने वाला श्लेष्मा संगृहीत होता रहता है। फिर उस भाग के ऊपर दबाव डालने से नीचे के मार्ग से वह बाहर निकलता है। नेत्र से जलस्राव होता रहता है इसके अतिरिक्त नेत्र के भीतरी कोने से लसदार प्रवाही पदार्थ बार बार निकलता रहता है। उसे रोगी बार बार पोंछता रहता है। उस गाँठ पर दबाव डालने से नेत्र के भीतरी कोने से ३-४ बूँद पूय सदृश प्रवाही निकल आता है, इस रोग के निर्णयार्थ यह उत्तम उपाय है। कभी कभी यह स्राव बाहर न आकर नाक के भीतर चला जाता है यदि यह स्राव सतत नेत्र से निकलता रहे तो नेत्र श्लेष्मावरण का शोथ पैदा करता है। इस रोग का मुख्य कारण अश्रु वाहक नल का संकोच या अवरोध होता है। अश्रुवाशय का निम्न मार्ग बन्द होने से नेत्र में उत्पन्न श्लेष्मा, अश्रु तथा तत्स्थानगत स्राव उस आशय या थैली में इकट्ठा होता है। ऐसी अवस्था में यदि गोलक पर से न्युमोकोकस नामक तृणाणु पहुँचे तो शोथ पैदा कर देते हैं।

इसके उपचार में प्रारम्भ में तृणाणुघ्न द्रव्यों से प्रक्षालन, शोधन और रोपण की क्रिया की जाती है यदि विकृति ठीक नहीं होती तो शस्त्रक्रिया के द्वारा अश्रुवाशय को निकाल दिया जाता है।

चिकित्सा—सुश्रुत ने पूयालस की चिकित्सा में रक्तविस्रावण उपनाह स्वेद तथा अक्षिपाक की पूरी चिकित्सा का विधान बतलाया है।[1] सैंधवादि अंजन—सेंधानमक और कासीस बराबर मात्रा में लेकर आर्द्रक स्वरस से भावित कर वर्त्ति बनाकर रखे। इसका अञ्जन करने से भी

१. पूयालसे शोणितमोक्षणञ्च हितं तथैवात्युपनाहनञ्च ।
कृत्स्नो विधिश्चेक्षणपाकघाती यथाविधानं भिषजा प्रयोज्यम् ॥

लाभ होता है। इन्हीं द्रव्यों में ताम्र और लौह भस्म का भी उपयोग करके मधु के साथ मिलाकर रस क्रिया के रूप में बना कर भी अंजन के रूप में व्यवहार किया जा सकता है।[1]

उपनाह—(Lacrymal cyst) यह एक कफज एवं साध्य व्याधि है, इसमें कफ के कारण वर्त्म संधि या कनीनिका की सन्धि में सूजन होती है जिससे बाद में एक बड़ी गाँठ बन जाती है। इसमें पूयोत्पत्ति और वेदना नहीं होती केवल कण्डु होती है।[2]

चिकित्सा—उपनाह की अवस्था में पिप्पली, मधु और सेंधानमक से लेखन करना चाहिये अथवा मण्डलाग्र शस्त्र से सम्पूर्ण का छेदन (Excision) करके काटकर निकाल देना चाहिये।[3]

पर्याय—लक्षण और चिकित्सा का विचार करने पर उपनाह एक प्रकार का अर्बुद या ग्रंथि (Cyst or benine tumour) ज्ञात होता है। बहुत सम्भव है यह वर्णन (Lacrymal cyst) टार्सल से निकलने वाले 'सिस्ट' का हो। आजकल भी इसकी चिकित्सा में इसे समूल काट कर दाहक पदार्थों या विद्युद्दहन से दग्ध करने का विधान है। इस रोग की समता अश्रुजनक पिण्ड के अर्बुदों (Tumours of lacrymal glands) से भी की जा सकती है। अश्रुजनक पिण्डों के स्रोतसों का अवरोध होकर बच्चों में कई बार बड़ी बड़ी ग्रंथियाँ (सीस्ट) बन जाती हैं। यह एक शस्त्रसाध्य रोग है। अतएव सुश्रुतोक्त उपनाह को अश्रुजनक पिण्डग्रन्थि (Lacnymal cyst) कहना ठीक है।

चतुर्विधस्राव—अश्रुवह स्रोतसों से दोष संधियों में जाकर वेदना रहित अपने-अपने लक्षणों से युक्त कई प्रकार के स्रावों को उत्पन्न करते हैं। यह स्राव कानीन सन्धि (Inner canthus) से होकर

१. कासीससिन्धुप्रभवार्द्रकैस्तु हितं भवेदञ्जनमेव चात्र।
क्षौद्रान्वितैरेभिरथोपयुंज्यादन्यत्तु ताम्रायसचूर्णयुक्तैः॥

२. ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसंधावपाकः कण्डुप्रायो नीरुजस्तूपनाहः।

३. हितोपनाहे त्वलजे पिप्पलीमधुसैन्धवैः।
विलिखेन्मण्डलाग्रेण छेदयेद्वा समन्ततः॥

निकलता है। इसी अवस्था को कुछ लोग नेत्रनाडी (Sinus) भी कहते हैं। ये स्राव चार प्रकार के होते हैं। इस संधि में पाकोत्पत्ति हो जाने से कई प्रकार के पूयों का आस्राव होता है। श्वेत, सान्द्र, वेदना रहित जो स्राव होता है वह कफज है। रक्तदोष की प्रबलता से रक्तयुक्त पूय का आस्राव, यह स्राव, उष्ण, पतला और अधिक मात्रा में होता है। पीताव्रभास (पीलापन लिये), नील उष्ण और जल-सदृश आस्राव पित्त के कारण से होता है।[1] विदेह ने भी लिखा है—इस रोग में कनीनिका से कई प्रकार के दोषों के अनुरूप लक्षणों से युक्त वेदनारहित स्राव होता है।[2]

पर्याय—संक्षेपतः स्रावों के वर्णन से स्पष्टतया यह ज्ञात हो रहा है कि यह एक ऐसा विकार है जिसमें कनीनिका संधि (Inner canthus) से—१. पूयस्राव २. रक्तस्राव ३. गाढ़ा श्वेतस्राव या ४. पतला श्वेत या पीत स्राव होता रहता है। आधुनिक ग्रन्थों में नेत्र के इस

---

१. गत्वा संधीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः स्रावान् रुग्विहीनान् कनीनात्।
तान् वैस्रावान्नेत्रनाडीमथैके तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्धा॥
पाकः संधौ संस्रवेद्यश्च पूयं पूयास्रावं नैकरूपः प्रदिष्टः।
श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं संस्रवेद्यः श्लेष्मास्रावो नीरुजः सः प्रदिष्टः॥
रक्तास्रावः शोणितोत्थो सरक्तमुष्णं नाल्पं संस्रवेन्नातिसान्द्रम्।
पीताभासं नीलमुष्णं जलाभं पित्तास्रावः संस्रवेत्सन्धिमध्यात्॥

२. अश्रुस्रावः सिरा गत्वा नेत्रसंधिषु तिष्ठति।
ततः कनीनकं गत्वा चाश्रु कृत्वा कनीनके॥
ततः स्रवत्यथास्रावं यथादोषमवेदनम्।
स्रावेषु त्रिफलाक्वाथं यथादोषं प्रयोजयेत्।
क्षौद्रेणाज्येन पिप्पल्या मिश्रं विध्येच्छिरां भिषक्।
पथ्याक्षधात्रीफलमध्यवीजैस्त्रिद्व्येकभागैर्विदधीत वर्तिम्।
तथांजयेदस्रमतिप्रवृद्धमक्ष्णोर्हरेत् कष्टमपि प्रकोपम्।
कार्पासीफलजम्ब्वाम्रजलैर्घृष्टं रसांजनम्।
मधुयुक्तं चिरोत्थं च चक्षुःस्रावमपोहति॥ (यो. र.)

भाग पर होनेवाले विविध स्रावों का वर्णन अश्रुवाहक अवयवों के रोगों में संभव (Diseases of the lacrimal apparatus) माना गया है। इन अवयवों के रोग निम्नलिखित हैं :—

(अ) अश्रुद्वार का बाहर की ओर मुड़ना (Eversion of the Punctum)—इसमें नेत्र से अश्रुस्राव होता रहता है।

(आ) अश्रुद्वार संकोच या अवरोध (Stenosis or occlusion of the Punctum)—इसमें भी नेत्रों से जलस्राव होता रहता है।

(इ) अश्रुवाहक नलिका का अवरोध (Obstruction of the Canaliculus)—इस हेतु से भी नेत्र से सर्वदा जलस्राव होता रहता है।

(ई) नासानल का संकोच (Stricture of the Nasal duct)-इस हेतु से भी नेत्र से सर्वदा जलस्राव होता रहता है।

(उ) अश्रुवाशय शोथ (Dacryo Cystitis)—इसका वर्णन 'पूयालस' के प्रसङ्ग में हो चुका है। इसकी तीव्रावस्था (Acute Stage) की तुलना पूयालस से (पीडायुक्त होने के कारण) और जीर्णावस्था की समता स्रावों से (वेदना रहित सान्द्र, पिच्छिल, पीत, पूयादि का स्राव होने के कारण) किया जा सकता है।

आधुनिक चिकित्सा में पहले रोग के कारणभूत अवरोध या संकोच को दूर करने की क्रिया की जाती है। इसके लिये अश्रुवाशय एषणी (Poulard's lacrimal Probe) के द्वारा क्रमशः स्रोत का विवर्द्धन किया जाता है। यदि सफलता न प्राप्त हो सके तो अश्रुवाशय तक शस्त्र क्रिया के द्वारा कृत्रिम स्रोत बनाना होता है। पश्चात् शोथघ्न शोधन, रोपण आदि की प्रक्रिया की जाती है। यदि रोग का उपशम उपर्युक्त विधानों से न हो पाये और जीर्ण अश्रुवाशय शोथ की अवस्था प्राप्त हो जाय तो वर्तमान नेत्र वैद्य शस्त्रकर्म के द्वारा थैली को निकाल देने की ही सलाह देते हैं।

चिकित्सा—प्राचीन चिकित्सा में अधिकतर औषधसाध्य विधानों का उपदेश है जिनमें कई एक ग्राही, शोधक तथा रसायन योगों तथा

शिरावेध का उल्लेख मिलता है। जैसे दोषानुसार त्रिफला क्वाथ से प्रक्षालन (कफज स्राव में मधुयुक्त, पैत्तिक और रक्तज विकारों में घी मिलाकर और वातज स्राव में पिप्पली मिलाकर) करना चाहिये और शिरावेध करना चाहिये।

हरीतकी, विभीतक (मज्जा) और धात्री का क्रमशः तीन, दो और एक के अनुपात से अञ्जन वर्ति बनाकर अञ्जन करने से तथा कपास का फल, जामुन, आम इनको पानी में घिसकर मधु मिलाकर अञ्जन करने से चिरकालीन चक्षुस्राव ठीक हो जाता है।

सुश्रुत के अनुसार यह चतुर्विधस्राव सान्निपातिक होते हैं। फलतः असाध्य हैं। अतएव आचार्य ने स्रावों की कोई विशेष चिकित्सा नहीं बतलाई और न किसी शस्त्रकर्म विशेष का ही उल्लेख किया है।

पर्वणी और अलजी—कृष्ण और शुक्ल मण्डल की संधि में उत्पन्न होने वाले ये दोनों रोग हैं। संधि स्थल पर एक लाल रंग का पतला वृत्ताकार शोफ होता है जिसे पर्वणी कहते हैं—यदि यही वृत्ताकार शोथ पतला न होकर मोटा (स्थूल) हुआ तो उसे अलजी कहा जाता है। इनमें पर्वणी रक्त दोष से उत्पन्न होती और साध्य होती है; परन्तु अलजी सान्निपातिक और असाध्य होती है। दोनों के लक्षण तथा चिह्न प्रायः समान होते हैं। इनमें तीव्र दाह, लालिमा, शूल प्रभृति लक्षण मिलते हैं।[1]

उपरोक्त लक्षण इतने स्थूल हैं कि इनका आधुनिक पर्याय कथन कठिन है। फिर भी स्थान (Sclero Corneal junction), लक्षणों की तीव्रता (Acute pain and redness) तथा आकृति वृत्ताकार शोफ (Ringform or Disciform or Rodent) और साध्या-साध्यता की दृष्टि से पर्वणी साध्य और अलजी असाध्य विचार करने पर इसे कृष्णमण्डल की परिधि पर उत्पन्न व्रण या शोफ (Marginal ulcers of Cornea or Keretitis Marginalis) कहा जा

१. ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना रक्ताज् ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोफा।
जाता संधौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्यात्तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः॥

सकता है। आधुनिक ग्रंथों में कृष्णमण्डल शोथ (Keretitis) के अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है। उनमें परिधि के भाग में पाने वाले उत्तान परिधि का क्षत (Keritіtis Marginalis superficialis) तथा गंभीर परिधि का क्षत (Keritіtis Marginalis Profunda) तथा चक्राकार क्षत (Diciform Keritіtis) विशेषतया सुश्रुतोक्त इन रोगों से साम्य रखते हैं। ये सभी कृच्छ्रसाध्य रोग हैं; फिर अधिक बढ़ी अवस्था में उपद्रव युक्त (जलमय द्रव के पूय खण्ड में) पूयोत्पादन (Hypopyon) होकर चिकित्सा में असाध्य हो जाते हैं। फलतः पर्वणी की अवस्था तक साध्य पश्चात् अलजी की अवस्था प्राप्त कर असाध्य हो जाते हैं।

चिकित्सा—पर्वणी की चिकित्सा में सुश्रुत ने छेदन कर्म का निर्देश किया है।[1] पर्वणी के प्रथम त्रिभाग में वडिश लगाकर काट देना चाहिये। तदनन्तर मूल और अग्र को मापकर उसके बीच में काट देना चाहिये। जो अवशेष भाग रह गया हो उसे प्रतिसारण और लेखन क्रिया के द्वारा नष्ट करे।

मूल सूत्रों का अविकल हिन्दी भाषान्तर इस प्रकार होगा 'चतुर वैद्य को चाहिये कि संधि स्थित (कृष्ण शुक्लगत) पर्वणी का पहले स्वेदन करे। पश्चात् वडिश के द्वारा आगे वाले तृतीयांश को पकड़कर खींच रखे। पुनः अग्रभाग के आधे भाग को चाकू से काट दे। अधिक कटने पर अश्रु नाडी होने का भय रहता है। रोग का जो भाग अवशिष्ट रह गया हो उसे सेंधा नमक और मधु के प्रतिसारण के द्वारा क्रमशः लेखन करके दूर करे।'

१. संधौ संस्वेद्य शस्त्रेण पर्वणीकां विचक्षणः।
उत्तरे च त्रिभागे च वडिशेनावलंबिताम्॥
छिन्द्यात्ततोर्धमग्रे च स्यादश्रुनाड्यतोन्यथा।
प्रतिसारणमत्रापि सैन्धवक्षौद्रमिष्यते॥
लेखनीयानि चूर्णानि व्याधिशेषस्य भेषजम्। (सु.)

कृमिग्रन्थि या जन्तुग्रन्थि—यह रोग वर्त्म और शुक्ल मण्डल की संधि में होता है। वहाँ पर नाना प्रकार की कृमियाँ वर्त्म और पक्ष्म की संधि में उत्पन्न होकर खुजली तथा छोटी-छोटी गाँठे पैदा करती हैं। भीतर में चलते हुये नेत्र को भी दूषित करती है। कफ से उत्पन्न होनेवाला यह एक साध्य रोग है।[1]

चिकित्सा—कृमि ग्रन्थि नामक रोग में सम्यक् प्रकार से स्वेदन करने के पश्चात् ग्रंथियों का भेदन करे पश्चात् अनामिका रोग में कथित अञ्जन और मधु के साथ प्रतिसारण करे अथवा त्रिफला, तुत्थ, कासीस, सेंधानमक से रसक्रिया बनाकर अंजन करना चाहिये।[2]

पर्याय—जिस तरह शरीर के अन्य भागों में बालों में यूकालिक्षा (Pediculi Ciliaris) पाई जाती है उसी तरह पलक के बालों में भी विशेषतः जहाँ पर पलक और बालों की सन्धि होती है वहाँ ये जन्तु पाये जाते हैं। रोगी को खुजली होती है और वह उसे बलपूर्वक रगड़ता रहता है जिससे धारा छिल जाती है। परीक्षा करने पर एक या अधिक सफेद जूं दिखलाई पड़ती है और बालों के मल में बहुसंख्यक भरे अण्डे भासते हैं। इनको सावधानी से पतले संदंश से पकड़कर निकालना चाहिये तथा प्रतिसारण के लिए केलोमल, एमोन्येएटेडमर्करी का मल्हम बनाकर बालों के मूल में लगाते रहना चाहिये उससे यह दो चार रोज में उपशम हो जाता है।

---

१. क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूं कुर्युः क्रिमयः संधिजाताः।
नानारूपा वर्त्मशुक्लस्य संधौ चरन्तोऽन्तर्नयनं दूषयन्ति ॥

२. सम्यक् स्विन्ने क्रिमिग्रन्थौ भिन्ने स्यात्प्रतिसारणम्।
त्रिफलातुत्थकासीससैन्धवैश्च रसक्रिया ॥

९

वर्त्मगत रोग

(Diseases of the Eye lids)

सम्प्राप्ति—पृथक्-पृथक् या सभी एक साथ मिलकर दोष जब वर्त्म तथा वर्त्मस्थित सिराओं को व्याप्त कर देता है तो विभिन्न प्रकार के वर्त्मगत नेत्र रोग होते हैं। रोगोत्पत्ति में दूष्य रूप से यहाँ पर पाये जाने वाले त्वचा, मांस रक्त प्रभृति आते हैं अर्थात् इन्हीं में रोग का अवस्थान होता है इन्हीं में से मांस एवं मेद को बढ़ाकर उभार पैदा कर रोग होते हैं। इस प्रकार कुल इक्कीस रोग होते हैं। जिन्हें एक-एक कर देखते चलेंगे।[1]

उत्संगिनी—अधोवर्त्म के उत्संग (क्रोड या गोद) में उत्पन्न हुई, सन्निपातज एक पिडिका है, जो देखने में बाह्य (बाहर की ओर) दिखलाई पड़ती है, परन्तु उसका मुख भीतर की ओर रहता है ऐसी पिडिका को चाहे एक हो या कई हों उत्संगिनी नाम दिया गया है।[2] विदेह ने भी कहा है कि अधो वर्त्म (नीचे वाले पलक) के क्रोड में सन्निपात से होने वाली आभ्यंतर मुखी पिडिका जो बाहर से काफी स्थूल दिखलाई पड़ती है उत्सङ्ग पिडका कहलाती है। यह स्पर्श में कठिन तथा मन्द वेदना वाली होती है। यह एक या अनेक भी हो सकती है। इसके फट जाने से मुर्गे के अण्डे के रस के समान द्रव स्रवित होता है।[3]

---

१. पृथक् दोषाः समस्ता वा यदा वर्त्मव्यपाश्रयाः।
सिरा व्याप्यावतिष्ठन्ते वर्त्मस्वधिकमूर्छिताः।
विवद्र्ध्ये मांसं रक्तं च तथा वर्त्मव्यपाश्रयान्।
विकाराञ्जनयन्त्याशु नामतस्तन्निबोधत॥

२. अभ्यन्तरमुखी बाह्यचोत्संगेऽधो वर्त्मनश्च या।
विज्ञेयोत्सङ्गिनी नाम तद्रूपपिडिकाचिता॥ (सु.)

३. वर्त्मोत्संगेऽप्यधो जन्तोः सन्निपातात्प्रजायते।
अभ्यन्तरमुखी स्थूला बाह्यतश्चापि दृश्यते।

कुम्भीक पिडिका—कुम्भीक (दाडिम बीज) के आकार वाली वर्त्म (पलक) की पिडका होती है जो त्रिदोषज है। भिन्न होने पर पुनः फूल जाती है ऐसी पिडिका को कुम्भीक पिण्डिका की संज्ञा सुश्रुत ने दी है।[1] त्रिदोषज होते हुए भी यह साध्य है।

अञ्जन नामिका—वर्त्म में होने वाली एक पिडिका है जो ताम्र के वर्ण सदृश लाल दाह और तोद (सुई चुभाने की पीड़ा सदृश) पीड़ा वाली होती है। यह पिडिका स्पर्श में मृदु, आकर में छोटी और मन्द पीड़ा युक्त होती है। इसे अञ्जन नामिका कहते हैं।[2]

लगण—वर्त्म में होने वाली एक गाँठ, जो कठिन, स्थूल, अपाकी हो, जिसमें खुजली, पिच्छिलता पाई जावे और परिमाण कोल (छोटी बेर) के बराबर हो उसे लगण कहते हैं।[3]

सुश्रुत ने उपर्युक्त चार प्रकार के ग्रन्थिवद् रचना वाले (वर्त्म के बाहरी भाग में पाये जाने वाले) विकारों का उल्लेख संहिता में किया है। आधुनिक नेत्र रोगों के ग्रंथों में नेत्रवर्त्म के बाहरी भाग में पाये जाने वाले विकारों का वर्णन आता है। उत्सङ्गिनी, कुम्भीक पिडिका तथा अञ्जननामिका इन तीनों विकारों को वर्त्म की ग्रन्थियों (Diseases of the lid glands) के रोग कह सकते हैं और लगण को अक्षिपुटके अर्बुदों में (Tumours of the Eyelids) ले सकते हैं। अर्बुदों

पिडका पिडकाभिश्च चितान्याभिः समन्ततः ।
उत्संगपिडका नाम कठिना मन्दवेदना ॥
सा प्रभिन्ना स्रवेत्स्रावं कुक्कुटाण्डरसोपमम् । (वि.)

१. कुम्भीकबीजप्रतिमाः पिडका यास्तु वर्त्मजाः ।
आध्मापयन्ति भिन्नायाः कुम्भीकपिडकास्तु ताः ॥
कुम्भीका=दाडिमाकारफला स्थलकुम्भी ।

२. दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा ।
मृद्वी मन्दरुजा ज्ञेया या साञ्जननामिका ॥

३. अपाकः कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवो रुजः ।
सकण्डुः पिच्छिलः कोलप्रमाणो लगणस्तु सः ॥

में भी सौम्य अर्बुदों में ही इनका ग्रहण करना होगा क्योंकि यह श्लेष्मज और साध्य विकार हैं, अत एव इसे जतुक या अर्श (Molluscum simplex or warts) के वर्ग में ले सकते हैं । कुछ विचारकों ने इसे 'मेंइबोयिनसीस्ट' का ही एक भेद माना है । वस्तुतः लगण एक प्रकार की ग्रन्थि है, जो अपाकी, कठिन और स्थूल होती है । इतना तो निश्चित ही है कि यह कोई वर्त्मगत पिडिका (Stye Hordeolum) नहीं है–यह एक ग्रन्थि है । सुश्रुत ने इसको कफज व्याधि माना है । अतः प्रारम्भ से ही इसमें भेदन (Iclsion) का उपदेश किया है । यदि पिड़िका बड़ी हो तो क्षार कर्म और अग्निकर्म का भी उपदेश चिकित्सा में किया है । यदि लगण शान्त न हो तो अग्नि से दाह करके ठीक करे ।

महत्यपि च युञ्जीत क्षाराग्नि विधिकोविदः । सु. उ. १४
कर्त्तव्यं लगणेप्येतदशान्तावग्निना दहेत् ॥ वा. उ. ६

निदान एवं चिकित्सा के इस स्थूल वर्णन से यह रोग Meibomian cyst भी कहा जा सकता है अथवा किसी सौम्य अर्बुद का प्रकार । दोनों अवस्थाओं में चिकित्सा सूत्र समान ही रहेंगे । पलक की लसीका ग्रन्थियों के मुख्यतया दो या तीन विकार पाये जाते हैं ।

1. Stye-Hardeolum
2. Meibomian cyst or chalizion
3. Infraction of meibomian gland

इनमें 'स्टाई' को अञ्जन नामिका तथा कुम्भीक पिडिका, 'चैलिजियन' को उत्सङ्ग पिडिका तथा 'मेइबोमियन' के रसशोष को वर्त्म शर्करा कह सकते हैं ।

Stye Hardeolum—इसके दो प्रकार बाह्य तथा आभ्यन्तर होते हैं । बाह्य की उत्पत्ति जाइस पिण्डों (zeiss gland) के शोथ से होती है । आभ्यन्तर की उत्पत्ति पलक के कोमलास्थि में अवस्थित मेइबोमियन पिण्ड के प्रदाह से होती है । इसका अवस्थान बिल्कुल धारा पर न होकर कुछ ऊपर के भाग में होता है । लक्षण और चिह्न दोनों में समान मिलते हैं । वेदना बाह्य में कम और आभ्यन्तर में अतिशय

होती है । रोगी को दोनों अवस्थाओं में ही प्रारम्भ से कुछ-न-कुछ वेदना होती रहती है, रोग की वृद्धि अनुसार वेदना की भी वृद्धि होती है, पक्वावस्था में पुनः वेदना का उपशम हो जाता है । परीक्षा करने पर पलक की धारा में कुछ उभार दीखता है, फिर सूजा हुआ भाग ताम्रवर्ण हो जाता है । अङ्गुली से स्पर्श करने पर एक छोटी सी गाँठ (पिडिका) ज्ञात पड़ती है जिसमें जलन और वेदना प्रभृति लक्षण आमावस्था में मिलते हैं, पश्चात् वह पककर फूट जाती है और एक दो बूंद पूय निकल कर शोफ का उपशम हो जाता है । बहुत से रोगियों में यह पिडिका एकाधिक भी होती है । इस पिडिका की ठीक समता प्राचीन वर्त्म रोग 'अञ्जननामिका' से है । अतएव अञ्जननामिका नामक पिडिका को अंग्रेजी का 'स्टाई' समझना चाहिये । कुछ विचारकों ने कुम्भीक पिडिका का साम्य 'स्टाई हार्डियोलम' के साथ बतलाया है; परन्तु यह पूर्णांश में ठीक नहीं है । वास्तव में भीतरी अञ्जननामिका को 'कुम्भीक पिडिका' (External stye) जो पकने पर भीतर फूटती है और बाह्य अञ्जननामिका को अञ्जननामिका (External stye) कहा जा सकता है । अर्थात् अञ्जननामिका से External stye Hordeolum तथा कुम्भीक पिडिका से Internal stye Hardeolum का ग्रहण करना चाहिये ।[१]

Meibomiancyst-chalazion—मेइबोमियन के एक या अधिक लसीका पिण्डों में चिरकालीन शोथ होकर रस के बाहर जाने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । फिर इन पिण्डों में लसीका संगृहीत होकर गाँठदार होकर पिडिका या ग्रन्थि का रूप ले लेता है ।

चिह्न—इसमें रोगी में कोई लक्षण नहीं मिलते । रोगी की वर्त्मधारा के ऊपरी भाग में एक छोटी सी गाँठ उँगली से प्रतीत करने पर मालूम होती है उसे दबाने पर बिल्कुल वेदना नहीं होती । पलक को उलट कर देखने में भीतर के हिस्से में किंचित् पीला दाग प्रतीत होता है ।

१. वर्त्मान्तः पिडका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च ।
कुम्भीकबीजसदृशाः कुम्भीकाः सन्निपातजाः ॥

समय बीतने के साथ-साथ गाँठ भी बढ़ती जाती है। इस स्थिति में गाँठ पलक के बाहर की ओर स्पष्ट भासती है। उस गाँठ के ऊपर की त्वचा को अच्छी तरह हिला-चला सकते हैं। इस पिडिका का मुख वर्त्म के भीतरी भाग में होता है। कभी-कभी यह स्वयमेव फूट जाती है और उससे लाल मांस बाहर निकल आता है। यह पिडिका अञ्जन-नामिका से भिन्न है। इन लक्षणों के आधार पर इस पिडिका की तुलना आयुर्वेदोक्त उत्संग पिडिका या उत्संगिनी या अक्षिपुट ग्रन्थि से की जा सकती है। अञ्जननामिका (Stye Hardeolum) तथा उत्संगिनी (Chalrzion or Meibomian Cyst) का अन्तर निम्न-लिखित है।

अंजननामिका (Stye)	*उत्संगिनी* (Chrlazion)
१. यह बालों के मूल में होती है।	१. यह पलक की धारा से ऊपर को होती है।
२. यह एक सप्ताह में पक कर फूट या बह जाती है अथवा बैठ जाती है।	२. यह महीनों तक ऐसे ही बनी रहती है।
३. इसमें प्रारंभ से ही वेदना रहती है।	२. इसमें वेदना नहीं होती या पकने पर वेदना हो भी सकती है।
४. इस रोग में छोटे फोड़े के दाह, तोद (वेदना) ताम्र वर्णत्व (लाली) शोथ आदि सभी लक्षण होते हैं।	४. इसमें एक भी लक्षण नहीं होता। यह अधोवर्त्म में अधिक होती है। (सु.)

Infraction of Meibomian gland (मेइबोमियन पिण्डों में शुष्क रस का संग्रह) यह विशेषतः नेत्र के पलक के भीतर के भाग में होता है। इस विकार में मेइबोमियन पिण्डों का रस सूख जाता है। कई एक रोगियों में चूने जैसा पदार्थ संगृहीत हो जाता है फिर दाग बड़े और कठिन हो जाते हैं।

कई एक रोगियों में इस विकार के अस्तित्व का बोध भी नहीं होता है। बहुतों में नेत्र में गड़ना, पलकों के लगने पर चुभना ये लक्षण होते

हैं। पलक उलटने पर उसके भीतर छोटे छोटे श्वेत दाग दिखलाई पड़ते हैं। दागों पर उंगली फेरने पर समतल भासते हैं, यदि उन दागों में चूना संगृहीत हुआ तो दाग खुरदरे लगते हैं। उपचार में यदि दाग बाधा पहुँचाते हों तो संगृहीत खटिक को लेखन क्रिया के द्वारा निकाल देना चाहिये। सम्भवतः इसी का वर्णन सुश्रुत ने वर्त्म शर्करा[1] नामक रोग से किया है। जिसमें पलक छोटी-छोटी पिडिकाओं से भर जाती है तथा जो स्पर्श में खर, रूक्ष और स्थूल होती है।

बहलत्वर्म—जिस व्यक्ति में वर्त्म (पलक) चारों ओर से ऐसी पिडिकाओं से आच्छादित हो जाय जो परिमाण में समान और वर्ण में सवर्ण (त्वचा के सदृश ही) हों; तो उस अवस्था को वहलवर्त्म कहते हैं क्योंकि इसमें वर्त्म मोटे पड़ जाते हैं। इस अवस्था को बहु पिडिका युक्त वर्त्म (Multiple chalazion or Mebomion cyst or Stye) की अवस्था कह सकते हैं।[2]

वर्त्म बन्ध—इस रोग में कण्डु, अल्प वेदना और शोफ के कारण वह समान भाव से आँख को आच्छादित नहीं कर सकता। इस अवस्था को वर्त्म बन्ध कहते हैं।[3]

क्लिष्टवर्त्म—इस रोग में वर्त्म (पलक) अकस्मात् अल्प वेदना युक्त, नरम, ताम्र वर्ण-सदृश और लाल हो जाता है। अकस्मात् कहने का तात्पर्य बिना किसी विशेष कारण के दोनों वर्त्म (समान भाव से) लाल हो जाते हैं इस रोग को क्लिष्टवर्त्म की संज्ञा दी गई है।[4] विदेह

१. पिडकाभिः सुसूक्ष्माभिर्घनाभिरभिसंवृता ।
पिडका या खरा स्थूला सा ज्ञेया वर्त्मशर्करा ॥

२. वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः ।
सवर्णाभिः समाभिश्च विद्याद्बहलवर्त्म तत् ॥

३. कण्डूमताल्पतोदेन वर्त्मशोफेन यो नरः ।
न समं छादयेदक्षि भवेद्बन्धः स वर्त्मनः ॥

४. मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद् वर्त्मसममेव च ।
अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्म तदादिशेत् ॥ (सु.)

ने लिखा है कि "श्लेष्म से दूषित रक्त के द्वारा क्लिष्ट मांस के सदृश नेत्र के दोनों पलक हो जाते हैं अथवा बन्धु जीव (दुपहरिया के फूल) के सदृश हो जाते हैं इस अवस्था को क्लिष्ट वर्त्म कहते हैं ।"[1] इसी स्थिति को अंग्रेजी में (Angio Neurotic oedema) एञ्जियोन्यूरैटिक इडिमा कहते हैं ।

वर्त्मकर्दम—क्लिष्टवर्त्म की अवस्था में ही पित्त से युक्त हो रक्त यदि विदाह पैदा करता है तो वर्त्म आर्द्र होकर क्लिन्न हो जाता है । इसी के कारण उसे कीचड़ युक्त वर्त्म या कर्दम वर्त्म की संज्ञा दी जाती है । यह सन्निपातज किन्तु साध्य व्याधि है ।[2] इस अवस्था में वर्त्म मोटे और क्लेद युक्त हो जाते हैं । इस अवस्था को अंग्रेजी में Non ulcerative Blepharitis कहा जा सकता है ।

श्याववर्त्म—(Ulcerative Blepharitis)—इसमें वर्त्म भीतर और बाहर से काले पड़ जाते हैं । वर्त्म शोफ युक्त, वेदनावान्, दाह, कण्डु, क्लेद (कीचड़) युक्त हो जाते हैं । इस अवस्था को श्याववर्त्म कहते हैं । इसमें क्लिन्नता से पक्ष्म आपस में चिपक जाते हैं ।[3]

क्लिन्नवर्त्म—इसमें वर्त्म बाहर से शोफ युक्त और पीड़ाहीन रहता है, परन्तु भीतर से क्लेद और स्राव से युक्त रहता है । रोगी को खुजली और तोद का अनुभव होता है ।[4]

अक्लिन्नवर्त्म—इसमें वर्त्म बार बार धोने पर भी चिपक जाया करते हैं और वर्त्मों का पाक नहीं होता । यह एक प्रकार की सन्निपातज

---

१. श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन क्लिष्टमांसमिवोभयम् ।
बन्धुजीवनिभं वर्त्म क्लिष्टवर्त्म तदुच्यते ॥ (वि.)

२ क्लिष्टं पुनः पित्तयुक्तं विदहेच्छोणितं यदा ।
तदा क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमः ॥

३. यद्वर्त्म बाह्यतोन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम् ।
दाहकण्डूपरिक्लेदि श्याववर्त्मेति तन्मतम् ॥

४. अरुजं बाह्यतः शूनमन्तः क्लिन्नं स्रवत्यपि ।
कण्डूनिस्तोदभूयिष्ठं क्लिन्नवर्त्म तदुच्यते ॥

साध्य व्याधि है।[१] इसी का वर्णन विदेह ने पिल्ल नामक रोग से किया है ऐसा डल्हणाचार्य का मत है—पिल्ल सम्भवतः उपदेह या कीचड़ को कहते हैं "बार बार धोने और पुनः पुनः पोंछते रहने पर भी यदि आनाह (नेत्रों के चिपक जाने से) हो तो वह अपरिक्लिन्नवर्त्म अथवा पिल्ल रोग कहा जाता है।"[२]

आधुनिक प्रविचार—वर्त्मबंध से आरम्भ कर अक्लिन्नवर्त्म पर्यन्त छः वर्त्म रोगों का वर्णन अक्षिपुट का शोथ (Oedema of lids) ज्ञात होता है। वर्त्म पर होने वाले दो प्रकार के शोथों का उल्लेख वर्त्तमान ग्रंथों में मिलता है—१. शोफ या निष्क्रिय शोफ (Noninflammatory edema) तथा २. व्रणशोथ या सक्रियशोथ (Inflammatory edema)।

प्रथम प्रकार का शोथ सार्वदैहिक कारणों से यथा वृक्क विकार, हृदय विकार, यकृत् विकार और फुफ्फुस विकारादि से होता है। इस प्रकार का शोथ दोनों नेत्र पुटों पर आता है। एक और भी कारण जिसे अनूर्जता (Allergy) मानते हैं नेत्रों पर सूजन पैदा करता है। इस प्रकार की सूजन, अंग्रेजी में 'एजियो न्यूरोटिक इडिमा' कहलाती है। इसी का वर्णन संभवतः सुश्रुत ने 'क्लिष्ट वर्त्म' नामक रोग से किया है। इसमें अकस्मात् बिना कारण के नेत्रवर्त्मों में शोफ और लालिमा आ जाती है। इसके अतिरिक्त 'वर्त्मबन्ध' नामक रोग का भी समावेश इस निष्क्रिय शोफ (Noninflammatory edema of the Eye lids) के भीतर समाविष्ट किया जा सकता है।

इन दोनों के अतिरिक्त शेष चार अर्थात् वर्त्मकर्दम, श्याववर्त्म क्लिन्नवर्त्म तथा अक्लिन्नवर्त्म (पिल्ल) रोगों का समावेश सक्रिय शोफ (Inflammatory edema of the Eyelids) में किया जायगा।

---

१. यस्य धौतानि धौतानि संबध्यन्ते पुनः पुनः ।
वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत् ॥ (सु०)

२. प्रक्षालिते यदा मृष्टे आनह्येते पुनः पुनः ।
अपरिक्लिन्नवर्त्मानं पिल्लाख्यमिति निर्दिशेत् ॥ (विदेह)

इस दूसरे प्रकार में शोफ स्थानिक और प्रायः एक नेत्र पुट (वर्त्म) में होता है । क्वचित् दोनों नेत्रों पर भी आता है । वर्त्म शोफ को अंग्रेजी में ब्लेफेराइटिस (Blepharitis) कहते हैं । ऐसी अवस्था अनेक कारणों से हो सकती है—अभिघातज, विसर्पज, विद्रधि जन्य, अंजननामिका प्रभृति पिडिकाजन्य, विभिन्न प्रकार के अभिष्यंद, वर्त्म पर मधु, मक्षिका प्रभृति कीट दंशज तथा अन्यान्य नेत्र रोगों और नासा कोटरों के शोथों में होना संभव है । आधुनिक ग्रंथों में इसके दो प्रकार मिलते हैं—सव्रण वर्त्मशोथ (Ulcerous Blepharitis) तथा अव्रण (शुष्क) वर्त्मशोथ (Sqamous Blepharitis) । प्राचीनों के वर्णित वर्त्म-कर्दम और क्लिन्न वर्त्म की गणना (Nonulcerous Blepharitis) अव्रण वर्त्मशोथ में तथा श्याववर्त्म का सव्रण वर्त्मशोथ (Ulcerative Blepharitis) में करनी चाहिये । वर्त्मशोथ के उपचार में स्वेदन तथा ग्राही ओषधियों का प्रयोग करते हैं । यहाँ पर अक्लिन्नवर्त्म नामक रोग का एक विशेष वर्णन आता है—इस स्थिति में ऊर्ध्वपलक की धारा नीचे की पलक धारा के साथ चिपक सी जाती है । यद्यपि वहाँ क्लिन्नता (कीचड़) आदि नहीं रहती । वर्त्तमान शालाक्य ग्रन्थों में ऐसे दो रोगों का वर्णन आता है जिनमें भीतर नेत्रवर्मों की ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है ।

१. *अक्षिपुट धारा की परस्पर संलग्नता* (Ankyloblepharon)—रोगी की आँख बन्द रहती है परीक्षा करने पर दोनों पलकों की धारा चिपकी हुई भासती है कभी-कभी बीच के हिस्से में कुछ जगह रहती है । कभी-कभी पलक गोलक से भी चिपक जाती है । ऐसी अवस्था पलक धारा के जलने या क्षत होने से हो सकती है । इसके उपचार में शस्त्र क्रिया के द्वारा दोनों पलकों को धारा के पास काटते हैं और ओष्ठ के भीतर से श्लेष्मावरण का भाग लेकर धारा पर चिपका देते हैं ।

२. *नेत्रवर्त्म निरुद्ध प्रकश* (Blepharophimosis)—इस स्थिति में नेत्र द्वार तथा ऊपर और नीचे के पलकधारा का अंतर कम हो जाता है । यह स्थिति नेत्र के बाह्यकोण में त्वचा के बन्द न होने से

होती है। भीतर के कोने वाला भाग सँकरा होता है। ऐसी अवस्था १. पोथकी के परिणाम २. नेत्र में सतत दीर्घकालीन जल स्राव ३. नेत्र निमीलनी पेशी का तीव्र संकोच इन कारणों से होती है। इसके उपचार में शस्त्रक्रिया की आवश्यकता है। मांसपेशी के अति संकोच को दूर करने के लिये नेत्र के बाह्य कोण (अपाङ्ग) को काटकर वहाँ पर टाँके लगाए जाते हैं। इस क्रिया को अपाङ्ग संधान (Canthoplasty) नामक शस्त्र कर्म कहते हैं।

वर्त्मशोथ (Bleopharitis)—जैसा कि ऊपर कहा चुका है कि श्याव, क्लिन्न, अक्लिन्न वर्त्म तथा वर्त्म कर्दम आधुनिक वर्णनों के अनुसार वर्त्म-शोफ की ही विविध अवस्थायें हैं। अष्टाङ्ग-हृदय का पक्ष्मशात नामक रोग जिसका वर्णन अध्याय के अन्त में किया गया है, वह भी वर्त्म-शोफ का ही एक प्रकार है। यहाँ पर वर्त्म-शोफ नामक रोग का आधुनिक ग्रंथों के आधार पर विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सामान्य लक्षण तथा चिह्न—इस रोग में वर्त्म के किनारों पर शोथ होता है जिससे पलक मोटी पड़ जाती और उसका वर्ण लाल हो जाता है। इसमें पक्ष्म मूल की ग्रन्थियों का संक्रमण होता है। पक्ष्म मूल में खुरण्ड या थपड़ी बन जाती है। सामान्य दो प्रकार का होता है।

अव्रण (Non ulcarative)—पलकों के किनारे शोथयुक्त, रक्त वर्ण, श्वेत वर्ण की पपड़ियों से युक्त हो जाते हैं। खुजली होती है। खुजलाने से पपड़ियाँ गिर जाती हैं पुनः बनती हैं। यह क्रम तब तक लगा रहता है जब तक की पक्ष्ममूलीय ग्रंथियाँ नष्ट नहीं हो जातीं।

सव्रण (Ulcerative)—रोग की तीव्रावस्था है। वर्त्म के किनारों में सूजन, लालिमा, पीली खुरण्ड, पलकों का गाढ़े कीचड़ से चिपकना, खुरण्ड के हटाने पर नीचे व्रणों का दिखलाई पड़ना, पक्ष्ममूल का कमजोर पड़ना, पक्ष्मों का टूटकर गिरना (पक्ष्म-शात), खुजली, भारीपन प्रकाशासह्यता आदि लक्षण मिलते हैं।

हैतुकी—यह रोग अधिकांश बाल्यावस्था में पाया जाता है, वैसे किसी भी आयु में हो सकता है। रोगोत्पादन में आहार-विहार-व्यवसाय-वातावरण तथा सामाजिक रहन-सहन का बड़ा हाथ होता है। जैसे दूषित वातावरण, धूलिधूम युक्त स्थान, देर से सोकर उठना, पूर्ण निद्रा का न लेना, नेत्रों की सफाई ठीक न करना तथा समुचित प्रकाश व्यवस्था का निवास स्थान में न होना रोगोत्पादक बनता है।

कई अन्य रोगों के उपद्रव रूप में यह व्याधि पैदा हो सकती है। जैसे, रोमान्तिका (Measles), पुराना नेत्राभिष्यंद, पुराने नाक के रोग, जीर्णवर्त्म शोथ तथा पचन दोष आदि में।

रोग-परिणाम—लम्बे समय तक रोग चलता रहे तो उसके परिणाम स्वरूप अंत में कई व्याधियाँ हो सकती हैं। जैसे—पक्ष्मकोप (Trichiasis), पक्ष्म विवर्त्तन (Ectropion) तथा पक्ष्म शात (Madarosis)।

चिकित्सा—वर्त्म के किनारों और पक्ष्मों को साफ करना, अच्छी प्रकार से टंकणाम्ल घोल से धोकर सुखाकर पारदीय मलहर (yellow ointment) लगाना। किनारों पर दो प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल बनाकर स्पर्श करना (Caustic touch), भूतघ्न योगों में 'लोकुलाड्राप' या 'टेरामायसीन आई आयण्टमेण्ट' का लगाना उत्तम लाभप्रद रहता है।

वातहत वर्त्म—(Paralysis of the VII cranial nerve supplying the muscle orbicularis Palpebrum) इसमें पलकों का स्वाभाविक कार्य नष्ट हो जाता है, वर्त्म खुली हुई अवस्था में रहते हैं तथा निश्चेष्ट हो जाते हैं और नेत्र बंद नहीं हो पाते हैं। इसमें पीड़ा हो भी सकती है और नहीं भी होती। यह एक साध्य वातज रोग है।

निमेष—(Affections of the III Cranial nerve supplying the levater Palpabrae) वर्त्म में उपस्थित रहने वाली

निमेषणी सिरा में जब वायु प्रविष्ट हो जाती है तो वर्त्म अत्यन्त चलायमान हो जाते हैं। यह वातज निमेष रोग साध्य है।

आधुनिक विचार—वर्त्तमान शालाक्य ग्रन्थों में वातहत वर्त्म की समता 'लैगोपथाल्मास' वर्त्म निमीलन में अक्षमता नामक रोगविशेष से की जा सकती है। इस अवस्था में पलक खुले ही रहते हैं जिससे नेत्र बंद नहीं होते। निद्रा आने पर भी नेत्र खुले ही रहते हैं। इसमें सातवीं वातनाड़ी का घात होना ही प्रधान कारण माना गया है। बहिर्गलगण्ड (Exopthalmic Goitre) में भी नेत्रगोलक बड़ा हो जाता है और नेत्र बंद नहीं हो सकते। यदि अन्य किसी कारण से भी नेत्रगोलक बड़ा हो जाय या नेत्रगोलक कोटर के बाहर आ जावे तो पलक नहीं बंद हो पाते, और वातहत वर्त्म की अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। उपचार में कारणानुसार चिकित्सा करनी चाहिये। यदि पेशी का वध हो गया हो तो वातघ्नोपचार करे। यदि सफलता न मिले तो शस्त्र क्रिया के द्वारा नेत्र द्वार को सँकरा बनाया जाता है। इस अवस्था में क्षत का भय रहता है।

वास्तव में नेत्र वर्त्म की चेष्टा से सम्बन्ध रखने वाली दो ही प्रधान पेशियाँ हैं एक नेत्रोन्मीलनी (Levator Palpebrae Superioris) जो पलक को ऊपर उठाती है और दूसरी नेत्रनिमीलनी (Orbicularis Palpebrum) जो वर्त्म को नीचे गिराती या नेत्र को बंद करती है। इन पेशियों से होने वाले दो मुख्य रोग हैं—१. अक्षिपुट निमीलन (Ptosis) और २. अक्षिपुट निमीलनाभाव (Lagopthalmos)। इनमें अक्षिपुट निमीलनाभाव का वर्णन हो चुका है अब अक्षिपुट निमीलन का अति संक्षेप में वर्णन प्रासंगिक है। इस रोग को भी सुश्रुतोक्त वातहत वर्त्म के भीतर रखना होगा। इस अवस्था में रोगी ऊपर के पलक को ऊँचा नहीं कर सकता। जब ऊँचा देखना हो तो रोगी ललाट की पेशियों को भी ऊपर की ओर खींचता है, जिससे भ्रू के ऊपर सिलवटें पड़ जाती हैं—भ्रू ऊपर चढ़ता है। पलक वैसे ही रहता है—

ऊर्ध्वाक्षिपुट निमीलन, Ptosis-Blepharoptosis

- मिथ्या निमीलन (पोथकी की अवस्था में)
- यथार्थ निमीलन
  - जन्मबल प्रवृत्त (Congenital)
  - जन्मोत्तर कालज (Acquired) (नेत्रोन्मीलनी पेशी का स्तंभ या तृतीया नाड़ी की विकृति में)

'निमेष'[1] नामक विकार भी इन्हीं संचालक नाड़ियों के विकार से (Third or Seventh Cranial Nerve) हो सकता है।

वर्त्मार्बुद (Tumour of the lids)—पलक के भीतर के भाग से उत्पन्न होने वाले विषम आकार के गाँठ के समान अर्बुद होते हैं। ये अधिकतर रक्त और पित्त के आधिक्य होने के कारण लाल वर्ण के होते हैं और रक्तार्बुद (Angiomas) कहे जा सकते हैं। ये नेत्रवर्त्म से लटकते रहते हैं।[2]

वर्त्मार्श (Warts)—रक्तदोष से उत्पन्न हुए वर्त्म में होने वाले छोटे छोटे मृदु अंकुरों को अर्श कहते हैं। इनको काट देने पर ये

१. चालयन् वर्त्मनी वायुर्निमेषोन्मेषणं मुहुः करोत्यरुङ्निमेषोऽसौ ।
(अ० हृ० उ० ८)

वायुर्वर्त्मनी चालयन् निमेषोन्मेषणं पीड़ारहितं पुनः पुनः करोति ।
(सर्वाङ्गसुन्दरी टीका)

२. वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम् ।
विज्ञेयमर्बुदं पुंसां सरक्तमवलम्बितम् ॥

पुनः पुनः बढ़ जाते हैं–इनमें दाह, खुजली और पीड़ा होती है।'[1] यह वर्णन आधुनिक दृष्ट्या बहु-जतुक या मस्सों (Molluscum Contagiosum and warts) का ज्ञात होता है। इनके उपचार में छेदन तथा दाहकर्म (अग्निक्षार या विद्युत् से) करना चाहिये। ये लहसुन की कली के समान मूल में पतले, ऊपर की ओर सिरे पर मोटे होते हैं। अर्श से सादृश्य होने के कारण ही सुश्रुत ने इन्हें वर्त्मगत अर्श की संज्ञा दी है।

विसवर्त्म—वर्त्म सूज जाता है और उसमें बहुत से बारीक (सूक्ष्म) छिद्र हो जाते हैं जैसे जल में पाई जाने वाली विस (भसींड) में बहुत से सूक्ष्म छिद्र होते हैं उसी प्रकार के छिद्र इसमें हो जाते हैं। इस सादृश्य के कारण ही रोग की संज्ञा 'विसवर्त्म' दी है।[2] यह त्रिदोषज होते हुए भी साध्य रोग है।

आधुनिक नेत्र रोग की पुस्तकों में इस प्रकार के रोग का कोई वर्णन नहीं मिलता, संभवतः पीत सर्षपिका (Kanthalasma) नामक विकार की तरह कोई विकार हो। इस रोग में पलक पर सरसों के समान पीले दाने हो जाते हैं। यह रोग अधिकतर वृद्धा स्त्रियों में मिलता है। प्रायः दोनों पलक के नेत्रों पर होता है और दोनों ओर समान ही होता है। इस रोग की आकृति विशिष्ट होती है जिससे एक बार इस रोग को देख लेने के पश्चात् दूसरी बार रोग के निदान में भूल नहीं होती।

पक्ष्मकोप—(Trichiasis, Districhiasis, Entropion)–पक्ष्मों में स्थित दोष पक्ष्मों को तीक्ष्ण, नोकदार और खुरदरे कर देते हैं, साथ ही पलक को भी मोड़ देते हैं और उससे नेत्र में रगड़ पैदा होने से नेत्र को कष्ट होता है। पक्ष्मों के बालों को निकाल देने पर आराम

१. छिन्नाश्छिन्ना विवर्द्धन्ते वर्त्मस्था मृदवोऽङ्कुराः ।
दाहकण्डूरुजोपेतास्तेऽर्शाः शोणितसम्भवाः ॥

२. शूनं यद् वर्त्म बहुभिः सूक्ष्मैश्छिद्रैः समन्वितम् ।
विसमन्तर्जल इव विसवर्त्मेति तन्मतम् ॥

मिलता है। परन्तु पुनः पुनः उनकी उत्पत्ति होती रहती है। नेत्र धूप, वायु और अग्नि को सहन नहीं कर सकता। इस रोग को पक्ष्मकोप कहते हैं।[1]

वक्तव्य—पक्ष्मकोप को लोकभाषा में परबाल कहते हैं। पक्ष्म (बरौनी) के अतिरिक्त बाल जो दोनों पलक धारा (Lid margin) में उगते हैं उन्हें परबाल कहते हैं। नैसर्गिक पक्ष्म के बालों की दिशा ऊपर और बाहर की ओर होती है, परन्तु पक्ष्मकोप (परबाल) में बालों की दिशा गोलक की ओर तथा नीचे को होती है। इस हेतु जितनी बार पलक चलते हैं उतनी बार बाल कृष्णमण्डल (Cornea) पर घर्षण करते हैं। परिणाम स्वरूप नेत्र से जलस्राव होता रहता है और कृष्ण मण्डल में व्रण, सफेदी (शुक्ल सव्रण तथा अव्रण) आदि व्याधियाँ उपस्थित हो जाती हैं। इस पर बाल की एक ही पंक्ति यदि निकलती हो तो उसे अंग्रेजी में 'डिस्ट्रीकियेसिस' कहते हैं तथा एकाधिक पंक्तियाँ हों तो उसे 'ट्रिकियेसिस' कहते हैं।

लक्षण—नेत्र से सतत जलस्राव, प्रकाशासह्यता, नेत्रों का ठीक से न खुलना प्रभृति लक्षण मुख्यतया मिलते हैं। पलक के बाल नेत्र गोलक पर चुभते रहते हैं जिससे (अक्षिदूयन) नेत्र भी गड़ता है। नेत्र को खोलते ही नेत्र से जलस्राव होने लगता है। कारण—पलक धारा का चिरकालीन शोफ तथा रोहे ये ही दो कारण प्रधानतया मिलते हैं। इस रोग में आधुनिक युग में शस्त्र क्रिया का उपचार प्रशस्त माना गया है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

पक्ष्मकोप में पाये जाने वाले लक्षण तथा चिह्न एक दूसरी अवस्था में भी मिल सकते हैं जैसे अक्षिपुट या वर्त्म का अन्तर्निवर्त्तन (Entropion of the lids)। आधुनिक नेत्र ग्रन्थों में यह एक स्वतन्त्र रोग

१. दोषाः पक्ष्माशयगतास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च।
निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टं (जुष्टं) चाक्षि दूयते ॥
उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते।
वातातपानलद्वेषी पक्ष्मकोपः स उच्यते ॥

माना जाता है यद्यपि सामान्य जनता इसे भी परबाल ही कहती है। वास्तव में 'ट्रिकियेसिस' और 'एण्ट्रोपियन' में पर्याप्त अन्तर है। ट्रिकियेसिस (परबाल) में जिस तरह अधिक बाल निकलते हैं वैसा इसमें नहीं होता। परन्तु जो स्वाभाविक बाल होते हैं उनकी स्थिति पलट जाती है। इसी को सुश्रुत ने 'निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि' शब्द से द्योतन किया है। पलक के भीतर की ओर मुड़ जाने के कारण बाल गोलक पर घिसते रहते हैं जिससे परबाल के सब लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

कारण—इस रोग की उत्पत्ति का भी कारण रोहे और नेत्रश्लेष्मावरण का चिरकालीन शोथ ही है। ऐसे शोफों के कारण पलक में अवस्थित तरुणास्थि (Cartilage) मोटी हो जाती है और उसके मुड़ने से अन्तर आ जाता है। कभी-कभी पलक को बन्द करने वाली मांस पेशी में खिंचाव हो कर ऐसी स्थिति बन जाती है। इस अवस्था को बोली में पलकबन्दी कहते हैं--लक्षण सभी पक्ष्मकोप के ही मिलते हैं।

उपचार—मांस पेशी के आकर्षण से यदि ऐसी अवस्था उपस्थित हो तो खिंचाव उत्पादक कारणों के दूर होने पर विकृति ठीक हो जाती है। परन्तु यदि तरुणास्थि के मुड़ने से अन्तर आया हो तो शस्त्र कर्म के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। शस्त्र कर्म का उल्लेख आगे किया जायगा।

पोथकी—(Trachoma or Granular lids) भारी, खुजली और स्राव से युक्त लाल सरसों के समान, पीडाकर जो पिडिकायें (नेत्र वर्त्म के भीतर में) होती हैं उनको पोथकी कहते हैं।[1] आधुनिक नेत्र ग्रन्थों में वर्त्माधः नेत्रश्लेष्मावरण (Palpebral conjunctiva) में इस प्रकार की होने वाली व्याधि को 'ग्रैन्युलर लिड्स या कंजक्टिवाइटिस' या 'ट्रोकोमा' कहते हैं। लोकभाषा में लोग इसे निनावा कहते हैं। यह एक बड़े महत्त्व का रोग है जिसका विशद वर्णन वर्त्तमान नेत्र

१. स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसन्निभाः ।
पिडकाश्च रुजावत्यः पोथक्य इति संज्ञिताः ॥

ग्रन्थों के आधार पर करना प्रासंगिक है। यह सन्निपातज होते हुए भी साध्य है।

अर्शोवर्त्म (Papillary form)—ग्रीष्म ऋतु में होने वाली ककड़ी के बीज के समान नेत्रवर्त्म में पिडिकाओं का होना अर्शोवर्त्म कहलाता है। ये पिडिकायें सूक्ष्म, खरस्पर्श और मन्दवेदनायुक्त होती हैं।[1] यह भी सन्निपातज होते हुए भी साध्य है।

शुष्कार्श (Chronic papillary form)—वर्त्म के भीतरी भाग में होने वाली लम्बी-लम्बी, अंकुरवत्, स्पर्श में खुरदरी और दारुण पिडिकायें निकलती हैं। यह भी सान्निपातिक विकार है फिर भी साध्य है।[2]

वर्णनों के अनुसार पोथकी, वर्त्मशर्करा,[3] अर्शोवर्त्म और शुष्कार्श एक ही रोग की विभिन्न अवस्थायें ज्ञात होती हैं। जैसे—

पोथकी—(Trachoma or Granularlids)

वर्त्मशर्करा—(Granulor form of lids of Trachoma)

अर्शोवर्त्म—(Papillary form of Trachoma)

शुष्कार्श—(Chronic form of papillary Trachoma)

इसमें प्रधान व्याधि पोथकी या 'ट्राकोमा' है और उसी का बढ़ा हुआ रूप या उसके बाद के होनेवाले विकार हैं। इसका अधिक स्पष्टीकरण ट्रोकोमा के विशद वर्णन से हो सकेगा। इसके पूर्व वर्त्मशर्करा की समता मेइबोमियन पिण्ड के अवरोध से बतलाई जा चुकी है। परन्तु प्रसंगानुसार यह विकार पोथकी की ही अवस्था विशेष ज्ञात होता है।

वाग्भट ने वर्त्म रोगों में एक व्याधि का पक्ष्मशात नाम से वर्णन

१. एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः।
सूक्ष्माः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते॥

२. दीर्घोऽङ्कुरः खरस्स्तब्धो दारुणो वर्त्मसम्भवः।
व्याधिरेष समाख्यातः शुष्कार्श इति संज्ञितः॥

३. पिडकाभिः सुसूक्ष्माभिर्घनाभिरभिसंवृता।
पिडका या खरा स्थूला सा ज्ञेया वर्त्मशर्करा॥

किया है। पद्मशात का अथ होता है-पद्म पलक के बाल (बरौनी) उनका शात अर्थात् नष्ट होना या गिरना।

पद्म-शात—जिस रोग में पित्त कुपित होकर पलकों के पश्चात् भाग में कुपित होकर पलकों पर शोथ, कण्डु और दाह पैदा करके पलकों को रुग्ण करके पश्चात् पद्मों को नाश कर देता है, उसे पद्म-शात कहते हैं।[1] इस अवस्था को अंग्रेजी में (Madarosis) कहते हैं जो वर्त्म शोफ के उपद्रव रूप में पैदा होता है।

चिकित्सा—उपचार में १. सूची (सूई) के द्वारा रोमकूपों का विकुट्टन (गोद कर रक्त विस्राव) २. जलौका की सहायता से पद्म स्थानों का रक्त-विस्रावण ३. दूध एवं ईख का रस पिलाकर रोगी को वमन कराना ४. शीतल और मधुर रस वाले द्रव्यों से पकाये घृत का (जैसे द्राक्षादि घृत का) नस्य देना ५. ताम्र के वर्त्तन में पुष्पकासीस का शुद्ध चूर्ण लेकर तुलसी-स्वरस की दस दिनों तक भावना देकर बनाये अंजन का शुष्क चूर्णाञ्जन के रूप में अथवा गोघृत में मिलाकर नेत्रों में अंजन करना पद्मशात में लाभप्रद होता है।[2]

---

१. करोति कण्डुं दाहं च पित्तं पक्ष्मान्तमास्थितम्।
पक्ष्मणां शातनं चानु पक्ष्मशातं वदन्ति तम्॥

२. पक्ष्मणां सदने सूच्या रोमकूपं विकुट्टयेत्।
ग्राहयेद्वा जलौकाभिः पयसेक्षुरसेन वा॥
वमनं नावनं सर्पिः शृतं मधुरशीतलैः।
संचूर्ण्य पुष्पकासीसं भावयेत्सुरसारसैः।
ताम्रे दशाहं परमं पक्ष्मशाते तदञ्जनम्॥

(अ० हृ० उ० ८-

१०

पोथकी रोहे-ट्राकोमा

(Trachoma-Granular conjunctivitis)

व्याख्या—आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान को दृष्टि से पोथकी (रोहे) एक चिरकाल तक चलने वाला अति संक्रामक (छूत) रोग माना जाता है। इस रोग में पलक के भीतर बहुसंख्यक पिडिकायें निकल आती हैं। रोगी अति उद्विग्न रहता है। नेत्र से अश्रुस्राव होता है, नेत्र गड़ा करता है और खुल नहीं सकता है। प्रकाश सह्य नहीं होता है। रोगी के पलक अर्द्धनिद्रितावस्था सदृश ढके से रहते हैं। यदि रोग का प्रारम्भ में ही अच्छा उपचार न हो तो विविध उपद्रवों के होने की संभावना रहती है जिससे रोगी की दृष्टि को भी हानि पहुँच सकती है।

हेतु एवं प्रसार—इस रोग का उत्पादन संसर्ग से होता है। पोथकी से पीडित व्यक्ति का नेत्रगत स्राव स्वस्थ व्यक्ति के नेत्र के सम्पर्क में आकर रोग का उत्पादन करता है। यह संक्रमण अनेक रीतियों से होता है। रोगी अपने हाथ से, रूमाल या कपड़े से अपने नेत्रों को पोंछता है-ये माध्यम यदि स्वस्थ नेत्र के सम्पर्क में आवें तो रोग उत्पन्न करते हैं। यदि माता को रोहा हो और वह अपनी साड़ी के किनारे से अपनी आँखों को पोंछती है और फिर प्रमादवश वह अपने बालक की आँखों को पोंछती है तो बालक रोगी हो जाता है। जिस बिस्तर या तकिया पर रोगी सोता है उस पर यदि अन्य स्वस्थ व्यक्ति सोवें तो भी रोग का उपसर्ग पहुँच जाता है। यूरोपियन रीति के अनुसार रहने वाले व्यक्ति परात में जल रख कर अपना मुँह आँख आदि धोते हैं। ऐसे बर्तनों में रोग का विष लग जाता है। फिर दूसरे व्यक्तियों में जो इस बर्त्तन का उपयोग करते हैं उनमें भी रोग का उपसर्ग पहुँच सकता है। भारतवर्ष में काजल लगाने की प्रथा है। काजलों को नित्य प्रति मातायें

बालकों के नेत्रों में लगाती हैं। उस काजल को मातायें तथा अन्य स्त्रियाँ भी अपनी आँखों में उँगली से लगाती हैं, वही पुनः घर के सभी बच्चों में भी लगाती हैं। यही नहीं, इस काजल का उपयोग घर के सभी मनुष्यों के लिये साधारण रहता है। यदि दैववशात् किसी एक व्यक्ति की आँख में रोहे हों तो काजल द्वारा उसका उपसर्ग कुटुम्ब के अनेक व्यक्तियों में हो सकता है।

वातातपरजोधूम (तेज वायु, धूप और धूलि तथा धुआँ) युक्त वातावरण में काम करने वाले व्यक्तियों में भी यह रोग बहुतायत से मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस रोग का संसर्ग होते ही प्रत्येक व्यक्ति के नेत्र में यह रोग हो जाय बल्कि जिसकी आँख आई हो, सतत लाल रहती हो ऐसी आँखों में संसर्ग हो जाने से रोहे का रोग हो जाता है। रोहे का संक्रमण वायु के द्वारा नहीं होता इतना निश्चित है तथापि रोहे की उत्पत्ति में वायु, ताप, धूलि आदि सहायक होते हैं। ग्रामों में रहने वाले लोगों के नेत्रों में वायु, धूलि आदि जाती ही रहती है जिससे बहुतों की आँखें आई हों तो वैसे ही बनी रहती हैं। वैसी आँखों में संसर्ग पहुँच कर रोहों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है।

अभी तक वैज्ञानिकों में पोथकी रोगोत्पादक कीटाणुओं के ऊपर ऐकमत्य नहीं है। जापानी वैज्ञानिक नगूची ने एक प्रकार के कीटाणुओं को रोगोत्पादन में उत्तरदायी बतलाया है। एक जर्मन वैज्ञानिक ने एक विशेष प्रकार के पिण्ड (Provozck's Inclusion bodies) को रोगोत्पादक बतलाया है।

लक्षण तथा चिह्न—नेत्र से जलस्राव सतत होता रहता है, जो विशेषतः धूप, धुवाँ और वायु की वजह से या नेत्र पर जोर पड़ने वाले कारणों से अधिक बढ़ जाता है। इसी का पर्याय कथन आचार्य ने 'स्राविण्यः' शब्द से किया है।

प्रकाशासह्यता—कभी-कभी यह इतना अधिक कष्टकर हो जाता है कि रोगी कई दिनों तक अँधेरे कमरे में सिर को नीचे किये पड़े रहते

हैं। यदि रोग सौम्य हुआ तो काले चश्मे लगाकर रोगी बाहर प्रकाश में निकल सकता है। इसी लक्षण का वर्णन प्राचीनों ने "शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुम्" शब्द से किया है।

वेदना—नेत्र में वेदना सदा बनी रहती है। प्रातःकाल उठने पर रोगी को ऐसा भान होता है मानों नेत्र में रजःकण (किरकिरी) पड़ी है। जैसे जैसे दिन चढ़ता है वैसे वैसे गड़ना कम हो जाता है। इसी लक्षण का प्राचीनों ने 'शूकपूर्णाभमेव' शब्द से किया है। वेदना के लिये पोथकी में 'रुजावत्यः' (पीडावान्) ऐसे विशेषण का प्रयोग किया है।

नेत्र खोलने में अक्षमता—बहुधा यह रोग दोनों आँखों के पलकों के भीतर होता है, नेत्र में लाली आकर अश्रुस्राव होने लगता है। नेत्र गड़ने लगते हैं, प्रातःकाल में अभिष्यन्द सदृश कीचड़ आने से नेत्र चिपक जाते हैं। रोगी के नेत्र पूर्णतया नहीं खुल पाते। इसी लक्षण का पर्याय कथन "न नेत्रोन्मीलनक्षमः" शब्दों से प्राचीनों ने किया है।

दर्शन परीक्षा—पलकों को उलट कर देखने पर वे लाल दीखते हैं। स्पर्श में खुरदरे हो जाते हैं। उनके भीतरी हिस्से में बहुसंख्य सरसों के समान उभड़ते हुए (रक्तसर्षपसन्निभाः) दाने भासते हैं। ये दाने छोटे बड़े कई तरह के हो सकते हैं। सामान्यतया साबूदाने जैसे नेत्र श्लेष्मावरण में भरे हों ऐसा दीखता है या शहतूत के फल के ऊपर जैसा खुरदरापन होता है वैसा श्लेष्मावरण बन जाता है। ये दाने अधिकतर ऊपर के पलक में होते हैं। इन दानों की वजह से पलक का भाग न्यूनाधिक सूज जाता है। यह स्थिति सामान्यतया कुछ सप्ताहों में रूपान्तरित हो जाती है। जो छोटे दाने प्रतीत होते थे उनके स्थान पर कठिन दाने हो जाते हैं। ये दाने कुछ पिंगल वर्ण के, स्वच्छ, गोल आकार के और नेत्रश्लेष्मावरण को उभाड़ते हों इस प्रकार बाहर निकले रहते हैं। ऐसी अवस्था कुछ महीनों तक रहकर उभड़ा हुआ भाग शोषित होने लगता है पिटिकायें उपशम की अवस्था में शोषित हो जाती हैं। केवल उनके स्थान पर सफेद रंग की पंक्तियाँ या दाग रह जाते हैं।

क्रमिक अवस्थायें—१. प्रथमावस्था (1st stage)—प्रारम्भ में नेत्र में लाली, अश्रुस्राव, प्रकाशासहिष्णुता, नेत्रोन्मीलन में कठिनाई, पलक का प्रातः चिपकना, आँखों का गड़ना (तोद), वेदना ये लक्षण पोथकी में मिलते हैं। यह क्रम चार से छः सप्ताह तक चलता रहता है। इस काल के भीतर यदि योग्य चिकित्सा हो तो रोग का उपशम हो जाता है और नेत्र स्वच्छ हो जाते हैं। इसके विपरीत बहुत से रोगियों में तीक्ष्णावस्था के लक्षण और चिह्न बिल्कुल नहीं प्रतीत होते, किन्तु नेत्र में रोहे उत्पन्न होते रहते हैं। रोगी को उसका बोध भी नहीं होता।

इस अवस्था में ऊर्ध्ववर्त्मगत श्लेष्मावरण (Tarsal Conjunctiva) में उभार अंकुर (Papillæ) दिखलाई पड़ते हैं। यदि उभार बड़ा हुआ तो छोटे दाने जैसे दीखते हैं।

२. *द्वितीयावस्था* (IInd stage)—प्रथमावस्था की अपेक्षा पोथकी के दाने कुछ बढ़ जाते हैं, दाने भूरे (Grayish) या पीले (Yellowish) गोल, प्रकाश परावर्त्तक होते हैं। ये छोटे तथा गोल, बड़े तथा मस्सेयुक्त, फैले हुए और सरस (रस भरे हुए) हो सकते हैं। ये अधिकतर 'वर्त्मकोणों' (Fornix) में होते हैं। जब इसकी संख्या अधिक होती है तो पंक्ति में मिलते हैं। वर्त्मगत श्लेष्मावरण में ये बहुत अधिक संख्या में छोटे छोटे तथा कम स्पष्ट रहते हैं।

इस अवस्था का एक प्रधान चिह्न पोथकी जन्य रक्तराजि (Terachomatous Pannus) है। इसमें एक सिराओं का गुच्छा कृष्णमण्डल (Cornea) में जाता हुआ मालूम होता है जो कि प्रारम्भ में श्वेत कृष्णगत संधि (Limbus) पर दिखाई देता है। यह कृष्णमण्डल के ऊपर के आधे भाग तक पहुँचने तक काफी तेजी से बढ़ता पश्चात् ऊपरी स्तर पर वहाँ एक पिन के बराबर का व्रण बना लेता है, जिसे पोथकी व्रण (Trachomatous ulcer) कहते हैं। अन्त में सम्पूर्ण कृष्णमण्डल व्रत से ग्रस्त हो जाता है। इस अवस्था में दृष्टि शक्ति मन्द पड़ जाती है। रोग अधिक तीव्र हुआ तो तारा शोथ (Iritis) हो जाता है।

३. *तृतीयावस्था* (Third stage)—यह रोपण की अवस्था है। इस अवस्था के लक्षण एवं चिह्न पूर्व की दोनों अवस्थाओं से युक्त रहते हैं। अंकुर (Papillæ) तथा दाने लुप्त होने लगते हैं, किन्तु नेत्र श्लेष्मावरण अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त नहीं होता। वर्त्मगत श्लेष्मावरण में (Tarsal conjunctiva) पतली धारियाँ (Bands) तथा व्रणवस्तु (Scars) बन जाते हैं जो कभी कभी जाली जैसे दीखते हैं। रोग की पुरानी अवस्था में पूरी सतह पाण्डु वर्ण (Pale) चिकनी (Smooth) तथा रोपण झिल्ली (Cicatrical membrane) में बदल जाती है। वर्त्म कोणों में रोपणावस्था में श्लेष्मावरण पाण्डुवर्ण, नीलश्वेत (Bluish white) रङ्ग में बदल जाता है।

४. *चतुर्थावस्था* (Fourth stage)—पोथकी के द्वारा कृष्णमण्डल (Cornea) के आक्रान्त रहने से बहुत से उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। वर्त्मगत श्लेष्मावरण में व्रणवस्तु का संकोच हो जाता है जिसके फलस्वरूप पक्ष्मकोप, वर्त्म का अन्तरावर्त्तन या बाह्यवर्त्तन (Entropion or Ectropion), अजकाजात (Staphiloma) तथा नेत्रशुष्कता या शुक्तिका (Xerosis) प्रभृति उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

उपद्रव—यदि व्याधि शीघ्र शान्त न हो, जीर्ण हो जाय तो निम्न उपद्रवों में से एक या अधिक उपद्रव हो सकते हैं।

रक्तराजि (Pannus)

अव्रण तथा सव्रण शुक्र (Opacities and corneal ulcer)

पक्ष्मकोप—(Trichiasis, Districhiasis or Entropian)

वर्त्मशोथ या वर्त्मबन्ध या कर्दमवर्त्म (Marginal Blepharitis)

पलक और गोलक की संलग्नता (Symblepharon)

मिथ्यार्श

नेत्र श्लेष्मावरण की शुष्कता (Xerosis)

अश्रुाशय शोथ (Dacryocystitis)

पोथकी की आधुनिक चिकित्सा—अनागत बाधा प्रतिषेध—रोहे को वर्तमान में अतिछूत का रोग मानते हैं। इसलिये बड़े शहरों में इस

रोग से पीड़ित विद्यार्थियों को पाठशाला या कालेज में पढ़ने का प्रतिषेध किया जाता है। रोगोत्पत्ति से स्वस्थ की रक्षा करने के लिये यह आवश्यक होता है कि रोगी के वस्त्र-रूमाल, तौलिया, कुर्ता आदि प्रमादवश दूसरे के उपयोग में न आने पावें। रोगी के नेत्र से गिरते वाले जलस्राव अथवा स्राव का सम्पर्क स्वस्थ व्यक्ति के नेत्र से न होने पावे। यदि माता के नेत्र में रोहे हों तो बच्चे की आँख का स्पर्श उसे हाथ को अच्छी तरह से साबुन से साफ करके करना चाहिये। पोथकी पीड़ित रोगी के परिचारक, परिचारिका, वैद्य, सहायक आदि को भी इस सम्पर्क से अपने नेत्रों को बचाने का ध्यान रखना चाहिये।

यदि संसर्ग होने का भय हो तो रजत द्रव (सिल्वर नाइट्रेट या आर्जिराल) की बूंद नेत्र में डाल लिया करे—इससे प्रायः आक्रमण नहीं होने पाता।

आगत बाधा-प्रतिषेध या रोगशामक चिकित्सा

लेखन ओषधियों के प्रयोग—(१) यदि रोगी रोग की प्रारंभिक अवस्था में ही आया हो तो एनीथीन घोल (१ औंस जल में ५ ग्रेन) दो दो बूँद करके दो दो मिनट पर तीन बार डाले फिर पारद घोल या टंकण घोल से प्रक्षालन करे पुनः सिल्वर आयोडायड की २, २ बूँद नेत्र में डाले। इस निक्षेप से जलस्राव होने लगता है। इस जलस्राव को रुई से शोषण करके शुल्वा मलहर (Sulphonamide oint. 6%) को नेत्रों में लगा दे। सिल्वर आयोडायड का पोथकी में प्रयोग एक श्रेष्ठ चिकित्सा मानी गई है।

(२) सिल्वर नाइट्रेट (१० ग्रेन १ औंस जल में) इस द्रव में एक फुरेरी बना कर पलक को उलट कर लगाने का एक दूसरा विधान है। यह आँखों में बड़ा तेज लगता है और चार घंटे तक रोगी को तकलीफ बनी रहती है। इस पीड़ा के कारण अनेक रोगियों को आपत्ति होती है। बहुत लब्धप्रतिष्ठ नेत्रवैद्यों ने सिल्वर नाइट्रेट के उपयोग का स्पष्ट निषेध किया है-वियना के डाक्टर कार्डलिण्डसर के मतानुसार सिल्वर नाइट्रेट बिल्कुल लाभ नहीं पहुँचाता।

(३) रोहे की चिरकालीन स्थिति में अनेक नेत्रवैद्यों ने तुत्थ के स्थानिक प्रयोग का विधान किया है। इसकी विधि यह है कि पहले रोगी के नेत्र में किसी चेतनाहर द्रव की बूँदें छोड़ दी जायँ-फिर नेत्र को पारद धावन से (१: ५०००) से प्रक्षालन कर दिया जाय फिर नेत्र को सुखाकर तुत्थे के टुकड़े को हल्के हाथ से तीन चार बार फिराया जाय। यदि पलक कम मोटे हों और भीतर के पिटिका या दाने अतिशय बढ़े हुए न हों तो तूतिया कम लगावें, अधिक हों तो अधिक लगावें। तूतिया लगाने के साथ ही नीले रंग का नेत्र से जलस्राव होने लगता है-इसका रुई से शोषण करते चलें। इस क्रिया को दिन में एक बार महीनों तक करते रहना चाहिये। कई विशेषज्ञ इस क्रिया को दो वर्ष चलते रहने की सलाह देते हैं-जिससे रोहों का पुनरुद्भव न हो और रोहे निर्मूल हो जायँ।

(४) प्रकृति भेद से यदि किसी को नीला थोथा अनुकूल न पड़े तो 'लैयिड डिवाइनस' शलाका का प्रयोग करना चाहिये। यह शलाका फिटकिरी और नीले थोथे के मिश्रण से बना होता है और शुद्ध तूतिया की अपेक्षा कुछ मृदु होता है। स्निग्धाञ्जन-तुत्थ मलहर (१ औंस वेसलीन में २॥ से ५ ग्रेन) या कापर साइट्रेटमलहर (१ औंस में ५० ग्रेन) या एक औंस गिलसरीन में ५० ग्रेन नीला थोथा का निक्षेप या १ औंस गिलसरीन में ६० ग्रेन टैनिक एसिड का घोल बनाकर शलाका से अंजन करना भी लाभप्रद है।

(५) तुवरक तैल का अंजन भी अनेक रोगियों में लाभप्रद है।

यंत्र लेखन (Expression of Trachoma)—यदि उपर्युक्त उपचारों से लाभ न हो और रोहे के दाने बड़े हो गये हों या अधिक हों तो पोथकी घर्षक यंत्र (Rasp) से दानों का लेखन या घर्षण कर दिया जाता है। इस क्रिया में रोगी को फलक (Table) पर लेटाकर चेतनाहर ओषधि डालकर पारद धावन से नेत्रों को प्रक्षालित कर पलक को उलटकर इस यंत्र के द्वारा दानों को घिस दिया जाता है। पश्चात् सिल्वर आयोडायड का बूंद नेत्रों में छोड़ा जाता है।

शस्त्रोपचार या शस्त्रलेखन (Excision of Trachoma)—इसमें शस्त्रक्रिया के द्वारा रोहे वाले नेत्र श्लेष्मावरण के भाग तथा उसके नीचे वाले भाग को जड़ मूल के साथ निकाल दिया जाता है। जब तक औषधोपचार से रोहे दूर हो सकते हों, तब तक शस्त्रोपचार का अवलम्बन नहीं करना चाहिये।

इन उपचारों के अतिरिक्त कई और उपाय व्यवहार में आते हैं, जिनका कोई विशेष महत्त्व नहीं, जैसे 'कार्बन डायोक्साइडस्नो' 'डायथर्मी' या विद्युद्दहन तथा 'रेडियम्' आदि।

यह एक सामान्य पोथकी की वर्त्तमान चिकित्सा का माप-दण्ड है। इसी के आधार पर प्राचीन काल में होने वाली आयुर्वेद की वर्णित वर्त्मगत रोगों की चिकित्सा का विशद विवेचन नीचे किया जायगा।

११

वर्त्मगतरोग

चिकित्सा—उत्संगिनी, कुम्भिका, पोथकी, वर्त्मशर्करा, बहलवर्त्म, वर्त्मबंध, क्लिष्टवर्त्म, कर्दमवर्त्म इन नौ रोगों की चिकित्सा लेखन कर्म है। लेखन कर्म को पाश्चात्य वैद्यक में 'स्क्रैपिङ्ग' या 'स्कैरीफिकेशन' कहा जाता है। यह क्रिया ओषधि, यंत्र, उपयंत्र अथवा शस्त्र के द्वारा की जा सकती है। इसकी प्राचीन विधि इस प्रकार है—

१. *पूर्वकर्म*—रोगी का स्नेहन वमन और विरेचन से शुद्ध शरीर करके, वायु और आतप से सुरक्षित गृह में उत्तान सुलाकर, आप्त और मजबूत परिचारकों के द्वारा पकड़ा कर उसके शरीर को निश्चल या स्थिर कराके यह कर्म प्रारंभ करना चाहिये।

२. *कर्म*—प्रथम नेत्रों का स्वेदन करना चाहिये। इसके लिये सहने योग्य उष्ण जल में वस्त्र भिगोकर (Wet fomentation) नेत्रों के आसपास स्वेदन करे। पश्चात् आँखों को पीडा नहीं पहुँचाते हुए,

नेत्र के वर्त्म को उलट कर बायें हाथ के अंगुष्ठ और अंगुलि के द्वारा स्थिर करके किसी खुरदरे पत्ते (शेफालिका) के द्वारा खुरचकर या शस्त्र के द्वारा प्रच्छान करके या शस्त्र से भेदन करके या छेदन करने के बाद जब रक्त स्राव बंद हो जाय तो पुनः स्वेदन करके मनःशिला, रसाञ्जन, कासीस, त्रिकटु, सैन्धव, सुवर्ण माक्षिक प्रभृति द्रव्यों के पिसे हुए महीन चूर्ण के द्वारा प्रतिसारण करके पुनः नेत्र का प्रक्षालन कर घी लगाकर व्रणवत् उपचार करे अर्थात् उसके ऊपर व्रणबंध (Bandaging) करे। इस संबन्ध में कई बातों की विशेषतायें हैं—नेत्रवर्त्मों के उलटने के बाद अँगुलियों को वर्त्म पर सीधे नहीं रखना चाहिये बल्कि वस्त्रावेष्टित या प्लोतान्तरित करके वर्त्मों पर रखना चाहिये। इससे लाभ यह होता है कि वस्त्रावेष्टित अंगुष्ठ और अंगुलि के द्वारा पकड़े होने से वर्त्म स्थिर हो जाते हैं, कम्पित होने या हाथ से छूट कर नीचे गिर जाने का भय नहीं रहता, साथ ही वर्त्मान्तः भाग पर अंगुलियों के द्वारा जीवाणुओं के उपसर्ग का भी भय कम रहता है। अतएव वस्त्रावेष्टित अंगुलियों के द्वारा ही नेत्रवर्त्म को स्थिर करे।

लेखन कर्म के बाद होने वाले रक्तस्राव को भी प्लोत (Swab) के द्वारा सुखाते रहना चाहिये। लेखन-कर्मों के विविध साधनों का व्यवहार दोषानुसार या रोगानुसार करना चाहिये। जैसे (क) कफ वात कृत दारुण वर्त्मों का शस्त्र के द्वारा लेखन करना चाहिये। यथावश्यक प्रच्छयितव्य रोग हो तो प्रच्छान, भेदयितव्य हो तो भेदन और छेदनीय हो तो छेदन कर्मों द्वारा लेखन करना चाहिये। (ख) यदि पित्त रक्तज दोषों से आक्रान्त होकर वर्त्म मृदु हो तो शेफालिकादि पत्र के द्वारा या खुरदरे वस्त्र के द्वारा ही लेखन करना चाहिये।

पश्चात् कर्म—नेत्रवर्त्म का लेखन हो जाने के बाद तीन दिनों तक नेत्र को पूर्ण विश्राम मिलना चाहिये। नेत्र के लिये क्षोभ पहुँचाने वाले स्वेदन, अवपीडन प्रभृति कर्मों को तीन दिन के बाद ही करना चाहिये।[1]

१. नव येऽभिहिता लेख्याः सामान्यं तेष्वयं विधिः।
स्निग्धवान्तविरिक्तस्य निवातातपसद्मनि ॥

इस प्रकार यह एक वर्त्मगत लेखन-क्रिया की सामान्य विधि का उल्लेख हुआ।

सामान्य लेखन की क्रिया श्याव और कर्दम वर्त्म में करनी होती है। बहलवर्त्म, क्लिष्टवर्त्म और पोथकी में आवश्यकतानुसार शस्त्र के द्वारा प्रच्छान करके लेखन करना चाहिये। कुम्भीक पिडिका, वर्त्मशर्करा और उत्संग पिडिका (मेइबोयिन सीस्ट तथा इफार्कशन आफ मेइबोमियन ग्रन्थि) को पहले शस्त्र के द्वारा काट कर पश्चात् निर्मूलन के लिये लेखन करना चाहिये। इनके अतिरिक्त यदि वर्त्म में पिडिकायें ऐसी कठिन और ह्रस्व ताम्रवर्ण की निकलें तो उनकी चिकित्सा में भी उन पिडिकाओं के भेदन (Incision) देकर लेखन कर लेना चाहिये। प्रारंभ में यदि वर्त्मगत पिडिकायें निकलें और यदि वे वर्त्म के बाह्य भाग में हों तो उनका स्वेदन, आलेप और शोधन के द्वारा संशमन करना चाहिये।[1]

आप्तैर्दृढं गृहीतस्य वेश्मन्युत्तानशायिनः ।
सुखोदकप्रतप्तेन वाससा सुसमाहितः ॥
स्वेदयेद्वर्त्म निर्भुज्य वामाङ्गुष्ठांगुलिस्थितम् ।
अङ्गुल्यङ्गुष्ठकाभ्यां तु निर्भुग्नं वर्त्म यत्नतः ॥
प्लोतान्तराभ्यां न यथा चलति स्रंसतेऽपि वा ।
ततः प्रमृज्य प्लोतेन वर्त्म शस्त्रपदाङ्कितम् ॥
लिखेच्छस्त्रेण पत्रैर्वा ततो रक्ते स्थिते पुनः ।
स्विन्नं मनोह्वाकासीसव्योषार्द्राञ्जनसैन्धवैः ॥
श्लक्ष्णपिष्टैः समाक्षीकैः प्रतिसार्योष्णवारिणा ।
प्रक्षाल्य हविषा सिक्तं व्रणवत् समुपाचरेत् ॥
स्वेदावपीडप्रभृतींस्त्र्यहादूर्ध्वं प्रयोजयेत् ।
व्यासतस्ते समुद्दिष्टं विधानं लेख्यकर्मणि ॥ (सु० ३. १५)

१. कुम्भीकिनीं शर्करां च तथैवोत्संगिनीमपि । कल्पयित्वा (छित्वा) तु शस्त्रेण लिखेत् पश्चादतन्द्रितः ॥ भवेयुः वर्त्मसु या पिडिका कठिना भृशम् । ह्रस्वास्ताम्राश्च ताः पक्का भिन्द्यात् भिन्ना लिखेदपि ॥ तरुणीश्चाल्पसंरम्भाः पिडका बाह्यवर्त्मजाः । विदित्वैताः प्रशमयेत्स्वेदालेपनशोधनैः ॥ (सु०)

सम्यक् लेखन के चिह्न—जब वर्त्मगत रोगों में लेखन की क्रिया के बाद रक्त तथा जलस्राव रुक जाय, खुजली और शोफ शान्त हो जाय, वर्त्म समान (ऊँचे नीचेपन से हीन) हो जायँ तथा संक्षेप में वर्त्म की आभा नख सदृश हो जाय तो वर्त्म का लेखन सम्यक् हो गया है ऐसा समझना चाहिये।

दुर्लिखित वर्त्म के लक्षण—आँख लाल हो जाती है, सूजन और जलस्राव बढ़ जाता है, रोगी की दृष्टि धुँधली हो जाती है, रोग का उपशम नहीं होता। वर्त्म काले रंग के, भारी, स्तब्ध, कण्डु, सिहरन और कीचड़ (उपदेह) से युक्त हो जाते हैं। यदि उचित प्रतिकार न किया जाय तो नेत्रपाक हो जाता है। इन चिह्नों से युक्त लिखित वर्त्म को दुर्लिखित समझना चाहिये। ऐसी अवस्था में नेत्र का स्नेहन और स्वेदन करके पुनः लेखन करने का विधान है।

अतिलिखित वर्त्म के चिह्न—वर्त्म मुड़ जाते हैं, पक्ष्म जटिल हो जाते हैं या टूट जाते हैं, नेत्रगत पीडा बढ़ जाती है और स्रावाधिक्य होने लगता है। इसकी चिकित्सा में भी स्नेहन, स्वेदन तथा अन्य वातशामक उपचारों को करना चाहिये।

वर्त्म में होनेवाले भेद्य रोग—वर्त्मगत रोगों में से बिसग्रन्थि, लगण, अंजन नामिका कृमिग्रंथि और कफजोपनाह प्रभृति पाँच ऐसे रोग हैं जिनकी चिकित्सा में पहले भेदन करके पश्चात् लेखन करना चाहिये।

इन रोगों के प्रारम्भ में जब तक इनकी आमावस्था है, पाकोत्पत्ति नहीं हुई है तबतक अपतर्पणादि विधि के द्वारा सामान्य शोथवत् प्रतिकार करना चाहिये। इस क्रिया के लिये इन पिडिकाओं में स्नेहन, स्वेदन, रक्तविस्रावण, विरेचन, वमन (नयन-बुद्बुद के रोगों को छोड़कर) प्रभृति उपचारों को करना चाहिये। यदि शोथ का शमन न हो पावे और पूयोत्पत्ति हो जाय तो उसको भेदन करके पश्चात् रोपण प्रभृति व्रणवत् उपचारों को करना चाहिये।[1]

1. संस्नेह्य पत्रभंगैश्च स्वेदयित्वा यथासुखम्। अपाकाद्विधिनोक्तेन पंच भेद्यानुपाचरेत्॥ सर्वेष्वेतेषु विहितं विधानं स्नेहपूर्वकम्। सम्पक्के प्रयतो भित्वा कुर्वीत व्रणरोपणम्॥

विसग्रन्थि की चिकित्सा—विसग्रन्थि की पक्वावस्था में उसका स्वेदन करके उसके छिद्रों का निराश्रय भेदन करना चाहिये। निराश्रय का अर्थ आशय या उत्संग हीन (Without pockets) होता है। भेदन (Incision) की क्रिया शस्त्र के द्वारा करनी चाहिये। इस भेदन के अनन्तर उस स्थान पर सैंधव, कासीस, पिप्पली, पुष्पाञ्जन, नेपाली (मनःशिला), इलायची आदि का अवचूर्णन (Dusting) कर पश्चात् मधु और घृत का अभ्यङ्ग करके व्रणबन्धन (Bandaging) करना चाहिये।

लगण चिकित्सा—इसमें भी भेदन करके गोरोचन, क्षार, पिप्पली, तुत्थ, मधु प्रभृति द्रव्यों का एकैकशः प्रतिसारण करना चाहिये। यदि लगण की ग्रन्थि बहुत बड़ी हुई तो भेदन करके क्षार अथवा अग्नि के द्वारा प्रतिसारण तथा क्षाराग्नि दग्धवत् व्रणोपचारों को करना चाहिये।

अंजननामिका चिकित्सा—अंजननामिका (Stye Hardeolum) की अवस्था में पिडिका का स्वेदन (Fomentation) करने से स्वयं यदि फट जाय तो उसे पुनः दबाकर मवाद निकाल दे, पश्चात् मैनशिल, छोटी इलायची, तगर, सैन्धव और मधु का उस स्थान पर प्रतिसारण करे। प्रतिसारण का अर्थ घर्षण या लेप करना होता है।[1] यह तो स्वयं भिन्न (अपने आप फटी हुई) अंजनी की चिकित्सा है। परन्तु जो स्वयं न फटे उसका स्वेदन कर शस्त्र के द्वारा भेद (Incision) कर मवाद को निकाल कर रसाञ्जन और मधु के द्वारा प्रतिसारण करके, उत्तर काल में दीपक की शिखा से बने हुए गरम-गरम कज्जल का अञ्जन करना चाहिये।[2] यह क्रिया शस्त्रकर्म के ज्ञाता को ही करनी चाहिये।

क्रिमिग्रंथि चिकित्सा—नेत्र के लिये यथोचित्त स्वेद कर लेने के बाद

१. स्विन्नां भिन्नां विनिष्पीड्य भिषगञ्जननामिकाम् ।
शिलैलानतसिन्धूत्थैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ॥

२. रसाञ्जनमधुभ्यां तु भित्त्वा वा शस्त्रकर्मवित् ।
प्रतिसार्याञ्जनैर्युञ्ज्यादुष्णैर्दीपशिखोद्भवैः ॥

कृमिग्रंथि का भेदन करे। अञ्जननामिका में कथित द्रव्यों का मधु के साथ प्रतिसारण करना चाहिये पश्चात् त्रिफला, तुत्थ, कासीस, सैन्धव के द्वारा बनी हुई रसक्रिया के द्वारा नेत्रों में अञ्जन करते रहना चाहिये ।[1]

श्लेष्मोपनाह चिकित्सा—उपनाह रोग में श्लैष्मिक भेद्य, महान् और नीरुज लेख्य, रक्तानुबन्धी प्रच्छनीय होते हैं। श्लेष्मोपनाह में भेदन, लेखन, प्रक्षालन करने के अनन्तर पिप्पली, मधु, सैन्धव में से किसी एक के द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये। लेखन की क्रिया मण्डलाग्र शस्त्र से करने का विधान है।[2]

अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श और वर्त्मार्बुद (Tumour & warts of the Eyelids)—इन रोगों की चिकित्सा में छेदन कर्म किया जाता है। ये सभी रोग वर्त्म के आभ्यंतर भाग में होते हैं। इनकी चिकित्सा का विधान इस प्रकार का है।[3]—वर्त्मों का स्वेदन करके उन्हें उलट कर

१. सम्यक् स्विन्ने कृमिग्रन्थौ भिन्ने स्यात्प्रतिसारणम् ।
त्रिफलातुत्थकासीससैन्धवैश्च रसक्रिया ॥

२. भित्त्वोपनाहं कफजं पिप्पलीमधुसैन्धवैः ।
लेखयेन्मण्डलाग्रेण समन्तात् प्रच्छयेदपि ॥ (सु. उ. १५)
श्लेष्मोपनाहः भेद्यः, महान्नीरुजश्च लेख्यः ।
रक्तानुबन्धश्च प्रच्छनीयः ॥ (डल्हण)

३. अर्शस्तथा यच्च नाम्ना शुष्कार्शोर्बुदमेव च ।
अभ्यन्तरं वर्त्मशया विधानं तेषु वक्ष्यते ॥
वर्त्मोपस्वेद्य निर्भुज्य सूच्योत्क्षिप्य प्रयत्नतः ।
मण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन मूले भिंद्याद् भिषग्वरः ॥
ततः सैन्धवकासीसकृष्णाभिः प्रतिसारयेत् ।
स्थिते च रुधिरे वर्त्म दहेत् सम्यक् शलाकया ॥
क्षारेणावलिखेच्चापि व्याधिशेषो भवेद्यदि ।
तीक्ष्णैरुभयतो भागैस्ततो दोषमधिक्षिपेत् ॥
वितरेच्च यथादोषमभिष्यन्दक्रियाविधिम् ।
शस्त्रकर्मण्युपरते मासं च स्यात् सुयन्त्रितः ॥ (सु० उ० १५)

वर्त्मान्तःप्रदेश पर प्रयत्न पूर्वक सूई लगाकर अर्श या अर्बुद को ऊपर की ओर उठाकर रखे, तदनन्तर तीक्ष्ण मण्डलाग्र शस्त्र के द्वारा रोग के मूल में भेदन (Incision) करना चाहिये। पश्चात् वहाँ सैन्धव, कासीस और पिप्पली से प्रतिसारण करना चाहिये। जब रुधिर स्राव बंद हो जाय तो शलाका के द्वारा वर्त्म का युक्ति पूर्वक दाह करना चाहिये। यदि अग्निदाह से पूर्णतया व्याधि का निर्मूलन न हो जाय अथवा यदि कुछ व्याधि अवशिष्ट रह जाय तो क्षार के द्वारा लेखन करना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो सार्वदैहिक दोषों के दूरीकरण के लिये इस रोगी का वमन और विरेचन के द्वारा उभयतः शोधन करना चाहिये। साथ ही दोषानुसार अभिष्यंद की चिकित्सा में कही जाने वाली प्रक्रियाओं का भी विधान करना चाहिये। नेत्र के इस शस्त्र-कर्म के बाद एक मास तक रोगी को सुयन्त्रित होकर (बिना अधिक हिले डुले) रहना चाहिये। क्लिन्न वर्त्म और अपरिक्लिन्न वर्त्म (Ulcerous & Squamous Blepharitis) रोगों की चिकित्सा में अभिष्यंदवत् तर्पण सेक, आश्च्योतन, अंजन, नस्य और धूम आदि का प्रयोग मुख्य है। क्लिन्न या प्रक्लिन्न वर्त्म का दूसरा नाम पिल्ल रोग भी है। इसमें चिकित्सा का सूत्र (Line of treatment) इस प्रकार का रहता है कि रोगी के स्नेहन, सिराव्यध, शिरोविरेचन, आस्थापनादि क्रियाओं के द्वारा दोषों का निर्हरण करके यथा दोष बल, काल और वय के अनुसार नेत्रों का तर्पण करे पश्चात् सेक, आश्च्योतन, अंजन, नस्य एवं धूम का प्रयोग करे।[1]

मुस्तादिसेक या आश्च्योतन (Drop)—मुस्ता, हरिद्रा, मधुयष्टि, प्रियंगु, सिद्धार्थ (सर्षप), रोध्र, उत्पल और सारिवा प्रभृति द्रव्यों को चूर्ण करके अन्तरिक्षोदक (वर्षाजल) अथवा इसके अभाव में उन्हीं गुणों से युक्त पानी (परिस्रुत जल) में शीत कषाय बनाकर उसका आश्च्योतन या सेक करना क्लिन्न वर्त्म (Astringent) में लाभप्रद है।

---

१. स्नेहादिभिः सम्यगपास्य दोषांस्तृप्तिं विधायाथ यथास्वमेव ।
प्रक्लिन्नवर्त्मानमुपक्रमेत सेकाञ्जनाश्च्योतननस्यधूमैः ॥ (सु० उ० १३)

आमलकीरसाञ्जन—आँवले की पत्ती और फल लेकर उसका क्वाथ बनाकर क्वाथ को गाढ़ा करते हुए घनक्रिया करे (रसक्रिया)—इस विधि से बने रसाञ्जन का क्लिन्नवर्त्म में अंजन रूप में प्रयोग करे। निम्न लिखित कई और ग्राही अंजन (Astrigent Collirum) का प्रयोग इन दोनों विकारों में लाभप्रद है। जैसे :—

वंशमूल रसाञ्जन—बाँस के मूल से बनी रसक्रिया का अंजन अथवा इसी रसक्रिया को ताम्रकपाल (ताम्बे की कड़ाही) में शुष्क करके पतली वर्ति बना ली जाय और उसका अंजन नेत्रों में किया जाय तो वर्त्म में होने वाला विकार क्लिन्न वर्त्म ठीक हो जाता है।

त्रिफलारसाञ्जन—त्रिफला की रसक्रिया से बना अंजन।

पलाशपुष्परसाञ्जन—पलाशपुष्प की रसक्रिया से बना अंजन।

अपामार्गरसाञ्जन—अपामार्ग के पंचाङ्ग की रसक्रिया में निर्मित अंजन।

प्रत्यञ्जन—अंजन और प्रत्यञ्जन में थोड़ा भेद है। 'पश्चात् प्रशान्तदोषे यदञ्जनं क्रियते तत् प्रत्यञ्जनम्।' वास्तव में रोगी की तीव्रावस्था में अंजनों के विविध प्रयोगों का व्यवहार किया जाता है; परन्तु जब दोष शान्त हो गया हो, रोग उपशम की ओर चल रहा हो, थोड़ा-थोड़ा दोषवैषम्य शेष रह गया हो उस अवस्था में जिस मृदु अंजन का व्यवहार आवश्यक होता है, उसको प्रत्यञ्जन कहते हैं। इसके लिये क्लिन्न वर्त्म की जीर्णावस्था में प्रयुक्त होने योग्य एक योग का उल्लेख सुश्रुत ने किया है। इसमें कांस्य का मल लेकर कपास के बने कपड़े के साथ जला दिया जाता है, फिर उस राख में सफेद मरिच और ताम्र रज (भस्म) मिलाकर बकरी के दूध में पीसकर रख लिया जाता है। पुनः इसका अंजन रूप में व्यवहार करने का निर्देश है।[1]

चूर्णाञ्जन (Powders)—समुद्रफेन, सेंधानमक, शंख, मुद्‍ग, श्वेत मरिच इनसे बने चूर्णाञ्जन का प्रयोग क्लिन्नवर्त्म गत जाड्य, कण्डु

१. पिष्ट्वा छगल्याः पयसा मलं वा कांसस्य दग्ध्वा सह तान्तवेन।
प्रत्यञ्जनं तन्मरिचैरुपेतं चूर्णेन ताम्रस्य सहोपयोज्यम्॥

लक्षणों को शान्त करता है। दोषानुसार क्लिन्न एवं अपरिक्लिन्न वर्त्म प्रभृति की चिकित्सा में उपरोक्त योगों का ही प्रयोग हितकर होता है।

तुत्थकांजन—यह एक विशिष्ट अंजन है—इसका प्रयोग प्रक्लिन्न वर्त्म की अवस्था में कार्यकर होता है। यह एक बहुत ही ग्राही (Astringent) योग है जिससे वर्त्मशोफ की अवस्था में लाभ होता है। इसके बनाने में दीपशिखा का बना कज्जल और तुत्थ समान भाग में लेकर ताम्बे के बने चिकने घड़े के ऊपर घिसना चाहिये। घिसते वक्त उसमें घी भी मिला लेना चाहिये। इस अंजन का नेत्रों में प्रयोग करने से क्षोभ होकर (Irritants) वर्त्मगत रोग और शोफ की अवस्था दूर होकर रोपण शीघ्र होता है।[1]

पक्ष्मकोप चिकित्सा—('ट्रिकियेसिस' 'डिसट्रिकियेसिस' तथा 'एण्ट्रोपियन' की प्राचीन चिकित्सा) पक्ष्मकोप को प्राचीन संहिताओं में एक याप्य रोग बतलाया गया है। याप्य उस व्याधि को कहते हैं जिसमें सतत किसी न किसी प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती रहे और जब तक चिकित्सा चलती रहे, रोग का उपशम हुआ रहे और चिकित्सा के निवृत्त होने पर जो घातक हो जाय इसकी उपमा विष्कंभक (खम्भा) से दी जाती है। जैसे कोई गिरती हुई छत हो और उसको बचाने के लिये एक खंभा खड़ा कर दिया जाय तो जबतक वह खंभा खड़ा रहता है छत के गिरने का भय नहीं रहता। यदि खंभा हटा दिया जाय तो छत गिर जाती है। ठीक इसी प्रकार यहाँ पर रोगी के रोग के लिये ओषधि स्तंभ का काम करती है।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि पक्ष्मकोप की चिकित्सा में बार-बार कुछ न कुछ उपचार होते रहना चाहिये क्योंकि वर्त्मान्तः

१. प्रक्लिन्नवर्त्मन्यपि चैत एव योगाः प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य चैव।
सकज्जलं ताम्रघटे च घृष्टं सर्पिर्युतं तुत्थकमञ्जनञ्च ॥ (सु० उ० १३)

२. यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु या। क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति ॥ प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम्। प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधु योजितः ॥ (सु० सू० २३)

भाग में नये-नये केशों का उगना लगा रहता है—उनको पुनः पुनः निकालने की आवश्यकता पड़ती रहती है अन्यथा वे बढ़ कर कृष्णमण्डल को हानि पहुँचाकर दृष्टिशक्ति को नष्ट कर सकते हैं। इन मिथ्या पक्ष्मों की प्राचीन संज्ञा उपपक्ष्म है। ये बार-बार निकाले जाने पर भी बार-बार निकलते रहते हैं।

इस रोग की चिकित्सा में सुश्रुत ने चार प्रकार के उपक्रमों का उल्लेख किया है—

भेषज	शस्त्र	क्षार	अग्नि
विरेचन	१. उपपक्ष्मोत्पाटन (Eqilation)		
आश्च्योतन	२. शस्त्रकर्म।		
धूम			
नस्य			
लेप			
स्निग्धांजन			
रसक्रिया			

ये सभी उपक्रम पृथक् पृथक् आवश्यकतानुसार श्रेष्ठ हैं; परन्तु पक्ष्मोपरोध या पक्ष्मकोप की अवस्था याप्य होने के कारण ये सर्वथा व्याधि का निर्मूलन नहीं कर पाते अतएव अभिष्यंद के पाठ में आने वाले आश्च्योतनादि उपक्रमों को बरतते रहना चाहिये। इससे कई बार रोग का सर्वथा निर्मूलन भी हो जाता है।[1]

पक्ष्म-कोप का शस्त्र कर्म—पक्ष्म कोप के लिए जो शस्त्रकर्म सुश्रुत ने बतलाया है आधुनिक शस्त्रकर्म इससे बहुत मिलता है।

शल्यकर्म—स्नेहपान से स्निग्ध हुए रोगी को बैठा देना चाहिये। रोगी को नेत्र बंद करके रखना चाहिये। इस शस्त्रकर्म में वर्त्म के ऊपर

१. चत्वार एते विधयो विहन्तुं पक्ष्मोपरोधं पृथगेव शस्ताः।
विरेचनाश्च्योतनधूमनस्यलेपाञ्जनस्नेहरसक्रियाश्च॥ (सु० उ० १७)

भ्रू (भौंह) के नीचे दो भागों में बाँटकर उनमें पक्ष्माश्रित एक भाग को छोड़कर कनीनिका अपाङ्ग के ठीक बीच में (समान प्रदेश में) सब तरह से (समन्ततः) अर्थात् उपपक्ष्म माला के परिमाण में वर्त्म के ऊपर यव के आकार का चर्म का भाग तिर्यक् शस्त्र से काटकर निकाले। चर्म को काट लेने के बाद वहाँ पर अश्वादि के बालों से सीवन करे। पुनः इस सीवन के बालों को परस्पर में बाँधकर सभी को ललाट देश पर ले जाकर पट्ट बाँध कर स्थिर कर दे। व्रणस्थान पर घी और मधु का लेप संधान के लिये करे तथा अन्य व्रणोचित कर्मों को करे। पुनः जब शस्त्रकर्म का स्थान स्थिर या रूढ़ हो जाय तो बालों को एकैकशः टाँके काट कर निकाले।[1]

अग्नि तथा क्षारकर्म—यदि उपरोक्त शस्त्रक्रिया से भी पक्ष्मकोप में उपशम न होवे तो पलक को उलट कर दोषयुक्त वलि (जिसमें उपपक्ष्मों की माला हो) को अग्नि या क्षारकर्म के द्वारा प्रतिसारण करते हुए दाह करे। योगरत्नाकर ने तप्तलोह शलाका से उपपक्ष्मों को जलाने का निर्देश किया है तथा बड़ा उपयोगी बतलाया है।[2]

उपपक्ष्ममाला छेदन—यदि उपरोक्त शस्त्र, क्षार तथा अग्निकर्मों से भी रोग शान्त न हो तो शस्त्रकर्म का अन्तिम उपाय यह है कि उपपक्ष्म जिस रेखा में लगे हों उसका ठीक ज्ञान करके वर्त्म को पूरी लम्बाई में द्विधा विभाजित करे और उपपक्ष्म मालावाले भाग तीन वडिशों (Hoo-

---

१. तत्रोपविष्टस्य नरस्य चर्म वर्त्मोपरिष्टादनुतिर्यगेव। भ्रुवोरधस्तात् परिमुच्य भागौ पक्ष्माश्रितं चैकमतोऽवकृन्तेत् ॥ कनीनिकापाङ्गसमः समन्ताद्यवाकृतिस्निग्धतनोर्नरस्य। उत्कृत्य शस्त्रेण यवप्रमाणं वालेन सीव्येद्भिषगप्रमत्तः ॥ दत्त्वा च सर्पिः मधुनावशेषं कुर्याद्विधानं विहितं व्रणे यत्। ललाटदेशे च निबद्धपट्टं प्राक् स्यूतमत्राप्यपरं च बद्ध्वा॥ स्थैर्ये गते चाप्यथ शस्त्रमार्गे वालान् विमुञ्चेत् कुशलोभिवीक्ष्य।

२. छित्त्वा समं वाप्युपपक्ष्ममालां सम्यग्गृहीत्वा वडिशैस्त्रिभिस्तु। पथ्याफलेन प्रतिसारयेत्तु घृष्टेन वा तौवरकेण सम्यक् ॥ (सु. उ. १६)

ks) से ठीक प्रकार से पकड़ कर काट कर निकाल दे। पश्चात् हरीतकी या तुवरक के फल के घृष्ट से प्रतिसारण या घर्षण करे।[१]

वाग्भट के अनुसार पक्ष्मकोप में अग्निकर्म—पक्ष्मसंदंश (Epilation forcep) से अधिक उन बालों को उखाड़ कर उनके आश्रय (रोम कूपों) को अग्नि से तप्त सूची के द्वारा दग्ध कर देना चाहिये। इस क्रिया में पलक को उलट कर पक्ष्म मूल में जहाँ पर दोष का आश्रय हो दाह करना चाहिये। किसी संदंश से सूई को पकड़कर उसे रक्त तप्त कर के दग्ध करना चाहिये।[२]

चूर्णाञ्जन—पुष्पकासीस के चूर्ण को तुलसी के स्वरस में भावित करके ताम्र-पात्र में दस दिनों तक रखे पश्चात् उसका अंजन करना प्रारम्भ करे। यह योग उपपक्ष्मों को गिरा देता है।

पाश्चात्य नेत्र-रोगों के ग्रंथों में पक्ष्मकोप या परबाल की चिकित्सा में तीन क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। (१) उपपक्ष्मोत्पाटन (२) विद्युद्दहन (Electrolysis) तथा (३) शस्त्रकर्म।

(१) *उपपक्ष्मोत्पाटन*—इसका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।[३] इस कर्म को अंग्रेजी में 'इपिलेशन आफ सिलिया' (Epilation of cilias) कहा जाता है। इस कर्म में पक्ष्मोत्पाटन सन्दंश (Cilia Forcep) या साधारण चिमटी व्यवहार में लाई जा सकती है। इसके द्वारा बालों को पकड़ कर खींच लिया जाता है। इस क्रिया से अनेक रोगी वर्षों तक बिना किसी उपद्रव के चलते रहते हैं, परन्तु उपपक्ष्म सदा के लिये दूर नहीं होता, प्रति दो या तीन सप्ताह के अन्तर से बार बार बालों का निकलवाना आवश्यक हो जाता है।

१. रक्षन्नक्षि दहेत्पक्ष्म तप्तलोहशलाकया। पक्ष्मकोपे पुनर्नैवं कदाचिद्रोगसंभवः॥ पुष्पकासीसचूर्णं तु सुरसारसभावितम्। ताम्रे दशाहं तद्योज्यं पक्ष्मशातनलेपनम्॥ (यो. र.)

२. दहेद्दशांतौ निर्भुज्य वर्त्मदोषाश्रयावलिम्। संदंशेनाधिकं पक्ष्म हृत्वा तदाश्रयं दहेत् सूक्ष्माग्रेनाग्निवर्णेन दाहः। (अ. हृ. ३. ९)

३. रसक्रियाश्चेत्यत्र चकारात् उपपक्ष्मोत्पाटनम्। (डल्हण)

(२) *विद्युद्दहन*—इस क्रिया में चिमटी से बालों (उपपक्ष्मों) को निकाल कर उनके मूलों को विद्युत्-धारा के द्वारा जला दिया जाता है जिससे बालों का पुनरुद्भव नहीं हो पाता ।

(३) *शस्त्रकर्म*—आधुनिक ग्रन्थों में बहुत प्रकार के पक्ष्म कोप (Trichiasis or Entropion) के शस्त्र कर्मों का वर्णन मिलता है। पक्ष्म कोप जैसे पहले कहा जा चुका है—एक लक्षण मात्र का द्योतक है जिसको लोकभाषा में परबाल कहा जाता है । विकृति की दृष्टि से इसमें स्पष्टतया दो प्रकार के विकार हो सकते हैं । १. एक जिसमें उपपक्ष्मों की एक या दो पंक्तियाँ (Trichiasis or Districhiasis) निकली हों परन्तु वर्त्म में कोई परिवर्त्तन न हो पाया हो और वे स्वाभाविक हों। २. दूसरा एक ऐसा विकार है जिसमें वर्त्म (Lids) मुड़कर भीतर की ओर (पलक का अन्तरावर्त्तन या Entropion) हो गये हों जिससे स्वाभाविक पक्ष्म ही कष्टप्रद होकर पक्ष्मकोप की अवस्था पैदा कर रहे हों।

इन दोनों अवस्थाओं में से 'ट्रिकियेसिस' की स्थिति में 'आल्टजेशे' नामक वैज्ञानिक की शस्त्रक्रिया लाभप्रद होती है । इसमें वर्त्म के ऊपर की त्वचा काट ली जाती है और उपपक्ष्म पंक्तियों को ऊपर कर देते हैं।

वर्त्म के अन्तरावर्त्तन (Entropion) की अवस्था में कई प्रकार के शस्त्रकर्मों का उल्लेख मिलता है—जिनमें कुछ प्रसिद्ध विधियों का नामोल्लेख आवश्यक है । इनके विशेष ज्ञान के लिये किसी आधुनिक नेत्र ग्रन्थ का देखना आवश्यक है ।

१. 'स्नेलेन' की सीवन (Snellens suture)अधोवर्त्म के अन्तरावर्त्तन में व्यवहार में आते हैं ।

२. 'गेइलार्ड' की सीवन (Gailardi's suture)

३. वर्त्म की बाह्य त्वचा का छेदन (Excision of Horizontal strip of the skin) यह बड़ा सरल शस्त्र कर्म है, इसमें पलक को चेतनाहीन करके रोग के अनुपात से त्वचा का अर्द्धचन्द्राकार टुकड़ा काट लेते हैं फिर व्रण स्थान पर दो तीन टाँके लगा कर पट्टी बाँध देते हैं । तीसरे दिन पट्टी को खोल कर व्रण को देखते हैं, व्रण में यदि पूय

और शोथ नहीं रहता है तो पुनः पट्टी बाँध देते हैं और आठवें दिन पुनः टाँके को निकाल देते हैं।

४. 'होट्स' की शस्त्रक्रिया (Hotzoperation for trichiasis and Entropion) इस शस्त्रक्रिया में वर्त्मगत कोमलास्थि में त्रिकोणाकार टुकड़े का छेदन काट कर निकाल लिया जाता है। इनमें उपरोक्त चार कर्मों का उपयोग विशेषतया पक्ष्मकोप (Trichiasis) की अवस्था में होता है।

५ 'पन्ना' की शस्त्रक्रिया (Panna's operation for Entropion) यह ऊपर की क्रिया का ही सुधारा हुआ रूप है।

६. 'इविङ्ग' की शस्त्रक्रिया (Ewings operation for Entropion) इस क्रिया का सबसे बड़ा लाभ यह है कि रोगी के नेत्र पर कुछ भी दाग नहीं दीखता।

७. 'मैकेक ब्लास्कोविच' की पद्धति (Macheck Blaskveize operation)

८. 'वानमिलिगन' की पद्धति—(Van Milligun Technic)

९. कोमलास्थि या मृद्वस्थि का छेदन (Excision of the Tarsus)—जिन रोगियों में चिरकालीन रोहे हों और वर्त्म या कोमलास्थि बहुत टेढ़ी-मेढ़ी हो गई हो तथा पक्ष्मकोप की अवस्था उपस्थित हो ऐसे रोगियों में यह शस्त्रक्रिया हितकर होती है।

इन शस्त्रकर्मों से सुश्रुतोक्त प्रथम कर्म का सादृश्य बहुत कुछ 'ट्रिकियेसिस' में व्यवहृत होने वाले पूर्वोक्त चार शस्त्रकर्मों के साथ है जिनमें वर्त्म की केवल बाह्य त्वचा का छेदन (Excision of the Horizental strip of the skin) किया जाता है।

सुश्रुत में वर्णित दूसरे शस्त्र-कर्म का सादृश्य, जिसमें वर्त्म को पूरी लम्बाई में द्विधा विभाजित करके उपपक्ष्म माला वाले भाग को वडिशों से पकड़ कर काट देने का विधान है–वर्त्तमान वर्त्म तरुणास्थि छेदन (Excision of Tarsus) से है। अत एव संक्षेप में इस क्रिया का उल्लेख आधुनिक ग्रन्थों के आधार पर नीचे दिया जा रहा है।

शल्यकर्म—सर्वप्रथम वर्त्म तथा नेत्र का विशोधन करे पश्चात् स्थानिक

संज्ञाहर द्रव (Novocaine solution ३%) का वर्त्म की त्वचा में सूचीवेध करके चेतना हीन करे। पुनः नेत्रबीक्षण यंत्र (Eyespeculun) से नेत्र का विस्फारण करके विकृत वर्त्म को, उसके नीचे एक चिकना पत्रक लगाकर पलक को स्थिर कर ले।

अब वर्त्म की त्वचा में भेदन (Incision) करके एक शंकु के आकार का (Wedgeshaped) टुकड़ा जो ऊपर मोटा नीचे पतला हो पलक के मृद्वस्थिस्थित (Tarsus) से काटकर पृथक् कर लेना चाहिये। भेदन की लम्बाई २ मिली मीटर की होनी चाहिए और इसका स्थान वर्त्म के किनारे से १—२ मि० मीटर ऊपर होना चाहिये। भेदन में पहले त्वचा कटती है, फिर नेत्रच्छद की आकुंचक पेशी का कुछ भाग कटता है उसके बाद टार्सस का स्तर आता है। इसी में शंकु के आकार का टुकड़ा करना, इस शस्त्र कर्म का प्रधान उद्देश्य रहता है।

तत्पश्चात् रेशम सूत्र (Silkthread) को सुई में पिरोकर एक तरफ से बालों के किनारे से छेदकर भीतर कटे टार्सस भाग को छेदते हुए ऊपर की ओर पक्ष्म के किनारों से निकाल देते हैं। इस प्रकार के तीन टाँके लगाये जाते हैं। भेदन के बीच में एक टाँका तथा दोनों सिरे पर दो टाँके लगाना चाहिये। फिर सूत्र में दिये गये गाँठों के छोर को जो पक्ष्म प्रान्त पर (ललाट पर) होते हैं प्लास्टर से चिपका दिया जाता है।

शस्त्र कर्म के समाप्त होने पर आँखों में 'मर्क्युरोक्रोम घोल' की बूंदें छोड़नी चाहिये। सल्फा पाउडर का व्रण के ऊपर अवचूर्णन करना चाहिये। छठवें दिन पुनः टाँकों को काट देना चाहिये।

शुक्लगत रोग

(Diseases of Conjuctiva or Sclera)

नेत्र के शुक्ल भाग में होने वाले ग्यारह रोगों का वर्णन आचार्य सुश्रुत ने किया है।[1] अर्म (Pterygium)—आचार्य सुश्रुत ने इसके पाँच प्रकारों

१. प्रस्तारिशुक्लक्षतजाधिमांसस्नाय्वर्मसंज्ञाः खलु पञ्च रोगाः।

का उल्लेख किया है। अंग्रेजी में इस अवस्था को 'टेरिजियम्' कहते हैं और लोक भाषा में इसे नखूना कहते हैं। आधुनिक दृष्ट्या इसके कोई विशेष भेद नहीं माने जाते। प्राचीन आचार्यों ने इसके पाँच भेद तथा उनकी पृथक्-पृथक् संज्ञा भी दी है। आधुनिक दृष्टि से वे सभी अर्म के ही अन्दर आ जाते हैं। अथवा प्रधान रोग की आवस्थिक विशेषतायें समझी जा सकती हैं। *प्रस्तार्यर्म*—नेत्र के शुक्ल भाग में फैलती हुई रक्त सदृश ईषत् नीले रंग की गाँठ या रेखा जैसी लम्बी रचना बन जाती है। *शुक्लार्म*—शुक्ल भाग में मृदु, श्वेत, समान और धीरे-धीरे बढ़ने वाले अर्म को कहते हैं। *लोहितार्म क्षतजार्म*—लाल कमल के समान (अभिघात जन्य) मांस की वृद्धि होकर शुक्ल भाग को आच्छादित करने वाली गाँठ या रेखा को लोहितार्म कहते हैं। *अधिमांसजार्म*—यकृत् के वर्ण का मृदु, मोटा, विस्तीर्ण और श्याव वर्ण अधिमांसज अर्म होता है। *स्नायु-अर्म*—स्पर्श में खर होता है। नेत्र के श्वेत भाग में खुरदरा एवं कुछ पीलापन लिये हुए श्वेत मांस की वृद्धि से उत्पन्न होने वाले अर्म को स्नायु अर्म कहते हैं। उपरोक्त वर्णनों के आधार पर अर्म की सामान्य व्याख्या यह होगी कि नेत्र श्लेष्मावरण की एक पतली झिल्ली जैसी बढ़ने वाली विकृति जो अधिकतर वर्ण में लाल होती है और आकार में त्रिकोण सी होती है उसे अर्म कहते हैं। 'Atriagntar fold of membrane occupying the inter palpebral fissure extending towads cornea'.

यह अर्म प्रायः एक ही नेत्र में होता है, किन्तु कभी-कभी दोनों

स्युः शुक्तिका चार्जुनपिष्टकौ च जालं सिराणां पिडिका च या स्युः ॥
रोगा बलासग्रथितेन सार्द्धमेकादशाक्ष्णोः खलु शुक्लभागे ॥
प्रस्तारिप्रथितमिहार्मशुक्लभागे विस्तीर्णं तनु रुधिरप्रभं सनीलम् ॥
शुक्लाख्यं मृदु कथयन्ति शुक्लभागे सश्वेतं सममिह वर्द्धते चिरेण।
यन्मांसं प्रचयमुपैति शुक्लभागे पद्माभं तदुपदिशन्ति लोहितार्म ॥
विस्तीर्णं मृदुबहलं यकृत्प्रकाशं श्यावं वा तदधिकमांसजार्म विद्यात् ।
शुक्ले यत् पिशितमुपैति वृद्धिमेतत् स्नाय्वर्मेत्यभिपठितं खरं प्रपाण्डु ॥

नेत्रों में भी मिलता है। जब तक यह अर्म कृष्ण-मण्डल के मध्य तक नहीं पहुँचता तब तक बहुधा दृष्टि को हानि नहीं पहुँचती है परन्तु आगे बढ़कर कृष्ण-मण्डल के मध्य तक पहुँच जाने पर दृष्टि प्रायः बन्द हो जाती है। उस अवस्था में शस्त्रक्रिया के द्वारा अर्म को निकाल देने पर दृष्टि बिल्कुल साफ़ हो जाती है।

कारण—कारण का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता और न आधुनिक ग्रंथों में ही कोई अर्मोत्पादक निश्चित हेतु मिलता है। ऐसा अनुमान है कि कृष्ण-मण्डल की परिधि पर कोई सूक्ष्म क्षत हो, या किसी बाह्य पदार्थ के गिरने से छिल गया हो और वह भर रहा हो, उस समय नेत्र के भीतर श्लेष्मावरण का भाग फँस जाता है उसी से अर्म का प्रारम्भ होता है।

चिकित्सा—औषधिचिकित्सा—कृष्णादि पुटपाक—मरिच, लौहरज, ताम्र, शंख, विद्रुम, सैन्धव, समुद्रफेन, कासीस, स्रोताञ्जन तथा दधि मस्तु से बने लेखनाञ्जन का धारण करना। पिप्पल्यादि गुटिकाञ्जन—पिप्पली, त्रिफला, लाक्षा, लौहचूर्ण और सेंधानमक को भृङ्गराज के रस में घोटकर गुटिका बनाकर अंजन करना।

मरिचादि लेप—मरिच और बहेड़े का चूर्ण करके हल्दी के रस में मर्दित करके लेप करने से अर्म ठीक हो जाते हैं। यह श्रेष्ठ प्रयोग है।[1]

पुष्पादिरसक्रिया—पुष्पाक्ष (यशद का फूला) तार्क्ष्यज (रसौत) सिता, दधि, समुद्रफेन, शंख, सैन्धव, गैरिक, मनःशिला, मरिच इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर मधु में रसक्रिया करके अञ्जन करने से लाभ होता है।

ऊपर लिखी ओषधियों का पाठ योगरत्नाकर में संगृहीत मिलता है और अर्म की अवस्था में लाभप्रद बतलाया गया है। सुश्रुत ने अर्म की चिकित्सा में केवल शस्त्रकर्म बतलाया है। आधुनिक नेत्र-विशेषज्ञ भी यही मानते हैं कि अर्म में औषधोपचार से लाभ नहीं होता, केवल

१. संचूर्ण्य मरिचाक्षे च रजन्या रसमर्दिते ।
लेपनादर्मणां नाशं करोत्येष प्रयोगराट् ॥ (यो. र.)

शस्त्रकर्म ही चिकित्सा है। वास्तव में जब तक कि अर्म कृष्ण मण्डल (Cornea) की परिधि तक ही सीमित हो कोई चिकित्सा की खास आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु जब अर्म परिधि का उल्लंघन करके मध्य भाग की ओर बढ़ने लगा हो, स्थूल हो गया हो और दृष्टि में कुछ अंश में बाधक भी होने लगा हो तो तत्काल शस्त्रक्रिया के द्वारा उसे निकाल देना चाहिये।[1]

अर्म का आधुनिक शस्त्रोपचार निम्नलिखित रीति से किया जाता है—

नेत्र को खोलकर रखे। भीतर के भाग का विशोधन पारद धावन या बोरिक प्रक्षालन से कर ले। फिर वडिश यन्त्र को लगाकर उसे कृष्ण-मण्डल की परिधि से कुछ दूरी पर अर्म के नीचे से निकालने का प्रयत्न करे। यन्त्र को नीचे ऊपर ले जाकर इस प्रकार निकाले कि अर्म का भाग ऊपर उठ आवे और यह यन्त्र सहायक के हाथ में दे दे। पश्चात् मुक्त हुए अर्म के भाग को संदंश (चिमटी) से पकड़ कर शेष भाग को नेत्र गोलक पर से मुक्त कर दे। तत्पश्चात् निम्न दो पद्धतियों में से किसी एक को अपनावे—

(१) अर्म को बिल्कुल नेत्र गोलक के कोण (अपाङ्ग या कनीनिका) तक मुक्त करके त्रिकोणाकार में काट लेवे। पश्चात् इस प्रकार के काटने से नेत्र श्लेष्मावरण के मुक्त हुए दोनों भागों का सन्धान एक दो टाँकों से करे।

(२) दूसरी पद्धति यह है कि कृष्ण-मण्डल की परिधि के आगे के अर्म के हिस्से में से सुई के दो तागे निकाल कर उससे अर्म को दृढ़ बाँध दे। इससे चार पाँच दिनों में अपने आप अर्म गिर जायगा।

सुश्रुत ने अर्म की शस्त्र-चिकित्सा का बड़ा विशद और व्यावहारिक वर्णन किया है उसका अविकल अनुवाद मूल पाठ के साथ नीचे दिया

१. चर्माभं बहलं यत्तु स्नायुमांसघनावृतम् ।
छेद्यमेव तदर्म स्यात् कृष्णमण्डलगं च यत् ॥ (सु. उ. १५)

जा रहा है।[1] पाँचों प्रकार के अर्म में एक ही प्रकार का शस्त्रकर्म किया जाता है।

पूर्वकर्म—रोगी को स्नेहपान से स्निग्ध और भोजन कराके बैठाकर यह कर्म किया जाता है। पहले यथावश्यक यन्त्र शस्त्र से सुसज्ज चिकित्सक द्वारा यत्न-पूर्वक रोगी के अर्म का संरोषण और शिथिलीकरण (ढीला) किया जाता है। इसके लिये सैन्धव नमक का बारीक चूर्ण अर्म के भाग पर छिड़का जाता है जिससे अर्म का भाग ढीला पड़ जाता है।

कर्म—नेत्र को खुला रखे। शिथिलीभूत अर्म का स्वेदन करे और उसको चालित करे। जिस स्थान पर अर्म में बली (झुर्री) पड़ जाय उसी स्थान पर बडिश यन्त्र को लगावे। रोगी को अपाङ्ग (Outer Canthus) की ओर देखते रहना चाहिये। फिर बुद्धिमान् चिकित्सक को मुचुण्डी संदंश (Forcep) (तर्जनी और अंगुष्ठ से

१. स्निग्धो भुक्तवतो ह्यन्नमुपविष्टस्य यत्नतः ।
संरोषयेत्तु नयनं भिषक् चूर्णैस्तु लावणैः ॥
ततः संरोषितं तूर्णं सुस्विन्नं परिघट्टितम् ।
अर्म यत्र वलीजातं तत्रैतल्लगयेद् भिषक् ॥
अपाङ्गं प्रेक्षमाणस्य बडिशेन समाहितः ।
मुचुण्ड्याऽऽदाय मेधावी सूचीसूत्रेण वा पुनः ।
न चोत्थापयता क्षिप्रं कार्यमत्युन्नतं तु तत् ॥
शस्त्राबाधभयाच्चास्य वर्त्मनि ग्राहयेद् दृढम् ।
ततः प्रशिथिलीभूतं त्रिभिरेव विलम्बितम् ॥
उल्लिखन्मण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन परिशोधयेत् ।
विमुक्तं सर्वतश्चापि कृष्णाच्छुक्लाच्च मण्डलात् ॥
नीत्वा कनीनिकोपान्तं छिन्द्यान्नातिकनीनकम् ।
चतुर्भागस्थिते मांसे नाक्षि व्यापत्तिमृच्छति ॥
कनीनकवधादस्रं नाडी वाप्युपजायते ।
हीनच्छेदात् पुनर्वृद्धिं शीघ्रमेवाधिगच्छति ॥ (सु. उ. १५)

पकड़ने योग्य छोटी चिमटी) से पकड़ कर ऊपर की ओर अर्म को उठाना चाहिये । यदि मुचुण्डी संदंश अप्राप्य हो तो सुई और तागे के द्वारा ऊपर उठाने की क्रिया (उत्क्षेपण) की जा सकती है । वैद्य को उठाने में प्रमादवश शीघ्रता नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसके (अर्म के) टूटने का भय रहता है । रोगी के दोनों वर्त्मों को ऊपर और नीचे की ओर खूब दृढ़ता से पकड़ कर रखना चाहियें अन्यथा शस्त्र चलाने में बाधा होती है या उनके कटने का भय रहता है । फिर इस प्रकार नेत्र गोलक से शिथिल हुए अर्म को वडिशादि तीन-तीन साधनों से पकड़े गये तीक्ष्ण मण्डलाग्र शस्त्र (Round headad scalpel) से लेखन करता हुआ निकाले । पूरे अर्म के सन्तान (फैलाव) का शोधन करे । जब यह अर्म कृष्ण और शुक्लमण्डल (Cornea, Conjunctiva) से पूर्णतया विमुक्त हो जाय तो कनीनिका (Inner Canthus) के समीप में ले आकर काट दे । कनीनिका के समीप मुक्त हुए अर्म को ले आकर वडिश को निकाल लेना चाहिये । और प्रविष्ट किये सूची-सूत्र के सहारे ही लटकते हुए अर्म का छेदन करना चाहिये । काटते समय अतिछेदन न करे क्योंकि कनीनिका के कट जाने से रक्तस्राव या नाड़ीव्रण का भय रहता है और यदि हीन छेदन हुआ तो पुनः अर्म की वृद्धि होकर पूर्ववत् स्थिति हो जाती है । अस्तु, यथोचित काटना चाहिये । अक्षिगोलक के उपरितन मांस के चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाने से नेत्र को कोई हानि नहीं होती ।

सम्यक् छिन्न अर्म के लक्षण—यदि अर्म का शस्त्रकर्म सफल हुआ हो तो नेत्र-गोलक का वर्ण स्वच्छ, निमेषोन्मेष प्रभृति क्रियाओं में स्वाभाविकता, क्लम का दूर हो जाना तथा अन्यान्य उपद्रवों का अभाव होना प्रभृति चिह्न मिलते हैं ।[1]

पश्चात्कर्म—अर्म का पूर्ण निर्हरण नहीं हो पाया हो—कुछ शेष रह गया हो ता उसका आहरण केवल लेख्य अंजनों के प्रयोग से करना

१. विशुद्धवर्णमक्लिष्टं क्रियास्वक्षिगतक्लमम् ।
छिन्नेऽर्मणि भवेत्सम्यग्यथास्वमनुपद्रवम् ।

चाहिये ।[1] यदि अर्म का विस्तार अल्प हो तो उसका वर्ण धूसर, श्वेत, नील या रक्तवर्ण का हो तो उसका उपचार अव्रण शुक्रवत् (Opacities) जैसे लेख्यांजनों के प्रयोग से किया जा सकता है ।[2]

जो अर्म मत्स्य-जालवत् आस्तृत औप वर्त्म के समीप वाले शुक्ल में आश्रित हुआ लटकता हो उसे वक्रयंत्र के द्वारा पकड़कर मण्डलाग्र शस्त्र से काटकर निकालना चाहिये ।

अर्म के पूर्णतया छेदन कर लेने के बाद आँख का प्रतिसारण करना चाहिये । प्रतिसारण के लिये यवक्षार, सैन्धव और त्रिकटु के चूर्णों का प्रयोग करना चाहिये । पश्चात् स्वेदन कर नेत्रों के ऊपर पट्टी बाँध देनी चाहिये । यहाँ पर व्रणबंध में ऋतु काल एवं दोष का विचार करते हुए जैसा स्नेह हितकर हो उसका उपयोग करे । तत्पश्चात् सद्योव्रण में हितकर त्रिफला, लोध्र, चंदनादि के कषाय द्रव, कल्क और पिण्डादि के रूप जो चक्षुष्य द्रव्य हों उन्हें शोधन तथा रोपण क्रिया में प्रयोग करे और तत्पश्चात् व्रणवत् उपचार प्रारंभ करे । तीन दिनों के अनन्तर पहली बार पट्टी को खोलना चाहिये और करस्वेद (हाथ से सूखा सेंक) कर पश्चात् व्रण के शोधन की क्रिया करनी चाहिये ।[3]

आवस्थिक शूल के उपद्रव की चिकित्सा—करञ्जादि क्षीर-करंजबीजा-मलक, मधुक (मुलैठी) से सिद्ध किये दूध से मधु मिलाकर दिन में दो बार आश्च्योतन करना चाहिये ।

---

१. लेख्याञ्जनैरपहरेदर्मशेषो भवेद्यदि ।

२. अर्म चाल्पं दधिनिभं नीलं रक्तमथापि वा ।
धूसरं तनु यच्चापि शुक्रवत्तदुपाचरेत् ।

३. प्रतिसारणमक्ष्णोस्तु ततः कार्यमनन्तरम् ।
यावनालस्य चूर्णेन त्रिकटोर्लवणस्य च ।
स्वेदयित्वा ततः पश्चाद् बध्नीयात्कुशलो भिषक् ।
दोषर्तुबलकालज्ञः स्नेहं दत्त्वा यथाहितम् ।
व्रणवत् संविधानं तु तस्य कुर्यादतः परम् ।
त्र्यहान्मुक्त्वा करस्वेदं दत्त्वा शोधनमाचरेत् (सु. उ. १५)

मधुकादि लेप—मुलैठी, उत्पल, पद्मकेशर, दूर्वा प्रभृति द्रव्यों को दूध में पीसकर घृत मिलाकर सिर पर उसका लेप करना चाहिये ।

शुक्तिका—(Xerosis) नेत्र के श्वेत भाग (Conjuctiva) पर होने वाली श्याव (साँवले) वर्ण की मांस सदृश जल शुक्ति के समान पिडिकायें शुक्तिका कहलाती हैं । यह एक पित्तज विकार है और साध्य है ।[१]

वर्तमान नेत्र-ग्रंथों में एक नेत्र श्लेष्मावरण की शुष्कता नामक (Xerosis) रोग का वर्णन पाया जाता है । इस रोग में नेत्र का श्लेष्मावरण शुष्क, निस्तेज और सिलवट युक्त हो जाता है । फलतः उसका रंग जो स्वाभाविक नेत्र बाह्यपटल (Sclera) के हेतु से सफेद भासता है, वह मलिन (श्याव) प्रतीत होता है । इसी की उपमा घिसे काँच से दी जाती है—जैसे काँच को घिस देने पर वह अपारदर्शक हो जाता है, शुक्लमण्डल भी वैसा ही अपारदर्शक हो जाता है । नेत्र-श्लेष्मावरण जिस प्रकार सामान्यतया अश्रुप्रवाह से आर्द्र रहता है उस प्रकार इस विकृति में वह गीला नहीं रहता प्रत्युत शुष्क रहता है । आँख से चिपचिपा, गाढ़ा, लसदार स्राव होता है । यह रोग स्वतंत्र या प्रायः रोहे और अधिमन्थ आदि के उपद्रव रूप में क्वचित् मिलता है । इसके गंभीर एवं उत्तान दो प्रकार माने जाते हैं ।

चिकित्सा—आधुनिक ग्रंथों में इसकी कोई सिद्ध चिकित्सा नहीं मिलती तथापि रोहे, अधिमंथ प्रभृति कारणों को दूर करना, पौष्टिक आहार देना तथा स्थानिक उपचारों में दूध, घी, ग्लिसरीन, वेसलीन आदि में बने स्निग्ध अंजनों का प्रयोग लाभप्रद माना गया है ।

प्राचीन वैद्यक ग्रंथों में इसे औषधसाध्य पैत्तिक रोग बतलाया है । अतएव इसकी चिकित्सा १. पैत्तिक अभिष्यंद सदृश करनी चाहिये । २. अम्लाध्युषित नामक रोग के सदृश ही इसमें चिकित्सा करे । इस रोग में रक्तविस्रावण का निषेध है (क्योंकि इससे अपतर्पण होता है जहाँ इस रोग में संतर्पण एवं पौष्टिक आहार विहार की

१. श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये शुक्त्याभाः सितनयने स शुक्तिसंज्ञः ।

आवश्यकता होती है)। ३. रेचन के द्वारा पित्त का निर्हरण करना श्रेयस्कर है। अंजन—शीत द्रव्यों का अंजन करना चाहिये, जैसे—वैदूर्य, स्फटिक, विद्रुम, मुक्ता, शंख, चाँदी, स्वर्ण इन द्रव्यों के सूक्ष्म चूर्ण का मधु और शर्करा मिलाकर अंजन करना। ४. पीने में रोगी के संशमन के लिये पुराने घृत, तिल्वक-घृत या त्रिफला-घृत का प्रयोग करना चाहिए।[1]

अर्जुन—(Phlyctenular Conjunctivitis or Sub conjuctival Echymosis) नेत्र के शुक्ल भाग में शश (खरगोश) के रक्त के समान जो एक विन्दु या दाग हो जाता है उसे अर्जुन कहते हैं।[2] यह एक साध्य रक्तज विकार है।

चिकित्सा—प्राचीन संहिता ग्रंथों में अर्जुन की चिकित्सा में पित्तघ्न क्रियाक्रमों के रखने का उपदेश है।[3] ऊखका रस, मधु, चीनी, दूध, रसोंत, मुलैठी और सैंधव प्रभृति द्रव्यों का सेक तथा अम्ल द्रव्यों का आश्च्योतन करना चाहिये। दोष, बल और काल का विचार करते हुए चीनी, मुलैठी, कट्वङ्ग, मस्तु (मट्ठा), मधु, अम्ल, सैंधव, नीबू का रस, छोटी बेर का रस तथा खट्टे अनार के रसों में से किसी एक के द्वारा, या दो-दो, तीन-तीन के संयोग से या सभी मिलाकर अर्जुन की अवस्था में नेत्रों में आश्च्योतन (Drop) करना चाहिये।

अर्जुन की अवस्था में लाभप्रद अंजन—१. शंख, मधु और चीनी को घिस कर २. समुद्रफेन और मिश्री को घिसकर ३. सेंधानमक, निर्मली, मधु का एक में घृष्ट बनाकर ४. रसाञ्जन (रसोंत) और मधु को घिसकर ५. कासीस और मधु घिसकर अंजन करना हितकर है।

---

१. एषोऽम्लाख्येऽनुक्रमश्चापि शुक्तौ कार्यः सर्वः स्यात् सिरामोक्षवर्ज्यः। सर्पिः पेयं त्रैफलं तैल्वकं वा पेयं वा स्यात् केवलं यत्पुराणम्। दोषेऽधस्तात् शुक्तिकायामपास्ते शीतैर्द्रव्यैरञ्जनं चाशु कुर्यात्।

२. एको यः शशरुधिरोपमश्च बिन्दुः शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति।

३. पैत्तं विधिमशेषेण कुर्यादर्जुनशान्तये।

प्रविचार—बहुत से विद्वानों ने सुश्रुतोक्त अर्जुन रोग की तुलना आधुनिक पाश्चात्य ग्रंथों के आधार पर 'फ्लिक्टेन्यूलर कंजंक्टिवाइटिस' से किया है। यह भोजन में जीवतिक्ति द्रव्य (Vitamin A&D) की न्यूनता से होनेवाला विकार है, जिसमें कृष्ण मण्डल की परिधि (किनार) पर नेत्रश्लेष्मावरण में एक छोटी पिटिका होती है। वह नीचे की ओर चौड़ी और ऊपर में नुकीली होती है। एक दो दिनों में उसका शिखर भाग घिस जाता है और वहाँ सूक्ष्म क्षत उपस्थित हो जाता है। दो दिनों के बाद वह पिटिका अदृश्य हो जाती है और उसके स्थान पर कृष्णमण्डल और नेत्रश्लेष्मावरण के संधि-स्थल पर एक क्षत भासता है। उसके पास से रक्तवाहिनियाँ प्रारंभ होकर नेत्रश्लेष्मावरण के बाहर के भाग की ओर फैलती जाती है। इससे त्रिकोणाकार एक लाल दाग हो जाता है। उस त्रिकोण का नोकदार भाग क्षत के पास और चौड़ा भाग बहुधा नेत्रकोण की ओर रहता है। इसकी लाली के अतिरिक्त नेत्रश्लेष्मावरण के अन्य किसी भी भाग में लाली नहीं रहती। अधिकतर यह क्षत एक से अधिक नहीं होते। कदाचित् एकाधिक भी हो सकते हैं उस दशा में कृष्णमण्डल के चारों ओर एक दूसरे से कुछ-कुछ दूरी पर होते हैं।

उपचार—यह चिरकाल तक चलने वाला एक रोग है। कई बार सद्भाग्य से स्वयमेव दूर हो जाता है। अच्छा होकर पुनः पुनः भी होता रहता है। इसकी आधुनिक चिकित्सा में स्निग्ध और पौष्टिक पदार्थ (काडलिवर आयल, हैलिबट आयल, आस्टीलीन, एडोक्सिलीन) देना प्रधान माना जाता है। स्थानिक उपचारों में नेत्र को टंकणधावन से प्रक्षालन, रसकर्पूर (कैलोमल डस्ट या मल्हम) का प्रयोग, पीला मल्हम (Yellow oxide of mercury ointment) का उपयोग हितकर माना है।

अर्जुन रोग की समता एक अन्य आधुनिक विकार के साथ भी की जा सकती है। विशेषतः प्राचीन चिकित्सा के ऊपर विचार करने पर तो यही अधिक सम्मत भासता है कि वह नेत्रश्लेष्मावरणाधः रक्तस्राव

(Sub Conjunctival Echymosis) का विकार है। इस रोग की सम्प्राप्ति बहुधा अकस्मात् होती है। इसमें नेत्र गोलक के सफेद भाग में छोटा या बड़ा श्याववर्ण का (कृष्णाभ) रक्त दाग प्रतीत होता है। जब वह दाग उत्पन्न होता है तब विशेष लाल होता है फिर कुछ समय के बाद उसमें कालापन आने लगता है। आठ दिनों तक वैसे रह कर रंग कम होने लगता है—एक पक्ष या बीस दिनों में नेत्र लगभग स्वस्थ हो जाते हैं। दो तीन सप्ताह के भीतर रोग का प्रशमन हो जाता है।

यह रोग अनेक बार प्रायः बिना किसी कारण के होता है। कुकास (Whooping cough) से पीड़ित बच्चों के नेत्रश्लेष्मावरणगत रक्तवाहिनियों के फट जाने से प्रायः इस प्रकार की विकृति देखने को मिलती है–जिससे नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे रक्तस्राव हो जाता है। इसके अतिरिक्त हृदय, वृक्क आदि के विकार तथा मधुमेह, अभिघात प्रभृति कारणों से भी हो जाता है। इस अवस्था के उपचार में किसी बड़े सम्भार की आवश्यकता नहीं पड़ती तथापि रोगी की सान्त्वना के लिये उसे शीतल उपचार की आवश्यकता पड़ती है। जैसे चिकित्सा में सुश्रुत ने इक्षुरस, फलरस, अम्लरस, शर्करा आदि का विधान किया है उसी प्रकार आधुनिक उपक्रमों में शीतल जल, बरफ, गुलाबजल, शर्कराजल (सूगर लेड) का बाह्योपचार तथा आश्च्योतन (Z. A. B. drop) करना चाहिये।

पिष्टक (Pinguecula)–तण्डुलपिष्ट (पिसे चावल) के समान शुक्ल वर्ण का या जल समान स्वच्छ वर्ण का उठा हुआ वृत्ताकार बिन्दु (दाग) होता है जो नेत्रलेष्मावरण में पाया जाता है। यह श्लैष्मिक विकार है एवं साध्य है।[1]

सुश्रुतोक्त पिष्टक रोग की समता बहुत कुछ आधुनिक नेत्र-रोगों के आधार पर अंग्रेजी के पीतविन्दु (Pinguecula) नामक रोग से की जा सकती है। यह रोग कृष्णमण्डल के किनारे पर नेत्रश्लेष्मावरण में होता है। इसमें कुछ मैले रंग की चर्बी के समान पिटिकायें उठी हुई-

१. उत्सन्नः सलिलनिभोऽथ पिष्टशुक्लो बिन्दुर्यो भवति स पिष्टकः सुवृत्तः।

सी भासती हैं। इसमें नेत्र में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं रहती और न दृष्टि को ही हानि पहुँचने का भय रहता है। फलतः इसमें किसी उपचार की भी आवश्यकता नहीं रहती, बहुत बढ़ने पर कर्त्तरी और सन्दंश की सहायता से काट देना होता है।

प्राचीन चिकित्साः—इस रोग में श्लेष्माभिष्यन्द सदृश चिकित्सा का क्रम रखना चाहिये। कई ऐसे विशिष्ट अंजन हैं, जिनका प्रयोग पिष्टक में हितावह है।

महौषधादि अञ्जन—सोंठ, पीपल (छोटी), नागरमोथा, सेंधा नमक सफेद मरिच, सहिजन-बीज इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर बिजौरे नींबू के रस में पीस कर अञ्जन करने से पिष्टक नष्ट हो जाता है।

कण्टकार्यादि अञ्जन—कण्टकारी का फल जब पक्वावस्था में आ गया हो उसके बीजों को निकाल कर उसके भीतर में पिप्पली और सौवीरांजन को सम मात्रा में लेकर भर देना चाहिये। एक सप्ताह के बाद उसे पीस कर या घिस कर अंजन करना चाहिये।[1] इसी विधान के अनुसार इन्द्रायण के फल के भीतर भी भर कर अंजन का निर्माण किया जाता है जिसका उपयोग पिष्टक में लाभप्रद है।

सिराजाल (Scleritis)—बड़ी बड़ी और कठिन सिराओं से रक्तवर्ण को जाल सदृश (अनुलोम विलोम विस्तृत सिराओं के सञ्चय से उत्पन्न होने के कारण) रचना इस विकृति में बन जाती है जो नेत्र के शुक्ल भाग में दिखलाई पड़ती है। अत एव इसे सिराजाल कहते हैं। यह रक्तज विकार साध्य है।[2]

इस वर्णन के आधार पर आधुनिक दृष्ट्या इस रोग को नेत्रबाह्यपटलशोथ (Scleritis) कह सकते हैं। आधुनिक ग्रन्थों में इस रोग के दो प्रकार बतलाये गये हैं—१. उत्तान प्रकार (Episcleritis) तथा २. गम्भीर प्रकार (Deep Scleritis) यह रोग प्रायः

१. फले बृहत्या मगंधोद्भवानां निधाय कल्कं फलपाककाले।
स्रोतोजयुक्तं च तदुद्धृतं स्यात्तद्वत्तु पिष्टे।

२. जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः सन्तानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ॥

आमवात, वातरक्त, फिरंग, क्षय और गण्डमाला के उपद्रव रूप में होता है। इसमें नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे कृष्णाभ रक्त या नीलाभ रक्त का दाग हो जाता है। यह दाग कुछ उभड़ा हुआ दीखता है। उस स्थान का श्लेष्मावरण भी लाल हो जाता है। बाह्य पटल और नेत्रश्लेष्मावरण की लाली में भेद रहता है। प्रायः नेत्र से स्राव, चिपचिपा पदार्थ नहीं निकलता, वेदना भी प्रायः नहीं होती या अल्प होती है। चार, पाँच या अधिक सप्ताह तक चलकर फिर शनैः शनैः घटने लगता है। एक बार शमन प्राप्त कर पुनः आक्रमण करता है। इस प्रकार महीनों या वर्षों तक इसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। यह रोग प्रायः वर्षों तक रहता है, परन्तु नेत्र को कोई हानि नहीं पहुँचती। इस व्याधि को नेत्रबाह्यपटल का उत्तानशोथ (Epi Scleritis) कहते हैं। संभवतः सुश्रुत ने इसी रोग को सिराजाल नामक रोग से वर्णन किया हो। आधुनिक नेत्रग्रंथों में इसका कोई विशेष उपचार नहीं लिखा है कारणानुसार आमवात, वातरक्त और फिरंग आदि की चिकित्सा करनी चाहिये।

चिकित्सा—प्राचीन ग्रन्थों में सिराजाल की चिकित्सा अर्मवत् की जाती है। वडिश से मोटी मोटी सिराओं को ऊपर उठाकर मण्डलाग्र शस्त्र से उनको काट देना चाहिये।[1] पश्चात लेख्याञ्जनों से प्रतिसारण करना चाहिये।

सिराज पिडिका(Deep Scleritis)—कृष्ण मण्डल के समीप नेत्र के शुक्ल भाग में श्वेत रङ्ग की पिडकायें निकलती हैं जो सिराओं से आवृत रहती हैं उनकी संज्ञा सिरापिडिका या सिराजपिडिका है।[2]

चिकित्सा—सिराजाल सदृश ही इसकी भी चिकित्सा है। यह औषधसाध्य रोग नहीं वल्कि शस्त्रकर्म (छेदन) से साध्य है। मण्डलाग्र शस्त्र से अर्मवत् छेदन का विधान है। शस्त्रकर्म के

१. सिराजालैः सिरा यास्तु कठिनास्ताश्च बुद्धिमान्।
उल्लिखेन्मण्डलाग्रेण बडिशेनावलम्बिताः॥

२. शुक्लस्थाः सितपिडकाः सिरावृता यास्ता विद्यादसितसमीपजा सिराजाः।

बाद दोषानुसार लेखन द्रव्यों से बने चूर्ण के द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये ।[1]

कई लोगों ने इस रोग की तुलना आधुनिक दृष्ट्या पिटिकामय क्षत (Phlyctenular conjunctivitis) से किया है जो लक्षणों पर विचार करने पर तो बिल्कुल संगत प्रतीत होता है; परन्तु चिकित्सा पर विचार करते हुए यह असंगत प्रतीत होता है। पिटिकामय क्षत औषधसाध्य व्याधि है और यह (सिराजपिडिका) औषधसाध्य बिल्कुल ही नहीं है—यह शस्त्रकर्म साध्य है—ऐसा स्पष्टतया आचार्य ने लिखा है। अतएव संभवतः यह नेत्रबाह्यपटलशोथ की ही कोई अवस्था विशेष है।

आधुनिक नेत्र-ग्रंथों के आधार पर नेत्रबाह्यपटल के गम्भीर शोथ (Deep scleritis) के बाद की अवस्थाओं में शुक्ल मण्डल के भाग पर एकाधिक ग्रंथियाँ दीख पड़ती हैं—जो वर्ण में श्वेत होती है; परन्तु नीचे के मध्य पटल के काले होने की वजह से कुछ श्याम भासती हैं। बहुत बार इन ग्रन्थियों के हेतु ही इस रोग का निदान हो पाता है। इनकी चिकित्सा में शस्त्रकर्म कुछ सार्थक भी है। संभवतः सिराजपिडिका से उसी अवस्था का वर्णन प्राचीनों का है।

बलास—कांस्यकी आभा के समान जल की बूंद तुल्य, बिना पीड़ा की उभारें शुक्ल मण्डल में पाई जाती हैं जिन्हें बलास कहते हैं।[2] यह श्लैष्मिक विकार है और साध्य है। इसको स्पर्श में सुश्रुत ने अमृदु (कठोर) बतलाया है; परन्तु दूसरे आचार्यों तथा पाठान्तरों ने इसे मृदु बतलाया है।[3] यह मृदु पाठ ही ठीक मालूम पड़ता है।

१. सिरासु पिडका यास्ता न सिद्ध्यन्ति हि भेषजैः। अर्मवन्मण्डलाग्रेण तस्य- छेदनमिष्यते॥ रोगयोश्चैतयोः कार्यं मर्मोक्तं प्रतिसारणम्। विधिश्चापि यथादोषं लेखनद्रव्यसंभृतः॥

२. कांस्याभो भवति सितेऽम्बुबिन्दुतुल्यः
स ज्ञेयोऽमृदुररुजो बलासकाख्यः। (सु)

३. मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः।
जलबिन्दुरिवोच्छूनो मृदुः कफसमुद्भवः॥ (विदेह)

यह विकार भी बाह्यपटल शोथ का ही कोई सौम्य प्रकार भासता है। क्योंकि इसमें शस्त्रकर्म का निषेध है। केवल ओषधि के प्रयोग से ही ठीक हो जाता है। वर्णित लक्षणों के आधार पर बलास नामक विकार को 'पेरीनाड का अभिष्यन्द' (Perinaud's conjuctiva) कह सकते हैं।[1] इस रोग में नेत्र के श्लेष्मावरण के भीतर लाल और पीले दाने हो जाते हैं। जो श्वेत पटल पर जम जाते हैं, शरीर के अन्य भागों की रसवाहिनी ग्रन्थियाँ भी शोथ युक्त हो जाती है। इस रोग की उत्पत्ति सड़ी वस्तुओं या रोगी पशुओं के स्पर्श से होती है। नवीन वैद्यक में इसके उपचार का कोई श्रेष्ठ विधान नहीं हैं। सिल्वर नाइट्रेट तुत्थ प्रभृति लेखन के द्रव्यों से लेखन करना अथवा दानों को काटकर उनका विद्युद्दहन करना उपाय बतलाया गया है।

प्राचीन चिकित्सा—रोगी को पौष्टिक आहार एवं प्रकाश युक्त स्वच्छ स्थान पर रखता। वमन एवं विरेचन देकर शरीर का शोधन करना। निम्नलिखित क्षारांजन का प्रयोग करना भी हितकर होता है।

यवक्षार, सेंधानमक, गोरोचन, वनतुलसी की मंजरी, विष्णुक्रान्ता, वेल, निर्गुण्डी, चमेली का फूल लेकर सूक्ष्म चूर्ण तैयार करे। इस चूर्ण का १ भाग और बीस भाग गोघृत मिलाकर रख ले। इस अंजन की क्रिया तीक्ष्ण एवं क्षणन (Caustic) की होती है। किसी शलाका की सहायता से बलास के ग्रन्थि अंश पर लगाकर पश्चात् नेत्र का परिषेक करे। इससे ग्रथित अंश नष्ट हो जाता है एवं व्रण का रोपण हो जाता है।

कृष्णगत रोग

(Diseases of Cornea)

आचार्य सुश्रुत ने नेत्र के कृष्णभाग (Cornea) में होने वाले चार रोगों का वर्णन किया है—सव्रण शुक्र या शुक्ल, अव्रण शुक्र या शुक्ल, अक्षिपाकात्यय और अजकाजात।[2]

१. सन्तानो भवति सिरावृतः सिते यो
बिन्दुर्वा स तु नीरुजो बलासकाख्यः।

२. यत्सव्रणं शुक्रमथाव्रणं वा पाकात्ययश्चाप्यजकास् तथैव।
चत्वार एतेऽभिहिता विकाराः कृष्णाश्रयाः संग्रहतः पुरस्तात्॥

सव्रण शुक्र—(Corneal ulcer) प्राचीन आचार्यों ने सव्रण शुक्र को रक्तज और स्वभाव से ही असाध्य रोग माना है। इसमें नेत्र के कृष्णभाग (काले भाग Cornea) में गहराई में स्थित, इषत् दृष्ट या कठिनाई से दीख पड़ने वाला क्षत या व्रण का सूचीविद्धवत् स्थान पाया जाता है। नेत्र का पूरा भाग रक्ताधिक्य युक्त हो जाता है। तीव्र वेदना होती है तथा नेत्र से उष्ण आस्राव (आँसू) स्रवित होता है।[1] लोक भाषा में इस रोग को माणा कहते हैं।

अष्टाङ्गहृदयकार ने[2] इस रोग का कुछ अधिक विशद वर्णन किया है—इस रोग के लक्षणों में उष्ण अश्रुस्राव, दर्शनाक्षमता, तीव्र वेदना, श्वेत मण्डल (Conjunctiva) की लालिमा आदि का होना बतलाया है। उन्होंने इन लक्षणों से युक्त रोग को 'क्षत शुक्र' की संज्ञा दी है और इसे कष्टसाध्य व्याधि माना है। साध्यासाध्यता का विवेचन करते हुए उन्होंने तीन पटलों के अनुसार 'क्षतशुक्र' का विभाजन किया है। यदि पित्त केवल प्रथम पटल का ही भेदन किये हो तो उपरोक्त 'क्षत शुक्र' के लक्षण पैदा होते हैं। यदि द्वितीय पटल का भेदन कर गया हो तो तोदादि यंत्रणा अधिकता से होती है और विकार याप्य हो जाता है। तृतीय पटल का भेदन करके जो 'क्षत शुक्र' उत्पन्न होता है वह व्रणों से उपचित और असाध्य होता है। संभवतः आचार्य सुश्रुत ने इस तृतीय पटलाश्रित 'क्षत शुक्र' का ही वर्णन अव्रण शुक्र नाम से किया हो और असाध्य माना हो। डल्हणाचार्य ने भी सुश्रुत के सव्रण शुक्र के चिकित्सापरक सूत्रों की टीका करते हुए लिखा है कि उत्तान शुक्र का अर्थ एक पटलगत व्रण और अवगाढ कहने का अर्थ दूसरे या तीसरे

---

१. निमग्नरूपं तु भवेद्धि कृष्णे सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्वै।
स्रावं स्रवेदुष्णमतीव रुक् च तत् सव्रणं शुक्लमुदाहरन्ति ॥

२. पित्तं कृष्णेऽथवा दृष्टौ शुक्रं तोदाश्रुरागवत्। छित्त्वा त्वचं जनयति तेन स्यात् कृष्णमण्डलम् ॥ पक्वजम्बुनिभं किंचित् निम्नञ्च क्षतशुक्रकम्। तत्कृच्छ्रसाध्यं याप्यं तु द्वितीयपटलव्यधात् ॥ तत्र तोदादिबाहुल्यं सूचीविद्धाभकृष्णता। तृतीय-पटलच्छेदादसाध्यं निचितैर्व्रणैः ॥ अ. हृ. उ. १०

पटल तक पहुँची हुई स्थिति का व्रण है। फलतः सुश्रुत ने भी व्रण की गहराई के अनुसार दो या तीन अवस्थायें उत्तान और अवगाढ आदि का भेद किया है।

सुश्रुत के अनुसार रोग की साध्यासाध्यता (Prognosis)—जो अव्रण शुक्र या शुक्ल १. दृष्टि के समीप न हो, २ बहुत गहराई में अवस्थित न हो ३. जिसमें अत्यधिक अश्रुस्राव न हो ४. जिसमें वेदना न हो या अल्प हो, ५. तथा दो शुक्रक्षत स्थान न हों तो चिकित्सा करने से कदाचित् ठीक हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत जो १. तत्स्थानगत धातुओं के विदीर्ण हो जाने से छिन्न या छिद्र युक्त हो गया हो, २. आच्छिन्न मांस सदृश उठे हुए मांस से आवृत हो गया हो ३. चंचल सिराओं से जो सक्त हो, ४. जो दृष्टि का निरोध करता हो ५. दो पटलों में जो आश्रित हो, ६. जिसका प्रान्तभाग लाल हो, अथवा ७. जो चिरकालजात हो ऐसे सव्रण शुक्ल की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। इन लक्षणों के अतिरिक्त जिन सव्रण शुक्रों में—१. उष्णाश्रु का स्राव बहुत हो रहा हो, २. मूंग की दाल के बराबर की पिडिका या शुक्र हो वह भी असाध्य होता है। अथवा जो क्षत शुक्ल तित्तिर पक्ष की आभा का हो वह भी असाध्य है। ऐसा भी कुछ-कुछ विद्वानों का मत है।[1]

विदेह के अनुसार सव्रण शुक्र का लक्षण डल्हण की निबंध संग्रह नाम की टीका में मिलता है 'लाल वर्ण की राई के समान या मूँगे के समान नेत्र के कृष्णभाग में सूच्यग्र के परिमाण का क्षत दिखलाई पड़ता है जिससे उष्ण अश्रु का स्राव होता रहता है। इस व्रण युक्त

१. दृष्टेः समीपं न भवेत्तु यच्च न चावगाढं न च संस्रवेद्धि।
अवेदनावन्न च युग्मशुक्रं तत्सिद्धिमाप्नोति कदाचिदेव ॥
विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा चलं सिरासक्तमदृष्टिकृच्च ।
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम् ॥
उष्णाश्रुपातः पिडका च कृष्णे यस्मिन् भवेद् मुद्गनिभं च शुक्रम् ।
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्यच्च यत्तित्तिरपक्षतुल्यम् ॥ सु·

रोग को सव्रण शुक्र कहते हैं ।"[1] जब यह व्रण कृष्णमण्डल के दो पटलों तक आश्रित रहता है तो उष्ण अश्रुस्राव और चोष दाह का होना तथा मूँग के बराबर शुक्र का होना पाया जाता है ।[2]

उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर सव्रण शुक्ल को नवीन वैद्यक के आधार पर कृष्णमण्डल शोथ (Inflammation of cornea or keratitis) का एक प्रकार कहा जा सकता है । कृष्णमण्डल शोथ (Keratitis) के दो प्रकार प्रधानतया बतलाये जाते हैं (१) क्षतरहित तथा (२) क्षतसहित (Non ulcerative and ulcerative Keratitis) इन दो प्रकारों में से सव्रण शुक्र का अंतर्भाव क्षतयुक्त कृष्णमण्डल शोथ या कृष्णमण्डल व्रण (Ulcerative keratitis or Corneal ulcer) नामक रोग में ही होता है । इसका संक्षेप में आधुनिक ग्रंथों के आधार पर वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

सव्रण शुक्र या सव्रण शुक्रयाक्षत शुक्र या क्षत युक्त कृष्णमण्डल शोथ या कृष्णमण्डल व्रण (Ulcerative Keratitis or Corneal ulcer)— आधुनिक ग्रंथों में सव्रण शुक्ल के प्रधान (Primary) तथा औपद्रविक (Secondary) दो प्रकार बतलाये गये हैं । इन दोनों प्रकारों के वर्णन के पूर्व इस रोग का एक सामान्य लक्षण, चिह्न, परीक्षादि का वर्णन किया जा रहा है ।

लक्षण तथा चिह्न—(१) रोगी के नेत्र में वेदना क्षत के अधिक गहराई में होने पर असह्य होती है–रोगी को रात में नींद नहीं आती, तथा शिरःशूल भी असह्य हो जाता है ।

(२) नेत्र से अश्रुस्राव—यह स्राव गाढ़ा चिपचिपा नहीं होता बल्कि जल सदृश ही होता है, कितने रोगियों के नेत्र से इतना अधिक

१. रक्तराजीनिभं कृष्णे विद्रुमाभं प्रलक्ष्यते ।
सूच्यग्रेणेव तच्छुक्रमुष्णाश्रुस्रावि सव्रणम् ॥

२. चोषोष्णस्रावदाहस्तु कृष्णे च पिडिकोद्गमः ।
व्यक्तमुद्गफलाकारं शुक्रं द्वित्वग्गतं भवेत् ॥

स्राव होता है कि रोगी अपने हाथ में रूमाल लिये निरन्तर उसे पोंछता रहता है। नेत्र के खोलने में अतिशय कष्ट होता है। क्षत के हेतु दृष्टि में न्यूनता आ जाती है। यदि क्षत बीच में हो तो दृष्टि को अधिक हानि पहुंचती है। यदि जलमय रस के पूर्वखण्ड में स्राव संगृहीत हुआ हो, तो भी दृष्टि में बहुत बाधा पहुंचती है। यदि तारामण्डल (Irisand ciliary body) का शोथ हुआ हो और उस हेतु तारक में स्राव हो तो दृष्टि को अतिशय हानि पहुंचती है।

(३) नेत्र में लालिमा—नेत्र में लालिमा अधिक होती है यह विशेषतः शुक्ल मण्डल के चारों ओर गोलकभाग में विशेष भासती है। प्रकृतावस्था में कृष्णमण्डल पारदर्शक होता है, परन्तु व्रण की अवस्था में अपारदर्शक हो जाता है या पारदर्शकता की न्यूनता हो जाती है। जहाँ पर क्षत स्थान होता है वहाँ पर एक छोटा सफेद दाग या गड्ढा पड़ जाता है। गड्ढे का तल मैले रंग या श्वेत आवरण से आच्छादित प्रतीत होता है। इस प्रकार के कई स्थान व्रणों की संख्यानुसार बने मिलते हैं। कृष्णमण्डल के व्रणों में अनेक बार उपद्रव रूप से अग्रिमाजलधानी (Ant. Chamber) में पूय संग्रह (Hypopyon) हो जाता है। यह स्थिति इस रोग में प्रायः उत्पन्न होती है। इससे दृष्टि का निरोध होता है। यह पूयस्राव यथार्थ नहीं है, किन्तु क्षत के कारण कीटाणुओं से जो विष उत्पन्न होता है उसके प्रभाव से तारामण्डल और तन्तुमय समूह के धमनियों का स्राव होता है। यह द्रव प्रायः क्षत भरने पर शोषित होकर अदृश्य हो जाता है। किन्तु ऐसा सर्वदा नहीं होता। जब कई बार तारामण्डल में अवस्थित तारक धारा (Margin of the pupil) दृष्टि मणि (Lens) के आवरण (Capsule) के साथ चिपक जाती है तब इस प्रकार की हानि अधिक पहुंचती है।

यदि व्रण (Ulcer) का प्रकार सौम्य रहा तो नेत्रगत पीडा, लालिमा और स्राव कम होते हुए क्रमशः क्षत का रोपण हो जाता है। जिस स्थान पर क्षत हुआ रहता है, वहाँ पर रोपण के बाद व्रण वस्तु बन जाने से कृष्ण मण्डल का भाग अपारदर्शक हो जाता है। इसी

अवस्था विशेष का वर्णन प्राचीनों ने अव्रण शुक्र (Corneal opacity) नाम से किया है। यह शुक्र गम्भीर और उत्तान (Deap and superficial) भेद से दो प्रकार का होता है। यदि क्षत गहरा रहा तो अपारदर्शकता (फूली) गहरी पड़ती है और यदि उत्तान व्रण रहा हो तो अपारदर्शकता भी गहरी नहीं होती।

यदि व्रण के रोपण होने के बदले व्रण स्थान अधिकाधिक गहरा होता जाय तो कृष्णमण्डल का व्रण फूट जाता है और वह सच्छिद्र हो जाता है। यदि छिद्र छोटा हुआ तो उसमें से तारामण्डल (Iris) का कुछ भाग बाहर निकल आता है और काले बिन्दु जैसा प्रतीत होता है। इसी उपद्रव का वर्णन संभवतः सुश्रुत ने असाध्यावस्था सूचक शुक्र के लक्षणों में 'मुद्गनिभं च शुक्रं', 'विच्छिन्नमध्यं', 'पिशतावृत' आदि शब्दों से किया है। इस प्रकार कृष्णमण्डल के छिद्र से निकला हुआ तारामण्डल आजीवन उससे चिपका हुआ रह जाता है। इस हेतु तारक (Pupil) का आकार अनियमित सा हो जाता है उसकी आकृति में परिवर्तन हो जाता है। कई बार तारक (Pupil) इतना खिंच जाता है कि वह बन्द हो जाता है। इस अवस्था को तारामण्डल के अग्र भाग की संलग्नता (Anterior Synechia) कहते हैं।

यदि व्रण और अधिक गहरा हुआ और कृष्णमण्डल का छिद्र बहुत बड़ा हुआ अर्थात् कृष्णमण्डल के अधिक भाग का ध्वंस हो जाय तो कृष्णमण्डल के अग्र भाग का बहिर्निःसरण (Anterior Staphyloma) हो जाता है। यह स्थिति बहुत से रोगियों के नेत्र में प्रतीत होती है। इसी अवस्था को प्राचीनों ने 'अजकाजात' की संज्ञा की है और इसकी उपमा बकरी के पुरीष (मींगी) से दी है। अजा पुरीष के समान एक प्रवर्द्धन कृष्णमण्डल से निकला रहता है।

यदि व्रण के कारणभूत 'न्यूमोकोकाई', रोहिणी या पूयमेह के दुष्ट कीटाणु रहें तो ये कीटाणु पूरे नेत्रगोलक को पूयमय बना देते हैं

और पूयमय शोथ या 'सशोफ अक्षिपाक' (Panopthalmitis) की अवस्था आ जाती है। इसके परिणामस्वरूप नेत्रगोलक स्वयं एक बड़ी विद्रधि का रूप ले लेता है और इस स्थिति में रोगी को पन्द्रह से बीस दिनों तक असह्य वेदना रहती है। संभवतः सुश्रुताचार्य ने इसी अवस्था का वर्णन 'अक्षिपाकात्यय' संज्ञा से किया है। पुनः गोलक की विद्रधि फूट जाती और पूय निकल जाती है। पूरे नेत्र गोलक के गल जाने से नेत्र में गढ़ा या कुआँ या गर्त बन जाता है जो अंग्रेजी में 'थाइसिस बल्बाई' (Thisis bulbi) कहा जाता है। इसी अवस्था विशेष की प्राचीन संज्ञा 'अक्षिशोष' है।

कारण—यदि किसी कारण से कृष्णमण्डल खुरच जाय तो उससे छिद्र के जरिये विविध रोगों के जीवाणु प्रविष्ट होकर रोग का उपसर्ग पैदा कर देते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति को अश्रुाशयशोथ हो तो उस स्थान में पूयजनक गोल कीटाणु या न्यूमोकाई से पूर्ण गाढ़ा स्राव संगृहीत होता रहता है। जब तक कृष्णमण्डल की बाह्य वृत्ति अविकृत रहती है तबतक कोई हानि नहीं पहुँचती, परन्तु यदि उसमें खुरच का निशान हो तो उस छिद्र से पहुँचकर ये कीटाणु अपना कार्य करते और शोथ का आरम्भ कर देते हैं और कृष्णमण्डल में व्रण हो जाता है। पोथकी, विभिन्न प्रकार के नेत्र के श्लेष्मावरण के शोथ (अभिष्यन्द) में कृष्णममण्डल के व्रण (सव्रण शुक्र) होना एक आम घटना है। इस प्रकार के जीवाणुओं में यावतीय पूयजनक जीवाणु, पूयमेह, रोहिणी का दण्डाणु, 'मोराक्सएक्सनफील्ड' के दण्डाणु प्रधानतया रोगोत्पादक हैं। कई बार कृष्णमण्डल की संरक्षण शक्ति का अभाव भी रोगोत्पादन में सहायक होता है। विशेषतः वृद्धावस्था में जब कृष्णमण्डल का पोषण पर्याप्त नहीं हो पाता तो वहाँ की रोगप्रतिरोधक क्षमता क्षीण हो जाती है जिससे मामूली उपसर्ग पर कृष्णमण्डल को व्रणित करने में समर्थ हो जाता है। यही कारण है कि वृद्धावस्था में कृष्णमण्डल कोथ (केरैटोमैलेशिया) हो जाता है जिसमें पूरा कृष्णमण्डल गलने लगता है। यह भी पोषणाभाव का ही द्योतक है। प्राचीन वैद्यकीय परिभाषा में इसे

दृष्टिगत आलोचक पित्त का अभाव कहा जा सकता है और चिकित्सा में चक्षुष्य द्रव्यों के प्रयोग का महत्त्व पाया जाता है। कई बार सव्रण शुक्र की उत्पत्ति दाँत और गले के उपसर्ग से भी हो जाती है।

सव्रण शुक्र के विपरिणाम या साध्यासाध्यता—कृष्णमण्डल के व्रण का अवस्थान, गहराई, मोटाई, जाति, काल-प्रकर्ष, रोगी का साधारण स्वास्थ्य प्रभृति बातों के ऊपर परिणाम तथा साध्यासाध्य का विवेक निर्भर करता है। यदि व्रण कृष्णमण्डल की परिधि के भाग में है तो रोपण के अनन्तर दृष्टि शक्ति को बाधा नहीं पहुँचती। वे ही व्रण चाहे कितने भी सूक्ष्म क्यों न हों यदि मण्डल के मध्य में हुए, तो उनके रोपण होने पर व्रण वस्तु पैदा होती है और अपारदर्शकता (अव्रण शुक्रता या opacity) पैदा होती है तथा दृष्टि शक्ति को अवश्यमेव हानि पहुँचती है। यदि व्रण गहरे हुए तो अपारदर्शकता (अव्रण शुक्रता) गाढ़ी होगी और दृष्टि शक्ति को हानि अधिक पहुँचेगी एवं आजीवन बनी रहेगी। यदि व्रण उत्तान (Superficial) और पतले हुए तो ओषधि चिकित्सा से उनका दूर होना संभव है। यदि व्रण स्थिर रहने वाला और बढ़ने वाला नहीं हुआ तो कृष्णमण्डल को अधिक हानि नहीं पहुँचाता। किन्तु वही व्रण यदि कृष्णमण्डल के मध्य भाग की ओर बढ़ता जाय तो अन्त में रोगी की दृष्टि को विशेष हानि पहुँचा देता है। व्रण का रोपण जितना ही शीघ्र होगा, दृष्टि को हानि उतनी ही कम होगी और जितना ही लम्बा समय लगा होगा दृष्टि को उतनी ही अधिक हानि पहुँचेगी।

यदि व्रण के कारण कृष्णमण्डल छिद्रयुक्त हो जाय, उसमें तारामण्डल (Iris) का पर्दा बाहर निकल आवे और उस छिद्र में पहुँच जाय तो दृष्टि को अधिक हानि पहुँचती है। यदि कृष्णमण्डल का बहुत ध्वंस हो गया हो और उत्पन्न छिद्र से यदि दृष्टि, काचरस आदि बाहर निकल आवें तो नेत्र बिल्कुल नष्ट हो जाता है और आँख बैठ जाती है।

यदि व्रण के हेतु कृष्णमण्डल का ध्वंस होकर गोलक का बहिर्नि-

गमन हो जाय तो दृष्टि को अति हानि पहुँचती है। यदि व्रण गहरा हो जाय और उसका पूय तारामण्डल तन्तु समूह (Ciliary body) आदि में पहुँचते हुए पूरे नेत्र गोलक में पूय उत्पन्न करे तो नेत्र नष्ट हो जाता है। कई दुर्बल और वृद्ध रोगियों में यदि और अधिक गहराई तक पहुँचकर मस्तिष्क पर्यन्त उपसर्ग पहुँच जाय तो रोगी का जीवन भी खतरे में पड़ जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि इस रोग के साध्यासाध्य का पूर्वकथन नेत्रवैद्य को बहुत विचार कर करना चाहिये अन्यथा अयश का भय रहता है। इन्हीं कारणों से आचार्य ने इसको एक कष्टसाध्य या असाध्य व्याधि कहकर पहले से ही घोषित करने की सलाह दी है और चिकित्सा से सफलता प्राप्त करने को 'कदाचिद्' दैवयोग से सफलता मिलना बताया है।

सव्रण शुक्र निदान साधन—सव्रण शुक्र की परीक्षा के लिये आज कल एक बड़ा उत्तम साधन है। रोगी के नेत्र में 'फ्लुओसीन' की कुछ बूंदें छोड़ दी जाती हैं। दो मिनट के बाद टंकण धावन (Boric wash) से नेत्र का प्रक्षालन किया जाता है। ऐसा करने पर जो भाग नीरोग रहता है, उस पर रंग नहीं चढ़ता, परन्तु व्रण या क्षत युक्त स्थान पीला या नीला हो जाता है। यदि क्षत का स्थान बड़ा है, तो परीक्षक को आँखों से दिखाई पड़ेगा। यदि सूक्ष्म है तो उस स्थान को बृहत् दर्शाने वाले यन्त्र की सहायक से रोगी को प्रकाश में रख कर देखना चाहिये। कृष्णमण्डल का व्रण युक्त स्थान गड्ढा जैसा दीखता है।

यदि कृष्णमण्डल का व्रण पूयजनक कीटाणुओं से उत्पन्न हुआ हो तो उपद्रव के रूप में अग्रिमा जलधानी में पूयसंग्रह (Hypopyon) हो जाता है। यदि रोगी को बैठा कर सामने से देखा जाय तो कृष्णमण्डल की परिधि का भाग श्वेताभ दीखता है। वह भाग परिधि की ओर गोल तथा ऊपर की ओर सीधी रेखा में दिखाई पड़ता है। यदि रोगी को लेटाकर उसका सिर पीठ की ओर झुका कर देखें तो पुतली

कर्षण के अनुसार सफेदी अदृश्य हो जाती है, एवं तारामण्डल का परदा ऊपर से आच्छादित हो जाता है। अग्रिमा जलधानी का पूय-संग्रह (Hypopyon) निर्जन्तुक होता है अतः उसके निर्हरण की आवश्यकता नहीं रहती। उसका अपने आप शोषण हो जाता है क्योंकि यह केवल तारामण्डल और तन्तु समूह की रक्तवाहिनियों से स्रवित होनेवाला स्राव होता है।

सव्रण शुक्र की चिकित्सा—(१) नेत्र प्रक्षालन—इसके लिये नेत्र को दिन में एक दो बार टंकण धावन (१ औंस जल में ५ ग्रेन), लवण विलयन (Saline Solution) या 'एक्रीफ्लैविन' के हल्के प्रवाही से प्रक्षालन करना चाहिये।

(२) स्वेदन—दिन में तीन-चार बार पन्द्रह-पन्द्रह मिनट का आर्द्र स्वेदन हितकर है।

(३) पट्ट (Bandage)—घर्षण से नेत्रों की रक्षा करने, रोपण में शीघ्रता लाने तथा नेत्र को पूर्ण विश्राम देने के लिये पट्टी बाँधना आवश्यक होता है। इससे प्रकाशासहिष्णुता भी कम हो जाती है।

(४) तारकप्रसारक योग—'एट्रोपीन' निश्च्योतन—यदि अग्रिमा जलधानी में पूयास्राव का संग्रह प्रतीत हो तो उस नेत्र में 'एट्रोपीन' का उपयोग पूरे परिमाण में करने पर स्राव का शोषण हो जाता है। 'एट्रोपीन' का प्रवाह १% का बना होना चाहिये। दिन में दो-तीन बार डालने से तारक (Pupil) ठीक प्रसारित हो जाती है और बनी रहती है। प्रारम्भ में इसे दो-तीन बार डालना चाहिये। एक पुतली के प्रसारित हो जाने पर उस स्थिति को कायम रखने के लिये दिन में एक बार भी डालने से काम चल सकता है।

(५) तारक संकोचक योग—प्रसारक योगों का निषेध—यदि व्रण बहुत बढ़ गया हो और कृष्णमण्डल के फटने का भय हो तो नेत्र में 'एट्रोपीन' नहीं छोड़ना चाहिये। अथवा 'एट्रोपीन' का प्रयोग चल

रहा हो और भीतर का दबाव बढ़ता हुआ मालूम हो तो 'एट्रोपीन' बन्द कर देना चाहिये, तथा कनीनिका संकोचक औषध-'इसरिन' 'पिलोकापाईन' आदि की बूंदें डालना चाहिये। यदि व्रण परिधि (कृष्ण मण्डल) के भाग में हो और क्षत अधिक गहरा हो गया हो तो कनीनिका संकोचक ओषधियों का प्रयोग लाभप्रद माना जाता है।

(६) जीवाणु उत्पत्तिरोधक (Antiseptics)—आयडोफार्म, जीरोफार्म, एरिस्टोल, कैलोमल आदि ओषधियों के चूर्ण, आर्जिराल (५ से १० प्रतिशत), कोलार्गल (२ प्रतिशत), मर्क्यूरोक्रोम (२ प्रतिशत), पेनिसिलीन की बूंदें, नेवीफार्म का मलहम, शुल्वारि समुदाय के ओषधियों के मलहर, लोक्यूला, इरगाफेन, सिबैजाल, पेनिसिलीन का मलहम प्रभृति योगों का उपयोग होता है। यदि व्रण 'मोरेक्स एक्सनफील्ड' के कीटाणुओं से उत्पन्न हुआ हो तो यशद लवण के प्रवाही (जिंकसल्फेट ½-१ ग्रेन एक औंस जल में बना हुआ) की बूंदे डालते रहना चाहिये। आजकल 'कार्टिसोन' या बृहत्तर क्षेत्र के एण्टीवायटिक स्थानिक प्रयोग में अधिक लाभप्रद मिल रहे हैं।

(७) क्षार तथा अग्निकर्म (Application of Caustics and Cauterization)—इसके लिये टिंक्चर आयोडीन, एसिड कार्बोलिक, एबसोल्युट एलकोहल, ताजा क्लोरिन जल, सैलिसिलिक एसिड का दस प्रतिशत का घोल, मेटाफेन (१: ३०००), फार्मेल्डी हायड (१०%) प्रभृति ओषधियाँ प्रयुक्त होती हैं।

(८) नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे अन्तःक्षेपण (Sub conjuctival Injection)—इस कार्य में २% का लवण विलयन या सायनायड आफ मर्करी का उपयोग होता है। लवणविलयन का भरण एक श्रेष्ठ उपाय है। इससे व्रणित स्थान के पोषण के अभाव की पूर्ति हो कर रोपण शीघ्र होता है। ठीक इसी प्रकार का कार्य 'डायोनीन' के आश्च्योतन का भी है। 'डायोनीन' १०% की शक्ति आश्च्योतन (Drop) के रूप में प्रयुक्त होता है। दिन में दो बार डालने की

आवश्यकता होती है—'डायोनीन' में रोपण क्रिया के अतिरिक्त वेदना-शामक गुण भी है। इसका मलहम के रूप में भी व्यवहार किया जा सकता है।

(९) शस्त्रकर्मजनित प्रतिबन्ध (Surgical Interference)—यदि उपर्युक्त सभी उपचारों के करने पर भी सफलता न मिले और रोग बढ़ता ही जाय तो अन्तिम उपाय शस्त्रकर्म करना चाहिये। इनमें अग्रिमा जलधानी से उसका वेध करके सजल द्रव (Apous Humour) को निकालने की प्रक्रिया की जाती है।

(१०) शारीरिक उपचार—ऊपर बतलाया जा चुका है कि पूयमेह, श्वसनक, मस्तिष्कावरण शोथ, रोहिणी प्रभृति रोगों के उपद्रव रूप में भी सव्रण शुक्र हो सकता है अतएव कारणभूत इन रोगों को दूर करने के लिये इनके सार्वदैहिक उपचारों को विशेष करना चाहिये। साथ ही 'सल्फाडायजीन' की गोलियों का प्रयोग भी क्षत शुक्र में लाभ करता है। पेनीसीलिन या अन्य एण्टीबायटिक्स का अंतःप्रयोग भी उत्तम रहता है।

अव्रण शुक्र या शुक्ल (Opacities of cornea)—अभिष्यन्द के परिणामस्वरूप नेत्र के कृष्ण भाग में जो सफेदी आ जाती है उसको अव्रण शुक्र कहते हैं। इसमें पीडा या अश्रुस्राव नहीं होता। इसकी सफेदी की आभा स्वच्छ पतले बादल से घिरे आकाश की तरह होती है। यह एक साध्य रक्तज विकार है। परन्तु जो शुक्र या सफेदी बहुत गहराई में स्थित हो अर्थात् दो पटलों तक आश्रित हो अथवा मोटी हो अथवा चिरकालिक हो वह कृच्छ्रसाध्य होता है।[1]

इस रोग को लोकभाषा में फूला या फूली कहते हैं। सव्रण शुक्र के पाठ में इसकी सम्प्राप्ति का वर्णन हो चुका है। इसकी उत्पत्ति कृष्ण

---

१. सितं यदाभात्यसितप्रदेशे स्यन्दात्मकं नातिरुगश्रुयुक्तम्।
विहायसीवाच्छघनानुकारी तदव्रणं साध्यतमं वदन्ति।
गम्भीरजातं बहलं च शुक्रं चिरोत्थितञ्चापि वदन्ति कृच्छ्रम्।

मण्डलगत व्रण के रोपण के परिणामस्वरूप होती है। किसी भी प्रकार का कृष्णगत व्रण यदि ऊपर के पर्त से अधिक गहराई पर पहुँचा हो तो वह न्यूनाधिक अंश में कृष्ण मण्डल की अपारदर्शकता पैदा करता है। क्योंकि क्षत के रोपण के बाद वहां पर जब नया व्रणवस्तु (Scar) बनता है तब वह प्राकृतिक कृष्णमण्डल के समान पारदर्शक नहीं होता। अतः कृष्णमण्डल का प्रत्येक व्रण छोटे या बड़े फूले को जन्म देता है। ऐसे फूले कृष्ण मण्डल पर परिधि या मध्य के भाग में एक या अधिक तथा छोटे या बड़े हो सकते हैं। आधुनिक मतानुसार इनके तीन प्रकार बतलाये जाते हैं—१. अच्छघनानुकारी या अभ्रशुक्र (नेबुला), २. चिरोत्थित और गम्भीर या दृष्ट (मैक्यूला) और ३. सम्पूर्ण कृष्ण गत या बहल शुक्र (ल्यूकोमा)। ये तीनों ही अव्रण शुक्र की अवस्थायें हैं।

शुक्र की प्राचीन चिकित्सा—शुक्र की चिकित्सा में चाहे वह सव्रण हो या अव्रण, लेखन कर्म प्रधान है। अन्तर केवल इतना ही है कि सव्रण शुक्र सन्तर्पण साध्य और अव्रण शुक्र अपतर्पण साध्य है। अव्रण शुक्र में प्रारम्भ से ही लेखन की क्रिया की जाती है; परन्तु सव्रण अवस्था में यदि उसमें कर्कशता हो तो प्रथम लेखन करके पश्चात् सन्तर्पण किया जाता है। अव्रण शुक्र की चिकित्सा में केवल लेखन की क्रिया करनी चाहिये। इसके लिए कई विशेष योग सुश्रुत ने दिये हैं।

[1]*लेख्याञ्जन*—सुवर्ण, पित्तल, सीसा, ताम्र, चाँदी, कृष्णायस

१. लोहचूर्णानि सर्वाणि धातवो लवणानि च।
रत्नानि दन्ताः शृङ्गाश्च गणश्चाप्यवसादनः।
कुक्कुटाण्डकपालानि लशुनं कटुकत्रयम्।
करञ्जबीजमेला च लेख्याञ्जनमिदं स्मृतम्।
पुटपाकावसानेन रक्तविस्रावणादिना।
सम्पादितस्य विधिना कृत्स्नेन स्यन्दघातिना।
अनेनापहरेच्छुक्रमव्रणं कुशलो भिषक्। सु. उ. १२

(काला लोहा) इनके सूक्ष्मरज, मनःशिला गैरिक प्रभृति सभी धातुओं के चूर्ण, वैदूर्य मरकत प्रभृति यावतीय रत्नों के चूर्ण, गाय, बैल आदि के सींग का चूर्ण–इन के योग से बना अञ्जन।

२. मुर्गी के अंडे की सफेदी (छिल्का) लशुन, त्रिकटु, करञ्जबीज, इलायची इनके योग से बने अञ्जन का प्रयोग।

नेत्र में लेखन की क्रिया करने के पूर्व दोषानुसार प्रदेह, परिषेक, नस्य, धूम, आश्च्योतन, अभ्यञ्जन, तर्पण और पुटपाक कर लेना चाहिये इन क्रियाओं के द्वारा नेत्रगत दोषों के बहिःपरिमार्जन (External Purging) होता है। साथ ही सिरावेध, शिराविरेचन और विरेचन के द्वारा रोगी के शरीर का अन्तःपरिमार्जन (Internal Purging) कर लेना चाहिये। उसके बाद लेखनकर्म करना चाहिये। ये सभी विधान अभिष्यन्द (Conjunctivitis) के हरने वाले हैं और शुक्र की अवस्था अभिष्यन्द के परिणाम स्वरूप ही आती है। अतएव मूल कारण को दूर करने के विचार से ही लेख्याञ्जन के पूर्व इन अभिष्यन्द विधानों की विधि वर्णित की गयी है।[1]

सव्रण शुक्र चाहे उत्तान (Superficial) हो या अवगाढ़ (Deep) हो, यदि वह कर्कश हुआ तो उसको शिरीषबीज, मरिच, पिप्पली, सैन्धव के मिश्रित चूर्ण से अथवा केवल सैन्धव से घर्षण करना चाहिये।[2] इन (Itritants and counter irritants) द्रव्यों के घर्षण से कार्य लगभग उसी प्रकार का होगा जिस प्रकार कि आधुनिक युग के लवण विलयन का श्लेष्मावरण के अधःप्रदेश में सूची के द्वारा अन्तःक्षेपण का। कृष्ण मण्डलगत रक्तसंचार बढ़ेगा, उसका अधिकाधिक पोषण होकर व्रण के रोपण में शीघ्रता आयेगी।

---

१. ततः प्रदेहान् परिषेचनानि नस्यानि धूमाश्च यथास्वमेव।
आश्च्योतनाभ्यञ्जनतर्पणानि तथैव कार्याः पुटपाकयोगाः (डल्हण)

२. उत्तानमवगाढं वा कर्कशं वापि सव्रणम्। शिरीषबीजमरिचपिप्पलीसैन्धवैरपि।
शुक्रस्य घर्षणं कार्यमथवा सैन्धवैरपि।

ताम्रादि चूर्णाञ्जन—ताम्र के सूक्ष्म कण १६ भाग, शंख ८ भाग, मैनशिल ४ भाग, मरिच २ भाग, सेंधा नमक १ भाग से बना अञ्जन शुक्र नाशक है। इस चूर्ण को महीन बनाकर शुक्र का घर्षण करना चाहिये।

शंखाद्यञ्जन—शंख, बेर की गुठली, निर्मली, द्राक्षा (मुनक्का), मुलैठी, और सुवर्णमाक्षिक से निर्मित।

क्षौद्राद्यञ्जन—मधु, समुद्रफेन, शिरीष के फूल और गोदन्त (गाय के दांत) से निर्मित।

क्षाराञ्जन—श्लेष्माभिष्यन्दोक्त क्षाराञ्जन का प्रयोग भी शुक्र में हितकर है।

तर्पण योग—शंख, शुक्ति, मुलैठी, द्राक्षा, निर्मली और मधु का अञ्जन गहरे सव्रण शुक्ल में हितकर होता है और वातघ्न होता है और नेत्र का संतर्पण करता है।

मुद्गाद्यञ्जन—मूंग को भूनकर उसके छिल्के को पृथक् कर उसमें शंखचूर्ण, चीनी और मधु मिलाकर अञ्जन करना अथवा मधूकसार का मधु मिलाकर अंजन करना अथवा बहेड़े के बीज के भीतर की मज्जा (मींगी) का मधु के साथ मिलाकर अञ्जन करना शुक्र को नष्ट करता है।

वंशजाद्यञ्जन[1]—बाँस का कोंपल, अरुष्कर (भिलावा), ताल, नारिकेल, करभास्थि (ऊँट की हड्डी) इन द्रव्यों को तिलनाल की अग्नि में जलाकर उसकी राख बनाकर उसको षड्गुण या अष्टगुण जल में डालकर क्वाथ बनावे और चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ को रखे। फिर इस जल का बहुत बार विस्रावण करे (नितारे)। फिर इस जल से कर-

१. वंशजारुष्करौ तालं नारिकेलं च दाहयेत्।
विस्राव्य क्षारवच्चूर्णं भावयेत्करभास्थिजम्।
बहुशोऽञ्जनमेतत्स्यात्, शुक्रवैवर्ण्यनाशनम्। (सु० उ० १२)

भास्थि (ऊँट की हड्डी) को सात बार भावना दे और धूप में सुखावे फिर इस चूर्ण को महीन करके अञ्जन के लिये रख ले। आवश्यकतानुसार उसमें मधु मिलाकर अंगुलि से या शलाका से इस अञ्जन को उठाकर शुक्र के ऊपर घर्षण करे। पश्चात् त्रिफला के जल से प्रक्षालन करे। इस अञ्जन का प्रयोग, शुक्र की विवर्णता को दूर करने के लिये होता है अर्थात् इसके द्वारा शुक्र की सफेदी दूर हो जाती है तथा उसका वर्ण काला पड़ जाता है।

विविध आयुर्वेद ग्रन्थों से संगृहीत कुछ योग—(योगरत्नाकर के संग्रह से उद्धृत)

व्रण शुक्र में—षडङ्ग, गुग्गुलु, जलौका के द्वारा शिर और नेत्र से रक्त निर्हरण, तथा सैंधव और निशोथ से पकाये घृत का पान कराके रक्त निर्हरण करना।

यष्ट्याह्वाश्च्योतन—मुलैठी, रसौंत, कमल, लाक्षा, पुनरिया काठ (प्रपौण्डरीक), खस, सुगन्धबाला इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर स्त्री के दूध में मिलाकर आश्च्योतन; व्रण शुक्र में कार्यकर है।

लामज्जकाद्यञ्जन—लामज्जक, नीलकमल, चीना, सारिवा, सफेद और रक्तचंदन का एक-एक कर्ष और सारिवा का एक प्रस्थ लेकर क्वाथ बनावे। जब वह क्वाथ गाढ़ा होकर पात्र में चिपकने लगे तब उतार ले और उसे लौह या पत्थर के बर्त्तन में रख दे। प्रातः सायं उसका अञ्जन करे। अथवा केवल श्यामामूल (निशोथ की जड़) के क्वाथ का अञ्जन मधु मिलाकर करने से व्रण शुक्र में हितकर होता है।

चन्दनादिवर्ति—चन्दन, गैरिक, लाक्षा, मालती पुष्प की कली (कलिका) से बनी वर्ति का अञ्जन सव्रण शुक्र में लाभप्रद होता है।

महानीलावर्त्ति—कटेरी की जड़, ताम्रभस्म, सेंधानमक सोंठ, आँवला को सम मात्रा में लेकर ताम्रपत्र पर घिसकर घिसार इकट्ठा कर ले। फिर इसका ताम्रपत्र पर एक मोटा लेप कर ले। फिर जौ, आँवले की पत्ती और घृत एकत्र कर के जलावे। उस धुवें का काजल इसी पात्र पर संग्रह करले फिर इसको शहद में मिलाकर संग्रह कर ले।

नेत्र के फूले में इसके अञ्जन से लाभ होता है अञ्जन के पश्चात् हल्दी, मुलैठी, सारिवा या लोध्र के काढ़े से नेत्र का प्रक्षालन करे।

दंताञ्जन—गाय गदहा और ऊँट के दाँत, शंख एवं समुद्रफेन का महीन चूर्ण करके बनाया अञ्जन भी अव्रण शुक्र में लाभप्रद रहता है।

सुवर्णमाक्षिकाञ्जन—सुवर्णमाक्षिक को मधु में घिस कर नेत्रों में लगाने से अव्रण शुक्र नष्ट होता है।[१]

आँवले का फल, निम्ब, कैंथ का पत्ता, मुलैठी, खदिर, तिल, लोध्र का शीतल किया क्वाथ शुक्र में हितकर है।

अव्रण शुक्र या पुष्प या फूले में सेक—चमेली की पत्ती, मुलैठी, घी में भूनकर ठंडे जल में बुझाकर उससे प्रक्षालन करना।

वर्त्यः—करंजबीज चूर्ण को पलाशपुष्प के रस में अनेक बार की भावित वर्ति का अञ्जन। वैदेहवर्ति—रसोंत, शैलेय, कुंकुम, मैनशिल, शंख, सफेद मिर्च, चीनी इन सात द्रव्यों से निर्मित वर्ति का अञ्जन। कर्पूराञ्जन—श्रेष्ठ कर्पूर के चूर्ण को बट के दूध में पीसकर अञ्जन करने से दो महीने तक के आंखों के फूले दूर हो जाते हैं।

अंतःप्रयोज्य (शुक्र या पुष्प में प्रयुक्त) ओषधियाँ—१. लौहादिगुग्गुलुः—त्रिफला, मुलैठी, पिप्पली, लौह और गुग्गुलु से बने योग का घृत और मधु से सेवन करना। पटोलादि घृत–पटोल, कुटकी, रसोंत, निम्ब, वासा, त्रिफला, दुरालभा, पित्तपापड़ा, गायत्री, प्रत्येक का एक एक पल; आँवला एक प्रस्थ, इनका क्वाथ बनावे, चतुर्थांशावशिष्ट जल से पुनः घृत सिद्ध करे। इसमें कल्क रूप में चिरायता, कुटज, मोथा, मुलैठी, चन्दन, और पिप्पली डाले। इसका अंतःप्रयोग शुक्र रोग में हितकर है।

नस्य—कृष्णाद्यतैल—पिप्पली, विडङ्ग, मुलैठी, सैंधव, सोंठ का कल्क, बकरी का दूध डालकर सिद्ध किये तैल का नस्य या नेत्र में स्थानिक प्रयोग शुक्र तथा अक्षिपाकात्यय में हितकर है।

---

१. श्यामेऽश्यामे प्रियश्यामे श्यामाबोधितमानसे।
शुक्रं शमयति क्षिप्रं माक्षिकं माक्षिकान्वितम् ॥ (वै. जी.)

अव्रण शुक्र की आधुनिक चिकित्सा
(Treatment of Corneal opacity)

भेषज (Medical treatment)

निम्नलिखित योगों के अञ्जन सफेदी या फूले में करे।

१. पीला मलहम (Yellow oxide of mercury ointment) (शक्ति १ औंस लेनोलीन में १०-२० ग्रेन द्रव्य)

२. डायोनीनमल्हम (शक्ति १ औंस में २० से २५ ग्रेन डायोनीन)।

निम्नलिखित आश्च्योतन व्यवहार में आते हैं।

३. डायोनीन आश्च्योतन (Drop)(शक्ति-१ औंस परिस्रुत जल में २५-५० ग्रेनद्रव्य)

४. शुक्रघ्नाश्च्योतन[1]

प्रवाही नं० १:

नवसादर ७॥ ग्रेन
यशदपुष्प (Zincsulphate) १९ ग्रेन
परिस्रुतजल ६ औंस

प्रवाही नं० २:

कपूर	६ ग्रेन
केसर	१॥ ग्रेन
रेक्टीफाइडस्प्रिट	२॥ ड्राम
परिस्रुत जल	२॥ ड्राम

दोनों प्रवाहियों को मिलाकर एक कांच की डाट वाली बोतल में चौबीस घंटे तक

शस्त्र (Surgical treatment)

१. सूची वेध के द्वारा नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे औषधियों के अंतःक्षेपण (Sub-conjuctival Injections)

२. विद्युद्दहन-कितने नेत्र वैद्यों ने विद्युत्प्रयोग से फूले में लाभ पाया है।

३. कृत्रिम तारक निर्माण-बहुत से नेत्र वैद्य यदि फूला गाढ़ा है और कृष्णमण्डल के मध्य में है-परिधि का भाग साफ है तो तारामण्डल का वेध करके कृत्रिम तारक (Pupil) बनाने की चिकित्सा करते हैं। उससे अनेक बार बहुत लाभ होता है।

४. वैवर्ण्यनाशन या रंजन-अनेक बार फूले[2] की अवस्था में नेत्र कुरूप भासते हैं। इतना ही नहीं कृष्णमण्डल में बनाई कृत्रिम तारक से जैसी चाहिये वैसी दृष्टि नहीं आती। कारण कि, प्रकाश के अधिक किरण कृत्रिम तारक में से निकलते हैं और कुछ फूली में से भी निकलते हैं और इनका वक्रीभवन या परावर्त्तन अलग-अलग होता है। इस विकृत परावर्त्तन और कुरूपता दोनों दोषों के निराकरणार्थ फूले के रंजन

---

१. शुक्रघ्न आश्च्योतनों का संग्रह स्वर्गीय डा. यादवजी हंसराजवैद्य की नेत्ररोग-विज्ञान नामक पुस्तक से लिया गया है।

२. कुर्याद् बीभत्सतां जेतुं शुक्रोत्सेधनाशनम्। (वा. उ. ११)

भेषज (Medical treatment)	शस्त्र (Surgical treatment)
रखे। दिन में चार छः बार हिला दिया करे फिर फिल्टर पेपर से छानकर शीशी में रख ले। दिन में २-२ बूंद-एक दो बार डालता रहे।	या रंग चढ़ाने की आवश्यकता होती है। इसकी कई पद्धतियाँ हैं। इस क्रिया को अंग्रेजी में टेटुइंग (गोदना) कहते हैं। इसके लिये गोल्डक्लोराइड, प्लैटिनम् क्लोराइड, टैनिक एसिड, हाइड्रेज़िन हाइड्राथ प्रभृति रंजकों का उपयोग होता है।
५. अहिफेनादि आश्च्योतन- केसर-५० ग्रेन अहिफेन- ,, स्प्रिटमिश्रित दालचीनी का जल १ औंस रेक्टीफाइड स्प्रिट २५ बूंद	५. कृष्णमण्डलसंधान-खरगोश या सद्योमृत व्यक्ति के कृष्णमण्डल (कार्निया) को निकालकर फूले के स्थान पर लगाना। पीडित कृष्णमण्डल के स्थान पर पशुओं के स्वस्थ कृष्णमण्डल का लगाना। अभी इस क्रिया में पूरी सफलता विशेषज्ञों को नहीं मिल पाई है।
६. प्राकृतिक विन्टर ग्रीन तैल का प्रयोग। ७. लेख्यांजनों में वर्तमान युग में सिल्वर नाइट्रेट (रजत), तुत्थ, पोटासक्लोराइड, सैंधव, सायनायड आफ मर्करी आदि व्यवहार में आते हैं। ८. ल्यूकोलाइसिन, रीसाल्वेन्ट प्रभृति पेटेण्ट योगों का प्रयोग।	

अक्षिपाकात्यय—(Hypopyon) जिस रोग में रोगी का कृष्णमण्डल पूर्णतया सफेदी लिये हुए आवरण से आवृत (Haziness) हो, नया हो और तीव्र वेदना होती हो उस रोग में अभिष्यन्द से उत्पन्न हुआ अक्षिपाकात्यय समझना चाहिये। यह एक त्रिदोषज असाध्य व्याधि है।[1]

इस रोग को आधुनिक दृष्ट्या अंग्रेजी का 'हाइयोपियन' कहा जा सकता है। यह विकृति क्षत युक्त कृष्णमण्डलशोथ (Ulcerative

१. संछाद्यते श्वेतनिभेन सर्वं दोषेण यस्यासितमण्डलन्तु।
तमक्षिपाकात्ययमक्षिकोपं समुत्थितं तीव्ररुजं वदन्ति॥

Keratitis) के उपद्रव रूप में उपस्थित होती है। इसमें अग्रिमा जलधानी (Anterior chamber) में पूय का संग्रह हो जाता है यह स्थिति इस रोग में विशेष रूप से प्राप्त होती है। यहाँ का पूय वास्तविक पूय नहीं होता, क्योंकि यह अपवाद रूप से निर्जन्तुक होता है। इसमें पूयोत्पादक कीटाणु नहीं होते और यह पूय तारासंधानमण्डल (Iris & Ciliary body) की रक्तवाहिनियों के स्राव रूप में एकत्रित होकर वह रूप ले लेता है। इस पूय को निकालने के लिये प्रायः भेदन की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह जीवाणु रहित होने की वजह से अपने आप शोषित हो जाता है। परन्तु विविध उपचारों के बावजूद भी सफलता न मिले, शूल बढ़ता ही चला जाय तो भेदन करके निर्हरण भी किया जाता है। यह अवस्था प्रायः कष्टसाध्य है।

प्राचीनों के अक्षिपाकात्यय नामक व्याधि की समता एक और आधुनिक विकार से भी की जा सकती है, जिसमें पूरी कृष्णमण्डल की वृत्ति गलने लगती है। अंग्रेजी में यह 'कैरोटो मैलेशिया' (Keratomalacia) कहा जाता है। यह भी कृष्णमण्डल के क्षतयुक्त शोथ का ही उपद्रव है जो अधिकतर वृद्धावस्था में होता है, जब कि कृष्णमण्डल को पर्याप्त पोषण नहीं मिलता।

सुश्रुत ने इस रोग की कोई विशेष चिकित्सा नहीं कही है। योगरत्नाकर में स्थानिक लालिमा, अश्रु और पीड़ा के शमन के लिये एर्वारु (खीरे या ककड़ी) तथा कमल से पकाये गोक्षीर का सिंचन बतलाया है।

अजकाजात—(Anterior staphyloma) 'बकरी की सूखी हुई मींगी (पुरीष) के समान, पीड़ा युक्त ईषत् लाल रंग का पिच्छिल अश्रुस्राव से युक्त प्रवर्द्धन या निकला हुआ भाग, जो कि नेत्र के कृष्ण भाग को फाड़कर निकलता है, वह अजकाजात कहलाता है। यह श्लेष्मज और साध्य विकार है।"

१. अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिलाश्रुः ।
विदार्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तं चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥

यदि कृष्णमण्डल का व्रण बहुत गहराई में अवस्थित होकर बढ़ा हुआ हो तो मण्डल का अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है और व्रण के फूटने से नेत्र के मध्य में पटल आदि का भाग बाहर और आगे की ओर निकल आता है। वह कृष्णमण्डल का बहिर्निःसरण (Anterior Staphyloma) कहा जाता है। नेत्र को खोलकर जाँच की जाय तो नेत्रगोलक में एक छोटा सा द्राक्षा जैसा भाग निकला हुआ दीखता है। इसी दृश्य की उपमा प्राचीनों ने अजापुरीष से दी है। यदि यह व्याधि नई हो तो नेत्र में कृष्णमण्डल के चारो ओर के भाग पर लाली दीखती है और रोगी को वेदना भी होती है। यदि कृष्णमण्डल का कुछ भाग स्वस्थ स्थिति में हो और नेत्र के भीतर का भाग शोथ से बचा हुआ हो तो कुछ दृष्टि शक्ति रहती है। इसके विपरीत स्थिति होने पर दृष्टि शक्ति जाती रहती है; केवल प्रकाश और अंधकार का ज्ञान रोगी से प्रत्यक्ष हो सकता है। निःसृत भाग शनैः शनैः बढ़ता जाता है और कुछ काल में पलक की धारा के बाहर भी निकल जाता है। कभी कभी सामान्य चोट से यह भाग स्वयमेव फूट जाता है और आँख नीचे धँस जाती है।

हेतु—व्रण के रोपण के बाद जो नूतन व्रण वस्तु कृष्णमण्डल में बनता है वह नैसर्गिक कृष्णमण्डल की अपेक्षा अतिशय निर्बल होता है। यदि यह नेत्रगोलक के भीतरी भार (सजल द्रव, दृष्टिमणि और सान्द्र द्रव) को सहन करने में असमर्थ हो तो फलतः वह बाहर की ओर उभड़ता है और उभड़े हुए भाग में तारामण्डल, दृष्टिमणि अवयव आदि फँस जाते हैं। उपचार—यदि भ्रंश अपूर्ण हो अर्थात् कृष्णमण्डल का कुछ भाग पारदर्शक और स्वस्थ हो तो उस स्थान पर तारामण्डल के आंशिक छेदन (Iridectomy) करके चिकित्सा करनी चाहिये। इस क्रिया से दृष्टिशक्ति कुछ बढ़ती है और नेत्रान्तर्गत दबाव कुछ कम होता है। यदि बहिर्निःसरण पूर्ण हो, वेदना होती हो, भाग बहुत बढ़ा हुआ हो और दृष्टिशक्ति नष्ट हो गई हो, तो उसे काट देना चाहिये या नेत्रगोलक को निकाल देना चाहिये।

सुश्रुतोक्त चिकित्सा—उपर्युक्त चिकित्सासूत्रों का उल्लेख पाश्चात्य ग्रंथों के आधार पर है; परन्तु ठीक उसीसे मिलता हुआ वर्णन सुश्रुत का भी है। अजका के निकले हुए भाग को एक सूई के द्वारा वेधन करे—इससे उदक का स्राव (Aquous humour) होगा और नेत्रान्तर्गत भार कम होकर भ्रंश का भाग यथास्थान बैठ जायगा। फिर व्रणित स्थान पर गोमांसचूर्ण और घृत का प्रयोग करके उसका पूरण या रोपण करना चाहिये। यदि अजका का भाग बहुत अधिक भ्रंशित हो गया हो और उठते हुए वर्त्म के समीप तक या उसके बाहर पहुँच रहा हो तो उसका शस्त्र के द्वारा लेखन (मोटे और अधिक भाग का काटना) कर देना चाहिये।[1]

१३

सर्वगत रोग

(Diseases of conjuctiva & Eye ball or Hyperæmia of eonjuctiva)

अभिष्यन्द या स्यन्द (Conjuctivitis)—स्यन्द का शाब्दिक अर्थ है बहना या स्रवित होना। फलतः अभिष्यन्द का सामान्य अर्थ हुआ नेत्र का ऐसा रोग जिसमें स्रावाधिक्य हो। लोकभाषा में इस अवस्था को आँख का आना, दुखना या उठना कहा जाता है। वैज्ञानिक परिभाषा में इन लक्षणों के आधार पर इसे नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Conjuctivitis) कहा जाता है क्योंकि नेत्रगत श्लेष्मावरण का भाग ही इस रोग में रक्ताधिक्ययुक्त या शोथयुक्त होकर, रोगग्रस्त रहता है। यह

---

१. अजकां पार्श्वतो विद्ध्वा सूच्या विस्राव्य चोदकम्।
व्रणं गोमांसचूर्णेन पूरयेत् सर्पिषा सह।
बहुशोऽवलिखेच्चापि वर्त्मास्योपगतं यदि। (सु० उ० १२)

रोग विशेषतः गर्मी की ऋतु में होता है—अच्छी स्थिति के आदमियों की अपेक्षा गरीबों में अधिक होता है-आँख आने पर लाल हो जाती है।

सामान्य लक्षण तथा चिह्न—

नेत्रवेदना—पीड़ा की मात्रा शोफ की तीव्रातीव्रता के ऊपर आश्रित रहती है। प्रारम्भ में इस प्रकार का अनुभव होता है मानो कुछ रजःकण गिरा हो बाद में वही वेदना या तीव्र वेदना का रूप ले लेती है। इसी का उल्लेख सुश्रुत ने 'निस्तोदन' (सूई चुभाने की सी पीड़ा), 'संघर्षण' (गड़ना या किरकिरी पड़ने का अनुभव) तथा 'शिरोभिताप' (सिर और नेत्र में पीड़ा) शब्दों से किया है।

नेत्र में लाली—लोहितनेत्रता—यह भी शोथ की तीव्रातीव्रता के अनुसार अधिक या कम हो सकती है। यह लाली श्लेष्मावरण की धमनियों के रक्तपरिपूर्ण होने की वजह से रहती है। नेत्र के मध्यपटल और तारामण्डल के शोथ में लाली कृष्णमण्डल के चारों ओर देखने को मिलती है। यह नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे वाली धमनियों में विस्तृति के कारण होती है। यदि लाली और धमनियाँ श्लेष्मावरण के साथ सरक सकें तो उसे श्लेष्मावरण का ही शोथ समझे, परन्तु यदि नेत्र-श्लेष्मावरण में लाली स्थिर रहे तो उसे निम्नस्थ अवयवों का शोथ समझना चाहिये। 'राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च' इन शब्दों में सुश्रुत ने वर्णन किया है।

प्रकाश की असहनशीलता या प्रकाशासह्यता—यह लक्षण भी शोथ के अनुरूप कुछ अंश में रहता है। तारामण्डल शोथ में जितना अधिक मालूम होता है उतना इस (अभिष्यंद) रोग में नहीं रहता। रोगी को विशेषतः अन्धकार में रहना अच्छा लगता है। 'शिशिराभिनन्दा' तथा 'शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुम्' इससे इसी लक्षण का बोध होता है।

नेत्र से चिपचिपा पदार्थ (मलोपलिप्तता) का निकलना—रोग प्रारंभ में या रोग मामूली हुआ तो जल सदृश स्राव; और रोग प्रबल हो होतो गाढ़ा, लसदार और सफेद प्रवाही स्राव निकलता है। इस पदार्थ

के हेतु नेत्र चिपक जाते हैं और वे कठिनता से खुलते हैं। इसी का वर्णन सुश्रुत ने 'उपदेह' शब्द से किया है। 'पिच्छिल स्राव' भी इसी लक्षण का बोधक है।

यह एक तीव्र सांसर्गिक रोग है, जिसका संक्रमण एक से दूसरे पर अर्थात् व्याधित से स्वस्थ पर बड़ी आसानी से हो जाता है। पीड़ित व्यक्ति की आंख के कीचड़ और स्राव का सम्पर्क किसी माध्यम से स्वस्थ पर पहुँच कर रोग उत्पन्न करता है।[1]

यह एक सामान्य अभिष्यन्द का दोषनिरपेक्ष वर्णन आधुनिक ग्रंथों का अनुसरण करते हुए किया गया है। प्राचीनों ने दोष के बलाबल के अनुसार नेत्राभिष्यन्द का वर्णन किया है। उन्होंने दोषभेद से चार प्रकार के अभिष्यन्दों का उल्लेख किया है।

१. *वाताभिष्यन्द*—सूचीवेधन की सी पीड़ा, जकड़ाहट, रोमहर्ष, गड़ना या किरकिरी पड़ी सी मालूम होना, नेत्र का सूखा रहना और ठण्डे अश्रु का स्राव होना प्रभृति नेत्र के लक्षण वाताभिष्यन्द में प्रधानता से मिलेंगे।[2]

२. *पित्ताभिष्यन्द*—दाह, पाकोत्पत्ति, शीताभिलाष (ठण्डी चीजों की इच्छा), धूमायन, वाष्प या आँसू की बहुलता, उष्णाश्रु का स्रवित होना, नेत्रों का पीला होना प्रभृति लक्षण पित्ताभिष्यन्द में होते हैं।[3]

३. *श्लेष्माभिष्यन्द*—नेत्र में भारीपन, सूजन, उष्णता की अधिक

---

१. प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात्सह भोजनात् ।
एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ (मा. नि.)

२. निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्षसंघर्षपारुष्यशिरोभितापाः ।
विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥

३. दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा धूमायनं बाष्पसमुच्छ्रयश्च ।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥

चाह, खुजली, उपदेह (मलोपलिप्तता) या कीचड़ की अधिकता, स्पर्श में नेत्र का शीत ज्ञात होना, सफेदी और पिच्छिल आँसू का स्राव होना ये लक्षण अधिकता से कफदूषित नेत्र में मिलते हैं ।[1]

४. *रक्ताभिष्यन्द*—नेत्र का रक्तवर्ण होना, ताम्र जैसे किंचित् लाल रंग के आँसू का निकलना, चारों ओर नेत्र में लाल लाल रेखायें दीख पड़ना तथा अन्य भी पैत्तिक लक्षण रक्ताभिष्यन्द में मिलते हैं ।[2]

पित्ताभिष्यन्द तथा रक्ताभिष्यन्द के लक्षण—वर्त्तमान वर्णन नेत्रश्लेष्मावरण में रक्तसंग्रह नामक रोग (Hyperaemia of the Conjuctiva) से बहुत कुछ मिलता जुलता है। इसमें हेतु, लक्षण तथा चिह्न सभी अभिष्यन्द जैसे ही होते हैं । रक्ताधिक्य में कारण नेत्रों में जलन, वाष्पधूमायन, उष्णास्रस्राव और शीताभिलाष प्रभृति लक्षण और चिह्न मिलते हैं। हेतु में अभिष्यन्द के ही समान आँखों पर जोर देने वाले कारण होते हैं। उपचार में शीतल उपचार, बर्फ, गुलाब जल, अहिफेन आदि के प्रयोग, कोष्ठ शुद्धि आदि की आवश्यकता रहती है। रोगी को अन्धकार मय शीतल स्थान में रखना हितकर होता है।

आधुनिक नेत्रग्रंथों में भी नेत्रश्लेष्मावरण-प्रदाह के कई भेद गिनाये जाते हैं। यद्यपि वे दोषभेदों के ऊपर आधारित नहीं हैं तथापि उनमें कारणानुरूप नामकरण होने से चिकित्सा के क्रम में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। प्राचीन चिकित्सा सिद्धान्तों के आधार पर अभिष्यन्द की चिकित्सा दोषानुसार करनी होती है अत एव नेत्रश्लेष्मावरणशोथ के दोषानुसार आयुर्वेदोक्त चिकित्सा का उल्लेख नीचे किया जायगा। वर्त्तमान भेद निम्नलिखित हैं—

१. नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Catarrhal conjuctivitis Acute) (वाताभिष्यन्द या पित्ताभिष्यन्द) Chronic (श्लेष्माभिष्यन्द)

---

१. उष्णाभिनन्दा गुरुताक्षिशोफः कण्डूपदेहौ सिततातिशैत्यम् ।
स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥

२. ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च ।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ (सु. उ. ७.)

२. नेत्रकोणगत श्लेष्मावरणशोथ (Angular Conjuctivitis)
३. न्युमोकोकसजनित श्लेष्मावरणशोथ (Pneumococal conjuctivitis)
४. कुकूणक (Follicular Conjuctivitis)
५. पूयमेहज नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Gonorrheal Conjuctivitis) शिशु सपूय नेत्रावरणशोथ (Opthalmianeonatorum)
६. रोहिणीजन्य श्लेष्मावरणशोथ (Diptheritic Conjunctivitis)
७. शिथिल कृत्रिम कलामय नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Croupous Conjunctivitis)
८. पिटिकाक्षतमय नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Phlyctenular conjunctivitis)

नेत्रश्लेष्मावरणशोथ या अभिष्यन्द के कई अन्य प्रकार भी हैं। कुछ अन्य भी भेद वर्तमान ग्रन्थों में अभिष्यन्द के मिलते हैं। जैसे—

९. पेरीनाड का श्लेष्मावरणशोथ ।
१०. मस्तिष्कावरणशोथजन्य अभिष्यन्द आदि ।

नेत्रश्लेष्मावरणशोथ या अभिष्यन्द की चिकित्सा—

नेत्र को पूर्ण विश्राम देना—लिखाई, पढ़ाई, सिलाई प्रभृति कार्य जिनमें आँखों को परिश्रम (Strain) हो न करना। प्रकाशयुक्त या अधिक प्रकाश में काम करना, नेत्र को हवा, धुआँ, धूलि आदि से बचा कर रखना, अतितेज प्रकाश या अतिमन्द प्रकाश में लिखना पढ़ना प्रभृति कार्य न करना और मलावरोध हो तो मृदु रेचनों के प्रयोग से कोष्ठशुद्धि प्रभृति आचरणों का उपयोग अभिष्यन्द की चिकित्सा में करना चाहिये। आयुर्वेद में नेत्राभिष्यन्द के सामान्य चिकित्सा सूत्रों (General line of treatment) में कई विधानों का उल्लेख किया है। नेत्राभिष्यन्द की तीव्रावस्था आमावस्था है। इसमें चार दिनों तक लंघन (Fast) करना पथ्य है और घृत सेवन, गरिष्ठ भोजन,

कषाय, अंजन तथा स्नान का निषेध है।[1] आमावस्था के पाचन के लिये स्वेद, प्रलेप, तिक्तान्न का सेवन तथा लंघन ये छः कर्म नेत्र रोग में प्रशस्त हैं।[2]

१. नेत्रस्नान–प्रक्षालन (Eyebath)—नेत्र का दिन में कई बार टंकण धावन (१ औंस में ५–१० ग्रेन बोरिकएसिड से प्रक्षालन) करना चाहिये। सुश्रुत ने इसी क्रिया की अक्षिधावन संज्ञा दी है और इसको तीव्रावस्था में नहीं करके जीर्णावस्था में करने को कहा है।[3]

२. शीतल उपचार—नेत्र के ऊपर जल का सिंचन या बर्फ पर ठंडे किये गुलाब जल या, बर्फ के टुकड़े को कपड़े में पोट्टली बाँधकर रखने की क्रियायें की जाती हैं। इसी क्रिया का वर्णन सुश्रुतोक्त 'सेक' जिसमें नेत्रों को बन्द करके ऊपर से बकरी के दूध, मातृस्तन्य या ओषधियों के शीत कषाय या क्वाथ को शीतल करके नेत्रों के ऊपर धारा सी दी जाती है या पट्टी दी जाती है।[4] ये अधिकतर स्वादु

१. अञ्जनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम् ।
नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानं च परिवर्जयेत् ॥
अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः ।
पञ्चैते पञ्चरात्रेण रोगा नश्यन्ति लङ्घनात् ॥
आचतुर्थाद्दिनादाममभिष्यन्देऽपि लोचनम् । (यो. र.)

२. स्वेदः प्रलेपस्तिक्तान्नं धूमो दिनचतुष्टयम् ।
लङ्घनं चाक्षिरोगाणामामानां पाचनानि षट् ॥
अञ्जनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम् ।
नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानञ्च परिवर्जयेत् ॥ (तन्त्रान्तर)

३. नचानिर्वान्तिदोषेऽक्ष्णि धावनं संप्रयोजयेत् ।
दोषः प्रतिनिवृत्तः सन् हन्याद्दृष्टेर्बलं तथा ॥ (सु. उ. १८)

४. सेकश्च सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः ।
मीलिताक्षस्य नेत्रस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलः ॥
सर्वोऽपि स्नेहनो वाते रक्तपित्ते च रोपणः ।
लेखनश्च कफे कार्यः तत्र मात्राधुनोच्यते ॥

और तिक्त रस के द्रव्यों के योग से बनते हैं, इनसे पित्त का शमन होकर दाह की शान्ति होती है। साथ ही संकोचन की क्रिया होती है, विस्तृत हुई रक्तवाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं जिससे अभिष्यन्द की अवस्था में लाभ होता है। सेक की क्रिया में दोषानुसार भेद होता है। क्रिया शीतल होने के कारण दिन में ही करने का विधान है, परन्तु यदि आत्ययिक अवस्था हो तो रात्रि में भी की जा सकती है।

३. *उष्ण उपचार*—यदि रोगोत्पत्ति हुए तीन चार दिन हो गये हों तो शीतल उपचार की अपेक्षा उष्ण उपचार-गरम जल में कपड़ा भिगो कर निचोड़ कर सेंक करना, लवण जल या टंकण जल बनाकर कोष्ण कर उससे सेंकना, या अफीम की डोंडी से सेंकना हितकर होता है। आयुर्वेदानुसार नेत्र का स्वेदन मृदु होना चाहिये। इसके लिये रूई या कपड़ा गर्म पानी में भिंगो कर निचोड़ कर (उष्णाम्बुसिक्त कर्पटस्वेद) सेंक या वाष्प स्वेद या करस्वेद (हाथ को गर्म करके सेंकना) प्रभृति उपाय बतलाये गये हैं जिनका उल्लेख पूर्व में हो चुका है। रूक्ष (Dryfomentation) या स्निग्ध स्वेदन (Wet fomentions) का भी वर्णन हो चुका है।

द्रवनिक्षेप, बिन्दु या आश्च्योतन (Drops)—इन ओषधियों में आर्जिराल (Argerol), प्रोटार्गल (Protargol) और कोलार्गल (Collargol) प्रभृति औषधियाँ मुख्य हैं। आर्जिराल के ३० प्रतिशत का घोल (१ औंस परिस्रुत सलिल में १५० ग्रेन) या प्रोटार्गल २० प्रतिशत (१ औंस परिस्रुत जल में १०० ग्रेन) अथवा मर्क्युरोक्रोम २ प्रतिशत का घोल अथवा मेटाफेन (१ औंस परिस्रुत जल में ½ ग्रेन) घोल का प्रयोग करना चाहिये। इसी प्रकार द्रव्यों का बूंद के हिसाब से निक्षेप करने वाली क्रिया का वर्णन सुश्रुत ने आश्च्योतन शब्द से

षड्वाक्शतैः स्नेहनेषु चतुर्भिश्चैव रोपणे।
वाक्शतैश्च त्रिभिः कार्यः सेको लेखनकर्मणि॥
कार्यस्तु दिवसे सेको रात्रौ वात्ययिके गदे। (यो. र.)

किया है। फलतः आश्च्योतन वर्त्तमान आईड्राप्स (Eyedrops) का ही प्रतीक है। आज कल व्यवहार में आने वाले कई एक निक्षेप, विन्दु या आश्च्योतन (Drops) वैद्यों में प्रचलित हैं। ये दोषनिरपेक्ष सामान्यतया सभी प्रकार के नेत्राभिष्यन्दों में लाभप्रद होते हैं। जैसे—

नेत्रविन्दु—गुलाबजल २ बोतल, कपूर ६ माशे, अहिफेन २ तोले, रसौत ८ तोले को घोल कर गुलाबजल में मिला कर छान ले। इससे नेत्रगत शूल शान्त होता है तथा अभिष्यन्द में भी लाभ होता है।

फुल्लिका द्रव—परिस्रुत जल या गुलाब जल २ सेर, मिश्री ४ तोले, सैन्धव ४ तोले, शुद्ध स्फटिका ४ तोले इनको एकत्र मिला भली प्रकार से छान कर नेत्रों में कुछ बूंदें छोड़ने से अभिष्यन्द में हितकर होता है।

रसाञ्जनद्रव—रसाञ्जन १ तोला, फिटकिरी २ माशे, मधु या मिश्री २ तोले, गुलाबजल या परिस्रुत सलिल ८ औंस।

निर्माण विधि—गुलाबजल में रसौंत डालकर रात भर भीगने दे। प्रातःकाल में अच्छी तरह से छानकर शीशी में भर ले। फिर उसमें मिश्री का चूर्ण या मधु मिलाकर शीशी पर ठेपी लगाकर शीतल स्थान पर रख दे। तीन से सात दिनों तक रखे और बीच बीच में हिलाता रहे। एक सप्ताह में तलछट नीचे बैठ जाता है। ऊपर वाले भाग को निथार कर छान कर शीशी में भर कर डाट लगा कर रख लेना चाहिये।

प्रयोग-विधि—२ बूँद नेत्रों में दिन में तीन चार बार छोड़ना।

स्यन्द-आश्च्योतन—पठानीलोध, फिटकिरी, मुर्दासंग, हल्दी, जीरा प्रत्येक ४॥ माशे, अफीम चनाभर, काली मिर्च ४ नग, तूतिया उड़द के दाने भर—इनको महीन पीस कर मलमल के कपड़े की दुहरी पट्टी में पोटली जैसे बाँध ले और पोस्ते के पानी में डुबोकर रखे। पीड़ित नेत्र में २–३ बूँद निचोड़ दे। अभिष्यंद में उत्तम लाभ करता है।

स्यंदहर विडालक—रसौंत ४ तोले ८ माशे, भुनी फिटकिरी २। तोले, अफीम १ तोले २ माशे, नीम की पत्ती ५, केशर ५ रत्ती, गेरु २ तोले। पोस्ते के डोंडी के काढ़े में घोट कर गोली बना ले।

प्रयोग—प्रातः दोपहर और सायंकाल १ गोली पानी से घिस कर नेत्रों के बाहर पलकों पर गुनगुना लेप करे। वेदना एवं रक्ताधिक्य को जो अभिष्यंद में प्रायः मिलता है, दूर करता है।

प्राचीन वर्णनों के अनुसार अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ की चिकित्सा में कई एक सार्वदैहिक तथा स्थानिक उपक्रमों का उल्लेख पाया जाता है। डल्हण की टीका में आचार्य विदेह का वचन आता है कि 'जब नेत्ररोग का पूर्वरूप ज्ञात हो तब तीन रात तक उपवास करे या हल्के भोजन का सेवन करे। यह उपवास तीन दिन तक करे या पूर्णतया लंघन करे या दिन भर उपवास करके रात में हल्का भोजन कर ले। जब चौथे दिन रोग के लक्षण व्यक्त हो जाँय तब नेत्ररोगों में प्रयुक्त होने वाले नस्य, सेक, धूम, अञ्जन प्रभृति कर्मों का प्रयोग करना चाहिये।'[1]

अभिष्यन्द या अधिमन्थ पीडित रोगियों में दोषानुसार १. पुराण घृत से स्नेहन २. स्वेदन ३. सिरामोक्षण ४. विरेचन और ५. वस्ति इन पाँच उपक्रमों को करना चाहिये।[2] पुराने घृत से कुछ लोग एक वर्ष और कुछ दश वर्ष पुराना घृत लेते हैं।[3]

स्थानिक उपचारों में १. तर्पण, २. पुटपाक, ३. धूम, ४. आश्च्योतन,

---

१. प्रागेवाक्ष्यामये भक्तं त्रिरात्रमगुरु स्मृतम् ।
उपवासस्त्र्यहं वा स्यान्नक्तं वाप्यशनं हितम् ॥
ततश्चतुर्थे दिवसे व्याधौ संजातलक्षणे ।
यथोक्तास्तु क्रियाः कार्या नस्यसेकाञ्जनादिकाः । (विदेह)

२. पुराणसर्पिषा स्निग्धौ स्यन्दाधीमन्थपीडितौ ।
स्वेदयित्वा यथान्यायं सिरामोक्षेण योजयेत् ॥
सम्पादयेद्वस्तिभिस्तु सम्यक् स्नेहविरेचितौ ।
तर्पणैः पुटपाकैश्च धूमैराश्च्योतनैस्तथा ।
नस्यस्नेहपरीषेकैः शिरोवस्तिभिरेव च ॥ (सु. उ. ९)

३. पुराणं सर्पिः संवत्सरोषितं घृतमन्ये दशवर्षस्थितं घृतं पुराणं कथयन्ति । (डल्हण)

५. नस्य, ६. परिषेक, ७. प्रदेह, ८. अभ्यंग या शिरोवस्ति प्रभृति उपक्रमों को बरतना चाहिये ।[1]

वाताभिष्यन्द चिकित्सा—सेक—१. वातघ्न, आनूपदेशज, जलजन्तुओं के मांस और अम्ल रस से सेक करना । २. एरण्ड की छाल, पत्र, जड़ से शृत बकरी के दूध से सेक । ३. कोष्ण दूध में सेंधानमक मिलाकर सिंचन करना । ४. हल्दी और रसोंत से सिद्ध दूध में नमक मिलाकर उससे नेत्र का सिंचन करना वाताभिष्यन्द में हितकर होता है । ५. इसी प्रकार चारों स्नेहों में भिगोये हुए कपड़े की पट्टी देना भी लाभप्रद होता है ।

उपनाह स्वेद—गर्म दूध, वेसवार, शाल्वण, पायस (गर्म खीर) से स्वेदन ।

आश्च्योतन—१. बिल्वादि बृहत्पंचमूल, बृहती, एरण्ड और शिग्रु का क्वाथ बनाकर गुनगुना आश्च्योतन (Drop) करना । २. नीम की पत्ती और लोध को पानी में पीस कर गर्म कर छानकर उस जल से नेत्र के पूरण से वातज, रक्तज और पित्तज अभिष्यंद ठीक होता है । ३. सेंधानमक, सुगन्धबाला (उदीच्य), मुलैठी और पिप्पली से आधा जल डाला दूध पकाकर उस दूध का आश्च्योतन । ४. सुगन्धबाला, तगर, मजीठ, गूलर की छाल से सिद्ध बकरी के दूध से नेत्र का पूरण भी वाताभिष्यन्द में लाभप्रद होता है ।

पिण्डिका—वाताभिष्यन्द की शान्ति के लिये स्निग्ध और उष्ण पिण्डिका बनानी चाहिये । जैसे एरण्ड के पत्र, मूल और छाल से बनी हुई पिण्डिका । इसको गुनगुना कर के नेत्रों पर अभिष्यंद में बाँधना लाभप्रद रहता है ।

अञ्जन—मुलैठी, हल्दी, हर्र, देवदारु इनका बकरी के दूध में घिस कर तैयार किया अञ्जन वाताभिष्यन्द में लाभप्रद होता है । गुडिकांजन-

१. ततः प्रदेहाः परिषेचनानि नस्यानि धूमाश्च यथास्वमेव ।
आश्च्योतनाभ्यञ्जनतर्पणानि स्निग्धाश्च कार्याः पुटपाकयोगाः ॥ (सु. उ. १२)

गेरू १ भाग, सेंधानमक २ भाग, पिप्पली ४ भाग, सोंठ ८ भाग, इन योग से बनी गुटिका का अञ्जन भी फलप्रद होता है। स्नेहाञ्जन का प्रयोग वाताभिष्यन्द में करना चाहिये, ताम्र के वर्त्तन में एक मास रखे हुए घी का सेंधानमक के साथ मिलाकर अंजन करना। इसके अतिरिक्त स्निग्ध धूम, स्निग्ध नस्य तथा स्निग्ध पुटपाक का भी प्रयोग करना चाहिये।

आहार—वाताभिष्यन्द पीडित रोगियों को वातघ्न आहार जिनमें ग्राम्य आनूपदेशज या जलप्राणियों के मांसरस पड़े हों या इनसे संस्कृत दूध घृत या फलों के रस हों देना चाहिये। भोजन के बाद रोगी को घृतपान कराना चाहिये, जो घृत त्रिफला से सिद्ध या केवल पुराना होना चाहिये।

पित्ताभिष्यन्द प्रतिषेध—पैत्तिक अभिष्यन्द तथा पैत्तिक अधिमन्थ में १. रक्तविस्रावण, और २. विरेचन प्रभृति सार्वदैहिक उपक्रम तथा स्थानिक उपचारों में पित्तविसर्पवत् १. सेक २. आलेप ३. नस्य ४. अंजन प्रभृति कर्मों को करना चाहिये। तथा अन्य भी पित्तघ्न उपचारों को बरतना चाहिये।[1]

सेक—चंदन, नीम की पत्ती, मुलैठी, रसोंत, और सेंधानमक को जल में पीसकर मधु मिलाकर सेक करना।

आश्च्योतन—१. निम्ब की पत्ती को पीसकर लोध्र का लेप करे फिर अग्नि से स्वेद करके उसका चूर्ण या कल्क बना ले। इस कल्क को माता के दूध में मिलाकर पीसकर दूध को छान कर उसका आश्च्योतन करे। २. द्राक्षा, मुलैठी, मजीठ, जीवनीयगण की ओषधियों से शृत दूध के द्वारा नेत्र का पूरण करने से अभिष्यंद का दाह शान्त हो जाता है।

---

१. पित्तस्यन्दे पैत्तिके चाधिमन्थे रक्तास्रावः स्रंसनञ्चापि कार्यम्।
अक्ष्णोः सेकालेपनस्याञ्जनानि पैत्ते च स्याद्यद्विसर्पे विधानम्॥
क्रियाः सर्वाः पित्तहर्यः प्रशस्ताः।

पिण्डी—आँवले को पीस कर उसकी पिट्ठी अथवा महानिम्ब की पत्ती की पिट्ठी बनाकर नेत्र के बाहर कोष्ण करके चढ़ाने से पित्ताभिष्यंद में शान्ति मिलती है।

विडालक—पैत्तिक अभिष्यंद में चंदन, सारिवा, मजीठ, पद्मक, मुलैठी, जटामांसी, तगर, चंदन, लोध्र, चमेली का फूल, गेरू इनका बहिर्लेप दाह और पीड़ा को शान्त करता है।

अंजन—१. पलाश-स्वरस या शल्लकी स्वरस का मधु और चीनी के साथ अंजन करना। २. रसक्रियांजन में त्रिवृत् (निशोथ) अथवा मुलैठी को शर्करा मधु के साथ पका कर क्वाथ को गाढ़ा कर रसक्रिया कर ले और उसका अंजन पित्ताभिष्यंद में करे।[1] ३. नागरमोथा समुद्रफेन, कमल, वायविडङ्ग, इलायची और आँवले के स्वरस का अंजन। ४. तालीशपत्र, इलायची, गेरू, खस, शंख को घिसकर अंजन करना। ५. सोने (सुवर्ण) को मातृस्तन्य में घिसकर अंजन या पलाश के फूल का मधु में घिसकर अंजन करना। ६. लोध, मुनक्का, चीनी, कमल इनको स्त्री के दूध में घिसकर, मुलैठी और वच को गाय के दूध में घिस कर अथवा अमल्तास की छाल को पानी में बारीक घिस कर अंजन करना पित्ताभिष्यंद में हितकर है।

पित्ताभिष्यंद में सामान्यतया गुंद्रा, शालि, शैवल, पाषाणभेद, दार्वी, एला, उत्पल, लोध्र, कमल, अभ्र, शर्करा, कुश, ईख, वेत, पद्मक द्राक्षा, मधु, चंदन, मुलैठी, स्त्रीक्षीर, हल्दी, उत्पल, सारिवा, प्रभृति पित्तघ्न ओषधियाँ लाभप्रद हैं। इनसे प्रतिसंस्कृत घी और दूध का प्रयोग–भोजन, पान तथा नस्य कर्मों (प्रतिमर्ष, अवपीड, नस्य, शिरोविरेचन चतुर्विध नस्यकर्मों) में करना चाहिये।

श्लेष्माभिष्यंद प्रतिषेध—श्लेष्माधिमंथ तथा श्लेष्माभिष्यंद की चिकित्सा में बढ़े हुए कफ को १. सिरावेध, २. स्वेद, ३. अवपीडन,

१. गृहीत्वा क्वाथकल्पेन क्वाथं कृत्वा पुनः पुनः।
क्वाथयेत्फाणिताकारमेषा प्रोक्ता रसक्रिया॥

४. अंजन, ५. धूम सेक ६. प्रलेप, ७. कवलग्रह, ८. रूक्ष आश्च्योतन, ९. रूक्ष पुटपाक, १०. अपतर्पण, ११. तिक्त घृत तथा १२. श्लेष्मघ्न आहार का विधान रोगी में करना चाहिये।[1]

कफज में लंघन, स्वेदन, नस्य, तिक्त भोजन, तीक्ष्ण प्रधमन, तीक्ष्ण उपनाहन तथा रूक्ष और तीक्ष्ण विरेचन से मल का निर्हरण करना चाहिये। (यो० र०)

सेक—नीम की पत्ती, मदार की पत्ती, लोध्र, घी से सिद्ध क्षीर का सेक करना चाहिए।

आश्च्योतन—सेंधानमक और लोध्र को घी में भूनकर उसमें सौवीरांजन मिलाकर पानी के साथ खूब बारीक पीसे। फिर उस लुगदी को कपड़े में बाँध कर उसका रस आँख में कई बूंद छोड़े। इस क्रिया से नेत्रगत दाह, पीड़ा और खुजली ठीक होती है।

पिण्डिका—१. सहिजन के पत्र की पिसी हुई कोष्ठा पिण्डी को आँख पर धारण करने से और २. नीम की पत्ती और सोंठ को पीस कर सेंधानमक मिलाकर धारण करने से श्लेष्माभिष्यंदगत शोथ पीड़ा और खुजली शान्त होती है।

स्वेदन—तगर, निर्गुण्डी, फणिज्झक, बेल, शरबालिका, पीलु, मदार और कपित्थ के पत्रों से स्वेदन करना चाहिए।

अनुलेप—स्वेदन के बाद सुगंधबाला, सोंठ, देवदारु, कूठ इनका लेप नेत्रों पर करना चाहिए।

विडालक—रसाञ्जन या सोंठ और हरीतकी या वचा, हल्दी, सोंठ या सोंठ और गेरू का बहिर्लेप करना श्लैष्मिक नेत्र विकारों में हितकर है।

अंजन—अंजनवर्ति–सैंधव, हिंगु, त्रिफला, मुलैठी, प्रपौण्डरीक,

१. स्यन्दाधिमन्थौ कफजौ प्रवृद्धौ जयेत्सिराणामथ मोक्षणेन।
स्वेदावपीडाञ्जनधूमसेकप्रलेपयोगैः कवलग्रहैश्च।
रूक्षैस्तथाश्च्योतनसंविधानैस्तथैव रूक्षैः पुटपाकयोगैः॥

अजन, तुत्थ, ताम्र इन द्रव्यों को जल में पीस कर वर्ति बनाकर अंजन २. हर्रे, हल्दी और मुलैठी की वर्ति का अंजन ३. त्रिकटु त्रिफला, हरिद्रा, विडङ्गसार को बराबर बराबर लेकर उसमें तगर, कूठ, देवदारु, शंख, पाठा, व्योष, मैनसिल का महीन चूर्ण मिलाकर वर्ति बनाकर अंजन ४. चमेली के फूल, करंज और सहिजन की बनी वर्ति का अंजन तथा ५. कंटक करंज या सहिजन का फल, उसी के बराबर छोटी और बड़ी कटेरी के फूल तथा रसांजन, सैन्धव, चंदन, मैनसिल, हरताल और लहसुन इन द्रव्यों को बराबर बराबर लेकर पीस कर वर्ति बनावे और उसका अंजन करे तो श्लेष्मज अभिष्यंद तथा अधिमंथ में लाभ होता है।

क्षारांजन—[1]अपक्व शूक युक्त जौ को कृष्णवर्ण की गाय के दूध में एक सप्ताह तक भावित कर पश्चात् उसको सुखाकर उसमें अर्जक, आस्फोतक, कपित्थ, बेल, निर्गुण्डीपत्र और चमेली के फूल को मिला कर जला दें। फिर उस जले राख को पानी में (१ प्रस्थ भस्म में १ आढक जल) मिलाकर उसको निथारे। राख को छोड़ क्षारोदक को पृथक् करे। इस क्षारोदक में सैन्धव, तुत्थ, हल्दी इन द्रव्यों का प्रक्षेप डालकर (क्षारोदक से $\frac{1}{32}$ भाग इनकी मात्रा होनी चाहिये) लौह पात्र में पकाकर रख ले। इस क्षाराञ्जन का उपयोग श्लैष्मिक नेत्रविकारों में किया जाता है। इसी कल्पना के अनुसार पूर्वोक्त फणिज्झक प्रभृति ओषधियों का भी क्षारांजन बनाया जा सकता है।

रक्तजाभिष्यंद प्रतिषेध—चिकित्सक को चाहिये कि अभिष्यंद, अधिमंथ, सिरोत्पात और सिराहर्ष इन चार रोगों में एक ही प्रकार की चिकित्सा करे।[2] अतः चारों प्रकार के रोगियों को अन्तःशोधन के

१. त्र्यहात् त्र्यहाच्चाप्यपतर्पणान्ते प्रातस्तयोस्तिक्तघृतं प्रशस्तम्।
तदन्नपानं च समाचरेद्धि यच्छ्लेष्मणो नैव करोति वृद्धिम्॥ (सु. उ. ११)

२. नीलान् यवान् गव्यपयोनुपीतान् शलाकिनः शुष्कतनून् विदह्य।
तथार्जकास्फोतकपित्थबिल्वनिर्गुण्डिजातीकुसुमानि चैव।
तत्क्षारवत् सैन्धवतुत्थरोचनं पक्वं विदध्यादथ लोहनाड्याम् एतद्बलासग्रथितेऽञ्जनं स्यात्

लिये कौम्भ घृत (सौ वर्ष पुराना घी) से स्नेहन करके मांसरस भोजन में देकर स्नेहन करावे पश्चात् सिरामोक्षण करे। साथ ही दोषों के निर्हरण के लिये विरेचन तथा शिरोविरेचन भी करना चाहिये। स्थानिक उपचारों में—रक्तदोष शामक १. प्रदेह २. परिषेक ३. नस्य ४. धूम ५. आश्च्योतन ६. अभ्यंग ७. तर्पण तथा ८. स्निग्ध पुटपाक का प्रयोग करना चाहिये। रक्ताभिष्यंद में मृदु स्वेद, जलौका से रक्तविस्रावण और घृतपान करना चाहिये।[1]

सेक—त्रिफला, लोध्र, मुलैठी, चीनी, नागरमोथा इनको शीतल जल से पीस कर जल से सेक करे।

आश्च्योतन—१. स्त्रीस्तन्य का आश्च्योतन २. दूध या घृत का आश्च्योतन ३. लोध्रचूर्ण को घृत में घिस कर उस घी का आश्च्योतन ४. शर्करा और त्रिफला चूर्ण का पानी में घोल बना कर छान कर उसके जल का आश्च्योतन रक्ताभिष्यन्द में करना चाहिये। कसेरु और मुलैठी इनके चूर्ण को कपड़े में बाँध कर स्वच्छ वर्षाजल (अन्तरिक्षोदक) में डुबाकर नेत्र में जल का आश्च्योतन भी इस अवस्था में लाभप्रद होता है।

अंजन—१. गाम्भारी, पाढ़ल, आँवला, निशोथ, अर्जुन, बड़ी कटेरी का फूल, बिम्बी और लोध्र, मजीठ, इन द्रव्यों का बराबर बराबर हिस्सा ले कर ईख के रस में पीस कर मधु के साथ मिला कर अञ्जन करना रक्ताभिष्यंद में हितकर है। २. चन्दन, कुमुद, तेजपात, शिलाजीत, केसर, लौह, ताम्र का बारीक चूर्ण और तूतिया इनका नीम के स्वरस या गोंद में बनायी वर्ति का अंजन अथवा पित्तल और कांस्य के मल का मधु के योग से वर्ति बना कर घिस कर अंजन करना रक्ताभिष्यंद में लाभप्रद होता है।

१. मन्थं स्यन्दं सिरोत्पातं सिराहर्षञ्च रक्तजम्। एकेनैव विधानेन चिकित्सेच्चतुरो गदान्॥ रुजायां चाप्यतिभृशं स्वेदाश्च मृदवो हिताः। अक्ष्णोः समन्ततः कार्यं पातनञ्च जलौकसाम्॥ घृतस्य महती मात्रा पीता चार्तिं नियच्छति। पित्ताभिष्यन्दशमनो विधिश्चाप्युपपादितः॥ (सु. उ. १२)

विडालक—नील कमल, खस, दारुहरिद्रा, कालीयक (लोध्रभेद), मुलैठी, मोथा, लोध्र, पदमक, धौत घृत (धुला हुआ घी) में लेप बनाकर आँखों पर बाहर की तरफ से लेप करे।

अंतःप्रयोग—वासादि क्वाथ, अडूसा, हरीतक, निम्ब, आँवला, मोथा और मूली का क्वाथ पीना।

शिग्रु स्वरस का आश्च्योतन या अंजन—शिग्रु स्वरस की नेत्राभिष्यंद में महत्ता बतलाते हुए 'लोलिम्बराज' वैद्य ने अपनी 'वैद्य-जीवन' नामक पुस्तक में लिखा है :—शिग्रु के पत्र स्वरस का मधु मिलाकर लगाना सभी प्रकार नेत्राभिष्यंदों में लाभप्रद होता है।[1]

कुलत्थाद्यंजन—बकरी के दूध में स्विन्न की हुई कुलथी का छिल्का निकाल कर उसमें सेंधानमक, हरिद्रा और रसौंत मिलाकर अंजन बनाकर नेत्रों में लगाने से अभिष्यंद में लाभ होता है। (वै० जी०)

१४

अधिमंथ

(Gloucoma Acute)

यह सर्वगत नेत्ररोगों का एक प्रधान तथा नेत्र के सर्वाङ्ग पर प्रभाव डालने वाला रोग है, जो अभिष्यंद की उपेक्षा करने पर होता है। इसमें एक तरफ के नेत्र और आधे सिर में भयंकर वेदना होती है—जिसमें रोगी को ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई नेत्र का मंथन कर रहा हो या नेत्र को निकाल रहा हो। यह सर्व प्रकार के अधिमन्थ-का एक सामान्य लक्षण है।[2]

१. लोलिम्बराजकविना वनितावतंसे शिग्रोरमुष्य कथितोस्ति किमूपयोगः।
एतस्य पल्लवरसात्समधोः किमन्यद् दृग्व्याधिसाधुहरणे महिलाग्रगण्ये॥

२. वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् तावन्तास्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः।
उत्पाटयत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा। शिरसोर्द्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः॥
(सु. उ. ६)

विशेष परिचय—अधिमंथ विशेष प्रकार का कठिन और वेदनाप्रद रोग है। इस में अभिष्यंद के सभी बढ़े हुए लक्षणों और चिह्नों के अतिरिक्त शंख, दंतप्रदेश, कपोल और कपाल के देशों में भी वेदना की तीव्रता होने लगती है। यहाँ की वेदना, तीव्रता के कारण अपना स्वतंत्र रूप धारण कर अधिक कष्टप्रद हो जाती है।[1]

अधिमंथ प्रकार—अधिमंथ के चार प्रकार हैं १. वाताधिमंथ २. पित्ताधिमंथ ३. श्लेष्माधिमंथ और ४. रक्ताधिमंथ।

वाताधिमंथ—इस में अरणि के मंथन के समान तीव्र पीड़ा होती है, वेदना के कारण रोमांच, संघर्ष (किरकिरापन), सूची के वेधन या शस्त्र से काटने के समान वेदना, नेत्र में मांस का उपचित होना, नेत्र का आविल (कीचड़ युक्त) होना, कुंचन (संकोचन), आस्फोट (फटने के समान), आध्मान (तनाव Tension) और कम्प आदि वेदना युक्त यह रोग होता है तथा आधे सिर में व्याधि के स्वभाव से तीव्र वेदना होती है।[2] वाग्भट ने भी इन्हीं लक्षणों को दिया है, अन्य लक्षणों में विशेषतया कर्णनाद, भ्रम और ललाट, आँख तथा भ्रू में भी वेदना होना बतलाया है।[3]

पित्ताधिमंथ—इसमें लाल लाल राजियों (रक्तवाहिनियों) से नेत्र भर जाता है, स्राव बहुत होता है और नेत्र आग से जलते हुए मालूम पड़ते हैं। नेत्र गोलक यकृत् पिण्ड के सदृश गहरे ताम्र वर्ण का हो जाता है। उसमें क्षारलिप्त क्षत के सदृश या आग से जलने के सदृश दाह होता है, पककर बढ़ा हुआ या उभरा हुआ, वर्त्मान्त भाग शोथ युक्त हो जाते हैं, पित्ताधिक्य के कारण रोगी को सभी चीजें पीली

१. अधिमंथा यथास्वं च सर्वे स्युरधिकव्यथाः।
शंखदन्तकपोलेषु कपाले चातिरुक्कराः॥ (वा०)

२. नेत्रमुत्पाट्यत इव मथ्यतेऽरणिवच्च यत्। संघर्षतोदनिर्भेदमांससंरब्धमाविलम्॥
कुंचनास्फोटनाध्मानवेपथुव्यथनैर्युतम्। शिरसोऽर्द्धं च येन स्यादधिमंथः स मारुतात्॥

३. अधिमंथो भवेत्तत्र कर्णयोः सदनं भ्रमः।
अरण्येव च मथ्यन्ते ललाटाक्षिभ्रुवादयः॥ (वा० उ० १४)

दीखती हैं। पीड़ा और दाह के कारण स्वेदागम, मूर्च्छा, शिरोदाह भी होता है।[1]

श्लेष्माधिमंथ—इसमें नेत्र में साधारण संरम्भ होता है, शोथ नहीं होता, नेत्र भरे हुए दिखाई पड़ते हैं तथा अश्रुस्राव और कण्डुयुक्त होते हैं, नेत्र स्पर्श में शीतल, गाढ़ी, उपदेह या दूषिका (कीचड़) युक्त होते हैं, देखने में कठिनाई होती है, नेत्र में धूलि पड़ी हो इस प्रकार का अनुभव जिससे आँख न खोली जा सके, नासाध्मान (नाक में खुश्की), सिर में दर्द प्रभृति लक्षण तथा चिह्न मिलते हैं। वाग्भट ने शुक्ल मण्डल का ऊँचा होना भी लिखा है।[2]

रक्ताधिमंथ—रक्ताधिमंथ से पीड़ित रोगी का नेत्र गहरे लाल वर्ण का होता है। जितनी दूर तक लालिमा होती है वहाँ तक उत्पाटन करने की तरह तीव्र वेदना और दाह होता है। रोगी का नेत्र स्पर्शनाक्षम हो जाता है। इस गहरे रक्त वर्ण में नेत्र का काला भाग नेत्र में डूबे हुए रीठा नामक काले फल के समान भासता है। जब रोगी देखता है तब उसे चारों ओर सब कुछ लाल वर्ण का अग्नि के समान दिखलाई पड़ता है। सुश्रुत ने इस रोग में नेत्र की लालिमा की उपमा बन्धुजीव (दुपहरिया के पुष्प) से दी है।[3] इसमें रक्तवर्ण का आस्राव होना भी एक प्रधान चिह्न बतलाया है।

१. रक्तराजिचितं स्रावि वह्निनेवावदह्यते ।
यकृत्पिण्डोपमं दाहि क्षारेणाक्तमिव क्षतम् ॥
पक्वोच्छूनवर्त्मान्तं सस्वेदं पीतदर्शनम् ।
मूर्च्छा शिरोदाहयुतं पित्तेनाक्ष्यधिमन्थितम् ॥ (सु०)

२. शोफवन्नातिसंरब्धं स्रावकण्डूसमन्वितम् ।
शैत्यगौरवपैच्छिल्यदूषिकागौरवान्विताम् ॥
रूपं पश्यति दुःखेन पांशुपूर्णमिवाविलम् ।
नासाध्मानशिरोदुःखयुतं श्लेष्माधिमंथितम् ॥ (सु०)
अधिमंथे मतं कृष्णमुन्नतं शुक्लमण्डलम् ।
प्रसेको नासिकाध्मानं पांशुपूर्णमिवेक्षणम् ॥ (वा०)

३. वंधुजीवप्रतीकाशं ताम्यतिस्पर्शनाक्षमम् ।

वाग्भट ने अपने अष्टाङ्गहृदय में–'ताम्यति' शब्द पर जोर दिया है कि तनाव (Tension) के कारण स्पर्शनाक्षम हो जाता है।

परिणाम—कफज अधिमंथ सात दिन में, रक्तज पाँच दिन में, वातज छः दिन में और पित्तज मिथ्याचरण से सद्यः दृष्टिशक्ति (Vision) को नष्ट कर देता है।[1]

उपद्रव—अधिमंथ के होने पर यदि नेत्र की उपेक्षा की जाय यानी उसका यथायोग्य उपचार नहीं किया जाय तो हताधिमन्थ नामक रोग होता है।

हताधिमंथ—यह एक असाध्य रोग है। इसमें नेत्र में तीव्र वेदना होती है। सिराओं के भीतर संचरण करने वाला वायु नेत्र को बाहर निकाल कर हताधिमन्थ नामक रोग को पैदा करता है। इस अवस्था को असाध्य बतलाया गया है।[2] हताधिमन्थ की अवस्था विशेषतः वाताधिमन्थ की उपेक्षा से होती है।

आचार्य सुश्रुत ने हताधिमन्थ के दो श्लोकों में एक में नेत्र का बहिर्निगमन और दूसरे में नेत्र का शोष (कोटर के भीतर बैठ जाना) लिखा है। वास्तव में यह एक ही रोग के दो परिणाम हैं, चाहे नेत्र-गोलक कोटर के बाहर आ जाय या नेत्र गोलक कोटर के भीतर सूख जाय। इस बात की पुष्टि विदेह की उक्ति से स्पष्ट हो जाती है—

रक्तास्रावस्सनिस्तोदं पश्यत्यग्निनिभा दिशः ॥
रक्तमग्नारिष्टवच्च कृष्णभागश्च लक्ष्यते ।
यद्दीप्तं रक्तपर्यन्तं तद्रक्तेनाधिमंथितम् ॥ (सु०)
रागेण वंधूकनिभं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम् ।
असृङ्निमग्नारिष्टाभं कृष्णमग्न्याभदर्शनम् ॥ (वा०)

१. हन्याद् दृष्टिं सप्तरात्रात्कफोत्थोऽधीमन्थोऽसृक्संभवः पञ्चरात्रात् ।
षड्रात्राद्वै मारुतोत्थो निहन्यान्मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥ (सु०)

२. उपेक्षणादक्षियदाधिमन्थो वातात्मकः सादयति प्रसह्य ।
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष हताधिमन्थः खलु नामरोगः ॥
अन्तःसिराणां श्वसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन् ।
हताधिमन्थं जनयेत् तमसाध्यं विदुर्बुधाः ॥ (सु०)

'नेत्राभ्यन्तरीय सिराओं को शोष युक्त करके वायु जब अपना प्रभाव डालता है तब देखने की शक्ति क्षीण हो जाती है। पश्चात् वायु की बढ़ती हुई क्रियाओं द्वारा नेत्र शिरायें विकृत होकर नेत्र को बाहर की ओर निकाल देती हैं और नेत्र गोलक कोटर से उभरा (Exopthalmos) हुआ दिखलाई पड़ता है। इसमें शूल, तोद, भेद आदि लक्षण होते हैं। अथवा नेत्र की शिराओं को सुखाकर नेत्र को संकुचित करके सुखा देता है। इसमें कई अन्य सार्वदैहिक लक्षण भी पैदा हो जाते हैं जैसे शारीरिक बल एवं अग्नि मंद पड़ जाती है, कान्ति क्षीण हो जाती है, देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार रोग में अक्षि गोलक का सूखना (Sinking of the Eye ball due to atrophy of the optic Neve) यह एक प्रमुख रूप मिलता है।"[1]

साध्यासाध्यता—अधिमन्थ के सभी प्रकार साध्य हैं परन्तु हताधिमंथ असाध्य है।

चिकित्सा—अधिमन्थ और अभिष्यन्द की चिकित्सा का क्रम एक ही प्रकार का रहता है। जिस प्रकार अभिष्यन्द में दोषानुसार विभिन्न प्रकार के सेक, आश्च्योतन, अञ्जन, नस्य, धूम प्रभृति उपचारते बरते जाते हैं, ठीक उसी प्रकार दोषभेद करते हुए अधिमन्थ में भी करना चाहिये। विशेषतः ललाट की शिराओं का वेधन तथा भ्रू (भौं) के ऊपर दाह करना चाहिये।[2]

---

१. अन्तर्गतः सिराणां तु यदा तिष्ठति मारुतः।
स तदा नयनं प्राप्य शीघ्रं दृष्टिं निरस्यति ॥
तस्यां निरस्यमानायां निर्मथन्निव मारुतः।
नयनं निर्वमत्याशु शूलतोदाधिमन्थनैः ॥
अथवा शोषयेदक्षिक्षीणतेजोबलानलम्।
उत्पद्ममिव संशुष्कमवसीदति लोचनम् ॥ (विदेह)

२. अधिमन्थेषु सर्वेषु ललाटे संव्यधेच्छिराम्।
अशान्ते सर्वथा मन्थे भ्रुवोरुपरि दाहयेत् ॥
अभिष्यन्देषु या प्रोक्ता चतुर्ष्वपि च या क्रिया।
ताः सर्वाधिमन्थे च प्रयोज्याश्च भिषग्वरैः ॥ (यो० र०)

आधुनिक प्रविचार—ऊपर 'अधिमन्थ' नामक व्याधि के लक्षण तथा चिकित्सा का उल्लेख प्राचीन संहिताओं के आधार पर किया गया है। इसके आधार पर कई विद्वानों ने इस रोग की तुलना आधुनिक दृष्ट्या तीव्र नेत्रगृह शोथ (Acute orbital Cellulitis) से किया है और अधिमन्थ का पर्याय तीव्र नेत्रगृह शोथ लिखा है। दूसरे विचारकों ने इसको ठीन न मानकर रोग की तुलना अंग्रेजी के 'ग्लौकोमा' (Glaucoma) रोग से किया है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों ही विचार युक्तियुक्त हैं, तथापि अधिमन्थ के लक्षण तथा वर्णित चिह्न उपद्रव तथा उपचार ग्लोकोमा से बहुत मिलते-जुलते हैं। अधिमन्थ नाम से ही—'अतिशय करके मन्थनवत् पीडा का होना' स्पष्ट है। यों तो प्रायः सभी नेत्ररोगों में तीव्र रक्ताधिक्य की अवस्था में वेदना या पीडा का होना एक सामान्य लक्षण है, परन्तु आविल दर्शन (धुंधला दिखाई देना), अत्यधिक पीडा, आंकुचन, आस्फोटन, आध्मान (Tension) प्रभृति कुछ ऐसे विशिष्ट लक्षण इस रोग में मिलते हैं जो 'ग्लौकोमा' के पक्ष में बलात् ध्यान को आकर्षित करते हैं। दूसरी बात यह है कि संहिता ग्रन्थों में जो इसके विपरिणाम बतलाये गये हैं अथवा अन्यत्र भी जो इसके उपद्रव बतलाये गये हैं वे भी आधुनिक युग के 'ग्लौकोमा' रोग के सीधे उपद्रव (Direct complications) हैं। उदाहरण के लिये—

१. 'हताधिमन्थ'—वाताधिमन्थ की उपेक्षा करने से होता है। इसमें वातनाडियों का शोष (Atrophy) होकर नेत्रावसादन या नेत्रशोष (Atrophy or Sinking of the Eye ball) हो जाता है।

२. वाग्भट ने 'दृष्टिहा' तथा सुश्रुत ने भी 'दृष्टि का प्रतिक्षेप करने वाला' (दृष्टि शक्ति को नष्ट करने वाला) बतलाया है। ये सभी परिणाम औपद्रविक अधिमन्थ (Secondary Glaucoma) के लक्षणों में आधुनिक ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं।

३. 'अन्यतोवात' तथा 'वातपर्याय' इन दो और उपद्रवों का उल्लेख स्वतन्त्र रोग के रूप में सुश्रुत ने किया है। अधिमन्थ के चिरकालीन होने एवं नेत्र के किसी स्थान की नाडीविशेष (Fifth Cranial

Nerve) का शोष या विकृति होने से मन्या, ग्रीवा, एवं पार्श्व की कर्ण, सिर, हनु नाडियों में से किसी के या सिर के पिछले भाग में दर्द होकर भ्रू या नेत्र में पीडा होती है। सुश्रुत ने इस अवस्था विशेष की अन्यतोवात की संज्ञा दी है। यह रोग चिरकालीन अधिमन्थ की पूरी चिकित्सा नहीं करने से उत्पन्न होता है।[1]

इसी प्रकार 'वातपर्याय' में वायु दोनों पक्ष्म, दोनों भ्रू और दोनों आँखों में आश्रित रहता है और पर्यायक्रम से कभी आँखों में, कभी भ्रुओं में तथा कभी पक्ष्म में पीडा होती है इसीलिये इसे वातपर्याय की संज्ञा दी गई है। इसमें भी पञ्चम शिरस्का वात नाडी का ही विकार पाया जाता है।[2]

४. इसी प्रकार 'शुष्काक्षिपाक' नामक स्वतन्त्र व्याधि का भी उपद्रव रूप में 'ग्लौकोमा' में होना संभव है। जिसमें पलक निमीलित (बन्द) हो जाते हैं, स्पर्श में रूक्ष और कठिन हो जाते हैं, देखने में रोगी को आविल (धुँधला) दिखाई पड़ता है और पलक खोले नहीं खुलते, इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं।[3]

५. वाग्भट का 'नतं कृष्णमुन्नतं शुक्लमण्डलम्' यह उपद्रवलक्षण स्वभावगत नेत्र व्याधि के आभ्यन्तर आध्मान (Tension) का स्पष्टतया द्योतक है। यह लक्षण तीव्राधिमन्थ (Acute Glaucoma) की अवस्था में पाया जाता है। नेत्राभ्यन्तरीय सजल द्रव की वृद्धि से दबाव पाकर 'आयरिस' नीचे की ओर झुक जाता है जिससे कृष्ण मण्डल नष्ट हो जाता है और शुक्ल पटल ऊँचा उठ जाता है।

१. यस्यावटूकर्णशिरोहनुस्थो मन्यागतो वाप्यनिलान्यतो वा।
कुर्याद्रुजोऽतिभ्रुवि लोचने वा तमन्यतो वातमुदाहरन्ति॥
बारं बारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः।
रुजश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्ययः॥ (मा० नि०)

२. पक्ष्मद्वयाक्षिभ्रुवमाश्रितस्तु यत्रानिलः संचरति प्रदुष्टः।
पर्यायशश्चापि रुजः करोति तं वातपर्यायमुदाहरन्ति॥

३. यत्कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म विलोकने चाविलदर्शनं तु।
सुदारुणं यत्प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि॥

The pupil is dilated, ovale, immobile and often presents a greenish reflex. The Iris is conjested, discoloured and dull. The anterior chamber is shallow the aquous some times turbid. The lens and the perifery of the Iris are pushed forward the lids are swollen and oedematous etc.

६. यद्यपि सुश्रुतोक्त 'सशोफ तथा अशोफ नेत्र पाक' से स्वतन्त्र होने वाले त्रिदोषज रोग बतलाये गये हैं, तथापि ये दोनों अधिमन्थ के ही उपद्रव ज्ञात होते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार के हैं—नेत्रकण्डु, उपदेह (भारीपन) युक्त अश्रु से भरे हुए रहते हैं, तथा देखने में पके हुए गूलर के समान रक्तवर्ण दिखलाई पड़ते हैं। उनमें दाह, संघर्ष, शोथ, तोद, गुरुत्व और अश्रुस्राव होकर नेत्र पक जाता है। यह सशोथ नेत्रपाक कहलाता है और इन लक्षणों में यदि शोथ का अभाव हो तो उसे अशोफ नेत्रपाक कहते हैं। इसमें सर्वतोभावेन नेत्र का नाश हो जाता है याने दृष्टि नष्ट हो जाती है।[1]

आधुनिक ग्रन्थों में एक सांघातिक 'ग्लौकोमा' (Glaucoma fulminous) का वर्णन मिलता है, जिसमें नेत्र की वर्त्मशाखा में प्रदाह और पाक होता है, कृष्णमण्डल (Cornea) पर संक्रमण पहुँचता है, उसमें पूय पड़कर छिद्र होने पर नीचे का भाग संक्रमित होता है और फिर सारा नेत्र संक्रमित होकर नेत्रपाक जैसा भयंकर उपद्रव (Glaucoma fulminous) होकर दृष्टि नष्ट हो जाती है। इस रोग का प्रारम्भ अचानक होता है और हठात् दृष्टि को नष्ट करता है। 'मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव' (सु·)।

Glaucoma fulminous is a name given to a form of rare occurrence in which very voilent symptoms of in-

---

१. कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसन्निभः ।
दाहसंहर्षताम्रत्वं शोफनिस्तोदगौरवैः ॥
जुष्टो मुहुः स्रवेच्चास्रमुष्णं शीताम्बुपिच्छिलम् ।
संरम्भी पच्यते यश्च नेत्रपाकसशोफजः ।
शोफहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोफजे ॥

flammation develops suddenly and in which blindness may ensue in a few hours unless proper treatment be instituted.

यह अवस्था 'पैत्तिकाधिमन्थ' तथा उसके उपद्रव 'सशोफ नेत्रपाक' अथवा 'अशोफ नेत्रपाक' का द्योतन करती है।

इसी प्रकार 'अम्लाध्युषित' नामक विकार भी तीव्राधिमन्थ के परिणाम स्वरूप में होने वाला एक उपद्रव ज्ञात होता है जिसका आचार्य ने इसी प्रसङ्ग में एक स्वतन्त्र रोग के रूप में वर्णन किया है; 'जिसमें अधिक विदाही तथा अम्ल पदार्थों के सेवन से नेत्र शोफ युक्त हो जाता है, और चारों ओर से ईषद् नील एवं लाल रंग की रचनाओं से आच्छादित हो जाता है।' यह एक पैत्तिक विकार है और चिकित्सा से साध्य है।[1]

उपर्युक्त समन्वयात्मक विचारों को ध्यान में रखने से इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनों का नेत्ररोग में पठित अधिमन्थ रोग संभवतः 'एक्यूट-कंजेस्टिव ग्लौकोमा' (Acute-Conjestive Glaucoma) ही है। अतएव इसका एक आधुनिक ग्रन्थों के आधार पर सामान्य वर्णन नीचे दिया जाता है।

अधिमन्थ का आधुनिक ग्रंथों के आधार पर वर्णन—अधिमन्थ (Glaucoma) की सम्यक् जानकारी के लिये आवश्यक हो जाता है कि उसका स्वतंत्रतया उल्लेख हेतु, सम्प्राप्ति, चिह्न तथा चिकित्सा की दृष्टि से संक्षेप में एक छोटे अध्याय के रूप में किया जाय।

परिचय—यह रोग भारतवर्ष में अति प्रचलित है। रोग इतना दुष्ट है कि योग्य समय से उचित उपचार न किया जाय तो दृष्टि सदा लिये चली जाती है। फिर किसी भी चिकित्सा से लाभ नहीं होता। इस रोग से अंधे हुए हजारों रोगी भारतवर्ष में होंगे।

इस रोग में एक लक्षण प्रधान है कि किसी भी जाति का अधिमन्थ हो सबमें गोलक की कठिनता बढ़ती है अर्थात् नेत्राभ्यंतरीय भार की वृद्धि होती है जिसके कारण मंथ, तीव्र शूल प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते हैं।

१. अम्लेन भुक्तेन विदाहिना च संछाद्यते सर्वत एव नेत्रम् ।
शोफान्वितं लोहितकैः सनीलैरेतादृगम्लाध्युषितं वदन्ति ॥

प्रकार

- १. प्राथमिक (Primary)
  स्वस्थनेत्र में स्वतंत्रतया व्याधि उत्पन्न होती है ।
  - १. तीव्ररक्ताधिक्ययुक्त (Acute- or congestive)
  - २. चिरकालीनरक्ताधिक्ययुक्त (Chronic congestive)
  - ३. सामान्य या चिरकालीन (Simple chronic)
  - ४. संपूर्ण (Absolute)

  उपर्युक्त चारों भेदों को अधिक व्यावहारिक दृष्टि से केवल दो विभागों के भीतर ही समावेश किया जा सकता है ।
  - तीव्र या रक्ताधिक्ययुक्त
  - सामान्य या जीर्ण (Simple or chronic)
- २. औपद्रविक (Secondary)
  अन्यनेत्ररोगों के उपद्रव रूप में रोग उत्पन्न होता है । जैसे—
  1. कृष्ण मण्डल शोथ या सव्रण शुक्र
  2. तारामण्डल या आयरिस के रोग-इस में 'स्लेम' की नलिका का मार्गावरोध हो जाने पर आभ्यंतर पीडन बढ़ जाने से अधिमंथ होता है ।
  3. तन्तुमय समूह या मध्यपटल शोथ । (Choroid & Ciliary body) के शोथ ।
  4. दृष्टिमणि का भ्रंश
  5. नेत्रान्तर्गत अर्बुद
  6. नेत्र गृहसिराओं का अवरोध
  7. नयनाभिघात-जिन से पूर्वकोष्ठ में रक्त संचय हो जाता है फिर स्लेम का मार्ग रुद्ध हो कर रोग हो जाता है ।
  8. सहज-विकार— (क) लघुनेत्र (ख) तारा मण्डल का अभाव, जिसमें प्रारंभ से स्लेम का जलमार्ग छोटा होता है ।
  9. दृष्टिवितान की मध्य सिरा का रक्तस्राव ।
- ३. बाल्यकालीन जल नयन (Hydrophthalmos)

अधिमन्थ रोग के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति—

कारण (Predisposing)—अधिमन्थ प्रौढावस्था का रोग है जो प्रायः चालीस वर्ष के उपरान्त ही पाया जाता है। परन्तु, कभी कभी पहले भी हो सकता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। १. तन्तुमयसमूह (Ciliary body) का मोटा होना (वृद्धावस्था या दीर्घ दृष्टि वालों में)। २. दृष्टि मणि का काठिन्य या दीर्घता–४०–४५ की आयु में दृष्टि (Lens) कठोर हो जाता है और स्थितिस्थापकता कम हो जाती है। ३. नेत्र बाह्य पटल (Sclera) का काठिन्य और स्थितिस्थापकत्व का ह्रास (वृद्धावस्था में ऐसा संभव है)। ४. सजल द्रव के पूर्वखण्ड की गहराई कम होना। ५. नेत्रगत रक्तवाहिनियों का रक्तपूर्ण होना (इसकी वजह से नेत्रान्तर्द्रव की उत्पत्ति बढ़ जाती है और इन मोटे हुए अवयवों के दबाव से बाहर निकलने के मार्ग में बाधा पड़ती है, परिणामस्वरूप नेत्राभ्यन्तरीय दबाव बढ़ जाता है और रोगोत्पत्ति हो जाती है)। ६. समस्त देहाश्रित रक्ताभाराधिक्य (Hypertension or High blood pressure)—क्रोध, चिन्ता, मानसिक आघात, निद्रानाश और मलावरोध तथा जरावस्थाजन्य धमनी के काठिन्य (Anterio sclerosis) होने के कारण नेत्रगत धमनियों में भार की वृद्धि होना।

प्रकोपक कारण—यदि उपर्युक्त एक या अधिक अवस्थायें पहले से ही किसी व्यक्ति के नेत्र में उपस्थित हों और किसी कारण से तारक (Pupil) प्रसारित हो जाय तो अधिमन्थ की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे अतिपरिश्रम, सूर्यताप अथवा 'एट्रोपीन' या 'होमेट्रीपन' नाम की तारक प्रसारक ओषधियों के प्रयोग।

सम्प्राप्ति—अधिमन्थ की सम्प्राप्ति जैसा पहले ही कहा जा चुका है नेत्रान्तः भारवृद्धि या भीतर संगृहीत द्रव के अधिक दबाव से होती है। जब प्रवाह की नैसर्गिक योजना में अन्तराय आता है, तब यह व्याधि उपस्थित होती है।

नेत्र की कठिनता समान भाव से बनी रहे इसके लिये प्रकृति ने

नेत्रान्तः भागों में बड़ी सुन्दर योजना की है। सजल द्रव के पश्चिम खण्ड से तारामण्डल के परिधि प्रान्त में अवस्थित बहुत से छिद्रों द्वारा क्षारीय जल पूर्वखण्ड में आता रहता है। यही द्रव पश्चिम खण्ड में से सान्द्र द्रव के खण्ड में भी गति करता है। वह तन्तुमय समूह (Ciliary body) से स्रवता है। इस स्राव की न्यूनाधिकता का आधार देहस्थ धमनियों के, विशेषतः तन्तुमय समूह और नेत्र मध्य-पटल की धमनियों के भीतर के दबाव पर एवं नेत्र के भीतर संगृहीत द्रव के ऊपर निर्भर करता है। यदि धमनियों में रक्त का दबाव कम हो, तो उक्त प्रवाही स्राव कम परिमाण में स्रवित होता है और इसके विपरीत स्थिति हो, तो स्रवण क्रिया अधिक होती है।

एक ओर प्रवाही या द्रव बनता है, दूसरी ओर निकलने का मार्ग भी प्रस्तुत होता है। कुछ तो दृष्टि वितान की रसवाहिनियों द्वारा निकलता है, कुछ उसी खण्ड की रक्तवाहिनी केशिकाओं के द्वारा वापस होकर रुधिर में शोषित हो जाता है। दूसरा मार्ग सजल द्रव के पश्चिम खण्ड से पूर्व खण्ड में और वहाँ से कृष्णमण्डल बाह्यपटल और तारामण्डल (Cornea, sclera, Iris) के संगम के पास अग्रिम जलमार्ग या स्लेम की नलिका द्वारा बाहर निकलने का है। इस प्रकार प्रवाही या द्रव के बनने के साथ साथ अधिक मात्रा में संगृहीत द्रव को निकालने का भी प्रबन्ध है जिससे भार का संतुलन रहे।

यदि किसी कारण से यह संतुलन व्यवस्था बिगड़ जाय अर्थात् आय-व्यय का नियमन न हो सके तो अधिमन्थ (Glaucomo) की उत्पत्ति हो जाती है। इसमें केवल स्राव के निकलने की न्यूनता से ही रोग की सम्प्राप्ति नहीं होती बल्कि जब उत्पत्ति अधिक होती है और निकास कम होता है तब रोग उत्पन्न होता है ऐसी विद्वानों की मान्यता है।

तीव्राधिमंथ—(Acute congestive or Inflammatory Glaucoma)—सम्भवतः इसी रोग विशेष का वर्णन सुश्रुत ने अधिमंथ नामक रोग से किया है। जैसा कि नीचे प्रसंगों से स्पष्ट होता है।

लक्षण—१. शिरःशूल रात-दिन सतत बना रहता है। रोगी व्याकुल हो जाता है। शूल का कारण सांवेदनिक नाड़ी सूत्रों के ऊपर दबाव होता है। 'उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा।' 'तोद निर्भेद'।

२. अत्यधिक अश्रुस्राव—बहुत आँसू निकलता है, रोगी सतत नेत्रों को पोंछता रहता है। इस आँसू में चिपचिपापन नहीं रहता, बिलकुल जल के समान स्राव होता है। 'स्रावकण्डुसमन्वितम्'।

३. दृष्टि में न्यूनता—नेत्र में शूल का प्रारम्भ होने के साथ ही दृष्टि अति मंद हो जाती है। 'हन्यात् दृष्टिम्' 'आविलदर्शनम्'।

४. वमन, शीत के साथ ज्वर का आना तथा हृद्गति का मन्द होना भी अधिमन्थ में आता है।

५. वर्त्मशोथ—पलक पर न्यूनाधिक शोथ रहता है। कइयों में इतना अधिक हो जाता है कि वे नेत्र नहीं खोल सकते 'शूलवर्त्मान्तम्'।

६. नेत्र की लालिमा और स्फीति—तीव्र प्रकोप की अवस्था में नेत्र अत्यन्त लाल हो जाता है। यह लाली गहराई में स्थित रक्तवाहिनियों की स्फीति से और उनमें रक्त संगृहीत हो जाने से होती है। रक्तवाहिनियाँ रुधिर से भर जाती हैं। इससे नेत्र में अतिशय लाली आ जाती है। अवरोध के हेतु रक्तवाहिनियों में स्रवित द्रव नेत्र श्लेष्मावरण के नीचे चूकर संगृहीत हो जाता है और फिर वह बुद्बुद के समान फूल जाता है। 'पक्वोदुम्बरसन्निभः' 'बंधुजीवप्रतीकाशम्' 'यकृत्पिण्डोपमम्' 'रक्तराजिचितम्'।

७. कृष्णमण्डल का निस्तेज होना—प्रकृतावस्था में कृष्णमण्डल बिलकुल चिकना और तेजस्वी रहता है। इस अवस्था में इसको रखने में कारण वहाँ का स्वस्थ रुधिराभिसरण है। यदि अभिसरण में बाधा पहुँचे तो वह निस्तेज हो जाता है। इस रोग के आक्रमण में कृष्णमण्डल निस्तेज सा जान पड़ता है, मानो उस पर वाष्प, बादल या धुवाँ चढ़ा हो। 'रक्तमग्नारिष्टवच्च कृष्णभागश्च लक्ष्यते'।

८. सजल द्रव के पूर्व खण्ड की लघुता—ग्लकोमा की स्थिति में पूर्वखण्ड स्वाभाविक से छोटा हो जाता है, उसके द्रव में गंदलापन आ

जाता है और उसकी पारदर्शकता जाती रहती है। उसमें शुक्लि (Albumin) मिलकर उसको गाढ़ा कर देता है। 'आविलदर्शनं यत्' ।

९. तारामण्डल (Iris) मलिन राख जैसे काला पड़ जाता है।

१०. दृष्टि नाड़ी का प्रान्त भाग—दृष्टिनाड़ी का सिरा तीव्रावस्था में लाल भासता है। चिरकालीन प्रकार में वहाँ पर गड्ढा सा दिखलाई पड़ता है; परन्तु तीव्रावस्था में इस प्रकार का गड्ढा नहीं दीखता। नेत्रदर्शक धमनियों में स्पन्दन मालूम पड़ता है।

११. नेत्राभ्यंतर भार की वृद्धि—इसकी परीक्षा अंगुलियों के द्वारा या भार मापक यन्त्र के द्वारा की जा सकती है। 'ताम्यति' 'स्पर्शनाक्षम' ।

१२. तारक (Pupil) में परिवर्त्तन—तीव्राधिमंथ तारक न्यूनाधिक अंश में प्रसारित हो ही जाता है। इतना ही नहीं उस पर प्रकाश डालने पर वह संकुचित भी नहीं होता, अर्थात् तारक की प्रकाश प्रतिक्रिया लगभग नष्ट हो जाती है।

उपचार—चिकित्सा करते हुए अधिमंथ की प्रारंभिक अवस्था में औषधोपचार करना चाहिये। यदि प्रचुर लाभ न जान पड़े तो शस्त्रोपचार करना चाहिये।

औषधोपचार—१. विश्राम।

२. विरेचन—आधा से एक औंस मैगसल्फ देने से रेचन होकर भार कम होता है और वेदना में कुछ शान्ति मिलती है।

३. रक्तविस्रावण—जिधर पीड़ा अधिक हो उधर की ओर छः जोंकें कनपटी में लगाकर रक्त का चूषण करावे-इससे भी भार कम होकर शूल शान्त होता है।

४. तारक संकोचक प्रयोग—(क) आँखों के ऊपर बर्फ की थैली या पट्टी रखना। (ख) एक प्रतिशत शक्ति के 'इसरिन' की बूंदों को आधे आधे घंटे पर आश्च्योतन करना अथवा नेत्र में 'एनीथीन' की बूंदें डालकर पाँच मिनट के पश्चात् रूई के छोटे टुकड़े को 'एपीनेफ्रीन' या 'एड्रीनीलीन क्लोरायड' के १ : १००० के घोल में भिंगो कर नेत्र के ऊपर के पलक और गोलक के बीच में प्रवेश करावे और पाँच मिनट

तक रहने दे। कनीनिका संकुचित होने पर आश्च्योतनों को तीन तीन या छः छः घण्टे के अन्तर से करना चाहिये।

५. सूचीवेध के द्वारा अंतः क्षेपण—(क) यदि उपर्युक्त उपचार से आधे घंटे में लाभ न प्रतीत हो तो विशुद्ध लवण विलयन १ ग्रेन १ औंस परिस्रुत सलिल में रोगी को शिरामार्ग से ५ सी. सी. दे। इसके द्वारा सम्पूर्ण शरीरगत रक्तचाप तथा नेत्रान्तः दबाव भी कम हो जाता है, कनीनिका संकुचित होती है, शूल शान्त होता है। (ख) कुछ लोग 'एड्रेनैलीन' का तीन चार बूंद विलयन नेत्र श्लेष्मावरण के नीचे सुई से देने की सलाह देते हैं। (ग) यदि पीड़ा असह्य हो तो मार्फिया सल्फेट ⅛ ग्रेन की मात्रा में त्वचा के मार्ग से सूचीवेध के द्वारा दिया जा सकता है।

६. विम्लापन—जिस नेत्र में मन्थ या पीड़ा अधिक हो उस नेत्र पर हल्के हाथ से लगभग दो मिनट तक दिन में तीन चार बार मसलने से कुछ शान्ति मिलती है। रोग उत्पन्न होने से आरंभ करके ७२ घंटे तक उपर्युक्त उपचारों से लाभ न दीखे तो अवश्य शस्त्रकर्म करना चाहिये।

शस्त्रोपचार—इसके लिये मुख्य तीन विधान हैं:—

१. सजल द्रव को निकालना—पूर्वखण्ड में शस्त्र को प्रवेश कराके द्रव को निकाल देना चाहिये। इससे पीड़ा कम होकर रोगी को शान्ति मिलती है। परन्तु यह लाभ अस्थायी होता है क्योंकि जल पुनः भर जाता है फलतः बार बार इस क्रिया को दुहराना पड़ता है।

२. वाह्यपटल के पश्चाद् भाग में वेधन या छिद्र करना (Sclerotomy Postereor) कृष्णमण्डल से लगभग बारह मिलीमीटर की दूरी पर ग्राफे की छुरिका से वेधन किया जाता है। इससे भी भार कम होकर पीड़ा शान्त होती है।

३. तारामण्डल छेदन या छिद्रीकरण (Iridectomy) तीव्राधिमंथ में इस शस्त्रक्रिया से बड़ा लाभ पहुँचता है। १८५७ ईस्वी में 'वोनग्राफे' नामक नेत्र विशेषज्ञ ने इस शस्त्रकर्म का आविष्कार किया था। इस क्रिया में तारामण्डल का कुछ भाग काट लिया जाता है।

अधिमंथ के अधिकार में कथित सुश्रुतोक्त विभिन्न नेत्ररोगों की प्राचीन चिकित्सा

(१) अधिमंथ (Acute glaucoma)—दोषानुसार अभिष्यंदवत ललाट की सिरा का वेधन और भ्रू के ऊपर दाह।

अधिमंथ में सामान्य चिकित्सा—रोगी के शरीर तथा नेत्र को पूर्ण विश्राम देना। एक वर्ष पुराने घृत का पान कराके स्नेहन कराना। एरण्ड तैल का स्निग्ध विरेचन देकर कोष्ठशुद्धि कराना। बीच बीच में वस्ति देकर भी कोष्ठ शुद्धि कर लेनी चाहिये।

अभिष्यंद एवं अधिमंथ इन दोनों रोगों में लघु, स्निग्ध एवं पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। औषधिसिद्ध दूध एवं घृत का भी उपयोग लाभप्रद रहता है। घृतों में पुराणघृत, त्रिफलाघृत, तैल्वकघृत या केवल शुद्ध गोघृत का पान भोजन के पश्चात् कराना उत्तम रहता है। क्षीर में कपित्थसिद्ध या बृहत् पंचमूलसिद्ध क्षीर का उपयोग लाभप्रद होता है।

शोणित-मोक्षण—स्थानिक उपचारों में नेत्रों का स्वेदन, विडालक तथा रक्तमोक्षण सिरा का वेधन करके अथवा बार-बार जोंक लगाकर करना उत्तम है।

दाह-कर्म—यदि उपर्युक्त औषधि-चिकित्सा से लाभ न हो तो अग्निकर्म का विधान शास्त्र में पाया जाता है। सुश्रुत ने भ्रूप्रदेश पर अग्निदाह का विधान किया है।

'शिरोरोगाधिमंथयोः भ्रूललाटशंखप्रदेशेषु दहेत्। (सु. सू.)

'अशान्तौ सर्वथा मन्थे भ्रुवोरुपरि दाहयेत्।' (वा. उ. १४)

अंजन—पारद-नाग-रसांजन—शुद्ध पारद, शुद्ध नाग, रसाञ्जन, प्रवाल, कासीस, लोध्र, ताम्र-भस्म, निशोथ, त्रिकटु, गैरिक, सैंधव, तुत्थ, समुद्रफेन, त्रिफला, मोती, अपराजिता, पुत्रजीव, धतूरे की जड़, इमली, पंचलवण—समभाग में लेकर खूब महीन चूर्ण बनाकर या घिसकर ताम्रपात्र पर लेपकर वर्ति बना ले, गुलाबजल में घिसकर नेत्रों में लगावे।

(२) सशोफ नेत्र पाक (Panopthalmitis).

(३) अशोफ नेत्र पाक (Pthisis bulbi)—आधुनिक दृष्टि से इस रोग की आनुमानिक संज्ञा दी जा सकती है। इन दोनों नेत्रपाकों की चिकित्सा में १. जलौका के द्वारा रक्तावसेचन, २. विरेचन ३. शिरावेध, ४. शुक्र चिकित्सा के सदृश सेक और लेप का उपयोग करना चाहिये। ५. इसमें त्रिफला, निम्ब, पटोल और अडूसे के क्वाथ को गुग्गुलु के साथ दिया जाता है। इस प्रयोग से शोथ, शूल और लालिमा दूर होती है।[1] दोनों त्रिदोषज परन्तु साध्य रोग हैं। आचार्य सुश्रुत ने इन दोनों पाकों में स्नेहन, स्वेदन, सिरावेध, सेक, आश्च्योतन और पुटपाक का क्रम चिकित्सा में बतलाया है।

अंजन—सर्व प्रकार से अंतः और बहिःपरिमार्जन के द्वारा शुद्ध हुए रोगी में अंजन का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये १. ताम्र के बर्तन में घी और सेंधानमक एक मास तक रखकर, २. सुरा या आसव में ३. दधि में या ४. दधि की साढ़ी में रखकर भी अंजन बनाया जा सकता है। ५. कांस्य के बर्तन में उसकी मैल, घी, सेंधानमक और मातृस्तन्य मिलाकर बनाया अंजन। ६. मधूक सार, गैरिक समान भाग में लेकर मधु के साथ उसका अंजन। ७. घृत, सैंधव, ताम्र और स्त्री स्तन्य का अंजन।

रसक्रिया अंजन—अनार, अमल्ताश, अश्मन्तक, कोल (बैर) या नारंगी (ऐरावत) में सेंधानमक मिलाकर रसक्रिया की विधि से बने अंजन का सम्यक् प्रयोग नेत्रपाक को नष्ट करता है।

आश्च्योतन—एक मास तक घृत में पड़ा हुआ सैन्धव, सोंठ का रस स्त्री के दूध में मिलाकर आश्च्योतन रूप में देने से नेत्रपाक में लाभप्रद होता है।

---

१. जलौकापातनं श्रेष्ठं नेत्ररोगे विरेचनम्।
सिराव्यधं च कुर्वीत सेकलेपौ च शुक्रवत्॥
विभीतकशिवाधात्रीपटोलारिष्टवासकैः।
क्वाथो गुग्गुलुसंयुक्तः शोथशूलाक्षिरागनुत्॥ (यो० र०)

जातिपुष्पाद्यंजन—चमेली का फूल, सेंधानमक, सोंठ, कृष्णा बीज (पिप्पली का तण्डुल) विडङ्गसार, इनको पीस कर मधु के साथ घिस कर निःशंक लेप करना चाहिये।[1]

(४) हताधिमंथ (Atrophy of the Eyeball or Sinking of the Eyeball)—इसमें नेत्र या तो बाहर की ओर निकला हुआ मालूम होता है या अक्षिशोष होकर आँख कोटर के भीतर धँस जाती है। यह वायु के कारण होने वाल विकार असाध्य है।

(५) वातपर्याय (Atrophy of the Fifth cranial Nerve)—यह एक वातिक साध्य उपद्रव है। इसमें चिकित्सा का क्रम वाताभिष्यन्द के समान करना चाहिये। भोजन के पूर्व में प्रचुर मात्रा में घृत और क्षीर का सेवन, स्नेहन के लिये करना चाहिये। किंचिदुष्ण जल में सेंधानमक मिलाकर सेंक करना चाहिये।[2]

(६) अन्यतोवात (Affections or Atrophy of the Fifth Cranial Nerve)—इसमें भी चिकित्सा उपर्युक्त रोग की भाँति ही वाताभिष्यंद का क्रम हितकर है। पूर्वभक्त घृत प्रयोग—वन्दाक, कपित्थ और बृहत्पंचमूल में सिद्ध घृत का पीना या क्षीर और कर्कट स्वरस में सिद्ध घृत का पान अथवा पत्तूर, आर्त्तगल और चित्रक से सिद्ध घृत या क्षीर अथवा कर्कटश्रृंगी के स्वरस से सिद्ध घृत या वीरतर (सरकण्डे) के स्वरस से सिद्ध घृत का पान लाभप्रद होता है। दोनों रोगों में (वातपर्याय और अन्यतोवात) इन घृतों का भोजन के पूर्व सेवन हितकर है।

(७) शुष्काक्षिपाक (Opthalmoplagia)—यह भी एक वातिक

---

१. जातीपुष्पं सैन्धवं शृङ्गवेरं कृष्णाबीजं कीटशत्रोश्च सारम्।
एतत्पिष्टं नेत्रपाकेऽञ्जनं स्यात् क्षौद्रोपेतं निर्विशङ्कं प्रयोज्यम्॥

२. रोगो यश्चान्यतोवाते यश्च मारुतपर्ययः।
अनेनैव (वातभिष्यंद) विधानेन भिषक् तावपि साधयेत्॥ (सु०)
वातभिष्यंदवच्चात्र वातमारुतपर्यये।
वाताभिष्यंदशमनं हितं मारुतपर्यये॥
पूर्वं तत्र हितं सर्पिः क्षीरं वाप्यथ भोजनम्।
परिषेको हितं नेत्रं पयः कोष्णं ससैन्धवम्॥ (यो० र०)

एवं साध्य विकार है। इसकी चिकित्सा में सुश्रुत ने कई एक अंजनों का पाठ दिया है। १. सैन्धवादि-सेंधानमक, देवदारु, सोंठ, बिजौरे निम्बू का रस, घृत, इनकी रसक्रिया पानी के योग से करके मातृस्तन्य (दूध) मिलाकर अंजन करना। रजन्यादि-हल्दी, देवदारु, सैन्धव, सोंठ, घृत और मधु मिलाकर अंजन करना। वसाद्यंजन-आनूपदेशज और जलज प्राणियों की वसा, सेंधानमक और सोंठ के मिश्रण से बने योग का अंजन करना। इन अंजनों के अतिरिक्त घृत का पान, नेत्रों का तर्पण जीवनीय घृत या अणु तैल से नस्य लेना तथा आश्च्योतन और सेक के लिये ठण्डे दूध में नमक डालकर नेत्रों में प्रयोग करना हितकर है।[1]

(८) अम्लाध्युषित—यह एक पैत्तिक और साध्य रोग है। इसमें खट्टे पदार्थों के सेवन से कुपित हुआ पित्त नेत्र का वर्ण नीललोहित कर देता है। संभव है यह भी 'ग्लौकोमा' की ही किसी अवस्था या लक्षण विशेष का द्योतक हो। चिकित्सा में पित्ताभिष्यंद के उपक्रमों का उपयोग करना चाहिये। शुक्तिका नामक रोग में जिस प्रकार की क्रिया का उल्लेख है उसी प्रकार का इसमें भी करते हैं। परंतु इसमें सिरामोक्ष नहीं करते। पित्तघ्न उपचारों में अंतःप्रयोग के लिये तैल्वक घृत, त्रिफला घृत या पुराण घृत का सेवन करना चाहिये। अन्य भी तिक्त घृतों का सेवन, बहुत बार विरेचन लेना और शीतल लेप करना लाभप्रद है।[2]

उपर्युक्त रोगों में प्रायः सभी के लक्षणों का प्राचीन ग्रंथों के आधार पर अधिमंथ के प्रसंग में उल्लेख कर दिया गया है—यहाँ पर उनकी एकैकशः चिकित्सा भी लिख दी गई। अब सर्वगत रोगों में दो रोग और भी अवशिष्ट रह गये हैं जिनका वर्णन किया जा रहा है।

१. पूजितं सर्पिषा चात्र पानमक्ष्णोश्च तर्पणम्।
घृतेन जीवनीयेन नस्यं तैलेन चाणुना॥
परिषेके हितं चात्र पयः शीतं ससैन्धवम्।

२. तिक्तस्य सर्पिषः पानं बहुशश्च विरेचनम्।
अम्लाध्युषितशान्त्यर्थं कुर्याल्लेपान् सुशीतलान्॥
शिराव्यध विना कार्यः पित्तस्यन्दहरो विधिः। (यो० र०)
सर्पिः पेयं त्रैफलं तैल्वकं वा पेयं वा स्यात् केवलं यत्पुराणम्॥

शिरोत्पात (Hyperaemia of conjunctiva)—जिसमें रोगी के नेत्र की रेखायें ताम्र वर्ण (लालरंग) की हो जाय और पूरी आँख लाल हो जाय उसमें वेदना हो या नहीं उस रोग को सिरोत्पात कहा जाता है। यह एक स्थूल लक्षण है जिसके आधार पर इस रोग को आधुनिक दृष्ट्या नेत्र श्लेष्मावरण का रक्ताधिक्य कहा जा सकता है। यह रक्तज साध्य रोग है।

चिकित्सा—अभिष्यंद या अधिमंथवत् चिकित्सा करनी चाहिये। रोग का स्नेहन और कोष्ण घृत से स्वेदन कराके रक्तविस्रावण करना चाहिये। मधु और घृत का अंजन सिरोत्पात में लाभ करता है। इसी प्रकार सैन्धव और कासीस को मातृस्तन्य में पीस कर अंजन करना भी हितकर है।[1] गैरिक का मधु के साथ अंजन अथवा शिरीष पुष्प-सुरा, मरिच और मधु का अंजन लाभप्रद होता है।

सिराहर्ष—(Acute orbital Cellulitis)—यदि गलती से सिरोत्पात की उपेक्षा की जाय और उसका सम्यक प्रतिषेध न किया जाय तो सिरा प्रहर्ष नामक रोग होता है। जिसमें रोगी का नेत्र रक्त वर्ण का हो जाता और लालरंग का ताम्रवर्ण स्वच्छ गाढ़ा अश्रु स्रवित होता है।[2] रोगी देखने में असमर्थ (Photophobia and loss of Vision) रहना है।

इस स्थूल लक्षणों के आधार पर आनुमानिक समता तीव्र नेत्रगृह पाक (Acute orbital Cellulitis) नामक रोग से की जा सकती है। यह रक्तजन्य साध्यरोग है।

प्रतिषेध—फाणित और मधु का अंजन, तार्क्ष्यशैल और मधु का अंजन या कासीस और मधु का अंजन या वेतसाम्ल, फाणित, सैंधव

१. स्निग्धस्य कोष्णेनाज्येन शिरावेधैः शमं नयेत् सर्पि क्षौद्र चाञ्जनं स्यात् शिरोत्पातस्य भेषजम्। तद्वत् सैन्धवकासीसं स्तन्यपिष्टं च पूजितम् सिराहर्षेऽञ्जनं कार्यं फणितं मधुसंयुतम्। मधुना तार्क्ष्यशैलं च कासीसं च समाक्षिकम् वेतसाम्लं स्तन्ययुतं फणितं तु सैन्धवम्। पित्ताभिष्यंदशमनं विधिं चात्रापि योजयेत्।

२. मोहात् शिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः।
ताम्राच्छमस्त्रं स्रवति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च॥

और मधु का अंजन सिराहर्ष की अवस्था में कार्यकर होता है तथा अन्य भी पित्ताभिष्यंद की चिकित्सा लाभप्रद होती है।

रक्तजाधिमंथ, अभिष्यंद, सिरोत्पात और सिराहर्ष चारों रोगों की एक ही चिकित्सा है।

नेत्रश्लेष्मावरणीय तथा संधान मण्डलीय या परिकृष्णमण्डलीय लालिमा का भेद

नेत्र श्लेष्मावरणीय लालिमा या रक्ताधिक्य (Conjuntival Injection)	संधान मण्डलीय या परिकृष्ण मण्डलीय रक्ताधिक्य (Ciliary or Circumciliary Injection)
(१) पश्चात् श्लेष्मावरणगत रक्तवाहिनियों (Posterior conjunctivalvessels) में इसकी उत्पत्ति होती है।	(१) अग्रिम संधान मण्डलगत (Anterior ciliary vessels) से इसकी उत्पत्ति होती है।
(२) नेत्र श्लेष्मावरण (Conjunctiva) के रोगों के साथ-साथ यह होता है।	(२) कृष्णमण्डल, संधानमण्डल, तारामण्डल के रोगों के साथ यह होता है।
(३) कम या अधिक कीचड़ युक्त दुर्गन्धित या दुर्गन्धित प्रस्राव होता है।	(३) अक्सर जलस्राव होता है किन्तु कीचड़ नहीं निकलता।
(४) वर्त्म श्लेष्मावरणकोण (Fornix conjunctiva) में सब से अधिक स्पष्ट रहता है।	(४) कृष्णमण्डल के चारों तरफ सब से अधिक स्पष्ट रहता है।
(५) कृष्णमण्डल की तरफ जाते हुए अस्पष्ट हो जाता है।	(५) वर्त्म श्लेष्मावरणकोण की तरफ अस्पष्ट हो जाता है।
(६) चमकीले ईटों के समान रक्तवर्ण का होता है।	(६) गुलाबी रंग का होता है।
(७) खुरदरा तथा टेढ़ा मेढ़ा जाल के समान बना रहता है। एक दूसरे से स्वतंत्र तथा मिला हुआ और ऊपरी स्तर में रहता है, अतः जालाकार आसानी से दिखलाई देता है।	(७) छोटी-छोटी सिराओं से बना हुआ अन्तस्तर में स्थित रहता है अतः शिराएं स्पष्टरूप से नहीं दिखाई देती किन्तु अस्पष्टरूप से पुष्ट तथा सीधी रेखा के समान कृष्णमण्डल से निकलती हुई दिखलाई पड़ती है।
(८) अधोवर्त्म पर दबाव देने से नेत्र श्लेष्मावरण के साथ-साथ स्थान बदल जाता है।	(८) नेत्रश्लेष्मावरण को हिलाने से उसका (सिरा) स्थान नहीं बदला जा सकता।

अभिष्यंद की सापेक्ष्य निश्चिति

तीव्रतारामण्डल शोथ (Acute Iritis)	तीव्रनेत्रश्लेष्मावरणशोथ या अभिष्यंद (Acute conjunctivitis)	तीव्र अधिमंथ (Acute Glaucoma)
(१) तारामण्डल (Iris) शोथयुक्त, मन्द (Dull) और रंग हीन (Discoloured)	(१) तारामण्डल में कोई परिवर्तन नहीं ।	(१) तारामण्डल अधिक रक्ताधिक्ययुक्त (Congested), रंगहीन, मन्द, किनारा (Periphery) आगे की तरफ बढ़ा हुआ ।
(२) दृष्टिमण्डल या तारक (Pupil) छोटा, भूरा अल्प क्रियाशील एट्रोपीन देने के बाद अनियमित ।	(२) दृष्टि मण्डल स्वाभाविक ।	(२) दृष्टिमण्डल विस्तृत (Dilated), अण्डाकार निश्चल (Immobile)
(३) अग्रिमा जलधानी (Anterior chamber) स्वाभाविक गहराई का, स्रावी प्रकार में अधिक गहराई और स्राव युक्त ।	(३) अग्रिमा जलधानी स्वाभाविक ।	(३) अग्रिमाजलधानी उथली और जलयुक्त (Aqueous); कभी २ मटमैला (Turbid) ।
(४) कृष्णमण्डल (Cornea) पारदर्शक (Transparent) (पश्चिम भाग में कुछ कण के सदृश इकट्ठा रह सकता है) और सूक्ष्मग्राही (Sensitive)	(४) कृष्णमण्डल पारदर्शक ।	(४) कृष्णमण्डल धुंधला (Steamy) और सूक्ष्मग्राही ।
(५) तन्तु समूह गत रक्ताधिक्य (Ciliary injection); गुलाबी रंग की सिरायें कृष्णमण्डल के चारों तरफ स्पष्ट तथा कोण (Fornix) के तरफ मुर्झाये हुए ।	(५) श्लेष्मावरणगत रक्ताधिक्य (Conjunctival injection) खुरदरा जाली के समान, कोण (Fornix) में अधिक स्पष्ट, तथा कृष्णमण्डल की तरफ मुर्झाया हुआ ।	(५) तन्तुसमूहगत (Ciliary) और बाह्यपटलोपरिगत (Episcleral) रक्ताधिक्य (साथ-साथ श्लेष्मावरण (Conjunctiva) में अधिक रक्त संचय)

तीव्रतारालण्डल शोथ (Acute Iritis)	तीव्रनेत्रश्लेष्मावरण शोथ या अभिष्यंद (Acute conjvnctivitis)	तीव्र अधिमंथ (Acute Glaucoma)
(६) श्लेष्मावरण प्रायः पारदर्शक ।	(६) श्लेष्मावरण लालिमायुक्त तथा अपारदर्शक ।	(६) श्लेष्मावरण अधिक रक्त संचययुक्त (Congested) तथा शोथयुक्त (Chaemotic)
(७) अश्रुस्राव (Lacrymation), किन्तु कोई प्रस्राव (Discharge) नहीं ।	(७) श्लेष्मा या पूययुक्त श्लेष्मा (Muco-purulent) प्रस्राव ।	(७) अश्रुस्राव, किन्तु कोई अन्य स्राव नहीं ।
(८) पीडन या तनाव (Tension) अक्सर स्वाभाविक (Normal) (कभी-कभी बढ़ा हुआ) ।	(८) पीडन स्वाभाविक ।	(८) पीड़न बढ़ा हुआ ।
(९) कुछ संधानमण्डल (Ciliary body), स्पर्शनाक्षम (Tender)	(९) संधानमण्डलस्पर्शनाक्षम विल्कुल नहीं होता ।	(९) संधानमण्डलस्पर्शनाक्षम ।
(१०) पीडा पुरःकपाल(Forehead) तथा शंखप्रदेश (Temple) में संवाहित होता है; जो रात में अधिक हो जाता है ।	(१०) बेचैनी दाह, किरकिरापन मालूम पड़ना (Gritty feeling), किन्तु वास्तविक शूल नहीं ।	(१०) तीव्र शूल आँख के अन्दर तथा शिरःशूल ।
(११) दृष्टि (Vision) का कम (Dim) हो जाना ।	(११) दृष्टि में कोई बाधा नहीं, सिर्फ कृष्णमण्डल के तह पर प्रस्राव से चिपके होने के कारण धब्बा (Blurring) मालूम पड़ना ।	(११) दृष्टि का बहुत अधिक कम हो जाना ।

१५

दृष्टिगत रोग

(Diseases of the Tunics of the Eye, Opacity of the lens and diseases of the Retina and Optic Nerve)

पटलों के बारे में संक्षेपतः पूर्व में ही उल्लेख हो चुका है। पटलों को 'ट्यूनिक आफ दी आई' बतलाया गया है। इस अध्याय में दृष्टिगत रोगों का वर्णन प्रासंगिक है। दृष्टि में होने वाला मुख्य रोग तिमिर है। और यह पटलाश्रित होता है इसमें क्रमशः दृष्टि का ह्रास होता है। दृष्टि में पाये जाने वाले बारह रोग होते हैं—छः प्रकार के लिङ्गनाश (तिमिर की ही अवस्था विशेष) तथा छः प्रकार के पित्त विदग्ध दृष्टि, धूमदर्शी ह्रस्व जाड्य, नकुलांध्य, श्लेष्मविदग्ध दृष्टि और गम्भीरिका।

इन वर्णनों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यों ने दृष्टि का दो अर्थों में ग्रहण किया है अर्थात् एक सामान्य दर्शन (Vision) और दूसरा विशिष्ट अर्थ दृष्टिमणि (Lens) जहाँ पर सामान्य दर्शनार्थ रूप में दृष्टि का उल्लेख आता है उसमें अनेक नेत्रावयवों के रोग आ जायँगे। जैसे परावर्त्तन क्रिया का दोष (Erors of refraction) नेत्रमध्य पटल (Choroid) के विकार, दृष्टि वितान के विकार (Retina), दर्शन नाड़ी (Obtic Nerve) दर्शन नाड़ी संगम, दर्शन प्रबन्ध आदि के विकार प्रभृति। जैसे 'दृष्टिं हन्यात्सप्तरात्रात्कफोत्थः' अर्थात् कफोत्थ अधिमन्थ एक सप्ताह में दृष्टि को नष्ट करता है। यहाँ पर दृष्टि दर्शन शक्ति के अर्थ में व्यवहृत है।

परन्तु जहाँ पर दृष्टि से विशिष्टार्थ में दृष्टिमणि (Lens) के विकार ही आपेक्षित हैं केवल दृष्टिमणि के विकारों का ही बोध होगा।

विशिष्टार्थ में सुश्रुतोक्त दृष्टि (Lens) का वर्णन

'कृष्णात्सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः' (सु० उ०)
कृष्णमण्डल का सातवाँ भाग दृष्टि होती है।

'पंचमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते' (सु० उ० १)
पटलों में से प्रत्येक मोटाई दृष्टि की मोटाई के $\frac{१}{५}$ है।

इन वर्णनों में प्रथम श्लोकार्द्ध से तो स्पष्टतया दृष्टि शब्द 'लेन्स' का बोधक होता है परन्तु दूसरा श्लोकार्द्ध कुछ भ्रामक रहता है। इसके बाद जब उत्तर तन्त्र का सातवाँ अध्याय आता है और उसमें दृष्टिगत रोगों के विज्ञानीय अध्याय का प्रसंग चलता है तो वहाँ पर स्पष्टतया दृष्टि शब्द दृष्टिमणि (Lens) का ही बोधन करता है।[1] वहाँ पर दृष्टि का प्रमाण, आकार और लक्षणों का विशिष्ट उल्लेख किया जाता है :— 'दृष्टि पञ्चमहाभूतों के सार से विशेषतः अव्यय तेज से उत्पन्न होती है। इसी लिये उसकी तेजोमयी दृष्टि की संज्ञा दी जाती है। यह मसूर दल के परिमाण की होती है।' मसूरदल कहने से वास्तव में मसूर के पत्र के परिमाण की रचना समझना चाहिये। कुछ लोगों ने मसूर दल का अर्थ मसूर की दाल के समान किया है, परन्तु संस्कृत में दाल के लिये विदल या द्विदल शब्द का प्रयोग होता है। दल शब्द का प्रयोग केवल पत्ती के अर्थ में ही होता है। अस्तु मसूर दल कहने से मसूर की पत्ती ही समझनी चाहिये। दूसरी शंका यह उठती है कि यह मसूर की पत्ती के आयाम (लम्बाई, चौड़ाई) का सूचक है या मोटाई का। चूँकि यहाँ पर बाहुल्य या मोटाई शब्द का उल्लेख नहीं है इसलिये अर्थ होगा मसूर पत्र के आयाम का। अर्थात् मसूर के पत्ते के बराबर दृष्टि (Lens) होता है और यह युक्ति युक्त भी है।

'इस तेजोमयी दृष्टि में खद्योत (जुगनू) और आग की चिनगारी (विस्फुलिङ्ग की आभा होती है। ये खद्योत और चिनगारी तैजस पदार्थ होते हुए भी जैसे किसी अङ्ग को नहीं जलाते हैं उसी प्रकार यह भी नेत्र के भागों को नहीं जलाती। दृष्टि में यह तेज अव्यय रूप में यावज्जीवन स्वस्थावस्था में रहता है न उसमें वृद्धि होती है न ह्रास, (उपचयापचय रहितः इति डल्हणः) बल्कि एक समान रहता है। यदि

१. मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजां खद्योतविस्फुलिङ्गाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥
आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिं शीतसाम्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः॥

इस प्रकार यह तेजोमय दृष्टि है तो उसकी चमक (भास्वरता) बाहर से क्यों नहीं दीख पड़ती । इसका कारण यह है वह बाहर से आँखों के कई पटलों से आवृत होता है इसके कारण प्रकाश किरणों के अन्तःप्रवेश में कोई बाधा नहीं होती । ये पटल बाहर से विवराकृति होते हैं अर्थात् इनमें विवर या छिद्र नहीं होता । फिर भी (मृदु और पारदर्शक) रचना होने के कारण दृष्टि से ज्ञान हो जाता है। इसमें चतुर्थ पटल में रूप ग्रहण का सामर्थ्य है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि उसी में दोष के व्यवस्थित होने से रूप ग्रहण की विकृति रूप तिमिर की उत्पत्ति होती है । यह दृष्टि शीत सात्म्य है । अर्थात् शीत से इसमें लाभ होता है उष्ण से हानि । तेजोमय वस्तु को शीत सात्म्य कैसे कहा जाता है इसके दो समाधान हैं—१. जल और अग्नि यदि पृथक् पृथक् हों तो उनका विरोध होता है न कि एक साथ उत्पन्न और एक कार्य वाले जल और अग्नि का । २. प्रभाव से तेजोमयी दृष्टि को शीत सात्म्य माना जाता है। इस प्रकार की दृष्टि की व्याख्या नेत्र-विशारद या शालाकी करते हैं ।'

दृष्टि की संज्ञा निर्धारण में कुछ अन्य विचार :—आचार्य विश्वनाथजी द्विवेदी ने अपने 'नेत्र रोग विज्ञान' में लिखा है कि 'प्राचीन चिकित्सकों ने दृष्टि को किसी एक स्थान को नहीं माना है-बल्कि दर्शन के जितने माध्यम हैं उन सबको कहीं व्यस्त और कहीं समस्त रूप से दृष्टि कहा है ।' इनके विचार से कहीं पर दृष्टि शब्द से दृष्टिमणि (Lens) का बोधन, कहीं पर दृष्टि वितान (Retina) तथा मेदस द्रव (Vitreous-humour), का ज्ञापन, कहीं पर 'बाह्येन विवराकृति' व्याख्या से तारा (Pupil) का परिचायक तथा कहीं पर उपतारा (Iris) नामक नेत्रान्तः अवयव का ज्ञान होता है। सुश्रुत ने उपतारा के अर्थ में दृष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है कि दृष्टि 'प्रकाश रहित स्थान में फैलती अर्थात् छाया में फैलती और धूप या प्रकाश में सिकुड़ती है ।' 'संकुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत् ।'

इस प्रकार दृष्टि का व्यवहार यहाँ पर सामूहिक रूप में समस्त दृष्टि माध्यमों (Refractive media) के अर्थ में हुआ है ।

दृष्टिमणि (Lens) के अर्थ में व्यवहार—मसूर की दाल के समान जैसे मसूर में दो दल होते हैं एक छोटा और एक बड़ा और मिलित उभयोन्नतोदर (Biconvex) होता है उसी प्रकार 'लेन्स' भी। 'लेन्स' का भी सामने वाला भाग बड़ा और पीछे वाला छोटा होता है। आकार या स्वरूप की उपमा मसूर की आधी या पूरी दाल के साथ लेन्स की दी गई है। यदि 'मसूर दल' के मसूर का पत्र ग्रहण किया जावे तो वह दृष्टि (Lens) के आयाम का बोधक होगा।

'मसूरदलमात्रान्तु पञ्चभूतप्रसादजाम् ।' (सु०)

'पञ्चभूतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्द्धदलोन्मिता ।' (विदेह)

दृष्टि वितान (Retina) के अर्थ में व्यवहार—प्रकाश बिम्ब के पड़ने से दृष्टि वितान पर की रासायिनिक क्रिया को देखने से मेदस द्रव में खद्योत एवं विस्फुलिङ्ग के प्रकाश की तरह प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है—इसी का वर्णन 'खद्योतविस्फुलिङ्गाभां' शब्द से प्राचीनों ने किया है।

पुतली (Pupil) के अर्थ में व्यवहार—नेत्र गोलक के विवराकृति छिद्र को भी दृष्टि कहते हैं। जो बाह्य पटल से आवृत रहती है—

'आवृतां पटलेनाक्ष्णो बाह्येन विवराकृतिम् ।'

अन्यत्र भी लिखा है कि नेत्र के विस्तार के तृतीयांश के बराबर कृष्णमण्डल होता है और इसके सप्तमांश के बराबर दृष्टि का प्रमाण है। नेत्र का आयाम व्यक्ति के अपने अंगुष्ठ से दो अंगुष्ठोदर होता है—दो अंगुष्ठ की दूरी अर्थात् कनीनिका से अपाङ्ग तक की लम्बाई $1\frac{1}{2}$ इञ्च के करीब होती है—इसका इक्कीसवाँ भाग करीब $\frac{1}{6}$ सेण्टीमीटर होता है जो ठीक पुतली की लम्बाई के बराबर होता है। स्पष्ट है यहाँ पर दृष्टि शब्द से विवराकृति पुतली का वर्णन ही ग्रन्थकार को अभिप्रेत है।

माधवनिदान की हिन्दी टीका में सम्पादकीय टिप्पणी में इस प्रसंग में आचार्य यदुनन्दन जी उपाध्याय लिखते हैं :—

'उपर्युक्त विचारों को दृष्टि में रखते हुए देखा जाय तो प्राचीन अचार्यों ने दृष्टि शब्द की तीन अर्थों में व्यवहार किया है—१. विशिष्ट दृष्टि, दृष्टिमणि=ताल (Lens)। यह वस्तुतः एक पटल ही है। इसमें

विकार होने पर लिङ्गनाश (Cataract) होता है; किन्तु लिङ्गनाश में स्वतः या शस्त्रकर्म के द्वारा इस दृष्टिमणि (Lens) के हट जाने या निकाल देने पर प्रायः पुनः दिखलाई देने लगता है। अतः दृष्टि इससे भिन्न ही प्रतीत होती है। २. सामान्य दृष्टि—दृष्टि का आधारभूत नेत्र गोलक के विभिन्न अवयवों विशेषतः पटलों के विकारों में भी परम्परया न्यूनाधिक रूप में दृष्टि (दर्शन ज्ञान) में उपघात होता है। ३. सूक्ष्म दृष्टि (Macula Leutea) वस्तुतः यही मुख्य दृष्टि है और यह मसूरार्द्ध दल के समान ही नेत्र के पिछले भाग के मध्य में अन्तः पटल पर स्थित है और रूप ग्रहण इसी के द्वारा होता है। इसमें विकृति होने पर स्थूलनयन के विकार रहित होने पर भी दर्शन ज्ञान का उपघात होता है। इसमें सूक्ष्म चक्षुरिन्द्रियमात्र का उपघात होता है। जैसे बाह्यज विशेषतः अनिमित्तज लिङ्गनाश (Maculo-cerebral Degeneration etc.)।

पूर्वोक्त वर्णन का सारांश यह है कि वक्ष्यमाण दृष्टिगत रोगों को यथा सम्भव पटलगत (Diseases of the Eye tunics) या दृष्टिमणिगत (Lens Defects) अथवा सूक्ष्म दृष्टिगत (Maculo-cerebral Diseases) विकार समझना चाहिये।

तिमिर-काच-लिङ्गनाश प्रभृति—दृष्टिगत रोगों के समझने के लिये पतलों के बारे में एक दृष्टि रखनी चाहिये। पटलों का वर्णन नेत्र-शारीर के वर्णन के प्रसंग में विस्तार से हो चुका है। पटल कुल छै होते हैं। इनमें चार ही नेत्र गोलक में होते हैं जिनका दृष्टि या दर्शन कार्य से सम्बन्ध है। प्रथम तीन पटलों में दोष या विकार होने पर दर्शन व्यापार (Vision) में न्यूनाधिक विकार आता है—किन्तु चतुर्थ में विकार होने पर दर्शन व्यापार निश्चित रूप से पूर्णतया बंद हो जाता है। अतएव तीन पटलों के विकारों को तिमिर और चतुर्थ पटल गत विकार को लिङ्गनाश कहा गया है। चतुर्थ पटल में विकार प्रायः क्रमशः होता है। उसकी प्रारंभिक अवस्था में तिमिर के ही लक्षण उत्पन्न होते हैं। पूर्ण विकार होने पर ही लिङ्गनाश होता

है—संभवतः इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने पटल गत और दृष्टिगत विकारों का एक साथ ही वर्णन किया है ।

आधुनिक विद्वान् केवल दृष्टिमणि (Lens) के क्रमिक विकार को तिमिर (Progressive Cataract) और पूर्ण विकार को लिङ्गनाश (Cataract) कहते हैं । पटल गत विकारों का स्वतंत्रतया पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं । इस प्रकार दृष्टि (Lens) के विचार से ही आधुनिक दृष्ट्या यदि तिमिर लिङ्गनाशादि विकारों की उत्पत्ति मान ली जावे तो पटल यहाँ पर (Layers of lens) के अर्थ में व्यवहृत हुए हैं ऐसा मानना होगा और विभिन्न पटल गत विकार 'लेन्स' के स्तरानुसार खटिकीभरण (Calcifiecation) विविध अवस्थायें समझी जायेंगी । ऐसा केवल विशिष्टार्थ में ही जहाँ दृष्टि 'लेन्स' के अर्थ में व्यवहृत हुई है और उसीके विकार से जहाँ रोग हुए हैं (जैसे तिमिर-काच-लिङ्गनाश) मानना युक्तिसंगत रहेगा सर्वत्र नहीं ।

इस सिद्धान्त के अनुसार लिङ्गनाश के पूर्ण होने तक चार पटलों या चार अवस्थाओं (Stagesof Cataract formation) में विकार का आख्यान पाया जावेगा । जैसा कि नीचे के वर्णनों से स्पष्ट हो रहा है ।

तिमिर की उपेक्षा करने पर वह काच का रूप धारण कर लेता है और काच की उपेक्षा करने पर वह लिङ्गनाश या अंधता को प्राप्त करता है । नेत्र की देखने की शक्ति को लिङ्ग कहते हैं और उसका नाश जिस रोग में हो उसको लिङ्गनाश कहते हैं । तिमिर, रोग की प्रथमावस्था है— अस्तु उसके द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थावस्था प्राप्त करने के पूर्व ही यत्न पूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये । नेत्र रोगों में यह तिमिर एक घार रोग है ।

> तिमिरो काचतां याति काचोप्यान्ध्यमुपेक्षया
> नेत्ररोगेष्वतः घोरं तिमिरं साधेयद्रुतम् । (वा. उ. १३)

तिमिर—(Progressive Cataract) प्रथम पटल (First Tunic First Stage) स्थित दोषोत्पन्न तिमिर में—विगुण हुए दोष;

सिराओं से होकर अभ्यन्तर में जाकर दृष्टि के द्वारा सभी पदार्थों का अव्यक्त रूप दर्शाते हैं। अर्थात् प्रथम पटल में दोष के व्यवस्थित होने से स्पष्ट या साफ दिखाई नहीं पड़ता है। अर्थात् वायु में भ्रमते हुए लाल रंग की, पित्त में सूर्य, जुगुनू, नील या पीत वर्ण जैसे श्लेष्मा से सफेद रंग रक्तज में लाल रंग और सन्निपातज में विचित्र रूप की अव्यक्त वस्तुएँ दीख पड़ती हैं।[1]

इस प्रकार की अव्यक्त रूपता 'प्रोग्रेसिभ कैटेरेक्ट' की अवस्था में अथवा निम्नलिखित रोगों में यथा शुक्र, तारामण्डल शोथ और 'एस्टैग्मैटिज्म' (विषम दृष्टि) में दीख पड़ते हैं।

द्वितीय पटल (II tuic or II stage) स्थित दोषोत्पन्न तिमिर में—इस पटल में दोषों के व्यवस्थित होने से दृष्टि पहले की अपेक्षा अधिक विह्वल (Lossof Vision) हो जाती है। सभी प्रकार के पदार्थों के मिथ्या रूप दिखलाई पड़ते हैं। रोगी के आँख के सामने मक्खी, मच्छर, बाल, मकड़ी के झाले जैसे दीख पड़ते हैं। मण्डल (गोला), पताका (ध्वजा), मृगतृष्णा, कान का कुण्डल, विविध प्रकार के ताराओं जैसी चमक, वर्षायुक्त आकाश और अन्धकार आदि दिखलाई पड़ते हैं। रोगी को अधिक बढ़ी हुई अवस्था में दूर की चीजें नजदीक और नजदीक की दूर दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकार दृष्टि में इन्द्रियार्थ का विभ्रम हो जाने से न केवल असद्रूप के ही विकृत दर्शन होते हैं बल्कि सद्रूप के भी विकृत दर्शन होते हैं। रोगी अनेक प्रयत्न करके भी सूई में तागा नहीं पिरो सकता।[2]

---

१. प्रथमे पटले दोषो यस्य दृष्टौ व्यवस्थितः।
अव्यक्तानि स रूपाणि सर्वाण्येव प्रपश्यति ॥

२. दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते।
मक्षिकान् मशकान् केशान् जालकानि च पश्यति ॥
मण्डलानि पताकांश्च मरीचीः कुण्डलानि च।
परिप्लवांश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च ॥
दूरस्थान्यपि रूपाणि मन्यते च समीपतः।

इस प्रकार के लक्षण भी 'प्रोग्रेसिव कैटेरेक्ट' तथा कई अन्य प्राच्य तथा पाश्चात्य रोगानुक्रमणिका के रोगों में मिल सकते हैं। जैसे नेत्रमध्यपटलशोथ, सान्द्र द्रव की अपारदर्शिता, विट्स ओपैसिटी, संधानीय पेशियों की अकार्य क्षमता (Ciliary muscles paralysis), तिमिर जन्य पूर्व रूप, तारा मण्डल और तन्तुमय समूह के शोथ (Iridociclitis) तथा विषम दृष्टि (Astigmatism).

तृतीय पटल स्थिति (III tunic or III stage) दोषोत्पन्न तिमिर में—दोषों के आश्रित होने से दर्शनाक्षमता तथा दृष्टि विषमता उत्पन्न हो जाती है। 'जिससे रोगी ऊपर को देखता है। नीचे को नहीं देखता, बड़ी वस्तुओं को वस्त्र से ढके के समान देखता है। व्यक्ति को कर्ण, नासा, आँख से हीन देखता है। दोष के बलवान् होने दोषानुसार (दृष्टि मणि) के रंग में परिवर्त्तन हो जाता है। दोष अवस्थान यदि नीचे को हो तो समीप की चीजों को, दोष का अवस्थान ऊपर में होने पर दूर की चीजों को और दोष का अवस्थान पार्श्व में होने पर पार्श्वस्थ वस्तुओं को रोगी नहीं देख पाता। एवं दोष का अवस्थान यदि चारों ओर हो तो संकुल (मिले हुए) के समान देखता है। यदि दोष का अवस्थान ठीक बीच में दृष्टि (दृष्टि मणि या लेन्स) के हुआ तो एक ही चीज को दो करके देखता है। यदि दोष का अवस्थान दृष्टि (मणि) के दो स्थानों पर हुआ हो तो एक चीज को तीन करके देखता है। यदि एक स्थान पर स्थिर नहीं हो पाया हो, अस्थिर या चञ्चल हो तो एक ही चीज को बहुत करके देखता है। इस अवस्था विशेष को तिमिर कहते हैं।"

समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ॥
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति ॥

१. ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तातीत्तृयं पटलं गते ।
महान्त्यपि च रूपाणि छादितानीव वाससा ॥
कर्णनासाक्षियुक्तानि विपरीतानि वीक्षते ।
यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि ॥

लिङ्गनाश नीलिका काच—(चतुर्थ पटलस्थ दोष या IV stage) (Cataract) 'वही तिमिर नामक रोग यदि चतुर्थ पटल में, जो तेजो और जल का आश्रय भूत है आया तो वह दृष्टि को पूर्णतया अवरुद्ध कर देता है। इस अवस्था को लिङ्ग नाश कहते हैं। लिङ्ग शब्द का अर्थ है —चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति उसका नाश जिस दोष में हो उसे लिङ्ग नाश की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। यदि यह अवस्था पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हुई तो रोगी को पूर्णतया अंधकार भासता है, (Matured Cataract) परन्तु यदि नातिरूढ़ या नातिवृद्ध रहा तो (Immatured Cataract) प्रकाश का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् उसे चन्द्रमा, सूर्य, प्रकाशमान् नक्षत्र, विद्युत्, निर्मल अग्नि आदि तथा प्रकाशमान पदार्थ का ज्ञान हो सकता है।' इस प्रकार लिङ्गनाश की दो अवस्थायें हो सकती हैं। रूढ़ (Matured) तथा नातिरूढ़ (Immatured)' इसी रोग को लिङ्गनाश, नीलिका या काच कहा जाता है।

सुश्रुतोक्त तृतीय पटलस्थित तिमिर के लक्षणों का अन्तर्भाव आधुनिक दृष्ट्या कई रोगों में किया जा सकता है। यथा दृष्टिमणि की स्थान भ्रष्टता (Dislocation of the Lens), दृष्टि वितान विच्छेद

अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते ।
पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थानि न पश्यति ॥
समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यति ।
दृष्टिमध्यगते दोषे स एकं मन्यते द्विधा ॥
द्विधा स्थिते त्रिधा पश्येद्बहुधा चानवस्थिते ।
दोषक्षयात्कदाचित्स्यात् स्वयं तत्र च दर्शनम् ।
तिमिराख्यः स वै दोषः ॥ः

१. चतुर्थं पटलं गतः रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशः स उच्यते ।
तस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ।
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरीक्षे विद्युतः ॥
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णूनि च पश्यति ।
स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिका काचसंज्ञितः ।

(Detachment of Retina), दृष्टिमणि की अपार दर्शिता (Opacity of the Lens), चिरकालीन गम्भीर अव्रण शुक्र (Macula) या दर्शन नाड़ी शोथ (Optic Netritis) आदि ।

चतुर्थ पटल स्थित तिमिर दोष के हो जाने पर जब दृष्टि बिल्कुल बन्द हो जाती है, पदार्थ धुंधला अथवा नहीं दिखलाई देता है अथवा प्रकाशित तथा चमकने वाली वस्तुओं का ज्ञान मात्र हो जाता है तो इस अवस्था को लिङ्ग नाश, काच नीलिका या मोतियाबिन्द कहते हैं। अंग्रेजी में इस अवस्था को 'कैटरेक्ट' कहा जाता है। आधुनिक ग्रन्थों में इसका बड़ा विशद वर्णन पाया जाता है। जिसका संक्षेप में दिग्दर्शन आगे कराया जायगा। व्यावहारिक दृष्टि से विशेषतः शस्त्र चिकित्सा के लिये इसकी दो अवस्थाओं का ज्ञान कर लेना बहुत आवश्यक होता है। यथा वह पका (Matured) है या कच्चा (Immatured) इसीको सुश्रुत के शब्दों में रूढ़ और नातिरूढ़ संज्ञा से विवेचन किया हुआ मलता है।

तिमिर के भेद—तिमिर के छः प्रकार हैं—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज, सन्निपातज तथा संसर्गज (पित्त और रक्त से उत्पन्न) ये सभी भेद दोषानुसार संहिता में दिये गये हैं। उनमें प्रत्येक के विशिष्ट लक्षणों का विस्तार से उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

वातिक तिमिर—इसमें रोगी को रूप चंचल, मलयुक्त और इषद् लाल वर्ण के समान दिखलाई पड़ता है।

पैत्तिक तिमिर—इसमें रोगी को सूर्य, जुगुनू, इन्द्र धनुष, विद्युत्, मोर के पंख, चित्र विचित्र रंग, नील और कृष्ण वर्ण के समान दिखलाई पड़ते हैं। अर्थात् चमकीले पदार्थ एवं कई रंग की चीजें दिखलाई पड़ती हैं।

श्लैष्मिक तिमिर—दोषानुरूप श्वेत और स्निग्ध आभास होता है। श्वेत चामर के समान सफेद एवं सफेद बादल के समान दीख पड़ता है। आकाश बादलों से मुक्त रहने पर भी इस प्रकार के रोगी को आकाश में बादल दौड़ते से दीखते हैं। सम्पूर्ण पदार्थों को जल में

डूबे हुए के समान, जड़वत् स्थिर के समान और बड़े रूप में प्रायः देखता है।

रक्तज तिमिर—रक्त दोष से उत्पन्न तिमिर में रोगी को रूप, लाल, हरे, श्यामल और काले, विविध प्रकार के अन्धकारमय तथा धुएँ से आच्छन्न के समान दृष्टिगोचर होते हैं।

सन्निपातज तिमिर—तीनों दोषों से उत्पन्न तिमिर में रूप चित्र विचित्र, विपरीत, या विकीर्ण (तितर बितर हुए) के समान दृष्टिगोचर होता है। यावतीय द्रष्टव्यों को चारों ओर से, एक को दो या अनेक करके अथवा हीन कर देखता है आकाशीय ताराओं को विकृत देखना भी इन रोगियों में पाया जाता है। ये लक्षण तृतीय पटल स्थित दोष तिमिर में भी मिलते हैं। तथा सान्निपातिक लिङ्गनाश में भी पाये जाते हैं।

संसर्गज तिमिर या परिम्लायिकाच—यह एक संसर्गज या द्विदोषज रोग है। इसमें पित्त रक्त के तेज के साथ मिल कर इस अवस्था को उत्पन्न करता है। इस प्रकार का रोगी सभी दिशाओं को पीला या उदय लेते हुए सूर्य की आभा के समान देखता है। तथा पेड़ पौधों को देखकर उन पर मानो जुगुनू छिटके हुए हों अथवा किरणें वितरित हुई हों इस प्रकार का उसे भान होता है।[१]

तिमिर, काच और लिङ्गनाश का भेद तथा साध्यासाध्यता—लिङ्गनाश और परिम्लायिकाच एक ही रोग है। यह लिङ्गनाश की ही एक अवस्था विशेष है जिसमें दो दोषों का संसर्ग (पित्त एवं रक्त) रहता है। उसी परिम्लायिरोग[२] में यदि राग (रंजन या रंग) न हुआ हो तो उसे तिमिर कहा जाता है और यदि राग प्राप्त हो जाय तो उसे काच कहते

१. पित्तं कुर्यात्परिम्लायि मूर्छितं रक्ततेजसा ।
पीता दिशस्तथोद्यन्तमादित्यमिव पश्यति ॥
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव च ।

२. रक्तजं मण्डलं दृष्टौ स्थूलकाचनलप्रभम् ॥
परिम्लायिनि रोगे स्यान्म्लाय्यानीलं च मण्डलं ।

हैं। वही आगे बढ़कर यदि दृष्टि शक्ति को नष्ट करने वाला हुआ तो लिङ्गनाश की संज्ञा प्राप्त करता है।[1] अथवा दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जब तक दोष प्रथम और द्वितीय पटल तक सीमित रहता है उसको तिमिर कहते हैं तथा यह साध्य रोग है। जब दोष तृतीय पटल को आश्रय करता है और दृष्टि का राग रंजन हो जाता है तो उसको काच कहते हैं, तब वह याप्य हो जाता है और जब चतुर्थपटल में आश्रित हो जाता है तो उसे लिङ्गनाश कहते हैं। इनमें श्लेष्मज लिङ्गनाश को छोड़कर शेष सभी असाध्य होते हैं।[2]

दोषानुसार काच में रंजन या राग प्राप्ति—वायु दोष के द्वारा दृष्टि का रंजन होने पर वर्ण लाल; पित्त के द्वारा पीत (परिम्लायि) या नील, कफ के द्वारा श्वेत, रक्त दोष के द्वारा रक्त तथा त्रिदोषज व्याधियों में चित्र विचित्र नाना प्रकार के वर्ण हो जाते हैं। परिम्लायि में—रक्त और पित्त अर्थात् संसर्गज लिङ्गनाश में दृष्टि का वर्ण अग्नि के समान लाल और आकार में मोटे काच के समान हो जाता है तथा दृष्टिमण्डल ईषन्नील वर्ण का या नीले और पीले (नील पीत) वर्ण का हो जाता है। उसमें पीतता रस मूर्छित (मिश्रित) पित्त के द्वारा आता है। इस परिम्लायि रोग की अवस्था से कर्मक्षय के कारण दोषक्षय हो जाने से रोगी को कभी कभी दिखाई भी पड़ने लगता है। इसमें पित्त का मिश्रण करने वाले रस का नष्ट होना हेतु है जिससे रोगी को दिखाई पड़ने लगता है। यह याप्य व्याधि है।[3] इस प्रकार से छः प्रकार के काचों का वर्णन हुआ।

---

१. रागोरुणो मारुतजः प्रदिष्टः पित्तात्परिम्लाय्यथवापि नीलः।
कफात्सितः शोणितजस्तु रक्तः समस्तदोषोथ विचित्ररूपः॥ सु० उ० ८

२. एक एवासौ परिम्लायी रोगोऽरागप्राप्तः।
सन् तिमिराख्यः रागप्राप्तस्तु काचाख्यः॥
स एव किंचिद्दर्शननाशकारी लिङ्गनाशः।

३. सर्वाण्येव तिमिराणि।
प्रथमद्वितीयपटलगतानि साध्यानि तृतीयपटलगतानि
रागप्राप्त्या काचाख्यानि भवन्ति तदा याप्यानि

दोषानुसार लिङ्गनाश का रंजन या रागप्राप्ति (Staining)—वायु के कारण दृष्टिमंडल अरुण वर्ण का, चञ्चल और स्पर्श में रूक्ष हो जाता है। पित्त के कारण दृष्टिमण्डल किंचित् नील कांस्य के समान सफेद और नीलापन लिये या पीला हो जाता है। श्लेष्मा के कारण मोटा, चिकना, शंख, कुन्दपुष्प या चन्द्रमा के समान सफेद आभा का होता है जैसे पद्मपत्र के ऊपर जल की सफेद चंचल बूंद दिखलाई पड़ती है उसी प्रकार की दशा इस लिङ्गनाश की भी होती है। यह धूप में अत्यंत संकुचित (Constricted) होकर छोटा हो जाता है तथा छाया में विस्तृत (Dilatated) हो जाया करता है। नेत्र के दबाने पर मण्डल इधर उधर चलता रहता है। रक्तज लिङ्गनाश में दृष्टि मण्डल कमल के पुष्पदल के समान या प्रवाल के समान लाल होता है। त्रिदोष के कारण उत्पन्न हुए लिङ्गनाश में दृष्टिमण्डल का चित्र विचित्र राग (कई प्रकार का रञ्जन) हो जाता है और दोषानुसार बहुविध लक्षण भी मिलते हैं। छठे प्रकार के लिङ्गनाश के लक्षण पूर्वोक्त परिम्लायि काच (जिसमें कुछ कुछ दर्शन संभव हो जाता है) ही समझना चाहिये। इस प्रकार छः प्रकार के लिङ्गनाशों का भी वर्णन समाप्त हुआ।

प्रतिषेध सामान्य—तिमिर, काच और लिङ्गनाश ये प्रायः एक ही रोग की तीन अवस्था विशेष हैं फलतः सामान्य चिकित्सा क्रम एक ही है। तिमिर को जब तक उसमें रंग नहीं हुआ है अथवा प्रथम पटलाश्रित है तब तक औषधसाध्य मानते हैं; परन्तु जब उसमें रंजन हो जाय (राग आ जाय) अर्थात् काच की अवस्था प्राप्त कर ले और द्वितीय पटलाश्रित रहे तो कृच्छ्र साध्य माना जाता है। वही काच यदि तृतीय पटलाश्रित हो जाय तो चिकित्सा में अधिक कठिन होकर याप्य हो जाता है। वही काच जब चतुर्थ पटलाश्रित हो जाय अर्थात् लिङ्गनाश की अवस्था प्राप्त कर ले तो श्लेष्मज लिङ्गनाश को छोड़ प्रायः

एषु लिङ्गनाशेषु केवलश्लेष्मजलिङ्गनाशं।
विहायान्ये लिङ्गनाशाः असाध्याः॥
(डल्हण की सु० उ० ८–१५–१९ की टीका से)

सभी असाध्य हो जाते हैं अर्थात् उनमें चिकित्सा में सफलता नहीं मिलती।[१] उपर्युक्त सर्वविध अवस्थाओं में औषधोपचार (Medical treatment) सुश्रुत के अनुसार बतलाये गये हैं; परन्तु श्लैष्मिक लिङ्गनाश की अवस्था एक ऐसी है जिसमें शस्त्रोपचार ही किया जाता है। इसीलिये यह शस्त्रक्रिया साध्य (Curable by surgical treatment) माना गया है। इस कथन का यह निष्कर्ष निकलता है कि सुश्रुत ने तिमिर (Progressive Cataract) तथा काच (Inamature Cataract) में ओषधि चिकित्सा का ही उपदेश किया है और एक मात्र श्लैष्मिक लिङ्गनाश (Matured Cataract) की एक ऐसी अवस्था माना है जिसमें शस्त्रकर्म के द्वारा क्रिया करनी चाहिये। लिङ्गनाश के श्लैष्मिक प्रकार को छोड़कर दोषानुसार पाँच अन्य प्रकारों को असाध्य माना है। शेष तिमिर काच प्रभृति रोगों के सभी प्रकार को दोषों के अवस्थान के अनुसार साध्य या याप्य माना है। औषधोपचार में कई प्रकार के स्थानिक तथा सार्वदैहिक उपक्रमों का यथा–घृतपान, पुटपाक, तर्पण, नस्य, शिरा-मोक्षण और अंजनादि का उल्लेख प्राप्त होता है; जिनका एकैकशः नीचे के वर्णनों में विशिष्ट चिकित्सा के रूप में प्रसंग आ रहा है।

तिमिर चिकित्सा-शोधन—१. रक्तविस्रावण २. विरेचन के द्वारा दोषों का निर्हरण ३. वातिक में दूध में मिलाकर एरण्डतैल का सेवन करना और पैत्तिक और रक्तज में त्रिफला घृत या तिल्वक (निशोथ) घृत का प्रयोग करना चाहिये। कफज में निशोथ का विरेचन प्रशस्त है और

---

१. आर्णंग तिमिरं साध्यं प्रथमं पटलाश्रितम् ।
कृच्छ्रं द्वितीये रागि स्यात्तृतीये याप्यमुच्यते । (सु० उ० १७)
भवन्ति याप्या खलु ये षडामयाः हरेदसृक् तेषु सिराविमोक्षणैः ।
विरेचयेच्चापि पुराणसर्पिषा ।
पुराणसर्पिस्तिमिरेषु सर्वशो हितं भवेदायसभाजनस्थितम् ।
हितं च विद्यात्फिला घृतं सदा कृतं च यन्मेषविषाणनाभिभिः ।

त्रिदोषज में तीनों प्रकार के द्रव्यों से संस्कृत तैल का प्रयोग करना चाहिये।

संशमन—शोधन के बाद शमन के लिए लौह के बर्तन में रखे पुराण घृत का सेवन अथवा त्रिफला घृत का सेवन अथवा मेषश्रृंगी के फल से संस्कृत घी का सेवन कराना चाहिये। त्रिफला चूर्ण का सदैव प्रयोग करे। पैत्तिक तिमिर में गाढ़े घृत के साथ, वातिक में तैल के साथ और श्लैष्मिक में मधु के अनुपान से युक्ति पूर्वक देना चाहिये।[1]

नावन—गोबर में पकाये तैल से नस्य कर्म सर्व प्रकार के तिमिरों में हितकर होता है।

विशुद्ध रूप से पैत्तिक तिमिर में मधुरादिगण की ओषधियों से सिद्ध अजाघृत का नस्य देना चाहिये।

नस्यकर्म में विदारिगंधादि या काकोल्यादिगण से सिद्ध घृत भी वातिक और रक्तज में क्रमशः प्रशस्त माना गया है। वातरोगाधिकार में कथित अणुतैल का नस्य देना चाहिये।

तिमिर की अवस्था में मुद्गपर्णी, माषपर्णी, बला, अश्वगंध, शतावरी, त्रिवृत से सिद्ध चतुःस्नेहों का नस्य देना अथवा जलज और आनूप देशज प्राणियों के मांस से सिद्ध घृत का नस्य देना भी लाभप्रद होता है। अथवा इन मांस रसों के साथ दूध को पका कर उसका दही जमा कर उससे उद्धृत घृत का नस्य भी हितकर है।

पुटपाक—सेंधानमक, गृध्रमांस, कृष्णसार हिरण का मांस प्रभृति द्रव्यों से संस्कृत घृत का मधु मिलाकर पुटपाक क्रिया के द्वारा नेत्रों में स्थानिक प्रयोग करने से तिमिर में लाभ होता है।

अंजन—गृध्र, कृष्णसर्प और मुरगे की चरबी का मधु के साथ नेत्रों में अंजन। स्रोतोञ्जन या सौवीरांजन को लेकर उसको एक सप्ताह तक चक्षुष्य पशु-पक्षियों के मांस रस में, पुनः एक सप्ताह तक घृत में रखकर या भावित कर अंजन के रूप में प्रयोग करने से

१. सदावलिह्यात् त्रिफलां सुचूर्णितां घृतप्रगाढां तिमिरेऽथ पित्तजे।
समीरणे तैलयुतां कफात्मके मधुप्रगाढां विदधीत युक्तितः॥

तिमिर में लाभ होता है। यह प्रत्यंजन उस अंजन को कहते हैं जो एक अंजन के बाद लगाया जाय। आम तौर से तीक्ष्णांजन के बाद मृदु अंजन और मृदु अंजनों के बाद तीक्ष्णांजनों का प्रत्यंजन रूप में प्रयोग होता है।

शोधन एवं संशमन—

रागप्राप्त तिमिर अथवा काच प्रतिषेध—१. तिमिर में राग (रंग) आ जाने पर सिरामोक्षण नहीं करना चाहिये[1] क्योंकि यंत्र से उत्पीड़ित हुआ दोष दृष्टि को नष्ट कर देता है। परन्तु यदि दोष का निर्हरण अत्यावश्यक हो तो यापनार्थ बीच-बीच में जलौका के द्वारा रक्त का निर्हरण किया जा सकता है। २. मधुरादि (काकोल्यादि) गण की ओषधियों से सिद्ध घृत या क्षीर अथवा संस्कृत क्षीर से उद्धृत घृत का संशमन के लिये पीने में तर्पण में, तथा नस्य में प्रयोग करना चाहिये। ३. जाङ्गलमांस का पुटपाक बनाकर भी प्रयोग इस अवस्था में हितकर है।[2]

अंजन—स्रोतोञ्जन या सौवीराञ्जन को काले सर्प के मुख में डालकर फिर सर्पमुख को कुश से आवेष्टित कर एक मास तक पड़ा रहने दे। एक मास के बाद उस अंजन को निकालकर उसमें चमेली के फूल या कूंढी और सेंधानमक मिलाकर अंजन का निर्माण करे। इस अंजन का प्रयोग राग प्राप्त वातिक तिमिर (वातिक काच) की अवस्था में लाभप्रद है। अथवा उपर्युक्त अंजन को निकाल कर तीन दिनों तक

---

१. विवर्जयेत्सिरामोक्षो तिमिरे रागमागते।
यन्त्रेणोत्पीडितो दोषो निहन्यादाशु दर्शनम् ॥
रागप्राप्तेष्वपि हिता तिमिरेषु तथा क्रियाः।
यापनार्थं यथोद्दिष्टाः सेव्याश्चापि जलौकसः ॥ (सु० १७ उ०)

२. हविर्हितं क्षीरभवं च पैत्तिके वदन्ति नस्ये मधुरौषधैः कृतम्।
तत्तर्पणे चैव हितं प्रयोजितं सजाङ्गलस्तेषु च यः पुटाह्वयः ॥

दूध में भावित कर अंजन बना लिया जाय तो इस अंजन का भी प्रयोग काच की अवस्था में हितकर होता है।

रसक्रियांजन—१. रसांजन, मधु, चीनी, मैनशिल-इन द्रव्यों को गाढ़ा करके उसका अंजन पैत्तिक तिमिर में लाभप्रद है। २. पलाश, रोहीतक, मुलैठी, इनके क्वाथ को गाढ़ा कर उसमें मधु और मद्य मिला कर अंजन करना भी हितकर है।

चूर्ण—१. प्रत्यंजन के रूप में सौवीराञ्जन या रसाञ्जन और तुत्थ का चूर्ण श्रेष्ठ है।

२. भिल्लोटाद्यंजन—भिल्लोट (हिमालय पहाड़ के समीप पैदा होने वाले अर्जुन के समान फल वाले वृक्ष विशेष) तथा एलादिगणोक्त ओषधियों के क्वाथ से नेत्रों का सेक करके तुत्थ (तूतिये) का प्रत्यंजन करना चाहिये।

३. मेषश्रृंग, सौवीरांजन और स्रोतोञ्जन इन द्रव्यों के समान भाग में बने अंजन नेत्रगत पैत्तिक काच के विकार को नष्ट करता है।

कफज काच में[1] *धूम*—वायविडङ्ग, पाठा, अपामार्ग, हिंगोट की त्वचा और खस इन द्रव्यों का चूर्ण बनाकर धूम्र के रूप में नासिका या मुख से पिलाना कफज काच में या तिमिर में लाभप्रद है। तिमिर रोग में सामान्यतया धूम का निषेध रहता है तो फिर यहाँ पर आचार्य ने तिमिर में धूम का प्रयोग कैसे विधेय बतलाया है। इसका उत्तर यह है कि पैत्तिक तिमिर में ही केवल धूम का निषेध है, कफज तिमिर में उचित एवं विधेय है।

नस्य—उशीर, लोध्र, त्रिफला और प्रियंगु का नस्य कफज काच में हितकर है।

तर्पण—क्षीरी वृक्ष के क्वाथ में पकाया घृत जिसमें चतुर्गुण हल्दी और नलद (खस) का कल्क पड़ा हो, उससे नेत्र का तर्पण करना चाहिये।

---

१. तीक्ष्णानि नस्यांजनशोधनानि पाकः पुटानामपतर्पणञ्च।
घृतानि वासात्रिफलापटोलसंज्ञानि कुर्यात्तिमिरे कफोत्थे ॥ (यो० र०)

पुटपाक—पिप्पली, मधु, सैन्धव, जाङ्गल मांस के पुटपाक से श्लैष्मिक काच की चिकित्सा करनी चाहिये।

रसक्रिया—१. मैनशिल, त्रिकटु, शंख, मधु, सेंधा नमक, कासीस, रसाञ्जन इन द्रव्यों से रसक्रिया करके अञ्जन करना भी श्लैष्मिक तिमिर में हितकर है। २. गुड, सोंठ, कासीस, रसाञ्जन की रसक्रिया बनाकर अञ्जन करना। ३. आँवले का गाढ़ा किया रस, मधु और काले सर्प की चरबी का अञ्जन काच में लाभप्रद है (चरक)।

सर्व प्रकार की काच चिकित्सा—स्रोतोञ्जन को अष्टमूत्रों में तथा त्रिफला क्वाथ में अनेक बार भावित करके उसे गृध्रादि (निशाचरों) की अस्थि के नलक में बन्द करके (मुख बन्द करके) उस हड्डी को एक खूंटे के सहारे बाँध कर एक मास तक बहते नदी के जल में पड़ा रहने दे। पश्चात् उस अञ्जन को लेकर उसमें मेषशृङ्गी का फूल और मुलेठी के चूर्ण को बराबर मात्रा में लेकर बारीक चूर्ण करके मिला ले और उसका अञ्जन मधु के साथ करे। यह सर्व प्रकार के काच रोगों में प्रशस्त अञ्जन है।[1]

सान्निपातिक तिमिर—में उपर्युक्त वात पित्त कफ की मिश्रित क्रियाओं का उपयोग करना चाहिये। रक्तज तिमिर तथा परिम्लायिकाच में पित्तघ्न क्रियाओं का आचरण करना चाहिये। दोषोदय होने पर दोषानुसार तिमिर और काच की अवस्था में यथादोष अभिष्यन्द के उपक्रमों को बरतना चाहिये। यदि सम्पूर्ण नेत्र में दोष व्याप्त हो जाय तो अभिष्यन्दहर विधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।[2] बल्कि नस्यों का प्रयोग करना चाहिये।

१. यदञ्जनं वा बहुशो निषेचितं समूत्रवर्गे त्रिफलोदके शृते।
निशाचरास्थितिमेतदञ्जनं क्षिपेच्च मासं सलिलेऽस्थिरे पुनः॥
मेषस्य पुष्पैर्मधुकेन संयुतं तदञ्जनं सर्वकृते प्रयोजयेत्। (सु० उ० १८)

२. क्रियाश्च सर्वाः क्षतजोद्भवे हिताः क्रमः परिम्लायिनि चापि पित्तहृत्।
क्रमो हितः स्यन्दहरः प्रयोजितः समीक्ष्य दोषेषु यथास्वमेव।
दोषोदये नैव च विप्लुतिं गते द्रव्याणि नस्यादिषु योजयेद् बुधः॥

तिमिर की अनागत बाधा प्रतिषेध (Profilaxis treatment) *तथा पथ्य*—तिमिर एक ऐसा रोग है, जो बढ़कर मनुष्य को अन्धा कर देता है। इसलिये इसकी प्रारम्भ से ही चिकित्सा शुरू कर देनी चाहिये। कई प्रकार के चक्षुष्य द्रव्यों का सेवन सुश्रुत ने बतलाया है। इनका नियमित प्रयोग तिमिर रोग की उत्पत्ति को रोकता है तथा प्रारम्भिक अवस्था में इसके द्वारा उपचार किये जाने पर भविष्य में किसी अनिष्टकर उपद्रव का भी भय नहीं रहता।[1]

इसके लिये पुराण घृत, त्रिफला, शतावरी, पटोल, मुद्ग, आमलकी का सेवन, शतावरी मूल से बने पायस का सेवन, आमलकी के फल से बने पायस का प्रयोग, प्रचुर त्रिफलाजल में पकाये जौ का भात पर्याप्त घृत मिला कर लेना हितकर होता है। घृत से सिद्ध किये जीवन्ती, सुनिषण्णक (चौपतिया), चौलाई, श्रेष्ठ बथुआ, चिल्ली (खेत में अपने आप पैदा हुआ बथुआ), छोटी मूली, लावादिक पक्षियों के मांस, जाङ्गल पशुओं के मांस, परवर, कर्कोटक, करेला, बैंगन, अरणी, करीर (गूढ़पत्र), सहिजन, आर्तगल (नील सैरेयक) प्रभृति शाकों का सेवन दृष्टि शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखता है तथा तिमिर रोग नहीं होने देता।

उपर्युक्त द्रव्यों का पथ्य के रूप में सेवन करने से पोषण बढ़िया होता है। पोषक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। आधुनिक विज्ञान में नेत्र के लिये लाभप्रद पथ्यों में जीवतिक्ति (ए. बी. सी. डी.) द्रव्यों की प्रचुरता भोजन में होना आवश्यक समझा जाता है। उपर्युक्त पथ्यों में ये सभी पदार्थ तथा 'प्रोटीन्स' तथा उत्कृष्ट वसाम्ल पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहते हैं, अतएव वे सभी दृष्टि शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखते हैं।

---

१. घृतं पुराणं त्रिफलां शतावरीं पटोलमुद्गामलकं यवानपि।
निषेवमाणस्य नरस्य यत्नतो भयं सुघोरात्तिमिरान्न विद्यते ॥
शतावरीपायस एव केवलस्तथा कृतो वाऽऽमलकेषु पायसः।
प्रभूतसर्पिस्त्रिफलोदकोत्तरो यवौदनो वा तिमिरं व्यपोहति ॥ (सु० उ० १७)

तिमिर, काच और लिङ्गनाश की अवस्था में प्रयुक्त होने वाले कुछ योग—सामान्यतया सभी अवस्थाओं में इनका प्रयोग किया जा सकता है। कई ग्रंथों से इनका संग्रह नीचे दिया जा रहा है।

वस्तुतः तिमिर या 'प्रोग्रेसिव कैटेरेक्ट' या मोतियाबिन्दु को रोकने में समर्थ औषधि या पथ्यादि का ज्ञान आधुनिक विज्ञान में नहीं है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने कई प्रकार के योगों का उल्लेख तिमिर एवं काच रोग की चिकित्सा में किया है। इनका प्रयोग करके देखना उत्तम है।

अन्तःप्रयोज्य औषधियाँ

(Recipes for oral administration)

क्वाथ—महावासादि क्वाथ–अडूसा, नागरमोथा, निम्बपत्र, पटोलपत्र, कुटकी, गिलोय, चन्दन, कुटज की छाल, कलिङ्ग (तरबूज), दार्वी, चीता, सोंठ, चिरायता, आँवला, हर्रे, बहेरा, तथा यव का क्वाथ बनाकर प्रातःकाल में पीने से तिमिर, कण्डु, पटलदोष, अर्बुद, सव्रण तथा अव्रण शुक्र- दाह, रोग, पीडा, पिल्ल प्रभृति समस्त नेत्र रोग नष्ट होते हैं।

त्रिफला क्वाथ—भोजन के बाद सायंकाल एक मास तक लौह के बर्त्तन में बने त्रिफला क्वाथ में घृत मिलाकर पीने से रोग जनित अन्ध भी देखने लगता है।[1] अर्थात् रोगोत्पन्न अंधता दूर होती है।

चित्रकादि क्वाथ—चित्रक मूल, त्रिफला, पटोल और जौ से सिद्ध किये क्वाथ को घृत के साथ मिलाकर रात में पीना चक्षुष्य होता है। विशेषतः तिमिर की अवस्था में लाभप्रद है।

चूर्ण—सप्तामृत लौह[2]—त्रिफला, लौहभस्म और मधुयष्टि चूर्ण की समान मात्रा लेकर घृत और मधु के साथ रात्रि में इक्कीस दिनों तक

१. अयःस्थं त्रिफलाक्वाथं सर्पिषा सहयोजितम् ।
भुक्तोपरि पिबेत्सायं मासेनान्धोऽपि पश्यति ॥

२. ग्रन्थों में सप्तामृत लौह की बड़ी प्रशंसा है। यहाँ संक्षेप में लिखा गया है।

सेवन करने से तिमिर, अर्बुद, रक्तराजि, कण्डु, रतौंधी (नक्तांध्य), दाह, शूक्त, तोद, पटल दोष, शुक्र रोग, काच और पिल्ल प्रभृति विविध प्रकार के नेत्र रोग नष्ट होते हैं। यह योग न केवल नेत्र रोगों में हित-प्रद है बल्कि विभिन्न प्रकार के दाँत, कान तथा ऊर्ध्व जत्रुगत महारोगों में भी हितकर है। विभिन्न प्रकार के बड़े बड़े शारीरिक रोग जैसे अर्श, भगन्दर, हलीमक, कुष्ठ, किलास, प्रमेह, मन्दाग्नि, पलित रोगों को भी नष्ट करता है। बहुत ही वृष्य, रसायन तथा बाजीकरण है।

लौह चूर्ण—यह भी सप्तामृत लौह का ही एक नामान्तर है। इसमें भी समान भाग में मधुयष्टि, लौह भस्म और त्रिफला की मात्रायें पड़ी हैं। घृत और मधु से इसकी एक माशा की मात्रा रात्रि में लेने से छर्दि, तिमिर, शूल, अम्लपित्त, ज्वर, क्लम, आनाह, मूत्रसंग, और शोथ प्रभृति रोग दूर होते हैं।

शतावर्यादि चूर्ण—शतावरी १२ भाग, इलायची ५ भाग, विडङ्ग ८ भाग, आँवले का बीज ६ भाग, मरिच ४ भाग, पिप्पली (विष्णु विक्रम) २ भाग सब का चूर्ण बनाकर ६ माशा की मात्रा में घृत और मधु से सेवन करने पर कण्डू, धूमदर्शी, तिमिर, अर्म, काच, पटल अथा अन्य रक्तजन्य सर्व प्रकार के नेत्रामय नष्ट होते हैं।[1]

घृत—त्रिफलाघृत—ग्रन्थों में त्रिफलाघृत के कई पाठ मिलते हैं। योगरत्नाकर में प्रायः सभी का संग्रह मिल जाता है। यहाँ पर केवल एक लघु त्रिफलाघृत का पाठ देकर सन्तोष करना पड़ रहा है ताकि ग्रन्थ का अतिविस्तार न हो। त्रिफला के क्वाथ, कल्क और क्षीर से सिद्ध घृत का प्रयोग रात्रि में करने से तिमिर रोग नष्ट होता है। घृत का प्रयोग प्रातः भोजन के पूर्व (पौर्व भक्तिक) खाली पेट में या रात्रि में

१. शतावरी सूर्यसमा प्रदेया एला तथा रावणमूर्धतुल्या।
देयं विडङ्गं वसुभिः समानमृतोः समं चामलकास्थिबीजम्॥
विष्णोर्भुजैस्तुल्यगुणं मरीचं तैर्विक्रमैर्मागधिका प्रयोज्या।
चूर्णं समध्वाज्यकमर्धकर्षभक्ष्यामयानां विनिवारणार्थम्॥ (यो० र०)

भोजनोपरान्त (औत्तर भक्तिक) किया जाता है। तिमिरादि रोगों में भोजन के बाद रात्रि में सेवन प्रशस्त माना गया है।

तैल—भृङ्गराज तैल—भृङ्गराज १ प्रस्थ, तैल १ कुडव, मुलैठी १ पल, दूध १ प्रस्थ से सिद्ध तैल का सिर पर अभ्यंग नष्ट हुए नेत्र को भी ठीक कर देता है।

नेत्रप्रक्षालन या धावन—(Eye wash)—तिमिर रोग में नेत्रों के प्रक्षालन के लिये—(१) काली तिल के काढ़े (२) मुलैठी और आँवले के पानी (३) वचादि क्वाथ (४) त्रिफला कषाय उत्तम है तथा (५) भोजन के बाद हाथ को धोकर हाथ के तलवे को भिंगो कर नेत्रों का स्पर्श कराना या बाहर से प्रक्षालन करना भी तिमिर रोगोंमें हितावह है।[1]

अञ्जन—मुक्तादि महाञ्जन (*भावप्रकाश*)—मोती, कपूर, काच, अगुरु, मरिच, पिप्पली, सैन्धव, एलुवा, सोंठ, कंकोल, कांस्य, पीतल, हल्दी, मैनसिल, शंख, अभ्रक, तुत्थ, मुर्गे के अण्डे का छिल्का, त्रिफला, मुलैठी, राजावर्त, चमेली, तुलसी के नये फूल, तुलसी बीज, पूतिक, रंज, निम्ब, अञ्जन, नागरमोथा, पारद गर्भयुक्त ताम्रसार (ताम्र, लौह, पारद) प्रत्येक का एक एक माशा लेकर मधु ४ तोले लेकर खूब महीन पीस ले। इस महाञ्जन के प्रयोग से अति बढ़े हुए नेत्र रोग ठीक हो जाते हैं।

नयन शाणांजन—पिप्पली, सेंधा नमक, मरिच, सौवीराञ्जन, स्रोतोञ्जन, समुद्रफेन, शिफा, सफेद पुनर्नवा, हल्दी, लाल चन्दन, मुलैठी, तुत्थ, हर्रे, मैनशिल, नीम की पत्ती, शाबर (लोध्र) स्फटिक, शंखनाभि, इन्दु (कपूर) इन द्रव्यों का महीन चूर्ण कर घने वस्त्र से छान कर लोहे के बर्तन में मधु के साथ घिसे, घिसने के लिये ताम्र के टुकड़े से रगड़ना चाहिये। यह मुनियों के द्वारा कथित नयन शाणाञ्जन है। इसका प्रयोग तिमिर, पटल दोष और पुष्प में लाभप्रद है।

---

१. भुक्त्वा पाणितलं घृष्ट्वा चक्षुषोर्यदि दीयते।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥ (यो० र०)

चन्द्रोदया वर्त्ति—शंख नाभि, बहेरे के बीज की मींगी, हर्रे, मैनशिल, पिप्पली, मरिच, कूठ, वच इन द्रव्यों को सम भाग लेकर बकरी के दूध में पीसकर जौ के बराबर की वर्ति बना ले और उसकी एक हरेणु की मात्रा में पानी से घिस कर अञ्जन करे। इससे तिमिर, मांसवृद्धि, काच, पटल दोष, रात्र्यांध्य, एक वर्ष तक का पुष्प (फूले या अव्रण शुक्र) नष्ट हो जाता है।

शशिकला वर्त्ति—रसक (खर्पर), शंखनाभि, पौर (गुग्गुल), तुत्थ इन द्रव्यों को सम भाग में चूर्ण कर कपड़े से छानकर, निम्बू के रस में पीस कर नेत्र में अञ्जन करने से तिमिर, अव्रणशुक्र, कण्डु, स्राव, लालिमा, अर्म और पिल्ल रोग नष्ट होते हैं।

नयनामृताञ्जन—पारद, नाग इन दोनों का समान भाग और दोनों के द्विगुण परिमाण में स्रोतोंजन या सौवीराञ्जन तथा पारद का चतुर्थांश कपूर इनके योग से बने अञ्जन के प्रयोग से तिमिर, पटल, काच, शुक्र, अर्जुन तथा अन्य दृष्टि के रोग नष्ट हो जाते हैं।

रोपणी कुसुमिका वर्त्ति—तिल पुष्प ८०, पिप्पली के चावल ६०, जाती (चमेली) का फूल ५०, मरिच १६ इनके बारीक चूर्ण कर जल में पीस कर वर्त्ति बना ले। इस कुसुमिका नामक वर्ति का अञ्जन करने से तिमिर, अर्जुन, शुक्र, मांस वृद्धि आदि सभी नेत्रगत विकार नष्ट होते हैं। अञ्जन की मात्रा आधे हरेणु की होती है।

दार्व्यञ्जन—रसोंत, त्रिफला, मुलैठी, इन द्रव्यों को नारियल के जल में पका कर अष्टमांशावशिष्ट करके उसको गाढ़ा कर और उसमें शशि (कपूर) सेंधा नमक, मधु मिला कर अञ्जन करने से पैत्तिक तिमिर नष्ट होता है।

शङ्खादिवटी—शंख ४ भाग, मनःशिला २ भाग, मरिच १ भाग, पिप्पली ३ भाग सबको एकत्र मिलाकर गुटिका बना ले। इसको पानी में घिस कर अञ्जन करने से तिमिर, मट्ठा में घिस कर अञ्जन करने से अर्बुद, मधु में घिस कर अञ्जन करने से पिच्चट और स्त्रीक्षीर में अञ्जन करने से अर्जुन रोग शान्त होता है।

पुनर्नवाद्यञ्जन—पुनर्नवा को दूध में घिस कर अञ्जन करने से नेत्र की खुजली, मधु में घिस कर अञ्जन करने से नेत्रस्राव, घी में घिसकर अञ्जन करने से अव्रणशुक्र, तैल में घिस कर आँजन करने से तिमिर और कांजी से घिस कर अञ्जन करने से नक्तान्ध्य नष्ट होता है।[1]

गुडूच्यादि अञ्जन—गुडूची स्वरस १ तोला, मधु १ माशा, सेंधा नमक १ माशा, तीनों को एकत्र कर अञ्जन करने से पिल्ल, अर्म, तिमिर, काच, कण्डु, लिङ्गनाश तथा शुक्ल कृष्णगत अन्यान्य रोग भी नष्ट होते हैं।

कतक फलाद्यञ्जन—१. कतकफल (निर्मली), शंख, सेंधा नमक, त्रिकटु, चीनी, समुद्र फेन, रसांजन, मधु, विडङ्ग, मनःशिला सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर स्त्रीक्षीर में पीस कर अञ्जन करने से तिमिर, पटल दोष, काच, अर्बुद आदि नष्ट होते हैं। २. निर्मली फल, कपूर इन दोनों का मधु के साथ मिला कर अञ्जन भी नेत्र का प्रसादन करता है।

पिप्पल्याद्यञ्जन—पिप्पली, त्रिफला, लाक्षा, लोध्र, सैन्धव इनको सम भाग में लेकर भृङ्गराज के रस में घिस कर गुटिका बनावे। इसका नेत्रों में अञ्जन करने से अर्म, तिमिर, काच, कण्डू, शुक्र, अर्जुन प्रभृति नेत्र रोग निःसंशय नष्ट होते हैं।

गुञ्जामूलाद्यञ्जन—गुंजामूल को बकरे के मूत्र में पीस कर अथवा भद्र मुस्ता को जल में घिस कर अञ्जन करना आंध्य और तिमिर की अवस्थाओं में लाभप्रद है।

तुलस्याद्यञ्जन—तुलसी और बिल्वपत्र स्वरस समभाग में लेकर दोनों के बराबर स्त्रीक्षीर मिलाकर कांस्य पात्र में रख कर ताम्र और गजवल्ली (पान के पत्तों) से खूब मर्दन करे। एक प्रहर तक मर्दन करने के बाद जब वह कज्जल का रूप ले ले तो उससे नेत्रों को अञ्जित करे। इससे पाकजन्य नेत्र की पीड़ा सद्यः शान्त होती है।

---

१. दुग्धेन कण्डुं क्षौद्रेण नेत्रस्रावं च सर्पिषा।
पुष्पं तैलेन तिमिरं काञ्जिकेन निशान्धताम्,
पुनर्नवा हरत्याशु भास्करस्तिमिरं यथा। (यो० र०)

तुत्थाञ्जन—तुत्थ को आग में गरम कर उसको गोमूत्र गोबर के रस, खट्टी कांजी, स्त्रीक्षीर, घी, विष और मधु में निवार्पित करे, पश्चात् उस तुत्थ का अञ्जन करे। यह दृष्टि को गरुड सदृश कर देता है। (वा०)

कुक्कुट विटांजन—दूध से भरे हुए घड़े में एक काला सर्प और चार बिच्छुओं को छोड़े और तीन सप्ताह तक उसको सड़ने दे। फिर इस दूध को बिलोवे। इससे जो मक्खन निकले उसे मुर्गे को खाने के लिये देवे। उस मुर्गे की बीट का अञ्जन करने से सभी तिमिर रोग नष्ट होते हैं। अन्धा भी देखने लगता है।[1] (वा०)

१६

श्लैष्मिक लिङ्गनाश का शस्त्रकर्म

(Ancient Method of operation of cataract)

दृष्टिमणि के आवरण का लेखन (Discission of the lens in cataract through subcojuctunctival puncture)

पूर्व कर्म—१. श्लैष्मिकलिङ्गनाश पीडित रोगी का शस्त्र कर्म के पूर्व स्नेहन, स्वेदन करावे। २. शस्त्रकर्म के लिये ऐसा ऋतु या काल चुनना चाहिये जो नात्युष्ण या नातिशीत हो अर्थात् समान ऋतु अगहन या चैत्र का महीना हो। ३. रोगी को बैठा कर सम्यक् प्रकार से यन्त्रित करके रखना चाहिये। ४. रोगी की आँख को स्थिर कर लेना चाहिये। इसके लिये उसे एक भाव से दोनों नेत्रों से नासा की तरफ देखते रहना चाहिये। ५. शस्त्र कर्म के पूरे समय तक उसके नेत्र पूरी तौर से खुले रहने चाहिये अन्यथा हानि की सम्भावना रहती है।

---

१. कृष्णसर्पं मृतं तस्य चतुरश्चापि वृश्चिकान्।
क्षीरकुम्भे त्रिसप्ताहं क्लेदयित्वा प्रमन्थयेत्॥
तत्र यन्नवनीतं स्यात् पुष्णीयात्तेन कुक्कुटम्।
अन्धस्तस्य पुरीषेण प्रेक्षते ध्रुवमञ्जनात्॥ (वा० उ० १३)

कर्म—नेत्र में अपाङ्ग के समीप कृष्ण भाग से दो भाग को छोड़ कर शुक्ल भाग में उस स्थान पर, जहाँ पर शिरा जल (जहाँ अधिक रक्त वाहिनियां न हों) दैवकृत छिद्र (निसर्ग से ही जहाँ छिद्र के समान) रचना हो ठीक उसी स्थल पर न ऊपर न नीचे और न पार्श्व में विश्वस्त हो कर यववक्त्रा शलाका के द्वारा वेध करे। यववक्त्रा शलाका को मध्यमा, प्रदेशिनी और अंगुष्ठ के सहारे पकड़ना चाहिये। दाहिनी आँख में शस्त्र का प्रवेश करते समय शस्त्र को दाहिने हाथ से और बायें आँख में प्रवेश करते समय बायें हाथ से पकड़ना चाहिये। जिस समय वेध होता है, उस समय आवाज होती है और पानी की बूँदें निकलती हैं। यह सम्यक् प्रकार से वेध का लक्षण है।

वेध हो जाने के बाद तत्काल स्त्री के दूध से सिंचन करना चाहिये। साथ ही चाहे दोष स्थिर या चञ्चल हो आँख का स्वेद बाहर से वातघ्न पत्रों से करना चाहिये। शलाका को उसी स्थिति में पड़े रहने देना चाहिये। स्वेदन हो जाने के बाद शलाका के अग्र से दृष्टि मण्डल का लेखन (खुरचना) करना चाहिये। फिर इस लेखन की क्रिया के बाद जिस आँख पर शस्त्रकर्म हुआ हो उसके दूसरी तरफ के नासाछिद्र को बन्द करके जोर से नाक को साफ (उच्छिङ्घन) करना चाहिये। इस क्रिया से दृष्टिमण्डलगत कफ निकल जाता है। इस कफ को अवश्य निकाल देना चाहिये।[1]

---

१. स्निग्धस्विन्नस्य तस्याथ काले नात्युष्णशीतले ।
यन्त्रितस्योपविष्टस्य स्वां नासां पश्यतः समाम् ॥
मतिमान् शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा ह्यपाङ्गतः ।
उन्मील्य नयने सम्यक् शिराजालविवर्जिते ॥
नाधो नोर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः ।
शलाकया प्रयत्नेन विश्वस्तं यववक्त्रया ।
मध्यप्रदेशिन्यङ्गुष्ठस्थिरहस्तगृहीतया ॥
दक्षिणेन भिषक् सव्यं विध्येत् सव्येन चेतरत् ।
वारिबिंद्वागमः सम्यग् भवेच्छब्दस्तथा व्यधे ॥

जब दृष्टिमण्डल बादल से हीन सूर्य के समान प्रकाशित हो जाय तब दृष्टिमणि (Lens) का निर्लेखन पूर्ण हो गया है ऐसा समझ कर दृष्टि को नीरोग समझना चाहिये।

बलवान् दोष जो बादल के समान सम्पूर्ण दृष्टिमण्डल को आवृत किये रहता है—शलाका के अग्रभाग से लेखन के बाद उसी प्रकार साफ हो जाता है, जैसे हलके बादल वायु के झोंके से साफ हो जाता है।[1]

यदि इस प्रकार का लेखन सम्भव नहीं हो पाया अथवा दोष का पुनरावर्तन (प्रत्यागमन) हो जाय तो नेत्र का स्नेहन-स्वेदन करके पुनः वेधन की क्रिया करनी चाहिये। इस शस्त्रकर्म के अनन्तर रोगी को कोई भी वस्तु दिखलाई जाने पर दीखने लगती है, यदि रोगी को इस प्रकार का रूप ज्ञान हो जाय तो धीरे-धीरे शलाका को निकाल लेना चाहिये। तत्पश्चात् नेत्र का घृत से अभ्यंग करके कवलिका रख कर पट्टी बाँध देनी चाहिये। रोगी को धूलि, धूम, तेज हवा आदि से रहित गृह में बिस्तर के ऊपर उत्तान लिटा देना चाहिये। रोगी को तत्काल खाँसना, थूकना, छींकना, डकार लेना और शरीर का हिलाना बन्द कर देना चाहिये। उसके आहारादि का नियन्त्रण ठीक उसी प्रकार का करना चाहिये जिस प्रकार स्नेह पान कराये व्यक्तियों में किया जाता है।

संसिच्य विद्धमात्रं तु योषित्स्तन्येन कोविदः।
स्थिरे दोषे चले वापि स्वेदयेदक्षि बाह्यतः॥
सम्यक् शलाकां संस्थाप्य भंगैरनिलनाशनैः।
शलाकाग्रेण तु ततो निर्लिखेद् दृष्टिमण्डलम् ॥
विध्यतो योऽन्यपार्श्वेक्षणस्तं रुद्ध्वा नासिकापुटम्।
उच्छिङ्घनेन हर्त्तव्यो दृष्टिमण्डलगः कफः॥
निरभ्र इव घर्मांशुर्यदा दृष्टिः प्रकाशते।
तदासौ लिखितं सम्यग् ज्ञेया सा चापि निर्व्यथा।

१. दोषस्तु सञ्जातबलः घनः सम्पूर्णमण्डलः।
प्राप्य नश्येच्छलाकाग्रं तन्वभ्रमिव मारुतम् ॥ (सु० उ० १७)

पश्चात् कर्म—प्रति तीसरे दिन पट्टी को खोलकर वातघ्न कषायों से नेत्र का प्रक्षालन और वायु के भय को बचाने के लिये स्वेदन भी करना चाहिये।

इस प्रकार दस दिनों तक रोगी को संयम (उत्तान शयनादि) से रखना चाहिये। पश्चात् उसको नेत्रप्रसादन, अञ्जन प्रभृति कर्मों का उपदेश करना चाहिये और लघु भोजन खाने के लिये देना चाहिये।

उपद्रव एवं उनके प्रतिषेध[1]—१. श्लैष्मिक लिङ्गनाश में भी उन रोगियों में जो शिरावेध के अयोग्य (बालस्थविरादि) बतलाये गये हैं,

---

१. एवं त्वशक्ये निर्हर्तुं दोषे प्रत्यागतेऽपि वा ।
स्नेहाद्यैरुपपन्नस्य व्याधौ भूयो विधीयते ॥
घृतेनाभ्यज्य नयनं वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ।
ततो गृहे निराबाधे शयीतोत्तान एव च ॥
उद्गारकासक्षवथुष्ठीवनोत्कम्पनानि च ।
तत्कालं नाचरेदूर्ध्वं यन्त्रणास्नेहपीतवत् ॥
त्र्यहात् त्र्यहाच्च सेवेत कषायैरनिलापहैः ।
वायोर्भयात् त्र्यहादूर्ध्वं स्वेदयेदक्षि बाह्यतः ॥
दशाहमेवं संयम्य हितं दृष्टिप्रसादनम् ।
पश्चात्कर्म च सेवेत लघ्वन्नं चापि मात्रया ॥
सिराव्यधविधौ पूर्वं नरा ये च विवर्जिताः ।
न तेषां नीलिकां विध्येदन्यत्राभिहिताद्भिषक् ॥
पूर्यते शोणितेनाक्षि सिरावेधं विसर्पता ।
तत्र स्त्रीस्तन्ययष्ट्याह्वं पक्वं सेके हितं घृतम् ॥
अपाङ्गासन्नविद्धे तु शोफशूलाश्रुरक्तता ।
तत्रोपनाहं भ्रूमध्ये कुर्याच्चोष्णाज्यसेवनम् ॥
व्यधेन्नासन्नकृष्णेन रागः कृष्णं च पीड्यते ।
तत्राधः शोधनं सेकः सर्पिषा रक्तमोक्षणम् ॥
अथाप्युपरि विद्धे तु कष्टा रुक् संप्रवर्त्तते ।
तत्र कोष्णेन हविषा परिषेकः प्रशस्यते ॥

शस्त्रकर्म नहीं करना चाहिये तथा कथित स्थान (दैवकृतछिद्र) के अन्यत्र भी वेध नहीं करना चाहिये। क्योंकि शिरावेध से विसर्पित हुए रक्त से आँख भर जाती है (Haemorrhage in anterior Chamber)। यदि ऐसा हो जाय तो उसकी चिकित्सा, स्त्रीदुग्ध में मुलैठी से पक घृत से नेत्र का सिंचन करना चाहिये।

२. अपाङ्ग के अति समीप वेध होने पर शोफ, शूल, अश्रुस्राव, लालिमा आदि नेत्र में होने लगते हैं। अतः प्रतिषेध में उष्ण घृत का सेवन और भ्रू के बीच में स्वेदन करना चाहिये।

३. कृष्णमण्डल के अति समीप वेध होने से लालिमा और कृष्ण भाग में शोथ हो जाता है। इसके प्रतिषेध में विरेचन, घृत से सिंचन और रक्त का मोक्षण करना चाहिये।

४. यदि दैवकृत छिद्र से ऊपर में वेध हुआ हो तो नेत्र गत पीडा और कष्ट बढ़ जाता है। इसके प्रतिषेध के लिये गुनगुने घृत से सिंचन करना चाहिये।

५. दैवकृत छिद्र के अत्यर्थ नीचे वेध होने से शूल, अश्रुस्राव, राग प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं और शलाका के निकालने के बाद अत्यधिक पिच्छिल आस्राव होने लगता है। प्रतिषेध पूर्ववत् करना चाहिये।[1]

६. अति विघट्टित होने पर नेत्र में लालिमा, अश्रुस्राव, स्तम्भ, वेदना, हर्ष प्रभृति उपद्रव होने लगते हैं। इसके प्रतिषेध के लिये स्नेहन, स्वेदन और अनुवासन करना चाहिये।[2]

७. यदि लिङ्गनाश की रूढ़ावस्था न प्राप्त हो अर्थात् तरुण (Immature Cataract) हो और उस समय शस्त्रकर्म के द्वारा दोष का निर्लेखन किया जाय तो नीचे खींचे जाने पर भी वह दोष नीचे न आकर ऊपर चढ़ जाता है और कई प्रकार के नेत्र की तीव्र लालिमा,

१. शूलाश्रुरागास्त्वत्यर्थमधो वेधेन पिच्छिलः ।
शलाकामनु चास्रावस्तत्र पूर्वं चिकित्सितम् ॥

२. रागाश्रुवेदनास्तम्भहर्षाश्चातिविघट्टिते ।
स्नेहस्वेदौ हितौ तत्र हितं चाप्यनुवासनम् ॥

उग्र पीड़ा प्रभृति उपद्रवों को उत्पन्न कर देता है। यदि ऐसा हो जाय तो उसके प्रतिषेध के लिये मधुर गण की ओषधियों से पक्व घृत के द्वारा नेत्र का सिंचन करना चाहिये, और इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध तैल के द्वारा शिरोवस्ति तथा मांस खाने के लिए देना हितकर होता है।[1]

८. वमन—मूर्च्छा-सिर पर चोट लगना, व्यायाम, मैथुन सेवन, कोप और अति तरुण लिङ्गनाश का वेधन करने से दोष का प्रत्यावर्त्तन होकर पुनः लिङ्गनाश की अवस्था उपस्थित हो जाती है। इसलिये इन बातों से बचना चाहिये।[2]

लिङ्गनाश वेधनी शलाका के दोष तथा उसके कारण होने वाले उपद्रव एवं प्रतिषेध—

शलाका के कर्कश होने से शूल का होना, खर होने से दोषों का चारों ओर से घेर लेना, उसकी नोक के मोटा होने से व्रण का बड़ा होना, अति तीक्ष्ण होने से अनेक प्रकार का कष्ट होना, विषम होने से अधिक जलस्राव होना, बहुत बड़ी या छोटी होने से कर्म में बाधा पड़ना प्रभृति दोष शस्त्र क्रिया में आते हैं।[3]

अतएव इन दोषों से वर्जित (हीन) शलाका का व्यवहार शस्त्रकर्म में करना चाहिये। प्रशस्त शलाका ताम्र, लौह या सोने की आठ अङ्गुल

---

१. दोषस्त्वधोऽपकृष्टोपि तरुणः पुनरूर्ध्वगः ।
कुर्याच्छुक्लारुणं नेत्रं तीव्ररुग् नष्टदर्शनम् ॥
मधुरैस्तत्र सिद्धेन घृतेनाक्ष्णः प्रसेचनम् ।
शिरोवस्ति च तेनैव दद्यान्मांसैश्च भोजनम् ॥

२. मूर्धाभिघातव्यायामव्यवायवमिमूर्च्छनैः ।
दोषः प्रत्येति कोपाच्च विद्धोऽतितरुणश्च यः ॥

३. शलाका कर्कशा शूलं खरा दोषपरिप्लुतिम् ।
व्रणं विशालं स्थूलाग्रा तीक्ष्णा हि स्यादनेकधा ॥
जलास्रावं तु विषमा क्रिया संगमथास्थिरा ।
करोति वर्जिता दोषैस्तस्मादेभिर्हिता भवेत् ॥

लम्बी बनी होनी चाहिये, बीच में अङ्गुष्ठ के उदर के परिमाण की मोटाई में सूत्र से लिपटी होनी चाहिये अर्थात् बीच में सूत को लपेट कर मोटी गाँठ सी बना देना चाहिये। इसी प्रकार की शलाका से शस्त्रकर्म करना हितकर है।[1] इसका अग्र भाग या नोक जौ के समान रहता है। अतएव इसको यवमुखी या यववक्त्रा की संज्ञा दी गई है।

दुष्ट व्यध से होने वाले उपद्रव—शस्त्रकर्म में अहित का आचरण करने से या व्यध दोष से नेत्र में लालिमा, शोफ, अर्बुद, चोष, बुद्-बुदाकार मांस का निर्गमन, शूकराक्षिता (नीचे की ओर दृष्टि का हो जाना), अधिमन्थ तथा अन्य भी नेत्र रोग हो जाते हैं। इनका उपचार यथादोष एवं रोगानुसार करना चाहिये।

१. नेत्रगत पीडा या लालिमा के उपद्रवों को रोकने के लिये गेरू, सारिवा, दूब, जौ इनको पीसकर घी और दूध मिला कर गुनगुना गरम करके लेप करना चाहिये। इससे वेदना और राग की शान्ति होती है।

२. हल्की भुनी हुई तिल और सरसों को मिलाकर पीस कर किंचि-दुष्ण कर लेप करना भी हितकर होता है। इस कल्क को नीबू के रस (बिजौरे) में पीस कर लेप करना अधिक लाभप्रद होता है।

३. अर्क पुष्पी या क्षीरकाकोली, सारिवा पत्र, मञ्जिष्ठा और मुलैठी इन द्रव्यों को बकरी के दूध में पीस कर लेप करना पथ्य है।

४. द्राक्षा, मुलैठी, कूठ, सैन्धव या रोध्र, मुलैठी इनको बकरी के दूध में पीस कर लेप या श्रृत क्षीर या घृत का सेक नेत्रगत पीडा, और लालिमा को दूर करता है।

५. मुलैठी, नीलोत्पल, कूठ, द्राक्षा, लाक्षा, चीनी और सेंधानमक से श्रृत क्षीर का सेक नेत्रगत पीडा, स्राव आदि को नष्ट करता है।

६. शतावरी, पृथक् पर्णी, मोथा, आमलकी, पद्मकाष्ठ तथा दूध इन द्रव्यों से श्रृत घृत नेत्रगत दाह और शूल को नष्ट करता है।

---

१. अष्टांगुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्टिता।
अंगुष्ठपर्वसमिता वक्त्रयोर्मुकुलाकृतिः।
ताम्रायसी शातकुम्भी शलाका स्यादनिन्दिता॥

७. वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध क्षीर या काकोल्यादि प्रतीवाप से यथाविधि शृत घृत का सभी कर्मों या उपद्रवों में व्यवहार करना चाहिये।

८. यदि किसी प्रकार से या ऊपर के उपचारों से नेत्रगत शूल शान्त न हो सके तो स्नेहन, स्वेदन करके सिरा मोक्षण करना चाहिये। यदि इससे भी उपद्रव शान्त न हो तो शिरा का दाह करना चाहिये।[1]

प्रसादनाञ्जन—यदि शस्त्रकर्म सफल हो गया हो तो दस दिनों के बाद नेत्र का प्रसादन करने के लिये अञ्जनों का प्रयोग करना चाहिये। यथा—

१. मेषशृङ्गी, शिरीष, धव, चमेली इन सभी का फूल तथा मुक्ता और वैदूर्यमणि इन द्रव्यों को बकरी के दूध में पीस कर ताम्र के बरतन में एक सप्ताह तक रखे। फिर इसकी वर्त्ति (लम्बी पतली गोली) बनावे और नेत्रों में अञ्जन करे।

२. सौवीराञ्जन (सफेद सुरमा), प्रवाल, समुद्रफेन, मैनशिल और मरिच इनको पीसकर, पूर्ववत् वर्ति बना लेना चाहिये। इस अञ्जन का नेत्रों में अञ्जन करे। इन प्रसादन अञ्जनों का उद्देश्य दृष्टिशक्ति की स्थिरता बनाये रखना है।

—o—

१७

तिमिर, लिङ्गनाश-काच-मोतियाबिन्दु

(Opacities of Lens or Cataract)

मोतियाबिन्दु का विकार भारतवर्ष में एक बहुत प्रचलित रोग है। इसकी चिकित्सा में व्यवहृत होने वाला शस्त्रकर्म भी बड़ा आम आपरेशन हो गया है। इस हेतु प्रत्येक नेत्र वैद्य को उसके निकालने में निष्णात होना पड़ता है। यूरोप, अमेरिका प्रभृति शीतल देश के नेत्र-

१. शाम्यत्येवं न चेच्छूलं स्निग्धस्विन्नस्य भेषजम्।
ततः सिरां दहेद्वापि मतिमान् कीर्तितं यथा॥

चिकित्सकों से कई गुनी अधिक मात्रा में सामान्य भारतीय नेत्र वैद्य को यह शस्त्रकर्म करने का अवसर मिलता है। पूर्व के वर्णनों में प्राचीन आचार्यों की परिपाटी के अनुसार इस रोग की द्विविध चिकित्सा है १. औषध और २. शस्त्र, जिसका उल्लेख हो चुका है। यहाँ पर संक्षेप में आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार लिङ्गनाश के हेतु, लक्षण, चिकित्सा तथा शस्त्रकर्म का दिग्दर्शन इस पाठ का लक्ष्य है।

मोतियाबिन्दु की संज्ञा और प्रकार—जब काच बिन्दु पक जाता है तो वह पुतली के नीचे मोती जैसा दिखलाई पड़ता है और जब वह (दृष्टिमणि) बाहर निकाला जाता है तो मोती के रंग का और बिल्कुल चमकीला होता है, इसीलिये वह काच बिन्दु या मोतियाबिन्दु कहलाता है। भिन्न-भिन्न आधुनिक युग के नेत्र ग्रन्थों में इसके प्रकार, कथन या वर्गीकरण में भिन्न-भिन्न शैलियाँ ग्रन्थकारों ने अपनाई हैं। यहाँ पर एक सरल विभाजन नीचे दिया जा रहा है।

मोतियाबिन्दु–लिङ्गनाश (Cataract)

- प्रधान (Primary)
  - पूर्ण लिङ्गनाश (Total)
    - १. सहज (Congenital)
    - २. शैशवीय (Infantile)
    - ३. युवावस्थागत (Jevenile)
    - ४. जरा लिङ्गनाश (Senile Cataract)
    - ५. आघातज (Traumatic)
    - ६. मधुमेह जनित (Diabetic)
    - ७. कृष्ण काच (Black Cataract)
  - अपूर्ण लिङ्गनाश (Partial)
    - १. पूर्वमध्यस्थ (Anterior Polar)
    - २. पश्चात् मध्यस्थ (Posterior Polar)
    - ३. चिह्नमय (Punctate)
    - ४. चक्राकार (Zonular Lamellar)
    - ५. पश्चाद्वर्ति या गर्भगत (Posterior Cortical)
- औपद्रविक (Secondary)
  - १. दृष्टिमणि आवरणगत लिङ्गनाश (Capsular opacity)
  - २. उपद्रुत लिङ्गनाश (Complicated Cataract)

जरावस्थागत लिङ्गनाश या जरा लिङ्गनाश (Senile)—उपर्युक्त लिङ्गनाश के भेदोपभेदों में सब से अधिक पाया जाने वाला रोग

वृद्धावस्था में होने वाला लिङ्गनाश है। लिङ्गनाश के जितने रोगी भारतवर्ष में देखने को मिलते हैं उनमें ६६% इसी प्रकार से पीडित मिलते हैं। अतएव केवल इसी एक प्रकार के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख आवश्यक हो जाता है। साथ ही प्राचीन वर्णनों के साथ समन्वयात्मक अध्ययन भी एक ही के वर्णन से हो जाता है।

लक्षण और चिह्न—इसका एक ही लक्षण है तिमिर। रोगी की दृष्टि में क्रमशः न्यूनता लिङ्गनाश या मोतिया बिन्दु का प्रारम्भ दृष्टिमणि के जिस भाग में और जिस तरह होता है उसी के ऊपर दर्शन शक्ति या रूप ग्रहण की शक्ति की न्यूनता आधारित रहती है। यह न्यूनता दृष्टि-मणि की अपारदर्शकता के कारण होती है। इसी की प्राचीन संज्ञा दोषावस्थान भी सुश्रुत ने दी है। यथा—यदि अपार दर्शकता (दोषाव-स्थान) सूक्ष्म और अति मर्यादित हो तो दृष्टि शक्ति में विशेष बाधा नहीं आती। यदि अपारदर्शकता (दोषावस्थान) मध्य में हो तो दृष्टि को विशेष बाधा पहुँचती है। यदि अपारदर्शकता (दोषावस्थान) दृष्टि-मणि के परिधि प्रान्त में हो तो दृष्टि में विशेष न्यूनता नहीं आती, कचित् बिल्कुल बाधा नहीं पहुँचती।

दृष्टिमांद्य के अतिरिक्त मोतियाबिन्दु में पाया जाने वाला दूसरा लक्षण मिथ्यादर्शन भी है। जैसे दृष्टि के समक्ष स्थिर काले धब्बे का भासना। कई बार यदि मोतियाबिन्दु दृष्टि मण्डल के कुछ अंश में एक ओर हो और दृष्टि मणि का भाग स्वच्छ हो तो एक आँख से देखने पर रोगी को दो-दो भासता है। इस स्थिति को द्विधा दर्शन या एकाक्षि द्विधा दर्शन (Monocular Diplopia) कहते हैं।

अनेक मोतियाबिन्दु के रोगियों में प्रारंभिक अवस्था में यदि रोगी दूर दृष्टि वाला हो तो निकट दृष्टि हो जाती है। यदि रोगी की दृष्टि प्राकृतिक हो, पूरी दृष्टि वाली हो तो वह भी ह्रस्व दृष्टि वाला हो जाता है।

इन्हीं लक्षणों का विस्तृत वर्णन आचार्य सुश्रुत ने तिमिर नामक रोग से प्रथम, द्वितीय और तृतीय पटलाश्रित दोषावस्थानों में किया है—

यथा 'दृष्टि की विह्वलता' 'अव्यक्त रूप दर्शन', 'मक्षिका, मशक, केश, जालक, मण्डल, तम (अन्धकार) प्रभृति काली चीजों का भासना', 'दृष्टि इन्द्रिय का विभ्रम अर्थात् दूरस्थ को समीपस्थ और समीपस्थ को दूरस्थवत् देखना', 'ऊपर को देखना नीचे को न देख सकना', 'एक को द्विधा समझना', 'द्विधा को त्रिधा और बहुधा (अनेक) समझना' इत्यादि लक्षण लिङ्गनाश (Cataract) के पूर्वरूप में मिलते हैं।

मोतियाबिन्दु के बढ़ने से दृष्टि अधिकाधिक मंद होती जाती है। बाद में नेत्र के समक्ष वाले काले मण्डल, पदार्थ या धब्बे बिल्कुल नहीं भासते। द्विधा दर्शन (दो-दो की प्रतीति) भी दूर हो जाती है। शनैः शनैः मोतियाबिन्दु वाली दृष्टि बिल्कुल बन्द हो जाती है। फिर कोई भी वस्तु न प्रतीत होती और न दीखती है। रोगी मनुष्य को नहीं जान सकते या उसका आकार देख कर नहीं पहचान सकते। घर में भी टहलते हुए उसे हाथ का सहारा लेना पड़ता है। केवल अन्धकार और प्रकाश का ही बोध शेष रह जाता है।

उपर्युक्त ठीक इसी अवस्था का वर्णन आचार्य सुश्रुत ने अपने शब्दों में लिङ्गनाश की अवस्था में किया है। जब तिमिर वाला रोग बढ़ता हुआ चतुर्थ पटल में अवस्थित हो जाता है तो लिङ्गनाश की अवस्था उत्पन्न हो जाती है 'रोगी किसी भी बड़ी चीज को वस्त्र से ढके के समान देखता है।' 'कान, नाक, आँख को विकृत देखता है।' 'दृष्टि सर्वतोभावेन रुद्ध हो जाती है।' 'रोगी अन्धकारमय हो जाता है।' यदि रोग अतिरूढ नहीं हो तो प्रकाश और चमकदार चीज का ज्ञान हो जाता है, जैसे 'चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, विद्युत् आदि का'।

लिङ्गनाश की आधुनिक परीक्षा विधियाँ—१. यह परीक्षा अन्धकारमय प्रकोष्ठ या अन्ध प्रकोष्ठ में करनी चाहिये। तारक प्रसारक औषधियों में होमैट्रोपीन कोकेन, यूफ्थैलमिन हाइड्रोक्लोराइड या एफ्रण्ड्रीन सल्फेट में से किसी एक के निक्षेप से तारक (Pupil) को प्रसारित कर लेना चाहिये। नेत्र दर्शक यन्त्र (Opthalmoscope) से दृष्टिमणि की परीक्षा रोगी को आसन पर बैठाकर डेढ़ फुट की दूरी से की जाती है। दीपक

का प्रकाश रोगी की तारक पर डाले। इससे तारक (प्युपिल) लाल भासेगा। यदि तारक बिल्कुल रक्त वर्ण और स्वच्छ प्रतीत हो तो रोगी को मोतियाबिन्दु नहीं है यह निश्चित हो जाता है। यदि उस प्रकाशित भाग में काला धब्बा या धब्बे प्रतीत हों तो तीन अवयवों में से किसी से अपारदर्शकता होनी चाहिये। १. कृष्णमण्डल २. दृष्टिमणि ३. सान्द्र-द्रव (Vitreous Humaur) इन तीनों में से किसकी अपारदर्शकता है इसके निर्णय के लिये नेत्र वैद्य अपना सिर चलावे। यदि अपार-दर्शकता चलती प्रतीत हो तो वह किस ओर गति करती है यह ठीक से देख ले। सिर के चलने के विपरीत दिशा में गति हो तो अपारदर्शकता कृष्ण मण्डल में, स्थिर रहे तो दृष्टिमणि के आवरण के हिस्से में और समानदिशा में या साथ साथ गति हो तो दृष्टिमणि के बीच में या पिछले हिस्से में माने। यदि अपारदर्शकता चल हो अर्थात् जल में तैरती सी भासती हो अर्थात् स्वस्थान बदलती रहे तो वह सान्द्रद्रव (V. H.) में रहती है। लिङ्गनाश के लिये थोड़े शब्दों में कहा जाय तो इस प्रकार कहना होगा कि नेत्र वैद्य का सिर जिस दिशा में चलेगा, अपारदर्शकता भी उसी दिशा में चलेगी। उक्त रीति के अतिरिक्त स्लीट-लैम्प और कर्नियल लुप (कृष्णमण्डलेक्षण यन्त्र) से परीक्षा की जा सकती है। दृष्टिमणि अवस्थित सूक्ष्म अपारदर्शकता (दोषावस्था) विदित हो जाती है।

२. यदि दृष्टिमणि की अपारदर्शकता बहुत बढ़ी हुई अवस्था में हो, तो परीक्षा में बड़ी सरलता रहती है। खिड़की से आने वाले प्रकाश से परीक्षा करने पर तारक (Pupil) का रंग राख जैसा भासता है। अँधेरे कमरे (अन्ध प्रकोष्ठ) में तारक पर प्रकाश डालने से लिङ्गनाश का विन्दु साफ प्रतीत होता है। अपक्वावस्था में उसका वर्ण नीलवर्ण या काच जैसा भासता है और यदि लगभग पक गया हो तो तारक से सफेद भासेगा।

यदि मोतियाबिन्दु पकने के पश्चात् की स्थिति में होगा, तो वह देखने में परिवर्तनों के अनुसार होगा। यदि वह सफेद दूध जैसा हो तो उसे दूधिया मोतियाबिन्दु या श्लैष्मिक लिङ्गनाश (Milky Cataract)

कहा जा सकता है, यदि पकने के पश्चात् वह सफेद न बना हो तो तारक पीताभ ही भासता है और मोतियाबिन्दु काले रंग का या नील वर्ण का (Black Cataract) हो जाता है। तारक पर प्रकाश डालने पर वह प्रकाशित नहीं होगी, बल्कि अपारदर्शक रहेगी।

३. तीसरी परीक्षा लिङ्गनाश की पक्वापक्व अवस्था निर्णय के लिये की जाती है। आचार्य सुश्रुत ने भी लाक्षणिक दृष्टि से लिङ्गनाश की त्रिविध अवस्थायें मानी हैं, अरूढ या नातिरूढ़ (Immature), रूढ़ (Matured) तथा अतिरूढ़ (Hyper matured)।

यह परीक्षा लिङ्गनाश की पर्याप्त बढ़ी हुई अवस्था में की जाती है। इसके लिये + २० बहिर्गोल काँच से एक ओर से दीपक का प्रकाश तारक पर डाला जाता है। यदि बिन्दु अपक्वावस्था में है तो जिस ओर से प्रकाश आता है उस ओर के तारक के भाग में अर्द्धचन्द्राकार छाया प्रतीत होगी। इस छाया को तारामण्डल का प्रतिबिम्ब (Iris shadow) कहते हैं। जब तक पक्वावस्था नहीं आ जाती तब तक यह छाया बनती रहेगी। इस चिह्न से पक्वापक्वावस्था का निर्णय हो जाता है।

४. तारक प्रतिक्रिया (Reaction of pupil)—प्रकाश के भावाभाव से आकुञ्चन एवं प्रसारण।

५. प्रकाश दर्शन—दीपक का प्रकाश रोगी के तारक पर डालने से उसका ज्ञान होता है या नहीं?

६. प्रकाश प्रक्षेप (Light Projection)—दृष्टि वितान (Rteina) पर डाला हुआ प्रकाश ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर या पार्श्व से डालकर यह देखना कि रोगी को प्रकाश दिशा के ज्ञान की समर्थता है या नहीं।

जरालिङ्गनाश की विविध अवस्थायें—(4 Stages of Cataract)

१. प्रारंभिक अवस्था (Incipient stage) तिमिर (सुश्रुतीय संज्ञा)
२. अर्द्धपक्वावस्था (Intumescent cataract) नातिरूढ़ावस्था (,,)
३. पक्वावस्था (Mature cataract) रूढ़ावस्था (,,)
४. अतिपक्वावस्था (Hyper matured) अतिरूढ़ावस्था (,,)

उपर्युक्त चार अवस्थाओं को यदि सुश्रुतोक्त चार पटलों के दोषों में मान लिया जाय तो सुश्रुताचार्य का वर्णन आधुनिक वर्णनों के साथ पूर्णतया संगत प्रतीत होता है।

१. प्रारम्भिक अवस्था के भीतर वैज्ञानिक भी तीन और अवस्थाओं को मानते हैं—जैसे त्रिकोणाकारापारदर्शकता—इसमें रोगी की दृष्टि को कोई विशेष हानि नहीं पहुँचती और दृष्टिमणि का वर्ण पीताभ या कृष्णाभ होता है। धूम सदृश अपारदर्शकता—इसमें रोगी मलमल के कपड़े से ढके के समान या कुहरे से आच्छन्न के समान रूप को देखता है। मध्याह्न में कम दिखलाई पड़ता है (दिवान्ध्य) और प्रातः सायं कुछ साफ देखता है। दृष्टिमणि का वर्ण काला दीखता है। मण्डलाकार अपारदर्शकता—इसमें काले रंग के चक्र की धुरी के आकार के किरण निकलते हैं—मकड़ी के जाल का आकार भासता है। अङ्गुली सदृश अपारदर्शकता—प्रकाश डालकर देखने पर नेत्रदर्शक यन्त्र से दो मुद्रिका जैसी अपारदर्शकता दीखती है।

२. अर्द्धपक्वावस्था—दृष्टिमणि फूलता और अपारदर्शक हो जाता है, दृष्टि अतिशय मंद हो जाती है। लिङ्गनाश श्वेताभ भासता है।

३. पक्वावस्था—इस अवस्था में पहुँचने पर दृष्टि लगभग बन्द हो जाती है, मनुष्य को देखकर उसका आकार नहीं जाना जा सकता। नेत्र के समीप हाथ हिलाने से रोगी को उसका बोध होता है। पूर्ण दृष्टिमणि अपारदर्शक हो जाता है, उसका वर्ण श्वेताभ या पीताभ भासता है। तारक आकुञ्चन और प्रसारण प्रकाश की प्रतिक्रिया के अनुरूप होता है। मोतियाबिन्दु की यही स्थिति शस्त्रक्रिया के योग्य मानी जाती है एवं शस्त्रकर्म करने पर पूर्ण सफलता मिलती है।

यह अवस्था सुश्रुतोक्त श्लैष्मिक लिङ्गनाश से मिलती जुलती है और इसी अवस्था में आचार्य ने भी शस्त्रकर्म का उपदेश किया है। इतना ही नहीं, इसी अवस्था को साध्य भी बतलाया है।[1]

१. श्लैष्मिके लिङ्गनाशे तु कर्म वक्ष्यामि सिद्धये।
न चेदर्धेन्दुघर्माम्बुबिन्दुमुक्ताकृतिः स्थिरः ॥

अतिपक्वावस्था—यदि लिङ्गनाश न दूर किया जाय तो उसमें दिन प्रतिदिन परिवर्त्तन होता ही चलता है। यह परिवर्त्तन दृष्टिमणि के गर्भ-भाग (Cortex) में होता है। यदि उसके भीतर अवस्थित द्रव का शोषण होता चला जाय तो सब गर्भभाग दृष्टिमणि के केन्द्र के साथ मिलकर कठोर बन जाते हैं। साथ साथ बिन्दु भी छोटा हो जाता है। उसका रंग अधिक मलिन और पीत हो जाता है। जब मोतियाबिन्दु बहुत छोटा हो जाता है तो वह अपने बंधनों से मुक्त हो जाता है, जिससे काँपने लगता है। रोगी के ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर चलते मोतियाबिन्दु भी साथ साथ चलता रहता है। सुश्रुत ने इसी अवस्था का वर्णन 'चले दोषे स्थिरे वापि' शब्दों में किया है। अथवा 'चलत्पद्म-पलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः' शब्दों में किया है। यह शोषण क्रिया और आगे बढ़ती है, तो दृष्टिमणि का केन्द्र इतना छोटा हो जाता है कि सरक कर निम्न भाग में तारामण्डल के पीछे गिर जाता है। ऐसा होने पर दृष्टि पुनः खुल जाती है।

आचार्य सुश्रुत ने 'परिम्लायिकाच' का वर्णन ठीक इसी प्रकार का किया है—इसमें दृष्टिमण्डल म्लान और नील हो जाता है। इसमें कई बार दोष का क्षय होकर अपने आप रूप का दर्शन होने लगता है—'दोषक्षयात्स्वयं तत्र कदाचित्स्यात्तु दर्शनम्।'

यदि दृष्टिमणि का शोषण इतना अधिक न हो, अर्थात् सामान्य हो और मोतियाबिन्दु न निकाला जाय तो उसका पर्त्त आगे की ओर मोटा हो जाता है और कभी कभी उस पर सफेद बिन्दु उत्पन्न होते हैं। ये बिन्दु चूने जैसे क्षार से बनते हैं। बहुत से मोतियाबिन्दुओं में इस क्षार के स्थान पर मेदातु (Cholestrin) संचित होते हैं; इससे चमकीले कई वर्ण के बिन्दु काच में भासते हैं। इसी अवस्था का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने 'समस्तदोषप्रभवो विचित्रः' शब्दों में किया है।

यदि शोषण क्रिया न हो और पदार्थ द्रवरूप धारण कर ले तो वह

विषमो वा तनुर्मध्ये राजिमान् वा बहुप्रभः।
दृष्टिस्थो लक्ष्यते दोषः सरुजो वा सलोहितः॥

दिन प्रतिदिन गलने लगता है। फिर दृष्टिमणि के बीज के अतिरिक्त शेष कांच बिन्दु का भाग सफेद दूध जैसा प्रवाही बन जाता है। इस स्थिति में इसे दूधिया काँच या मार्गैनियन काँच (Milky or Marganian cataract) कहा जाता है। इस स्थिति में गर्भ पदार्थ दूध जैसे द्रव का रूप ले लेता है और उसके भीतर केन्द्र तैरता रहता है, रोगी नेत्र या सिर चलावे तो केन्द्र भी उसके साथ चलता है; यह नेत्र-वैद्य स्पष्ट देख सकता है।

इसी अवस्था का वर्णन सम्भवतः आचार्य सुश्रुत ने दोषानुसार राग-प्राप्त दृष्टिमण्डल के वर्णनों में किया है; उसमें उन्होंने लिखा है कि श्लेष्म दोष के कारण दृष्टि मणि का वर्ण 'शंख-कुन्देन्दुपाण्डुरं' हो जाता है। उसकी चंचलता इस प्रकार बढ़ जाती है जिस प्रकार कमल के पत्ते पर रखे हुए अस्थिर जल की बूँद—'चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः' अथवा नेत्र में गति होने पर उसमें भी गति होती है—'मृद्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति।'

यदि इस दूधिया बिन्दु को रहने दें तो वह उसी स्थिति में रह जाता है या प्रवाही पदार्थ शोषित होने लगता है और फिर अन्त में बीज ही शेष रह जाता है। यह बीजस्थली के भीतर तारामण्डल के पीछे पड़ा रहता है। यदि बिन्दु का पत्त अपारदर्शक न बना हो तो इस स्थिति में रोगी बिना कोई चिकित्सा कराये अपने आप देखने लग जाता है। ऐसे बहुत से रोगी देखने को मिलते हैं।

हेतु—जरा अवस्थागत लिङ्गनाश के कारणों का अभी तक ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है तथापि निम्नलिखित छः कारण ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं—

१. वृद्धावस्था जनित दृष्टि मणि और उसके आवरण में होने वाले परिवर्त्तन।

२. वृद्धावस्था के कारण सजल द्रव (A. H.) के मौलिक द्रव्यों में परिवर्त्तन।

३. प्रकाशाधिक्य—यह रोग ही उष्णकटिबन्ध का है। सूर्य की किरणों में से नील लोहित (Ultra violet) नेत्र के लिये हानिकर है।

४. उष्णताधिक्य—इनमें रक्तातीत (Intfa red rays) हानिप्रद है। भट्ठी में काम करने वालों (Glass blowers cataract) में इसी प्रकार का लिङ्गनाश होता है।

५. देहपोषक जीवनीय तत्त्वों या जीवतिक्ति द्रव्यों की न्यूनता।

६. शारीरिक अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्रावों की न्यूनता।

हेतुओं का वर्णन करते हुए आचार्य सुश्रुत ने दृष्टिगत रोगों में कई प्रकार के कारण बतलाये हैं। संक्षेप में नीचे कोष्ठकों में उनका उल्लेख किया जा रहा है।[1]

दृष्टिगत रोगोत्पादक या लिङ्गनाशोत्पादक कारण

- बाह्य
  - **सनिमित्त**
    - १. शिरोभिताप
    - २. विषसम्पर्क
    - ३. पुष्पसम्पर्क
    - ४. पुष्पगन्धसम्पर्क
    - ५. तेज वायु (इनमें अभिष्यन्दवत् लक्षण मिलेंगे और साध्य होंगे)
  - **अनिमित्त** (औपसर्गिक लिङ्गनाश)
    - १. देवर्षि, गन्धर्व, महासर्प इत्यादि के दर्शन से।
    - २. अत्यन्त चमकदार भास्वर पदार्थ के कारण (इसमें आँख बिल्कुल नैसर्गिक रहती है, वैदूर्य मणि के सदृश आभा रहती है, रोगी को आँख से दिखाई नहीं पड़ता, यह अवस्था असाध्य है। आजकल भी ऐसे लिङ्गनाश असाध्य बतलाये जाते हैं।
- अन्तः (दोषानुसार पटलों में अवस्थान के अनुसार) छः प्रकार
  - १. वातिक
  - २. पैत्तिक
  - ३. श्लैष्मिक
  - ४. रक्तज
  - ५. सन्निपातज (अभिघातज[2])
  - ६. संसर्गज (पित्तरक्त)

---

१ बाह्यौ पुनर्द्वाविह संप्रदिष्टौ निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च। निमित्ततस्तत्र शिरोभितापाज्ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनैश्च ॥ सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां संदर्शनेनापि च भास्वराणाम्। हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः ॥ तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥

वाग्भट ने इसी अवस्था को औपसर्गिक लिङ्गनाश की संज्ञा दी है।

२. विदीर्यते सीदति हीयते वा नृणामभीघातहता तु दृष्टिः। (सु० उ० ७)

उपचार—लिङ्गनाश (Cataract) में आधुनिक ग्रन्थों में दो प्रकार के उपचार बतलाये जाते हैं—

औषधोपचार

बाह्य या स्थानिक उपचार नेत्र में डालने या निक्षेप की ओषधियाँ

१. एट्रोपीन ($\frac{1}{8}$-$\frac{1}{2}$ ग्रेन एक औंस स्रुत जल) चार-चार दिन के अन्तर से छोड़ना ।
२. पोटाश आयोडायड (४–८ ग्रेन एक औंस) निक्षेप
३. सिनेरिया मेरिटिमा (Cineria Meritima)
४. पलाशमूलार्क
५. डायोनीन आइच्योतन
६. कुसीरोविडो आयडो कैल्शियम मलहर ।

आभ्यन्तर प्रयोग की ओषधियाँ

१. पौष्टिक आहार
२. कोष्ठ शुद्धि
३. निदान परिवर्जन
४. आयोडीन के प्रयोग कोलोजल आयोडीन, सोडा आयोडायड, पोटाश आयोडायड
५. राइबो फ्लैविन
६. चक्षुष्य द्रव्यों में जीवतिक्ति 'ए. बी. डी.' का प्रयोग ।

शस्त्रक्रिया (छः प्रकार की हैं।)

१. दृष्टिमणि के आवरण का लेखन (Discission)
२. दृष्टिमणि के आवरण का भेदन कर काच का आहरण (Cataract extraction with capsulotomy)
३. आवरण सह काच विन्दु के आहरण (Intra capsular extraction of Cataract.) की चार पद्धतियाँ हैं–स्मिथ, नेप, इलशिग्र और बाराकर आविष्कारकों के नाम पर ये संज्ञायें दी गई हैं ।
४. जरमैक की पद्धति अथवा दृष्टिमणि का नेत्र श्लेष्मावरण के नीचे से निकालना (Zermack's Sub conjuctival extraction of Lens)
५. काच को भीतर बैठाना या स्थानभ्रष्ट करना । (Couching of lens)
६. काच के आहरण के पश्चात् आवरण की शस्त्र क्रिया (Operation for Post operative Capsular opacity)
अ. आवरण भेदन (Needling)
आ. आवरण का आहरण (Removal of Capsule)

ऊपर लिखे कोष्ठक में आधुनिक नेत्र ग्रन्थों के आधार पर लिङ्गनाश की चिकित्सा लिखी गई है । यदि प्राचीनों के पूर्वकथित प्रतिषेधाध्याय पर ध्यान दिया जाय तो ऐसा ज्ञात होता है कि सिद्धान्ततः प्राचीन एवं अर्वाचीन चिकित्सा में मूलतः कोई भेद नहीं है । प्राचीनों ने भी पहले बाह्य और आभ्यन्तर उपचार और सफलता न मिलने पर शस्त्रोपचार

का साधन अपनाया है। शस्त्रोपचार के योग्य जो मोतियाबिन्दु की अवस्था वर्तमान पुस्तकों में मिलती है, वह अवस्था भी प्रायः सुश्रुतोक्त श्लैष्मिक लिङ्गनाश जैसी ही है—जिसमें शस्त्रकर्म का उल्लेख किया गया है।

सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्म का विवेचन—लिङ्गनाश या Cataract में सुश्रुत ने जिस प्रकार के शस्त्रकर्म का उल्लेख किया है वह एक बहुत ही व्यावहारिक क्रिया है। सीमित शब्दों में कर्म की व्याख्या होने से कई लोगों ने इसके कई अर्थ लगाये हैं, फलतः इसकी तुलना भी विभिन्न वर्त्तमान ग्रन्थों के शस्त्रकर्मों से की है। कुछ लोग इस क्रिया को 'कोचिङ्ग आफ दी लेन्स' बतलाते हैं, दूसरे 'नीडलिङ्ग' कहते हैं और कई लोग तो इसको बिल्कुल वर्त्तमान शस्त्रकर्म 'इन्टाकैपसयूलर एक्सट्रैक्शन आफ दी लेन्स' समझते हैं। अतः विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये पूर्वकथित पाठों का पुनः उल्लेख कर जो सबसे सम्मत ज्ञात होता है उसका उल्लेख किया जायगा। शस्त्रकर्म के दो अंग हैं—१. वेध २. लेखन।

'मतिमान् शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा ह्यपाङ्गतः।
उन्मील्य नयने सम्यक् सिराजालविवर्जिते ॥
नाधो नोर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः।
शलाकया प्रयत्नेन विश्वस्तं यववक्त्रया ॥

वेधन—यवमुखी शलाका के द्वारा ठीक दैवकृत छिद्र में जहाँ पर सिराजाल (Blood vessels) नहीं है वहाँ वेध करे। यह दैवकृत छिद्र नेत्र में कहाँ है यह देखना है। 'शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा ह्यपाङ्गतः' दो दो अपादानों का प्रयोग आता है 'अपाङ्गतः' और 'कृष्णात्'। इसमें पहले अपाङ्गतः का अर्थ डल्हणाचार्य के अनुसार अपाङ्ग के समीप में समझना चाहिये और 'कृष्णात्' का अर्थ कृष्णमण्डल से, वहाँ शुरू कर के शुक्ल भाग में अपाङ्ग (Outer canthus) की ओर चले दो भागों को छोड़ ठीक तीसरे भाग की सन्धि में वेध करे। सरल शब्दों में कहना हो तो ऐसा कहा जायगा कि अपाङ्ग से कृष्ण भाग तक की दूरी माप कर उसके तीन भाग करे। अपाङ्ग से प्रारम्भ होने पर प्रथम

तृतीय (⅓) के अन्त और दूसरे तृतीय के प्रारम्भ स्थल या सन्धि स्थल पर वेध करे। यह वेधन न नीचे, न ऊपर हो और न पार्श्व में अर्थात् न कृष्ण भाग के अति समीप या न अपाङ्ग के अति समीप हो। इन दोनों अवस्थाओं में उपद्रव होते हैं और नेत्र को हानि पहुँचती है। इस प्रकार यह वेधन का कर्म नेत्र श्लेष्मावरण के अधोभाग (Sub conjuctiva) में होता है। आचार्य वाग्भट ने भी इसी मत का समर्थन किया है 'कृष्णादर्धाङ्गुलं मुक्त्वा तथाऽर्धार्धमपाङ्गतः' आँख के कृष्ण भाग से आधा अंगुल छोड़ कर और अपाङ्ग से चौथाई अङ्गुल बचाकर शुक्ल भाग में वेध करे।

कुछ विद्वानों ने इसका खींचा तानी कर 'प्युपिल' अथवा 'स्क्लेरो-कार्नियलजंकशन' अर्थ करके वेध का स्थान उन्हीं स्थानों पर कहा है। परन्तु मूल तथा टीका अथवा वाग्भट के अनुसार यह युक्ति युक्त नहीं प्रतीत होता।

लेखन—'शलाकाग्रेण ततो निर्लिखेद् दृष्टिमण्डलम्' दृष्टि मण्डल गत कफ का लेखन करे। इस लेखन का कार्य उसी वेध की हुई शलाका के अग्र से करना चाहिये। जब लेखन की क्रिया हो जाय तो उस कफदोष को निकाले। कुछ तो शलाका के निकालने के साथ ही निकल आयेगा और अवशिष्ट उच्छिङ्घन (जोर से नाक साफ करने) से निकल आयेगा। यह कर्म निश्चित रूप से दृष्टिमणि के ऊपर इकट्ठे हुए दोषों का निर्लेखन करता है। ठीक इसी प्रकार का एक शस्त्रकर्म का वर्णन आधुनिक नेत्र ग्रन्थों में मिलता है, इसको कहते हैं दृष्टि मणि का लेखन (Dicision of the lens) यह भी मोतियाबिन्दु का एक अच्छा शस्त्रोपचार माना जाता है।

इसका वर्णन इस प्रकार है। कृष्ण मण्डल की परिधि से शलाका का प्रवेश कराके उसकी नोक को दृष्टि मणि के आवरण में प्रवेश कराते हैं फिर आवरण का लेखन अच्छी तरह से हो जाय इसलिये नोक को ऊपर नीचे कई बार फिराते हैं। इस शस्त्र-क्रिया के परिणाम स्वरूप दृष्टि मणि सजल द्रव के पूर्व खण्ड में प्रविष्ट हो जाता है, और फिर

शनैः शनैः वह गल जाता है और कनीनिका बिल्कुल काली हो जाती है। रोगी की दृष्टि प्रायः अच्छी हो जाती है।

सम्भवतः प्राचीनों का लिङ्गनाश वेधन और लेखन यही कर्म रहा हो। अर्वाचीन पद्धति में अन्तर इतना ही है कि वेधन का कर्म कृष्ण मण्डल (Cornea) की परिधि से किया जाता है और सुश्रुत ने सन्धि-स्थल को मर्म माना है इसलिये कृष्ण शुक्लगत सन्धि से वेधन न करके नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे (Sub conjunctival) से शलाका द्वारा वेधन करते हुए पूर्व कोष्ठ (Anterior chamber) में पहुँचा कर लेखन और जोर से नाक साफ करते हुए दोष को स्थानच्युत करने का विधान किया है।

इस प्रकार सुश्रुतोक्त लिङ्गनाश शस्त्रकर्म का अंग्रेजी में (Discission of Lens by subconjunctival Puncture) कहा जा सकता है।

वर्तमान शस्त्र कर्मों में से एक और ऐसी पद्धति है जिससे सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्म का बहुत कुछ मेल खाता है। वह है काच बिन्दु को हटाकर नेत्र श्लेष्मावरण से निकालना (Sub conjunctival extraction of Lens) इस शस्त्र क्रिया की खोज जरमैक नामक पाश्चात्य नेत्रवैद्य ने की थी। इस पद्धति में विधि पूर्वक श्लेष्मावरण में काट कर के एक कोटर जैसा (६ मि० मी० लम्बा और ४ मि० मी० चौड़ा) गर्त्त बना लिया जाता है, और फिर दृष्टि मणि के आवरणों को तोड़कर दो छोटे नाल यन्त्रों के सहारे एक से शुक्ल मण्डल के ऊर्ध्व किनारे पर दबाव डाल कर और दूसरे से निम्न किनारे पर दबाव डाल कर मोतियाबिन्दु के दाने को निकाल लेते हैं। पश्चात् नेत्र श्लेष्मावरण को ठीक करके यथास्थान बैठा देते हैं या एक दो टाँके लगा देते हैं।

इस क्रिया से श्लेष्मावरण का भेदन किया जाता है, वेधन (Puncture) नहीं। दूसरी बात यह है कि इस मार्ग से दृष्टि मणि सहज छिद्रन क्रिया से नहीं निकल सकता। बल्कि दोष निर्हरण के लिए

पर्याप्त बल देकर यन्त्र की सहायता आहरण में अपेक्षित है। अत एव यह सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्म नहीं हो सकता।

वर्त्तमान युग में अधिक व्यवहार में आने वाले दो ही शस्त्रकर्म लिङ्गनाश में विशेष प्रचलित हैं। आवरण सह काच का आहरण तथा आवरणव्यतिरिक्त काच का आहरण। इन दोनों क्रियाओं का अति संक्षेप में उल्लेख कर देना प्रासंगिक है।

शस्त्रोपचार के योग्य रोगी—रोगी की शारीरिक स्थिति अच्छी हो, उसे कास, श्वास, प्रतिश्याय, पाण्डु नहीं होना चाहिये। शस्त्रकर्म के पूर्व उसके मूत्र की परीक्षा शुक्ली और शर्करा के लिये करा लेना चाहिये। शस्त्र कर्म के लिये मूत्र में उनकी अनुपस्थिति आवश्यक है। दांतों में पूय का स्थान, कर्णस्राव, गर्भाशय शोथ आदि की अवस्था हो तो पहले इनके दूरी करण का इन्तजाम होना चाहिये।

नेत्र की स्थिति—नेत्र उपाङ्गों में कोई जीर्ण शोथ का केन्द्र हो तो उसको दूर करना चाहिये। सरल मार्ग यह है, कि रोगी के नेत्र का स्राव या कीचड़ लेकर उसकी नैदानकीय परीक्षा (Pathological test) अणुवीक्षण यन्त्र से करा लेनी चाहिये। यदि उसमें पूयजनक जीवाणुओं का अभाव हो और कुछ कुछ दिनों के अन्तर से तीन बार तक नास्त्यात्मक ही परीक्षा फल मिलता हो तो शस्त्रकर्म करे अन्यथा नहीं।

इसके अतिरिक्त कई अन्य बातों की परीक्षा आवश्यक होती है—नेत्रान्तर्गत भार, दृष्टि शक्ति, तारक की प्रकाश प्रति क्रिया, प्रकाश किरण की दिशा का बोध प्रभृति का भी ज्ञान कर लेना चाहिये।

पूर्व कर्म—शस्त्रकर्म प्रातः काल में किया जाना चाहिये। रोगी को रात्रि में हल्का खाना देकर विरेचन देना चाहिये। प्रातः काल शस्त्र कर्म के पूर्व एक आस्थापन देकर कोष्ठ शुद्ध करा देना चाहिये। रोगी का मुख साबुन और गर्म जल से खूब साफ कर देना चाहिये। रोगी के नेत्र में मर्क्युरोक्रोम डाल कर तथा पक्ष्म काट कर स्थानिक नेत्र की सफाई भी कर देनी चाहिये।

नेत्र निमीलनी पेशी का स्तम्भन—रोगी को शस्त्रागार में ले जा

कर सूची वेध के द्वारा नोवोकेन दो प्रतिशत का घोल बनाकर उसमें एड्रेनैलीन मिलाकर हनु संधि में ½ इञ्च नीचे और ½ इञ्च ऊपर की ओर सुई का प्रवेश (आधा इञ्च गहराई तक) कराके दवा का एक सी. सी. डाल देना चाहिये। पश्चात् वहाँ पर स्प्रिट लगाकर मसल देना चाहिये। पाँच से दस मिनट के भीतर पेशी स्तम्भित हो जायगी, नेत्र का निमीलन बन्द हो जायगा।

शस्त्र कर्म—रोगी को फलक (Operation table) पर लेटाकर उसकी आँखों का जीवाणुघ्न घोल से प्रक्षालन करें। कोकेन और एड्रेनैलीन की बूँदें डालें। नेत्र वैद्य रोगी के सिर के पास ही खड़ा रहता है। ग्राफे के शस्त्र को या लिङ्ग नाश वृद्धि पत्र को दाहिनी आँख में कर्म करते समय दाहिने हाथ में, बायीं आँख में कर्म करते समय बायें हाथ में पकड़ना चाहिये। यदि ऐसा संभव न हो तो दाहिनी आँख में कर्म करते हुए दाहिनी तरफ, बायें में कर्म करते हुए बाईं तरफ खड़ा होना चाहिये।

फिर गोलक को स्थिरता से पकड़कर कृष्ण मण्डल के बाहरी किनारे से शस्त्र को सजल द्रव के पूर्वखण्ड में प्रवेश कराके शस्त्र की नोक को दूसरी तरफ निकाले। शनैः शनैः स्थिर हाथ में शस्त्र को ऊपर की ओर चलावे और कृष्णमण्डल को काटते हुए ऊपरी किनारे तक काट दे। फिर यथावश्यक दृष्टि मणि के आवरण का भेदन करके दृष्टि मणि को निकाले या आवरण सहित दृष्टि मणि को ताल यंत्र के सहारे पीड़न करते हुए शनैः शनैः निकाल ले। फिर मरक्यूरोक्रोम या पेन्सिलीन की बनी बूंदों का एक दो बूंद नेत्र में डालकर नेत्र पर कवलिका रख कर व्रण बंध कर दे।

पश्चात् कर्म—रोगी को फल और दूध पर रखे। चौबीस घंटे तक उत्तान शयन करावे। मल, मूत्र का त्याग भी रोगी को बिस्तर पर लेटे ही लेटे करना चाहिये, इसके लिये वर्चः पात्र (Bed pan) और मूत्र पात्र रखना चाहिये।

चौबीस घंटे के बाद पट्टी को खोलकर नेत्र के उपाङ्गों की स्थिति

को देख कर एट्रोपीन और एड्रैनैलीन के बूंद छोड़े। फिर मर्क्युरोक्रोम की बूंद डाले। नेत्र की स्थिति संतोषजनक हो तो प्रतिदिन दिन में एक बार पट्टी खोलकर मर्क्युरोक्रोम की बूंद छोड़ना चाहिये। नौवें दिन पट्टी खोलकर हरी पट्टी या काला चश्मा देकर रोगी को छोड़ा जा सकता है।

शस्त्रक्रिया के २४ घंटे के बाद रोगी को एक करवट बदलने की अनुमति दी जा सकती है। ४८ घंटे के बाद दोनों ओर को करवट बदल सकता है। ७२ घंटे के बाद कुछ कुछ बैठे तो कोई क्षति नहीं होती। पाँचवें दिन रोगी कुछ कुछ चल फिर सकता है। भोजन में दो दिनों तक दूध, उसके बाद हलुआ, खिचड़ी, चावल आदि मुलायम चीजें दी जानी चाहिये।

एक डेढ़ मास के बाद रोगी को चश्मा देते हैं। यह एक संक्षेप में वर्त्तमान प्रचलित लिङ्गनाश के शस्त्रकर्म का उल्लेख है।

आचार्य सुश्रुत ने लिङ्गनाश के वेध में उपर्युक्त रीति से ही रोगी की परिचर्या या व्रणितोपासनीय आहार विहारों का उपक्रम किया है। दस दिनों तक निम्न प्रकार के नियमों का अनुष्ठान बरतना चाहिए—

१. घृत से नेत्रों का अभ्यंग करके वस्त्रपट्ट से बाँधना २. उत्तान शयन कराना ३. उद्गार, कास, क्षवथु, ष्ठीवन, उत्कम्पन आदि का परिहार करना ४. प्रति तीसरे दिन पट्टी खोलकर आश्च्योतन और स्वेदन करना।

आधुनिक ग्रंथों में दस दिन तक परिहार काल माना जाता है। शस्त्र कर्म के स्थल पर लालिमा रहती है वह धीरे धीरे अपने आप ठीक हो जाती है। परन्तु यदि उपद्रव उत्पन्न हुए तो अधिक समय लग जाता है और उनके (उपद्रवों के) उपचारों की भी आवश्यकता पड़ जाती है।

—०—

१८

दृष्टिगत अन्य रोग

(Other Defects of the Vision)

सुश्रुताचार्य ने दृष्टि के सम्बन्ध में होने वाले कुल बारह रोगों का उल्लेख किया है। उनमें छः प्रकार के लिङ्गनाशों का वर्णन हो चुका है। इस अध्याय में १. पित्तविदग्धदृष्टि २. श्लेष्मविदग्धदृष्टि ३. धूमदर्शी ४. ह्रस्वजाड्य ५. नकुलांध्य और ६. गम्भीरिका अवशिष्ट इन छः रोगों का वर्णन प्रासंगिक है।

पित्त विदग्ध दृष्टि—(Day blindness) विकृत हुआ पित्त दृष्टि में पहुंच कर दृष्टिमण्डल को पीत कर देता है, इस प्रकार का रोगी सभी पदार्थ को पीला देखता है। यदि दोष का अवस्थान तृतीय पटल में हुआ तो रोगी को दिन में दिखलाई नहीं पड़ता, केवल रात्रि में दिखलाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि रात्रि में शीत के कारण पित्त कम हो जाता है जिससे रोगी देख सकता है और दिन में पित्त का आधिक्य हो जाता है अतः नहीं देखता।[1]

इस रोग को संक्षेप में दिवांध्य या दिवांधता कहा जा सकता है। दिवान्धता (Day blindness) का तात्पर्य यह है कि रोगी के रूप-दर्शन की शक्ति धूमिल एवं मन्द या मलिन प्रकाश में स्वस्थ तथा स्वच्छ और तीक्ष्ण प्रकाश में मंद पड़ जाती है।

इस प्रकार की अवस्था या लक्षण आधुनिक दृष्ट्या कई विकारों में आ सकती है जैसे—

---

१. पित्तेन दुष्टेन गतेन दृष्टिं पीता भवेद्यस्य नरस्य दृष्टिः।
पीतानि रूपाणि च मन्यते यः स मानवः पित्तविदग्धदृष्टिः॥
प्राप्ते तृतीयं पटले तु दोषे दिवा न पश्येन्निशि वीक्षते च।
रात्रौ च शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत्॥

(१) दृष्टिमणि तथा कृष्णमण्डल की अपारदर्शकता-ऐसे रोगियों को धूमिल प्रकाश में अच्छा दीखता है, क्योंकि दृष्टिमणि के आवरण स्फीत होने से प्रकाश की किरणें उसके स्वच्छ भाग से प्रवेश करती हैं।

(२) जरालिङ्गनाश के धूमसदृश दृष्टिमणि की अपारदर्शिता प्रकार में भी इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं। रोगी को सभी चीजें कपड़े या ओस से ढके की भाँति दिखलाई पड़ती हैं। प्रातः सायं या ठंडे के समय में उसे ठीक दीख पड़ता है; परन्तु दोपहर को या अधिक प्रकाश में दृष्टि को प्रतिबंध मालूम पड़ता है।

(३) वर्ण बिन्दु सह दृष्टि वितान (Retinitis Pigmentosa) से पीड़ित रोगियों में पचास वर्ष की आयु के बाद मध्यस्थ मोतियाबिन्दु बनता है। ऐसे रोगी अधिक प्रकाश में कम देखते हैं। इन रोगियों में दो प्रकार की आपत्ति होती है—सायंकाल के बाद रात्रि में चलना कठिन होता है क्योंकि नक्तांध्य या रतौंधी होती है और दिन के अधिक प्रकाश में लिखने पढ़ने में कष्ट होता है क्योंकि दिवांध्य रहता है।

(४) दिवांध्य की अवस्था को यदि क्रमशः वर्द्धनशील अंधता मान लिया जाय तो इस वर्ग में विभिन्न प्रकार की अंधता (Amblyopia) का भी समावेश हो जायगा।[1] ये अंधतायें नेत्र की अज्ञात रोगजनित होती हैं।

श्लेष्मविदग्ध दृष्टि (नक्तांध्य) (Night Blindness)—'श्लेष्म दोष से विकृत हुई दृष्टि वाला व्यक्ति सभी चीजों को सफेद देखता है और जब दोष तीनों पटलों को व्याप्त कर लेता है तो नक्तांध्य या रात्र्यंधता की अवस्था उपस्थित हो जाती है—जिसमें सूर्यप्रकाश में या

१. अन्धता (Amblyopia) के भेद छद्म अंधता, मधुमेहज, सेन्द्रिय-विषज (Toxic), सहज, गर्भकालीनज, दन्तरोगज, मूत्रविषमयताजन्य, मस्तिष्कक्षोभज, वातक्षयज (Neurasthenic), अपतंत्रज तथा तिर्यक्दृष्टि-जन्य कुल ग्यारह प्रकार वर्त्तमान ग्रन्थों में मिलते हैं।

प्रकाश में तो रोगी को दिखाई पड़ता है, परन्तु रात्रि या अन्धकार में उसको भी नहीं दिखलाई पड़ता।[1]

आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर नक्तांध्य को एक लक्षण मात्र कहा जा सकता है। दृष्टिवितान के अपक्रान्ति कारक रोगों (Degenerative Disease of Retina) में इस प्रकार की अवस्था का होना सम्भव है। खास कर दृष्टिवितानगत रङ्गबिन्दुओं के क्षय में यह होता है। परन्तु हमेशा यह होना आवश्यक नहीं है, कई बार यह रोग नेत्रगत परिवर्त्तनों के अभाव में भी हो सकता है। जैसे दृष्टिवितान की संज्ञाहीनता, पोषक पदार्थों की तथा जीवतिक्ति द्रव्यों (Vit. A. B & D) की कमी, रक्ताल्पता और पाण्डुरोग। ये सभी नक्तांध्य की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

वर्त्तमान ग्रन्थों में अपक्रान्तिकर दृष्टिवितान के रोगों में चार रोग आते हैं।

१. वर्णबिन्दुसहदृष्टिवितानशोथ (Retinitis Pigmentosa)
२. श्वेतबिन्दुसहदृष्टिवितानशोथ (Retinitis punctata Albesceus)
३. अन्धतासहपारिवारिकमूढता (Amaurotic Family Idiocy)
४. मध्यस्थदृष्टिवितान अपक्रान्ति (Retinal Degeneration)

इन चारों अवस्थाओं में प्रथम और द्वितीय नक्तांध्य का एक प्रधान लक्षण है। इनमें वर्णबिन्दुसहदृष्टिवितानशोथ एक पारिवारिक रोग है, नक्तांध्य कुटुम्ब के एकाधिक व्यक्तियों को होता है। इस रोग का प्रारम्भ प्रायः छोटी आयु में ही होता है जैसे जैसे आयु बढ़ती जाती है। वैसे वैसे दृष्टि कम होती जाती है। और रोग बढ़ता चलता है तथा धुन्धले प्रकाश में या सन्ध्या काल के बाद दृष्टि में सामान्य बाधा

१. तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिस्तान्येव शुक्लानि हि मन्यते तु। त्रिषु स्थितोल्पः पटलेषु दोषो नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य ॥ दिवा स सूर्यानुगृहीतचक्षुरीक्षेत रूपाणि कफाल्पभावात्। (सु. ए. ९)

पहुँचने लगती है। रोग के बढ़ जाने पर रात्रि में बिल्कुल नहीं दिखलाई पड़ता। लगभग पैंतीस वर्ष की आयु में रोग इतना बढ़ जाता है कि रोगी रात्रि के समय बिल्कुल बाहर निकल ही नहीं सकता। क्रमशः बढ़ने से वृद्धावस्था में मोतियाबिन्दु हो जाने पर रोगी अन्धा हो जाता है।

हेतु—इस रोग का ठीक कारण अभी ज्ञात नहीं है—यह वंशज या पारिवारिक विकार है, माता पिता के रज-वीर्य दोष ही इसके कारण हो सकते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने दूसरा कारण सगोत्र सम्बन्ध बतलाया है परन्तु यह भी ठीक नहीं ज्ञात होता, क्यों कि भारतवर्ष की आर्य जाति में जिसमें सगोत्र विवाह होता ही नहीं उसमें भी यह रोग मिलता है अत एव इसका कोई ठीक कारण नहीं दिया जा सकता।

आचार्य वाग्भट ने प्रकोपक कारणों में 'गरमी से सन्तप्त होकर एक दम शीतल जल में अवगाहन करना' एक कारण बतलाया है जिससे शारीरिक ऊष्मा सिर पर चढ़ कर रतौंधी पैदा करता है।[1]

उपचार—इस रोग की कोई विशेष चिकित्सा आधुनिक ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होती। सोडियम थायोसल्फेट ४% घोल का आधा सी० सी० नेत्रगोलक के पिछले हिस्से में प्रति सप्ताह सूचीवेध के द्वारा दिया जाता है।

यदि पोषण या जीवतिक्ति द्रव्यों की न्यूनता के कारण से नक्तांध्य होता है तो उसकी पूर्ति करने के लिये जीवतिक्ति 'ए' योगों का प्रयोग हितकर होता है। आजकल 'ग्लैक्सो कंपनी' का 'एडैक्सैलीन' मुख से देने पर तथा 'प्रिपेलीन' का पेशी मार्ग से सूचीवेध करने पर लाभ होता है। अन्य जीवतिक्ति 'ए' योग लाभप्रद रहते हैं। भोजन में दूध और अण्डे का व्यवहार करते हैं।

१. उष्णतप्तस्य सहसा शीतवारिनिमज्जनात्।
त्रिदोषरक्तसम्पृक्तो यात्यूष्मोर्ध्वं ततोऽक्षिणि। (अ. उ. १२)

दिवांध्य और नक्तांध्य का सुश्रुतोक्त प्रतिषेध—

सामान्य चिकित्सा—पित्तविदग्धदृष्टि में पित्तहर चिकित्सा और श्लेष्मविदग्ध दृष्टि में श्लेष्महर चिकित्सा करनी चाहिये। उन उन अधिकारों में पठित नस्य, सेक, अंजन, लेप, पुटपाक, तर्पण प्रभृति समग्र उपक्रमों का व्यवहार करना चाहिये; परन्तु सिरावेधविदग्ध दृष्टियों में नहीं करना चाहिये। इनमें पित्तविदग्ध दृष्टि में त्रिफला घृत का आभ्यन्तर प्रयोग, श्लेष्मविदग्ध दृष्टि में त्रिवृत् घृत का प्रयोग और दोनों में तैल्वक घृत का प्रयोग पीने के लिये करना चाहिये। यदि यह घृत उपलब्ध न हो तो दोनों में केवल पुराण घृत का ही सेवन करावे। पश्चात् रोगी को वमन कराना चाहिये। इन उपचारों से विदग्ध पीड़ित रोगी का अन्तःपरिमार्जन होता है।[1]

बहिःपरिमार्जन के लिये—*गैरिकादि अंजन*—(गेरू, सैन्धव, पिप्पली, गोदन्त की कज्जली) या *गोमांसाद्यंजन*—(गोमांस, मरिच, शिरीष एवं मैनशिल से बने अंजन) या *वृन्ताञ्जन*—(कैंथ का वृन्त और मधुर से बना) या *स्वयंगुप्ताञ्जन*—(केवाँच के फल और मधु से बना अञ्जन) इन चारों अञ्जनों का दोनों अवस्थाओं में प्रयोग करना चाहिये।

कुब्जकाद्यंजन—कुब्जक (कूजा), अशोक, शाल, आम, प्रियंगु, रेणुका बीज, पिप्पली, हरीतकी, आमलकी इनसे बने चूर्ण को घृत और मधु में मिलाकर बांस की नाडी (चोंगे) में भर कर रखे। पित्त और श्लेष्म दोनों प्रकार की विदग्ध दृष्टियों में इसका अञ्जन करना लाभप्रद होता है।

हरेणुकाद्यंजन—रेणुका बीज को लेकर आम और जामुन के फूल के रस में भावित करके पीस कर उसमें घृत और मधु मिला कर अञ्जन

१. दृष्टौ पित्तविदग्धायां विदग्धायां कफेन च।
पित्तश्लेष्महरं कुर्याद्विधिं शस्त्रक्षतादृते ॥
नस्यसेकाञ्जनालेपपुटपाकैः सतर्पणैः।
आद्ये तु त्रैफलं पेयं सर्पिस्त्रैवृतमुत्तरे।
तैल्वकं चोभयोः पथ्यं केवलं जीर्णमेव वा॥ (सु. उ. १७)

करना अथवा *नलिन्यंजन*—ईषद् रक्त कमल, नील कमल, केसर, गैरिक इन द्रव्यों को गाय के गोबर के रस में (या गाय के यकृद् के रस में) भावित कर अञ्जन करना दिवांध्य और रात्र्यंध दोनों में हितकर है।

विशिष्ट चिकित्सा—पित्तविदग्धदृष्टि या दिवांध्य में—

रसांजनाद्यंजन—रसांजन, चमेली के पत्ते का रस, मधु, तालीशपत्र, सुवर्ण गैरिक, को गोबर के रस में भावित कर अंजन करना।

काश्मर्याद्यंजन—गम्भारी का फूल, मुलैठी, रसौंत, लोध्र, देवदारु, इन द्रव्यों का मधु से अंजन करना।

सैन्धवाद्यंजन—सैन्धव, मूंग का बीज, त्रिकटु, अंजन, हल्दी, आमा हल्दी, गोयकृद्, चन्दन इन द्रव्यों से बनी गुटिका का अंजन दिन में न दिखलाई पड़ने वाले रोगियों में व्यवहार करे।

कर्पूराद्यञ्जन—कपूर और सौवीरांजन को पीस कर जानवरों और पक्षियों के मांस रस में भावित कर, कूर्म (कछुवे) या रोहित मछली के पित्त से भावना देकर अञ्जन बना कर रख ले। इस अञ्जन का नेत्रों में प्रयोग करना चाहिये।

रात्र्यन्ध के विशिष्ट योग—स्रोतोञ्जनादि-स्रोतोंजन, सैन्धव, पिप्पली, रेणुका इन द्रव्यों को अजामूत्र से पीस कर अञ्जन करना रात्र्यंधता (रतौंधी) में हितकर है।

तगराद्यञ्जन—तगर, पिप्पली, सोंठ, मुलैठी, तालीशपत्र, दोनों हल्दी, मुस्ता इन द्रव्यों को यकृद् रस में भावित कर वर्ति बना कर छाया में सुखा कर रख लेना चाहिये। इसका अञ्जन रतौंधी में हितकर है।

मनःशिलाद्यञ्जन—मैनशिल, हर्रे, त्रिकटु, बला, तगर, समुद्रफेन इन द्रव्यों को बकरी के दूध में पीस कर वर्ति बना कर अञ्जन करना चाहिए।

क्षुद्रांजन या रसक्रियांजन—गोमूत्र, गोपित्त, मदिरा (पिष्टसुरा), यकृद् और धात्री रस को पीस कर गाढ़ा कर लेना अथवा यकृद् और त्रिफला काथ की बनी रसक्रिया अथवा गोमूत्र, गोघृत, समुद्रफेन, पिप्पली, कायफल, सैन्धव और मधु को एक में मिलाकर गाढ़ा करके रसक्रिया कर लेनी चाहिए। इन रसक्रियाञ्जनों को बाँस के बने गह्वर

में रखने का विधान है। इनमें से किसी एक का अञ्जन रतौंधी में लाभप्रद होता है।

अजामेदाञ्जन—बकरी की चरबी, घृत और कलेजी (तीनों चीजें बकरी की ही हों) इन द्रव्यों में आँवले का स्वरस डालकर रस क्रिया करके खैर की लकड़ी के बने बर्त्तन में रखना चाहिये। यथावश्यक रात्र्यंध के रोगियों को इसका अञ्जन करना चाहिये।

हरेण्वाद्यंजन—हरेणु, पिप्पली बीज, इलायची, यकृत् इन द्रव्यों को पीस कर यकृत् के रस में ही घिस कर नेत्रों में अञ्जन करना श्लेष्म-विदग्ध दृष्टि या नक्तांध्य में हितकर है।

गोधायकृदञ्जन—गोधा (गोह) का यकृत् लेकर उसको चीर कर उसके भीतर पिप्पली भर कर उस पर कपड़मिट्टी करके मन्द आंच पर पकावे (डल्हण के मत से तीन दिन तक पकावे) पुनः उस स्विन्न पिप्पली का अञ्जन करने से निश्चित रूप से नक्तांध्य चला जाता है—ऐसी सुश्रुत की मान्यता है।[1]

छागयकृदञ्जन—उपर्युक्त विधि से ही बकरी के यकृत् में स्विन्न पिप्पली का अञ्जन भी इसी प्रकार श्लेष्म विदग्ध दृष्टि या नक्तांध्य में लाभप्रद है।[2] इसके एक ही अञ्जन से रतौंधी नष्ट होती है।

यकृत्प्लीहाञ्जन—गोधा और बकरी दोनों के प्लीहा और यकृत् काट कर उसको घृत और तेल में चुपड़कर शूलपाक विधि से पाक करके रख ले। सर्षप तैल में घिस कर उसका अंजन करने से नक्तांध्य निश्चित रूप से नष्ट हो जाता है।

कुछ मुष्टियोग—१. पिप्पली को गाय के दधि में या गोमूत्र में या

१. विपाच्य गोधायकृदर्धपाटितं सुपूरितं मागधिकाभिरग्निना। निषेवितं तद्यकृदञ्जनेन निहन्ति नक्तान्ध्यमसंशयं खलु ॥

२. तथा यकृच्छागभवं हुताशने विपाच्य सम्यङ्मगधासमन्वितम्। प्रयोजितं पूर्ववदाश्वसंशयं जयेत् क्षपान्ध्यं सकृदञ्जनान्नृणाम् ॥ (सु. उ. १७)

निराकरोति नक्तान्ध्यं सगोमयरसा कणा। यथा रतेन रमणी रमणस्य महाबलम् ॥ (वै. जी.)

गोबर के रस में घिस कर अंजन करना २. अमावट खाना ३. नेनुआ की पत्ती का रस और धारोष्ण दूध का प्रातःकाल खाली पेट में सेवन करना ।

धूमदर्शी (Glaucoma)—'शोक, ज्वर, आयास (परिश्रमाधिक्य), शिरोभिताप (शिरःशूल) प्रभृति कारणों से जिस व्यक्ति की दृष्टि अभिहत हुई है वह सभी पदार्थों को कुहरे से आच्छन्न या धूम से ढका हुआ देखता है। उस अवस्था को धूमदर्शी कहते हैं। यह साध्य पित्तज विकार है।'[1]

'धुवाँ जैसा देखना' यह एक ऐसा लक्षण है जो अनेक रोगों में मिल सकता है परन्तु अधिमन्थ या ग्लौकोमा के लक्षणों से यह बहुत कुछ मिलता जुलता है। 'ग्लौकोमा' की अवस्था में भी शिरःशूल (शिरोभिताप), दृष्टिमांद्य, नेत्रों के सामने बादल सा लगना इत्यादि लक्षण मिलते हैं—ठीक उपचार न होने पर अन्त में पूर्णान्धता भी आ जाती है।

वाग्भट ने अपनी संहिता में धूमदर्शी का वर्णन 'धूमर' नाम से किया है।

प्रतिषेध—पुराण घृत का पान, विरेचन तथा रक्तज और पित्तज अभिष्यंद या अधिमंथवत् सिराव्यध, सेक पुटपाक, आश्च्योतन, अंजन और नावन प्रभृति उपचारों और योगों को वरतना चाहिये। तथा अन्य भी पैत्तिक विसर्प की चिकित्सा करनी चाहिये।[2]

अंजन—गोबर का रस, गोदूध, गाय के घी में बने स्वर्णगैरिक तालीशपत्र आदि की रसक्रिया द्वारा अंजन धूमर रोग में लाभप्रद है।

ह्रस्वजाड्य—(Night Blindness.) 'यह एक ऐसा विकार है जिसमें रोगी दिन में बड़ी कठिनाई से देखता है और प्रकृत वस्तु

१. शोकज्वरायासशिरोभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः ।
सधूमकान् पश्यति सर्वभावांस्तं धूमदर्शीति वदन्ति रोगम् ॥

२. युञ्ज्यात्सर्पिर्धूमदर्शी नरस्तु शेषं कुर्याद्रक्तपित्ते विधानम् ।
यच्चैवान्यत् पित्तहृच्चापि सर्वं यद्वीसर्पे पैत्तिके वै विधानम् ।

के आकार से उनको छोटा करके देखता है।"[1] विदेह के वचन से यह नक्तांध्य का ही एक भेद है क्योंकि इनका वचन है कि 'नक्तांध्य जो चार प्रकार के कहे गये हैं उनमें नकुल और ह्रस्वजाड्य दो असाध्य हैं।'[2] ऊपर के सूत्र का अर्थ इस प्रकार लगाया जाता है कि दिन में देखता है परन्तु रात में बिल्कुल ही नहीं देख पाता। दिन में तो ह्रस्व जाड्य का रोगी किसी भाँति कठिनाई से कुछ देख भी लेता है परन्तु रात में बिल्कुल ही नहीं देख पाता।

अनुमानतः यह रोग 'रेटिनाइटिस पिगमेण्टोजा' ही है जिसमें 'कैटरेट' या 'सेण्ट्रल ओपैसिटी' बन रही हो जिससे दिवांध्य और नक्तांध्य दोनों की ही संभावना रहती है।

प्रतिषेध—यह चतुर्थ पटलाश्रित पित्तज रोग है, और यह असाध्य है, अस्तु, प्राचीन ग्रंथों में इसकी चिकित्सा नहीं दी गई है।

नकुल दृष्टि या नकुलांध्य[3] (Night Blindness)—'दोषाभिपन्न (तीनों दोषों से व्याप्त) जिसकी दृष्टि नकुल के समान चमकती है और दिन में चित्र विचित्र रूपों को देखता है तथा रात को बिल्कुल नहीं देखता।' यह रोग भी नक्तांध्य का ही एक भेद है और त्रिदोषज होने से असाध्य माना जाता है। अतएव आचार्यों ने इसकी कोई चिकित्सा भी नहीं लिखी है।

गंभीरिका—(Paralysis of Sixth carnial Nerve) 'यह एक वातिक रोग है। वातोपसृष्ट नेत्र के होने से दृष्टि विरूप या विकृत हो जाती है-उसमें संकोच (छोटा होना) होता है और नेत्र भीतर को

---

१. यो ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्रात् ह्रस्वाणि रूपाणि च येन पश्येत्।
(सु. उ. १७)

२. नक्तमन्धास्तु चत्वारो ये पुरस्तात् प्रकीर्तिताः।
तेषामसाध्यो नकुलो ह्रस्वजाड्यस्तथैव च॥

३. विद्योतते येन नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत्।
चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः॥

प्रविष्ट हो जाते हैं-इसमें नेत्र में बड़ी तीव्र पीड़ा होती है इस रोग को तज्ज्ञ लोग गम्भीरिका कहते हैं।"[1]

इस प्रकार की अवस्था नेत्र की चालक पेशियों के स्तंभ या आक्षेप के कारण अथवा उनके नियामक नाड़ी सूत्रों के बंद हो जाने के कारण उत्पन्न हो सकती है। मस्तिष्कगत छठी नाड़ी बाह्या सरला पेशी से संबद्ध है अतः जब यह नाड़ी विकृत या व्याधिग्रस्त होती है तो पेशी स्तंभित हो जाती है। गोलक भीतर की ओर खिंचता है। रोगी को व्याकुलता बहुत रहती है चक्कर आता है। नेत्र गोलक के भीतर की ओर खिंच जाने की अवस्था कई कारणों से हो सकती है—स्तंभ (Spasm of the muscle), आक्षेप (Convulsion of the muscle as in Tetanus or Meningitis etc) अथवा छठी मस्तिष्का नाड़ी का घात या वध (Paralysis) सुश्रुत ने संभवतः इस तीसरी स्थिति का ही वर्णन 'गम्भीरिका' नामक रोग से किया हो।

प्रतिषेध—प्राचीनों ने इसको असाध्य मानकर इसकी चिकित्सा नहीं दी है।

१९

नयनाभिघात तथा प्रतिषेध

(Injuries of the orbit and treatment)

परिचय—अभिघात शब्द का अर्थ होता है चोट लगने से वेदना प्रभृति उपद्रव। नेत्रों में ऐसा अभिघात दो कारणों से हो सकता है-मूर्त्त या रूपवान पदार्थ जैसे दण्ड के द्वारा और अमूर्त या रूपहीन पदार्थ भय शोक आदि के द्वारा। इन कारणों का संग्रह करते हुए विदेह ने लिखा है—'तीक्ष्णांजनों के प्रयोग, वायु, धूप, धूम, धूलि,

१. दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा संकुच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति। रुजावगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥ (सु. उ. ७)

कीट, मक्खी, मच्छर आदि के नेत्र में गिरजाने से या दण्डादि की चोट या रगड़ से, जलक्रीड़ा, जागरण, लंघन, कूदना प्रभृति अपचारों से अथवा श्रम, क्लम, भय, शोक प्रभृति मानसिक कारणों से अथवा सूर्य, अग्नि, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र प्रभृति अति प्रकाशयुक्त द्रव्यों के अति देखने से दुर्बल नेत्रों को अभिघात (चोट) पहुँचता है जिससे नेत्रों में दाह, राग, पाक, तोद, शोफ और घर्ष प्रभृति वेदनायें होती हैं ।'

अमूर्त्त अभिघातों में सुश्रुत ने दिव्यपुरुष, देवर्षि, गंधर्व तथा दिव्य सर्प, सूर्य, विद्युत् प्रभृति भास्वर द्रव्यों को भी नयनाभिघात का हेतु माना है । इन कारणों से अनिमित्तज लिङ्ग नाश होकर दृष्टि सहसा नष्ट हो जाती और मनुष्य अंधा हो जाता है । इनमें सहसा Maculo-cerebral Degeneration होकर दृष्टि नाश होता है ।[1]

लक्षण—सामान्यतया सद्यः अभिघात होने से नेत्र में संरम्भ (शोफ), लालिमा (रक्ताधिक्य या रक्तस्राव) होती है और सभी प्रकार के अभिघातों में पीड़ा होती है । परन्तु अभिघात की मात्रा के अनुपात में इन लक्षणों की तीव्रता अधिक या कम हो सकती है । उदाहरण के लिये यदि चोट के कारण विकृति कम हुई हो अर्थात् किंचित् अभिघात हो तो लक्षण अल्प होंगे और चिकित्सा भी सरल होगी । परन्तु यदि अभिघात सांघातिक हुआ और उसमें नेत्र गोलक कोटर के बाहर निकल आया (बहिर्निर्गतनयन) अथवा अक्षि कोटर में धँस गया (अति प्रविष्ट नेत्र) हो तो नेत्र की हानि अधिक होगी और चिकित्सा भी कृच्छ्रसाध्य या असाध्य हो जायगी ।

आधुनिक प्रविचार—यदि उपर्युक्त नयनाभिघात के कारणों का विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि नेत्रगृह के हानिप्रद दो कारण गिनाये गये हैं—

१. भय, शोक, क्रोध आदि । जिनका प्रत्यक्षतया नयनाभिघात में कोई वश नहीं दीखता, अत एव इनके द्वारा नयनाभिघात (Injuries

१ सुरर्षिगंधर्वमहोरगाणां संदर्शनेनापि हि भास्वराणाम् । हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य सलिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः । सु ३-७

to orbit) जीर्ण स्वरूप का होगा। इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले नयनाभिघातों में अति प्रविष्ट नेत्र (Enopthalmos) वातनाड़ियों के घातजन्य (Paralysis of the III Cranial and sympathetic Nerves) समझना चाहिये तथा बहिर्निर्गतनयन (Exopthalmos), गोलक की वृद्धि, नेत्रगृह (Orbit) का संकीर्ण होना तथा नेत्रगृह के अर्बुद, नेत्रगृह में स्थानावरोध होना प्रभृति कारणों से हो सकता है।

२. दूसरे प्रकार का नयनाभिघात आकस्मिक कारणों से संभव है जिसमें यंत्र या शस्त्रों के द्वारा नेत्र पर चोट पहुँचाई जाय। इन प्रहारों का प्रत्यक्षतया नयनाभिघात में (Accidental injuries to the orbit) हाथ रहता है।

इस अवस्था में चोट की वजह से वर्त्म शोथ युक्त (संरम्भवान्) हो जाते हैं। दृष्टि बंद हो जाती है। इस प्रकार दृष्टि के बंद होने का कारण गोलक या दर्शन नाड़ी (Optic Nerve) को धक्का लगना ही होता है। कई बार दृष्टिनाड़ी जिस स्थान पर निकलती है वहाँ पर नेत्र गृह के भीतरी द्वार की अस्थि के टूटने पर भी दृष्टि बंद (हतदृक्) हो जाती है। बाहर की चोट से कई बार भ्रू के नीचे से निकलनेवाली वात नाड़ी के कट जाने से दृष्टि बन्द हो जाती है। इस प्रकार के अभिघात से नेत्रगृहगत मांस पेशियों को चोट लग जाने से वे स्तंभित या नष्ट होकर क्रियाहीन हो जाती हैं। कई बार अस्थि का भेदन होकर चोट मस्तिष्क तक पहुँचती है इसी से रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। कई बार अभिघातों में शल्य प्रवृष्ट हो जाते हैं और नेत्रगोलक को बाधा पहुँचाते हैं। इन अभिघातों के कारण नेत्र के यावतीय अवयव, अंग और उपाङ्ग नष्ट हो सकते हैं जिससे नेत्र पिच्चित, अवसन्न, च्युत या स्रस्त हो जाते हैं।

नेत्रगृह में रक्तस्राव (Haemorrhage in the orbit)—नेत्रगृह पर चोट लगने से या शस्त्र लगने से रक्तस्राव हो जाता है। इससे कुछ रक्त नेत्र श्लेष्मावरण के नीचे भी आता है, जिससे पूरा गोलक काले लाल रंग का हो जाता है। पलक के ऊपर शोथ होकर वह भी

काला और लाल बन जाता है और तीव्र वेदना होती है तथा प्राचीनोक्त नयनाभिघात के सम्पूर्ण लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

नेत्रगृह में रक्तस्राव, अभिघात या आगन्तुक कारणों के अतिरिक्त कारणों से भी होता है। जैसे गलगण्ड, शीतला, रक्त का पतलापन, कुकास (Whooping Cough), वृद्धावस्था जन्य धमनी दाढर्य (दृढ़ता या कठिनता)।

इसी प्रकार आकस्मिक अभिघातों के कारण भी बहिर्निगत नेत्र और अति प्रविष्ट नेत्र प्रभृति उपद्रवों का होना सम्भव है।

नयनाभिघात प्रतिषेध—अभिघात में दो प्रकार की चिकित्सा का क्रम रखना आवश्यक है। १. तात्कालिक उपचार २. परवर्त्ती या उत्तरोपचार।

तात्कालिक—उपचारों में पित्त और रक्तदोषशामक अर्थात् शीतल उपचारों को नेत्राभिघात (Injuries to the orbit) में करना चाहिये। इसमें नस्य, लेप, परिषेक, तर्पण, प्रभृति स्थानिक तथा दृष्टि प्रसाद जनक आभ्यंतिरक उपचार तथा पथ्य रखना चाहिये। इसके लिये स्निग्ध, शीत तथा मधुर प्रयोगों को काम में लाना चाहिये। यह क्रम एक सप्ताह तक दोनों प्रकार के अभिघातों (मूर्त्त या अमूर्त्त) में रखना चाहिये।

इसके पश्चात् अर्थात् एक सप्ताह के बाद दोषों को विवेचना करके तदनुकूल अभिष्यन्द की चिकित्सा करनी चाहिये।[1]

ईषद् नयनाभिभात की चिकित्सा—यदि नेत्र पर मामूली चोट हो तो मुँह की भाप (आस्यवाष्प) के स्वेदन से ही अल्प काल में रोगी का नेत्र स्वस्थ हो जाता है।

अतिप्रविष्टनेत्र चिकित्सा—नेत्र यदि बाह्याभिघात से भीतर धँस गया

१. अभ्याहते तु नयने बहुधा नराणां संरम्भरागतुमुलासु रुजासु धीमान्।
नस्यास्यलेपपरिषेचनतर्पणाद्यमुक्तं पुनः क्षतजपित्तजशूलपथ्यम्॥
दृष्टिप्रसादजननं विधिमाशु कुर्यात् स्निग्धैर्हिमैश्च मधुरैश्च तथा प्रयोगैः।
स्वेदाग्निधूमभयशोकरुजाभिघातैरभ्याहतामपि तथैव भिषक् चिकित्सेत्।
सद्योहते नयन एष विधिस्तदूर्ध्वं स्यन्देरितो भवति दोषमवेक्ष्य कार्यः।

(Enopthalmos) हो तो उसको यथा स्थान करने के लिये सांस का (प्राणायाम के द्वारा) रोकना, वमन करा, गले का रोध कर उसको ऊपर उठाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

सशल्यनयनाभिघात—यदि अभिघात में शल्य हो तो उसको पहले दूर कर पश्चात् चिकित्सा करनी चाहिये ।

अतिनिर्गत नयन चिकित्सा (Exopthalmos)—यदि नेत्र बाह्याभिघात से अभिन्न होकर कोटर के बाहर निकल कर लटक रहा हो तो उच्छिङ्घन (नासास्राव को ऊपर सुरुकने की क्रिया) के द्वारा नेत्र को यथा स्थान लाकर उस पर शीतल जल का अवसिंचन करना चाहिये। इस अवस्था की विशेष चिकित्सा शल्यतन्त्र की पुस्तक में सद्योव्रण चिकित्सा के अध्याय में अथवा सुश्रुत में चिकित्सास्थान के द्वितीय अध्याय में मिलेगी ।[1]

नयनाभिघातों की साध्यासाध्यता—१. यदि एक पटल की गहराई तक ही अभिघात सीमित हो तो साध्य होता है–यदि दो पटलों तक अभिघात पहुँचा हो तो कृच्छ्रसाध्य और तृतीय पटल तक या उससे नीचे तक पहुँच गया हो तो असाध्य होता है ।

२. व्रणावस्था (Nature of wound) के अनुसार यदि नेत्र पिच्चित, अन्तःप्रविष्ट, शिथिल, च्युत, लटकता हुआ या दृष्टि नष्ट हो गई हो तो याप्य होता है ।

३. दृष्टि मण्डल विस्तीर्ण हो, ईषत् लालिमा युक्त हो और रोगी को ठीक न दिखलाई पड़ता हो तो याप्य तथा नेत्र यदि यथास्थान हो और देखने में किसी प्रकार की कमी न आई हो तो नेत्राभिघात साध्य होताहै।

कुकूणक—(Trachomatic lids or Opthalmia Neo-Natorum or Follicular conjunctivitis)

अब तक नेत्ररोग के अध्याय में सुश्रुत के अनुसार कुल ७६

१. भिन्नं नेत्रमकर्मण्यमभिन्नं लम्बते तु यत् । तन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धसिरं शनैः। पीडयेत्पाणिना सम्यक् पद्मपत्रान्तरेण वा । ततोऽस्य तर्पणं कार्यं नस्यं चानेन सर्पिषा।
अजाघृत का प्रयोग—विशेष वर्णन लेखक की 'सौश्रुती' में देखें ।

रोगों का वर्णन हो चुका है। ये रोग ऐसे हैं जो बालकों में या बड़ी अवस्था के आदमियों में समान भाव से होते हैं। आचार्य ने आगे चलकर बालरोगाधिकार में एक ऐसे रोग का वर्णन प्रारम्भ किया है जो केवल शिशुओं में ही होता है।

यह रोग छोटे बालकों में माता के दूध के दोष से, कफ, मारुत, पित्त और रक्त के प्रकोप से, उनके वर्त्म (Lids) में होता है।[1]

लक्षण तथा चिह्न—'रोग से पीड़ित बालक के नेत्र में अत्यन्त खुजली होती है, जिससे अक्षिकूट, नासा और ललाट को मसलता रहता है या रगड़ता रहता है। उसके वर्त्म अत्यन्त शोथयुक्त होते हैं जिससे वर्त्मों को खोल नहीं सकता, सूर्य के प्रकाश में वह देख नहीं सकता (प्रकाशासह्यता Photophobia) और नेत्र से अनवरत स्राव होता रहता है।[2] यह वर्त्म में होनेवाला विकार है ऐसा निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है तथा अन्य खुजली आदि का होना अधिकतर वर्त्मगत पोथकी में ही संभव है परन्तु पोथकी का विकार तो बालक या युवक सभी में होता है—परन्तु कुकूणक नामक रोग तो केवल बालकों में ही होता है। इस आधार पर आधुनिक दृष्ट्या कुकूणक को 'आपथैल्मिया न्यूनैटोरम्' माना जा सकता है—क्योंकि यह विकार केवल शिशुओं में ही होता है। यह एक अभिष्यन्द की तीव्र अवस्था है जो पूयमेह से पीडित माता-पिता की सन्तानों में जन्म के दो तीन दिन बाद होता है।

---

१. स्तन्यप्रकोपकफमारुतरक्तपित्तैर्बालाक्षिवर्त्मभव एव कूकोणकोऽन्यः ।

२ मृद्नाति नेत्रमतिकण्डुमथाक्षिकूटं नासाललाटमपि तेन शिशुः स नित्यम् ।
सूर्यप्रभां न सहते स्रवति प्रबद्धम् (सु)।
कुकूणकः क्षीरदोषाच्छिशूनामेव वर्त्मनि ।
जायते तेन तन्नेत्रं कण्डुरं च स्रवेन्मुहुः ॥
शिशुः कुर्याल्ललाटाक्षि भ्रूनासाद्यवघर्षणम्,
शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न नेत्रोन्मीलनक्षमः ॥

परन्तु आचार्यों के सूत्रों में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। आचार्यों ने इसे स्तनपायी के अतिरिक्त अन्न खाने वाले बच्चों में भी होते देखा था। अतएव कुकूणक रोग सम्भवतः वर्त्मगत पोथकी या 'फालीकुलार कञ्जंक्टिवाइटिस' ज्ञात होता है।

कुकूणकप्रतिषेध—१. वर्त्म का लेखन करके रुधिर विस्रावण, २. त्रिकटु एवं मधु से प्रतिसारण, ३. शिशु का (वमन के द्वारा) शोधन तथा ४. धात्रीक्षीर का शोधन करना चाहिये, ५. कषाय द्रव्यों से नेत्रों के सेक तथा आश्च्योतन और बाद में लेखनांजनों का प्रयोग करना चाहिये[1] एवं बालकों के नेत्ररोगों में श्लेष्मज अभिष्यन्द नाशक उपचार कराना चाहिये।[2]

वमन—वमन के लिये बच्चे को दूध पिलाकर मधु, सैन्धव और अपामार्गबीज दूध में पका कर देना या पिप्पली, लवण और मधु मिला कर दूध पिलाना अथवा केवल वच घिस कर देना चाहिये। अथवा यदि अन्न खाता हो तो खिलाने के बाद मैनफल का काढ़ा पिला कर वमन कराना चाहिये।

सेक—जामुन, आम, आँवला, अश्मन्तक, इन द्रव्यों के कषाय से सेक और अक्षिप्रक्षालन (Eyewash) करना चाहिये। ये सभी द्रव्य कषाय और संकोचक हैं।

आश्च्योतन (Drops)—अक्षिपूरण के लिये गुडची या त्रिफला से पक्व घृत का प्रयोग करना चाहिये। अंजन, मैनशिल, मरिच, शङ्ख, रसाञ्जन, सेंधानमक, गुड़ का मिश्रित अञ्जन अथवा मूर्वा, मुलैठी और आम्र का अञ्जन और कृष्ण लौह के चूर्ण का अन्तर्धूम दाह करके

१. तस्याहरेद्रुधिरमाशु विनिर्लिखेच्च। क्षौद्रायुतैश्च कटुभिः प्रतिसारयेत्तु। माता शिशोरभिहितं च विधिं विदध्यात् (सु.)

२ स्यन्दे कफादभिहितं क्रममाचरेच्च, बालस्य रोगकुशलोऽक्षिगदं जिघांसुः। (सु. उ. १९)

उसका चूर्णाञ्जन बनाकर घृत और मधु के साथ अञ्जन कुकूणक में हितकर हैं ।[1]

गुटिकाञ्जन—त्रिकटु, पलाण्डु, मुलैठी, सेंधानमक, लाक्षा, गैरिक (गेरू) निम्ब पत्र, दोनों हल्दी, ताम्र और लोध्र इन द्रव्यों के योग से गुटिका का निर्माण कर नेत्रों में अंजन करना कुकूणक में हितकर है।

शिशुओं के शुक्र रोग में अञ्जन—इस अंजन की कल्पना विदेह दर्शन तथा वैद्य परम्परा के अनुसार इस प्रकार की गई है। गाय के दही में शंख और सेंधानमक को पीसकर रसांजन पर अनेक बार लेप करे। यह लेप अर्द्ध पक्ष या साढ़े सात दिन तक चलावे। फिर इस स्रोतोंजन को पीस कर वर्ति बना ले। इस वर्ति का अंजन करने से शुक्र फट जाता है।[2]

धात्री स्तन्य शोधन प्रकार—कुकूणक रोग में हेतु मातृस्तन्य की विकृति रहती है, अस्तु दुष्ट स्तन्य के शोधन के लिये प्रयत्न करना चाहिये। स्तन्य शोधन के लिये माता को वमन कराना चाहिये। इसके लिये पिप्पली, मधु यष्टि, सरसों और सेंधानमक पानी में पीस कर पिलाना चाहिये। माता के विरेचन के लिये हरीत-पिप्पली और मुनक्के का सम भाग में बनाया चूर्ण या कषाय देना चाहिये। धात्री के स्तन पर नागरमोथा, हल्दी, दारु हल्दी और छोटी पीपल का लेप करने से भी स्तन्य (दूध) की शुद्धि होती है। स्तनों का धूपन—घृत और सर्षप को आग में जलाकर उसके धुँए से स्तनों का धूपन करने से स्तन्य शोधन होता है। इस प्रकार दूध पिलाने वाली धाय का वमन-विरेचन-स्तन लेप एवं धूपन के अनन्तर पटोल पत्र नागरमोथा, मुनक्का, गुडूची एवं त्रिफला का क्वाथ पिलाना चाहिये। इससे धात्री के स्तन्य की पूर्ण शुद्धि हो जाती है फलतः बालक जो उसके दूध के ऊपर जीवन धारण करता है, उसका रोग भी ठीक हो जाता है।

---

१. लौहचूर्णञ्च सर्पिश्च मधु क्षीरं च दाहयेत्।
एतच्चूर्णाञ्जनं पिष्टं कुमाराणां कुकूणके ॥ (विदेह)

२. स्रोतोजशंखदधिसैन्धवमर्धपक्षं शुक्रं शिशोर्नुदति भावितमञ्जनेन।

बालक का भी शोधन अपेक्षित रहता है अस्तु उसके लिये भी वमन का कर्म करना आवश्यक होता है इसका उल्लेख ऊपर में हो चुका है।

शिशु-पूयमेह-नेत्रश्लेष्मावरण शोथ

(Opthalmia Neonatorum)

परिचय—यह बड़े भयङ्कर प्रकार का नवजात बालकों में होने वाला अभिष्यन्द है, जो हजारों नवजात शिशुओं के नेत्र को नष्ट कर अन्धा बना देता है।

कारण—पूयमेह से पीड़ित माता के अपत्यपथ के स्राव से नवजात शिशु के नेत्रों का उपसर्ग युक्त होना।

लक्षण तथा चिह्न—बालक क्रन्दन करता है. कानों को खींचता है। बालक के नेत्र जन्म के दूसरे या तीसरे दिन अकस्मात् सूज जाते हैं। उससे गाढ़े पूय का स्राव होने लगता है। वर्त्म शोथ इतना बढ़ जाता है कि शिशु नेत्र नहीं खोल सकता। पहले जो स्राव जल सदृश रहता है वह पूय युक्त हो जाता है। शिशु को ज्वर रहता है। कान के नीचे की रसायिनी ग्रन्थि शोथयुक्त हो जाती है। आँख को छूने पर भी शिशु रोता है।

यदि आक्रमण सामान्य हो तो एकाध सप्ताह के बाद लक्षणों का ह्रास होने लगता है; परन्तु यदि संक्रमण प्रबल हुआ तो कृष्ण मण्डल पक जाता है, उसमें बड़ा व्रण शुक्र हो जाता है। यदि योग्य उपचार न हो तो 'कार्निया' गल कर नष्ट हो जाती है और नेत्र के भीतरी उपांग दृष्टिमणि आदि भी फूट कर निकल आते हैं तथा आँख में खड्ढ हो जाता है और दृष्टि जाती रहती है।

रोगविनिश्चय—विशिष्ट लक्षणों और चिह्नों के आधार पर तथा पूयमेय के जीवाणुओं के लिये नेत्र स्राव की अणुवीक्षणात्मक परीक्षा करके रोग का निदान स्थिर करना चाहिये।

उपचार—

(१) *अनागत बाधा प्रतिषेध*—१. यह क्रिया प्रसव के पूर्व की जा

सकती है। यदि गर्भिणी इस रोग से पीडित रही हो तो इसको उत्तर बस्ति देकर योनि मार्ग का विशोधन करा लेना चाहिये। इसके लिये 'एक्रीफ्लैविन' या 'पारदधावन' या 'सल्फोनेमायड' के घोलों का व्यवहार किया जा सकता है।

२. प्रसव के बाद बच्चों के नेत्रों के पलकों को पारदधावन में भिगोये फिर पिचु से साफ कर स्थानिक विशोधन कर लेना चाहिये। तत्पश्चात 'सिल्वरनाइट्रेट' (शक्ति ५–१० ग्रेन १ औंस परिस्रुत सलिल में बने) द्रव का २, २ बूँद नेत्र में कई बार छोड़ देना चाहिये। 'सिल्वर नाइट्रेट के अभाव' में 'आर्जिराल घोल' ३०% का या 'प्रोटार्गल' १५-२०% तक का नेत्रों में छोड़ना चाहिये।

(२) *शामक उपचार*—१. अक्षि प्रक्षालन–'एक्रीफ्लैविन' के बने द्रव से (१–१०००) आधा-आधा घण्टे पर नेत्रों को धोते रहना चाहिये जिससे नेत्रगत पूयादि का निर्हरण होता रहे।

२. दूध का सूचीवेध के द्वारा पेशी (नितम्ब भाग) में १ से १½ सी. सी. तक देना चाहिये। यह क्रिया एक, दो दिन के अन्तर से चार-पाँच बार करनी चाहिये।

३. बच्चे को सह्य हो तो अल्प मात्रा में शुल्व वर्ग की (सल्फाग्रूप) ओषधियों को मुख द्वारा देना चाहिये।

४. उपर्युक्त वर्ग की बहुत सी ओषधियाँ स्थानिक प्रयोग में भी आती हैं। जैसे—'लोक्युलाड्राप' 'पेन्सिलीनड्राप' तथा 'पेन्सिलीन नेत्र मलहम' तथा 'एण्टीवायटिक ड्राप्स' आदि।

पिल्लरोग (Chronic Inflammatory Conditions of the Eyeball)—आचार्य वाग्भट ने अपनी संहिता में नेत्र रोगों में पिल्ल रोग का वर्णन किया है। वास्तव में यह कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है बल्कि कई एक नेत्र रोगों की जीर्णावस्थाद्योतक एक समुदायवाची संज्ञा है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'कफ, पित्त, रक्त और सन्निपात से होने वाले चार प्रकार के उत्क्लिष्ट, कुकूणक, पक्ष्मोपरोध, शुष्काक्षि-पाक, पूयालस, विस, पोथकी, अम्लाध्युषित, अल्पनेत्र-पाक, सभी अभिष्यन्द और अधिमन्थ (वातजन्य को छोड़ कर) प्रभृति अठारह

रोग 'पिल्लरोग' कहलाते हैं। ये सभी दीर्घ काल तक रहने वाले रोग हैं।[१]

चिकित्सा—स्निग्ध करके वमन तथा सिरावेध से रक्तविस्रावण कर विरेचन देकर शोधन होने तक पलक में लेखन करना चाहिये।[२]

वाग्भटोक्त पिल्लरोग के लेखनांजन

तुत्थादि—नीला थोथा १ पल और मरिच २०, को तीस पल कांजी के साथ पीस कर ताम्र पात्र में रख ले। इसके सेक से प्राचीन पिल्ल गत उपदेह (नेत्रमल), अश्रु, कण्डु और शोफ नष्ट होते हैं।

करञ्जादि—करञ्ज बीज, तुलसी और चमेली की कलियों को कूटकर जल में क्वाथ करे पश्चात् क्वाथ को छानकर रसक्रिया करे। इसका अञ्जन पिल्ल रोग को नष्ट करता है और पक्ष्म यदि झड़ गये हों तो उनको उत्पन्न करता है।

रसाञ्जनादि—रसौंत, राल, जस्ते का पुष्प, मैनशिल, समुद्रफेन, सैन्धव, गेरु और मरिच को मधु के साथ पीसकर अञ्जन करने से पिल्लगत क्लेद और कण्डु नष्ट होता है।

तगराञ्जन—तगर को हर्रे के क्वाथ में घिस कर आँजना और देवदारु को बकरे के मूत्र में भावित कर घी में मिलाकर अञ्जन करना पिल्ल में हितावह है।

कासीसादि—कासीस के पुष्प को ताम्रपात्र में तुलसी के स्वरस से दस दिन तक भावना दे। इसका अञ्जन पिल्ल और पक्ष्मशात नाशक है।

१. उत्क्लिष्टाः कफपित्तास्रनिचयोत्थाः कुकूणकः ।
पक्ष्मोपरोधः शुष्काक्षिपाकः पूयालसो विसः ॥
पोथक्यम्लोषितोत्पाख्यः स्यन्दमन्था विनानिलात् ।
एतेऽष्टादश पिल्लाख्या दीर्घकालानुबन्धिनः ॥

२. स्निग्धस्यच च्छर्दिवतः सिराव्यधहृतासृजः ।
विरिक्तस्य च वर्त्मानु निर्लिखेदविशुद्धितः । (वा. उ. १६)

परिशिष्ट

शालाक्य रोगों में व्यवहृत होने वाले कुछ आधुनिक योग

नासारोगाध्याय

नासिकोत्तर वस्ति

(१) **अनम्ल नासोत्तरवस्ति—**

शुद्ध टङ्कण	६ धान्य (Grains)
सोडा बाई कार्बोनेट	,, ,,
द्रव कारबोलिक अम्ल	२ बूंद (Minims)
शर्करा	१० धा.
विस्नुत जल (Distilled water)	१ आ. (Ounce)

(२) **परमैंगनेट नासिकोत्तर वस्ति—**

पोटाश परमैंगनेट	$\frac{1}{4}$ धा.
लवण	१० धा.
जल	१ आ.

(३) **शामक नासिकोत्तर वस्ति—**

मेंथाल	५ धा.
कर्पूर	२ ,,
कोकेन	५ ,,
द्रवमधूच्छिष्ट (Liq. Paraffin)	१ आ.

(४) हैज़लीन नासा वस्ति—

हैज़लीन	२० बूं.
टङ्कण	५ धा.
ग्लिसरीन	५ बूं.
जल	१ आ.

(५) नासिका प्रलेप—

मेंथाल	५ धा.
कर्पूर	५ ,,
सिनामान तैल	५ बूं.
पेरोलीन तैल	४ ड्रा.

(६)

यूक्लेप्टिसतैल	६ बूं.
मेंथाल	३ धा.
कर्पूर	२ ,,
मृदु मधूच्छिष्ट	१ आ.

यह योग नासिका में परिषेकार्थ उत्तेजक की भांति व्यवहृत होता है ।

मुखरोगाध्यायः

नासिका, कर्ण तथा गलरोगों में उपयोगी—

(१) कोकेनप्रलेप—१० प्र. श.

कोकेनहाइड्रोक्लोर	४५ धा.
वि. जल	१ आ.

(२) ताम्र (शुल्बेय) प्रलेप—

ताम्र सल्फेट	१० धा.
ग्लिसरीन	१ आ.

(३) आर्जिराल प्रलेप—

आर्जिराल	१०० धा.
वि. जल	१. आ.

(४) बोरो-ग्लिसरीन प्रलेप—

बोरोग्लिसरीन	४ ड्रा.
वि. जल	१ आ.

(५) लौह-परक्लोर प्रलेप—

(क) लौह-पर क्लोर का टिंक्चर	१५ बूं.
मधुरी (Glycerin)	४ ड्रा.
(ख) लौह क्लोराइड का घोल	२ ,,
ग्लिसरीन	१ आ.

(६) मेण्डल का प्रलेप—

आयोडीन	६ धा.
पोटाश आयोडाइट	२० ,,
कारबोलिक अम्ल,	१५ बूं.
पिपरमिंट तैल	५ ,,
ग्लिसरीन	१ आ.

(७) कारबोलिक अम्ल और आयोडीन का प्रलेप या परिष्कृत मेण्डल का प्रलेप—

आयोडीन	६ धा.
पोटाश आयोडाइड	२० ,,
कारबोलिक अम्ल	१५ बूं.
पिपरमिंट का तैल	५ ,,
ग्लिसरीन	१ आ.

(८) **सिलवर (रजत) नाइट्रेट प्रलेप—१ से ४ प्र. श.**

(क) सिलवर नाइट्रेट — $2\frac{1}{2}$ धा.
विशुद्ध जल — १ आ.
$\frac{1}{2}$%

(ख) सिलवर नाइट्रेट — $4\frac{1}{2}$ धा.
शु. जल — १ आ.
१ प्र. श.

शक्ति बढ़ाने के लिये सिलवर नाइट्रेट की मात्रा बढ़ाता जाय।

(९) **कुछ अन्य लाभकर प्रलेप—**

फेनाल — ८ धा.
रिसार्सीन — ३० ”
मेंथी पिपरमिण्ट सत्त्व — १५ बूं.
ग्लिसरीन — १ आ.

इसका व्यवहार टांसिल शोथ या तुण्डिकेरी में करते हैं।

(१०) सेलाल — १ ड्रा.
रेक्टीफाइडस्पिरिट — ४ ”
ग्लिसरीन — ६ ”

(११) टिंकचर मिर्ह (Tr. Myrrooe) } समान मात्रा में
वेंजोन का सत्त्व }
दन्तमांसों में प्रलेपार्थ

(१२) टिंक्चर आयोडीन — १२ बूं.
मेन्थाल — १२ धा.
क्लोरोफार्म — ७५ बूं.
वत्सनाभ का टिंक्चर — १ आ.
दन्त मांस में प्रलेपार्थ

(१३) दन्त शूल में प्रलेप—

लवङ्ग का तेल	१ भाग
सिनामोन का तेल	१ ,,
कारबोलिक अम्ल	२ ,,
मेथिल सेलिसिलेट	३ ,,

(१४)

टैनिकाम्ल	३२० धा.
ग्लिसरीन	१ आ.

कर्णरोगाध्याय

(१) क्षारीय प्रक्षेप या बिन्दु

सोडियम बाई कार्बोनेट	३० धा.
मधुरी (Glycerine)	२ ,,
वि. जल	१ आ.

अथवा

सोडा बाई कार्बोनेट	१५ धा.
ग्लिसरीन	२ ड्रा.
वि. जल	,, ,,

कर्णमल विलयनार्थ प्रयुक्त होता है।

(२) बोरिकाम्ल तथा स्पिरिट प्रक्षेप—

(क) बोरिकाम्ल (टंकण)	२० धा.
परिष्कृत सुरा (६० प्र. श.)	२ ड्रा.
वि. जल	१ आ.
(ख) बोरिकाम्ल	१० धा.
परिष्कृत स्पिरिट	१ ड्रा.
वि. जल	½ आ.

(३) बोनेन का प्रक्षेप—

मेन्थाल	१ भाग

कारबोलिक अम्ल १ भाग
कोकेनहाइड्रोक्लोर " "
प्रत्येक सम भाग में पूर्ण सम्मिश्रित करके शस्त्र कर्म काल में कर्णपूरणार्थ एवं संज्ञाहरण के लिये प्रयुक्त होता है।

(४) बरोका प्रक्षेप—
लेड एसिटैट २४ धा.
एल्यूमिनियम एसिटेटका घोल १ ड्रा.
वि. जल १ आ.

(५) कारबोलिकाम्ल प्रक्षेप—
(क) कारबोलिकाम्ल २४ धा.
मधुरी १ आ.
(ख) ग्लिसरीन, (फेनालकी) २ ड्रा.
मधुरी ६ ड्रा.

कर्णशूल में व्यवहार्य—

(६) कर्पूर क्लोरेटोन प्रक्षेप—
कारबोलिकाम्ल १० बू.
कर्पूर ५ धा.
क्लोरोटोन ५ धा.
ग्लिसरीन १ ड्रा.
वि. जल १ आ.

(७) कारबोलिकाम्ल तथा अहिफेन प्रक्षेप—
अहिफेन सत्त्व २ ड्रा.
कारबोलिकाम्लकी ग्लिसरीन २½ ड्रा.
मधुरी २½ ड्रा.
वि. जल १ आ.

(८) **कारबोलिकाम्ल तथा सोडा प्रक्षेप—**

(क) कारबोलिकाम्ल — १ धा.
सोडियम बाई कार्बोनेट — २० धा.
मधुरी — २ ड्रा.
वि. जल — १ आ.

(ख) सोडियम बाई कार्बोनेट — ३० धा.
फेनाल — २ धा.
ग्लिसरीन — ४ ड्रा.
वि. जल — १ आ.

(९) **पिकरिकाम्ल प्रक्षेप—**

पिकरिकाम्ल — १ धा.
७० प्र. श. अल्कोहोल — १०० सी. सी

(१०) **प्रोटार्गल प्रक्षेप—**

प्रोटार्गल — ४८ धा.
वि. जल — १ आ.

(११) **मेन्थाल प्रक्षेप—**

मेन्थाल — ५ धा.
पैराफिन द्रव (मधूच्छिष्ट द्रव) — १ आ.

(१२) **मरक्यूरोक्रोम ड्राप—**

(क) मरक्यूरोक्रोम — ६ धा.
परिष्कृत स्पिरिट — ३० बूं.
वि. जल — १ आ.

(ख) मरक्यूरोक्रोम — ३ धा.
पूर्ण अक्लोहोल — २ ड्रा.
वि. जल — २ ड्रा.

कर्णस्राव की अवस्था में प्रक्षेपार्थ—

(१३) शामक कर्ण बिन्दु—

कारबोलिकाम्ल	६ बूं.
अहिफेनसत्त्वज हाइड्रोक्लोर	३ धा.
(Hydrochloride of morphia)	
मधुरी	१ ड्रा.

(१४) पारद परक्लोराइड तथा स्पिरिट प्रक्षेप—

पारदक्लोराइड घोल (१:५००)	२ ड्रा.
मधुरी	२ ड्रा.
परिस्कृत स्पिरिट	१ आ.

(१५) कुछ अन्य उपयोगी प्रक्षेप तथा योग—

कारबोलिकाम्ल	५ धा.
कोकेन हाइड्रोक्लोइराड	,, ,,
ग्लिसरीन या जल	२ ड्रा.

तीव्र कर्णशूल में व्यवहार्य; यदि संज्ञाहर गुण बढ़ाना हो तो मेन्थाल ५ धान्य और मिश्रित कर दे।

(१६)

जिंक सल्फेट	४⅙ धा.
हाइड्रोजनपरआक्साइड	४ ड्रा.
परिपूर्ण अल्कोहोल	१ आ.

(१७)

बोरिकाम्ल चूर्ण	१० धा.
परिष्कृत स्पिरिट	१ आ.

नेत्ररोगाधिकार

नेत्राऽऽश्च्योतन

(१) आर्जिराल प्रक्षेप—१ से ५ प्रतिशत

(क) आर्जिराल ४½ धान्य

वि. जल — १ आ.

१ प्र. श.

(ख) आर्जिराल — ६ धा.
वि. जल — १ आ.

२ प्र. श.

(२) एट्रोपीन प्रक्षेप $\frac{1}{2}$ से १ प्र. श.

(क) एट्रोपीन सल्फेट — २$\frac{1}{2}$ धा.
विशुद्ध जल — १ आ.

$\frac{1}{2}$ प्र. श.

(ख) एट्रोपीन सल्फेट — ४$\frac{1}{2}$ धा.
वि. जल — १ आ.

१ प्र. श.

(३) कोकेन प्रक्षेप—२ से ४ प्र. श.

(क) कोकेनहाइड्रोक्लोर — ६ धा.
वि. जल — १ आ.

२ प्र. श.

(ख) कोकेन हाइड्रोक्लोर — १८ धा.
वि. जल — १ आ.

४ प्र. श.

(४) एट्रोपीन—कोकेन तथा तैल प्रक्षेप—

एट्रोपीन सल्फेट — ४ धा.
कोकेनहाइड्रोक्लोर — " "
एरंड-स्नेह — १ आ.

(५) डायोनीन प्रक्षेप—१ से ५ प्रतिशत

(क) डायोनीन — ४$\frac{1}{2}$ धा.
वि. जल — १ आ.

१ प्र. श.

(ख) डायोनीन — २२½ धा.
वि. जल — १ आ.
— ५ प्र. श.

(६) ईसरीन प्रक्षेप या बिन्दु—½ से १ प्र. श.

(क) ईसरीन सल्फेट या सेलीसिलेट — २¼ धा.
वि. जल — १ आ.
— ½ प्र. श.

(ख) ईसरीन सल्फेट या सेलीसिलेट — ४½ धा.
वि. जल — १ आ.
— १ प्र. श.

(७) फ्लोरीसीन प्रक्षेप—

फ्लोरीसीन — ८ ग्रे.
सोडियम कार्बोनेट — १२ ग्रे.
वि. जल — १ आ.

(८) होमोएट्रोपीन प्रक्षेप—

(क) होमोएट्रोपीन — ४½ धा.
वि. जल — १ आ.

(ख) होमोएट्रोपीन हाइड्रोक्लोर — ४½ धा.
कोकेन हाइड्रोक्लोर — ४½ धा.
सेलीसिलिक अम्ल — ¾ धा.
वि. जल — १ आ.

(९) होमोएट्रोपीन-कोकेन तथा स्नेह प्रक्षेप—

होमोएट्रोपीन — ४½ धा.
कोकेन हाइड्रोक्लोर — ४½ धा.
वि. एरंड स्नेह — १ आ.

(१०) पाइलो कार्पीन प्रक्षेप—१ प्र. श.

पाइलो कार्पीन नाइट्रेट	४½ धा.
वि. जल	१ आ.

(११) प्रोटार्गल प्रक्षेप—

प्रोटार्गल	२०–४० धा.
वि. जल	१ आ.

(१२) आप्टोचीन प्रक्षेप—

आप्टोचीन	४½ धा.
वि. जल	१ आ.

(१३) मरक्यूरो क्रोम प्रक्षेप—

(क) मरक्यूरो क्रोम	४½ धा.
वि. जल	१ आ.
	१ प्र. श.
(ख) मरक्यूरो क्रोम	२ धा.
वि. जल	४ ड्राम.

पूययुक्त नेत्राभिष्यंद तथा पोथकी में प्रतिदिन दो बार सावधानी पूर्वक डालें।

(१४) सिलवर नाइट्रेट प्रक्षेप—

सिलवर नाइट्रेट	१ धा.
वि. जल	१ आ.
	⅕ प्रतिशत

(१५) जिंकसल्फेट तथा बोरिकाम्ल प्रक्षेप—

जिंक सल्फेट	२ धा.
बोरिकाम्ल	१० धा.
वि. जल	१ आ.

(१६) कुछ अन्य प्रक्षेप तथा योग—

एट्रोपीन सल्फेट	१ धा.
डायोनीन	१ धा.
वि. जल	४ ड्राम

(१७) अव्रणशुक्र में डालने के लिये—

होमोएट्रोपीन हाइड्रो ब्रोमाइड	२ धा.
वि. जल	४ ड्रा.

(१८)

आर्जेन्टिनिक नाइट्रास	५ धा.
वि. जल	१ आ.

यदि चिरकालीन नेत्राभिष्यंद तथा पोथकी से बहुत स्राव निकल रहा हो तो पलकों पर प्रलेपार्थ उपयोग करे।

(१९)

तनु शुक्तिकाम्ल (Dil. Acetic acid)	३ बूंद,
वि. जल	१ आ.

क्षारदग्धनेत्र में व्यवहार्य

(२०) पोथकी में व्यवहार्य—

कापर सल्फेट	५ धा.
ग्लिसरीन	१ आ.

वर्त्म को उलटकर पोथकी में प्रलेपार्थ।

(२१)

कोकेनहाइड्रोक्लोर	१० धा.
वि. जल	४ ड्राम

नेत्रगत शस्त्र चिकित्सा में संज्ञानाशनार्थ व्यवहृत होता है।

(२२) कोकेनहाइड्रोक्लोर २५ धा.
विः जल ४ ड्रा.
कर्ण, नासिका तथा गलरोगों के शस्त्रकर्म में व्यवहृत होता है।

(२३) हलोकेन हाइड्रोक्लोर २ धा.
विः जल ४ ड्रा.
यदि नेत्र में अत्यधिक वेदना हो तो यह व्यवहार्य्य है।

(२४) पाइलो कार्पीन नाइट्रेट २ धा.
वि. जल ४ ड्रा.
(कनीनिका संकोचक)

(२५) **एट्रोपीन युक्त पीतमलहर—**
पारद की पीतभस्म ४½ धा.
(Yellow oxide)
एट्रोपीन सल्फेट ४½ धा.
मृदु पैराफिन १ आ.

(२६) **कुछ अन्य उपयोगी मलहर—**
पारदीय आक्सीडी फ्लवी २ धा.
(Hydragyri oxidi flavi)
डायोनीन " "
श्वेत वैसलीन ४ ड्रा.
अव्रणशुक्र तथा वर्त्म शोथ में रात्रि को सोते समय लगावे।

(२७) थायो सायमीन ३ धा.
डायोनीन २ "
उपरोक्त पारद का मलहर " "
पूर्ववत् लगावे

(२८) एट्रोपीन सल्फेट १ धा.
डायोनीन २ ,,
श्वेत वैसलीन ४ ड्रा.
कनीनिका विस्तारक है ।

(२९) पा. आ. फ्लैवी मलहर २ धा.
एट्रोपीन सल्फेट ,, ,,
डायोनीन ,, ,,
श्वेत वैसलीन ४ ड्रा.
कृष्ण मण्डल शोथ (इंटरस्टीशियल केराडाइटिस) में

(३०) डायोनीन २ धा.
श्वेत वैसलीन ४ ड्रा.
अव्रण शुक्र में लाभकर है ।

(३१) बोरिकाम्ल का चूर्ण २० धा.
श्वेत वैसलीन ४ ड्रा.
साधारण जीवाणुविरोधी मलहर है ।

(२) परिशिष्ट

मलहर—शालाक्य रोगों में व्यवहृत

(१) एट्रोपीन मलहर—

एट्रोपीन सल्फेट	४ धा.
मृदु पैराफिन (मधूच्छिष्ट)	१ आ.

(२) कोकेन मलहर—

कोकेन हाइड्रोक्लोर	८ धा.
मृदु मधूच्छिष्ट	१ आ.

(३) यूकेलिप्टस और मैंथाल मलहर—

मैंथाल	५ धा.
यूकेलिप्टस तैल	५ बू.
मृदु मधूच्छिष्ट	१ आ.

(४) मैंथाल मलहर—

मैंथाल	१० धा.
मृदु मधूच्छिष्ट	१ आ.

(५) पीत मलहर—

(क) पारद का पीत भस्म	२ धा.
मृदु मधूच्छिष्ट	१ आ.
(ख) पारद की पीत आक्साइड	४½ धा.
मृदु मधूच्छिष्ट (पैराफिन)	१ आ.
	१%

(१) **बोरिकाम्ल द्रव—**

(क) बोरिकाम्ल	२०० धा.
पूत जल (Sterilized)	१ पा. (Pint)
(ख) बोरिकाम्ल	१०० धा.
कर्पूराम्बु	१ औं.
गुलाब जल	२ "
वि. जल	१६ "

(२) **पारद द्रव—**

पारद का परक्लोराइड	$\frac{१}{२}$ धा.
वि. जल	१० आ.
	१ : ८००० शक्तिक

प्रायः १ : ५००० या १ : १०, ००० शक्ति में इसका व्यवहार होता है ।

(३) **साधारण लवण जल—**

लवण	१$\frac{१}{२}$ ड्रा.
वि. जल	१ पा.

विभिन्न शक्तिक और प्रतिशत वाले द्रव का निर्माण कोष्ठक—

अभीष्ट प्र. श.	अभीष्ट शक्ति	धान्य प्रति औंस	धान्य प्रति पाइण्ट
$\frac{१}{५०}$ %	१ : ५०००	·०८ धा.	१·८ या १$\frac{३}{४}$ धा.
$\frac{१}{१०}$ या ·१%	१ : १०००	·४ "	८·८ " ८$\frac{३}{४}$ "
$\frac{१}{२}$ या ·५%	१ : २००	२.२ "	४३·८ " ४३$\frac{३}{४}$ "
१%	१ : १००	४·४ "	८७·५ " ८७$\frac{१}{२}$ "
५%	१ : २०	२२ "	४३७·५ " ४३७$\frac{१}{२}$ "
१०%	१ : १०	४४ "	८७५ धा.

शब्द-सूची